श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक महानुभाव :—

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ
संरक्षक अध्यक्ष, एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव :—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
२	"	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३.	"	कृष्णचन्द जी जैन रईस	देहरादून
४	"	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	"	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	"	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	"	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	"	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	"	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	"	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	"	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	"	केवलराम उग्रसेन जी जैन	जगाधरी
१३	"	सेठ गेंदामल दगडू साह जी जैन	सनावद
१४	"	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	"	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	"	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	"	मन्त्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	"	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	"	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	"	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	"	सौ० प्रेमदेवीशाह सु० बा० फतेहलाल जी जैन संघी	जयपुर
२२	"	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	गया
२३	"	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडीह
२४	"	गिरनारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	"	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	"	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	"	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बड़ौत
२८.	"	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९.	"	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेट इञ्जीनियर	कानपुर

३०	श्रीमान् लाला	मंत्री दि० जैन समाज नाई की मंडी	आगरा
३१	"	संचालिका दि० जैन महिलामंडल नमककी मंडी	आगरा
३२	"	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रेस	रुडकी
३३	"	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	"	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	"	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	"	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	"	✽ जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबडा	झूमरीतिलैया
३८	"	✽ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
३९	"	✽ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४०	"	✽ दयाराम जी जैन आर एस डी ओ	सदर मेरठ
४१	"	✽ मुन्नालाल यादवराय जी जैन	सदर मेरठ
४२	"	+ जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४३	"	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला
४४	"	+ बनवारीलाल निरन्जनलाल जी जैन	शिमला

नोट —जिन नामोके पहिले ✽ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये है, शेप आने है। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

●

सम्पादकीय

जैन न्यायके महान् प्रतिष्ठापक कुशाग्रबुद्धि तार्किकशिरोमणि वादीभकेशरी श्री समतभद्र श्री अकलङ्कदेव आदि महापुरुषोने जैन न्यायके मौलिक तत्त्वोकी समीचीन विवेचना आप्तमीमासा, प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चयादि कारिकात्मक रचनाओ द्वारा की। जैनदर्शनके प्रणेता भगवान् उमा स्वामिके दार्शनिक शास्त्र श्री तत्त्वार्थ सूत्रके सदृश जैन न्यायको सूत्रबद्ध करने वाली "जैन न्याय सूत्र ग्रन्थ" जैन परम्परामे नही बन पाया था। इसी कमीको आचार्यप्रवर श्री माणिक्यनन्दिने आचार्य स्मृतिपरम्परासे आये हुए जैन न्यायरूप सागरको परीक्षामुखसूत्ररूप गागरमे पूर्ण करके जैन न्यायका गौरव बढाया है। यह जैन न्यायका प्राथमिक सूत्रग्रन्थ है जो कि भारतीय न्याय विपयक कृतियोमे अद्वितीय है।

यह ग्रन्थ ६ परिच्छेदोमे विभाजित है। इसके सूत्रोकी सख्या २१२ है। ये सूत्र सरल, विशद एव नपे तुले हैं। वस्तु विचारमे अति गम्भीर, अन्तस्तलस्पर्शी तथा अर्थ-गौरवसे ओत प्रोत है। सभी सूत्र सस्कृत गद्यमे है, किन्तु उनके आदि अन्त मे एक २ श्लोक है —

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदा भासाद्विपर्ययः ।
इतिवक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयस ।।
परीक्षामुखमादर्श हेयोपादेयतत्त्वयो ।
संविदे मादृशो बाल परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ।।

आद्य श्लोकमें ग्रन्थ प्रयोजन तथा उसकी रचनाकी प्रतीज्ञा की है। और प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थ रचना की है। सूत्रकारने हेय-उपादेय तत्त्वका यथार्थ बोध कराने के लिये परीक्षकके समान दर्पणवत् कृति बनाई।

प्रतिपाद्य विषय —प्रथम परिच्छेद १३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका स्वरूप तथा प्रमाणके प्रामाण्यके स्वतस्त्व परतस्त्वका निर्णय किया है। द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद बताये हैं। प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक तथा मुख्य भेदोको १२ सूत्रोसे प्रतिपादन किया है। तृतीय परिच्छेदमे परोक्ष प्रमाणके-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमका १०१ सूत्रोमे कथन है। चतुर्थमें ६ सूत्रो द्वारा प्रमाणके विषय सामान्यविशेषात्मकको समझाया है। सामान्य विशेषके भेद भी दर्शाये है। पाचवें परिच्छेदमे ३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका फल साक्षात्, अज्ञाननिवारण, परम्परा हान-उपादान उपेक्षा कहकर उसे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न अभिन्न सिद्ध किया है। छटे परिच्छेदोमे प्रत्यक्षाभास परोक्षाभासका स्वरूप बताकर जय-पराजय व्यवस्था बताई है। इसमे ७४ सूत्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थमे जैन न्यायके सभी मौलिक ग्राह्य विषयोका पूर्ण व्यवस्थित चयन हुआ है।

न्याय विषयके ऐसे कठिन दार्शनिक विषयका आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाकर न्यायादि अनेक विषयके पारखी, मनीषी, विद्वान श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द माला ने परीक्षामुखसूत्रप्रवचन द्वारा सरल सुबोध स्पष्ट किया है। समयसारादि अनेक ग्रन्थोपर प्रवचन करने वाले विद्वान्के प्रौढ ज्ञानने इसे दुरूहतासे बचाया है जो कि न्याय विषयक गम्भीर अध्ययन, चिन्तन एव सुयोग्य विद्वत्ताका ही सुन्दर मधुर फल है। न्यायविषयक क्षेत्रमे तत्त्व निर्णयका आधार प्रमाण ही होता है, इसलिये प्रमाण और प्रामाण्यकी परीक्षा करना अत्यावश्यक है। इन प्रवचनो द्वारा लोकमे प्रमाणविषयक विपरीत धारणाये दूर होगी।

मुझे इन प्रवचनोका प्रूफ शोधनका अवसर मिला। मैं आशा करता हूँ कि आध्यात्मिक तत्त्वके विज्ञ रसिक इनके स्वाध्याय द्वारा लाभ उठायेंगे।

—देवचन्दजैन एम० ए०

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन १, २, ३, ४ भाग

[प्रथम भाग]

[प्रवक्ता —अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
श्रीमत् "सहजानन्द" महाराज]



प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥



दार्शनिक युग यह परीक्षामुखनामक न्यायका कुञ्जीरूप ग्रन्थ है। जिन दिनो न्यायशास्त्रका अधिक प्रचार था और ज्ञानप्रभावनाको ही एक समृद्धि और उन्नति समझते थे, जिस युगमे अकलङ्क समन्तभद्र जैसे तार्किक और नैयायिक विद्वान् साधु हुए थे, उन विद्वानो और साधु-सतोका तो ज्ञानचर्चा ही मुख्य विषय था, किंतु साधारण जन भी ज्ञानचर्चासे सन्तुष्ट हुआ करते थे। बहुत जमाना गुजर चुका, जब वाद-विवाद व न्यायके आधारपर लोग अपने-अपने दर्शन और धर्मकी महिमा फैलाते थे। प्रभावना तो सच्ची वही है जिस प्रभावनामे लोगोमे ज्ञान बढे। अपने चमत्कारो या अन्य किसी बडे गाजे-बाजेसे, सङ्गीत समारोहसे कुछ उत्सव मनाया या रथादि निकाला, कितना ही कुछ किया किन्तु यदि ज्ञानप्रभावनाका कोई ठोस प्रोग्राम नही रहता और केवल जलूस निकाला, बोली हो गयी, गाजे-बाजे हो गए, तो इन सबके बाद यह तो बतावो कि उस धर्मके माननेवाले समाजमे और अन्य धर्मावलम्बियोपर कौनसा प्रभाव पडा जिससे वे धर्मके प्रति अनुरागी बनें? लोग भी इसी हो-हल्लाके अनुयायी होते है। इन बातोमे कितना ही समय लगा दे, कितना ही धन खर्च कर दे, कितना ही परिश्रम उठा लें, उसे भक्तिके नामपर धर्मवाद कहेगे, किन्तु ज्ञानसाधनके किसी ठोस प्रोग्रामके लिए कौन तो समय खर्च करता है, कौन द्रव्य खर्चा करता है, किसके मनमे उत्सुकता होती है, ज्ञानसे रहित होकर कोई पुरुष क्या उन्नति कर सकता है अथवा मुक्ति पा सकता है? समय था, अकलङ्कदेव, समन्तभद्राचार्य आदि का जिन दिनो ज्ञानप्रभावनाको ही धर्मकी प्रभावना मानी जाती थी।

प्रभावना अङ्ग— सम्यग्दर्शनमें प्रभावना नामका एक अङ्ग है। इसका लक्षण समन्तभद्राचार्यने किया है। अज्ञान अन्धकारको दूर करके जैन शासनका माहात्म्य प्रकट करना इसका नाम प्रभावना है। ज्ञानप्रभावना न करके ठाठके समारोह कर दिए जाँय उसमें यद्यपि लोग यह कह उठते हैं कि यह समाज बड़ा धनिक है, इनके समारोहमें चाँदी सोनेका इतना सामान निकलता है, इनके मंदिरमें सोने चाँदीकी मूर्तियाँ होती हैं आदिक बातें लोग कहते हैं, पर इस प्रभावनासे समाजपर कोई ठोस असर नहीं होता बल्कि इस प्रभावनाको जरा देरैं उल्टा असर यह होता है कि अनेक चोर लोग चोरी करनेकी खोजमें रहते हैं। किसी विधिसे, किसी उपायसे इनके छत्र, चमर सोनेका सामान हड़प कर लिया जाय। दूसरी बात यह होती है कि दूसरोंको ईर्ष्या हो जाती है अन्य मतवाले जलने लगते हैं, विरोध मानने लगते हैं। खैर, ठाठके समारोहकी बात भी चलती रहती तो कुछ हानि न थी, दिखावटका सामान रहे, कुछ भी रहे पर साथ ही साथ कुछ ज्ञानप्रभावना और जनसमुदायके प्रति उदारताका व्यवहार और चलता तो भी बात निभ जाती। लेकिन न तो कुछ उदारता प्रजाके सङ्कटोंका निवारण करनेके लिए न तो दिलमें उत्साह हो और न ज्ञानकी बात ही कुछ करते हो, तो ऐसी स्थितिमें बजाय प्रभावनाके उल्टा विरोध और ईर्ष्या मच जाती है।

सर्वसम्मत प्रामाणिकताका साधन— वह समय था ज्ञानप्रभावनाका जब समन्तभद्र, अकलङ्कदेव जैसे दिग्गज विद्वान् हुए। उन्होंने न्यायशास्त्रके अनेक ग्रन्थ रचे। न्यायशास्त्रमें सभी तत्त्वोंको सभी विपत्तोंको युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। न्यायशास्त्रमें आगमकी दुहाई देनेकी गुञ्जाइश नहीं है कि कोई कहने लगे कि हमारे शास्त्रमें यह लिखा है, सो प्रमाण है, इसकी गुञ्जाइश नहीं है। क्योंकि दूसरोंको समझा रहे हैं, कोई कहे कि वाह, हमारे ग्रन्थमें तो यह लिखा है तो क्या वह सही माना जायगा? वे तो यही कहेंगे कि तुम्हारे ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं उनकी क्या दुहाई देते हो! तो आगमको बताकर न्यायशास्त्रमें किसीको मना लेना यह सम्भव नहीं है, यहाँ तो युक्तियाँ बतायी जायेंगी। दूसरोंके दर्शनमें दोष आते हैं उनको सिद्ध करना और अपने दर्शनमें एक भी दोष नहीं है उसको सिद्ध करना वे युक्तियाँ अन्य ग्रन्थोंमें अनेक जगह दिखाई गई हैं, पर उन युक्तियोंकी एक कुञ्जी जिस आधारसे हम उनका विस्तार बना सकें और अपना मतव्य सिद्ध करनेमें सफल हो सकें, उनकी कुञ्जीरूप यह ग्रन्थ है 'परीक्षामुखसूत्र'। इसके रचयिता हैं श्री माणिक्यनंदी आचार्य।

विस्तृत विषयोंका सूत्रण— जैसे पहिले धवल, जयधवल, महाधवल आदि ग्रन्थ थे, जिनमें लोगोंको प्रवेश होना दुर्गम सा था। उन सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करके गोम्मटसार, लब्धिसार जैसे ग्रन्थ संक्षेपमें बनाये और इस ढङ्गसे बनाये कि उन सब वर्णनोंका कुञ्जीरूप व्याख्यान हो जाय। ऐसे ही समझिये कि न्यायशास्त्रोंमें और और अनेक नय वर्णनमें प्रमाणके ग्रन्थोंमें जो भी बात कही गई है वह सब

सक्षेपरूपसे आ जाय, इसका प्रयत्न यह परीक्षामुखसूत्र है। यह परीक्षामुखसूत्र गोमटसार आदिक ग्रन्थोसे भी बहुत सक्षिप्त है। इसमे विषय कुछ नही आया लेकिन सभी विषयोको दर्शनोको समझनेके लिए जो कुञ्जी है, युक्ति है उन्हे सूत्ररूपमे निबद्ध किया गया है।

सूत्रका स्वरूप सूत्र उसे कहते है जिसमे बहुत थोडे तो अक्षर हो और सदेहरहित हो उसमे मन्तव्यका विवरण दिया हो, सारवान हो और जिसका प्रकाश बहुत अधिक फैलता हो, निर्दोष हो, ऐसी रचनाको सूत्र कहते हैं। न्यायके सूत्र, व्याकरणके सूत्र, अध्यात्मके सूत्र सभी विषयोंके सूत्र हो सकते है। सूत्रमे कमसे कम अक्षर हुआ करते है। सूत्रकार सूत्ररचना करते समय जितने कमसे कम शब्दोमे अपना सूत्र बन सके वह यत्न करते है। कभी कोई सूत्र बना और थोडी ही देर बाद दो एक अक्षर कम हो सकते हो, इस तरह बन जाय तो उसमे वे उतनी खुशी मानते है जितनी कि लोकमे लौकिक जनो द्वारा पुत्रोत्पत्तिके समय खुशी मनाई जाती है, जैसे गानेवाले लोग अपने बडे-बडे सङ्कटोको गानेकी धुनमे निकाल देते हैं। कलाकार लोग अपनी कलाके गौरवसे बडी बडी विपदाओको हँसते-हँसते झेल लेते है। ऐसे ही साहित्यकार लोग अपनी साहित्यरचनाकी धुनमे बडे बडे विवाद, बडे बडे सङ्कटोको यो ही सह लेते है, झेल लेते है, उपेक्षा कर देते है। ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रसारके समान और कोई निर्दोष सुखका साधन नही है। तो उन न्यायग्रन्थोका सक्षेप करके कुञ्जीरूप यह परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ बनाया गया है। इसमे अलगसे कोई मङ्गलाचरण नही है, किन्तु इसमे जो उत्थानिकारूप श्लोक आया है वह इतना गूढ है कि इसमे मङ्गलाचरण भी हो जाता है और आचार्यदेव क्या कहेगे इस ग्रथमे, उनके मन्तव्यका भी दिग्दर्शन हो जाता है।

साहित्यकारोके सदाशयका बल - विद्वान् पुरुष जो अपनी रचना बनाते हैं, ज्ञानीजन जो स्वपरहितके लिए अपनी रचनाएँ करते हैं वे अपने सद्कार्योके प्रति इतना विश्वास रखते हैं कि चाहे दुष्टजन उनके विरुद्ध कितने ही प्रोपेगंडा करे अथवा उनके कार्योमे विघ्न डाले लेकिन वे उनकी परवाह नही रखते। जो दुर्जन है, ईर्ष्यालु है, जो ऐसे साहित्यकारोका, ग्रन्थकारोका अनादर करते है उनकी इस चेष्टासे वे भयभीत नही होते न अपने सङ्कल्प किये हुए कार्यसे हटते है। उनका उनके प्रति यह चिन्तन है कि तुमको यदि हमारे कार्यमे अनादर है तो तुम जहा रहते हो वही विराजे रहो, तुम्हारे लिए हमारा कोई उद्यम नही है। हम बुरा तो तब माने जब हम तुम्हारे ही लिए काम कर रहे हो और तुम्ही उलटा हमारे लिए जाल बिछाते हो तो उसका खेद होगा किन्तु जो मोही पुरुष है ईर्ष्यालु हैं, अज्ञान अन्धकारसे दबे हुए है वे जहा रहते है वही ठहरे रहे सुखपूर्वक, उनके प्रति यह उद्यम नही किया जा रहा है। ग्रन्थकारोकी अपने हृदयमे कैसी स्पष्ट दुरभन बन रही है इस सम्बन्धमे बताया जा रहा है। वे यह चिन्तन करते है, अपने मनमे विश्वास रखते है कि हम यह मद रच।

ग्रन्थोका निर्माण उनके लिए कर रहे है जो बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं, विनयशील हैं, ससारके सङ्कटोसे छूटनेकी कामना करते हैं, जिनका गुणोमे अनुराग है उनके लिए हमारा प्रयास है। जो गुणोके वैरी हैं वे कितने ही विघ्न डाले तो उनके लिए हमारा प्रयास ही नही है।

महापुरुषोकी द्वेषियोके प्रति अक्षुब्धता— जैसे घरमे कोई परिजन किसीसे विरोध करते हैं तो उसे यह खेद होता है कि देखो हम सब कुछ इनके लिए ही करते है और ये ही घरके लोग हमारे विरुद्ध बोलते हैं, कोई गैर व्यक्ति इतना विरुद्ध बोले तो उससे इतना खेद नही माना जाता जितना कि घरके लोगोके विरुद्ध बोलनेमे खेद माना जाता है। तो ग्रन्थकार अपने मनमे यह धारणा रखे हुए हैं कि जो गुणोके अनुरागी पुरुष है, जिनकी बुद्धि निर्मल है ऐसे पुरुषोके लिए हम यह ग्रन्थ-रचना करते हैं, जो दोषग्राही हैं, गुणोके वैरी है, मोही है, वे यदि अनादर करते हैं तो करें, वे जहा है वही रहे और उनको यदि हमारी अवज्ञा करनेसे सुख मिलता है तो इसमे हम बडे सुखी है क्योकि हम उनके सुखके काम तो आये। जो दुष्ट लोग हमारी कृतिमे द्वेष कर करके खुश हो रहे हैं तो चलो, हम उनकी खुशीके काम तो आये। इतनी समता रहती है महन्त पुरुषोके चित्तमे कि वे क्षोभको प्राप्त नही होते। और ऐसे ही बडे उच्च हृदयके लोग होते है जो ग्रन्थनिर्माण जैसे महान् कार्यमे अपनी प्रगति बनाये रहते है।

स्वपरोपकारी सतोकी सहनशीलता—आप यो समझिये कि जब आज कल छोटे-छोटे निष्पक्ष ग्रन्थकारोपर भी अनेक बाधायें आती है तो उन बडे बडे दिग्गज विद्वानोपर न जाने क्या-क्या बाधायें आती होगी, वे बाधायें तो बडी कठिन होती होगी ? जैसे उदाहरणके लिए मान लीजिए समन्तभद्र, अकलङ्कदेव तथा अन्य अनेक आचार्योपर जो बाधायें आयी थी उनमे जीवन-मरणकी बात थी। इतनी कठिन बाधावोसे गुजरकर अपने किए हुए सङ्कल्पमे बढे-चढे रहना, यह तो बडे साहसी पुरुषोका काम होता है। जो बुद्धिमान् पुरुष होते है वे विरोधसे घबडाकर अपने किए हुए कार्यको छोडते नही हैं, बल्कि यो समझिये कि दुष्टजन जितना विरोध करें उससे उन्हे एक ऐसी शुद्ध स्पर्धा जगती है कि वे अपने किए हुए काममे और दृढ हो जाते हैं। विरोधसे तो विद्वान् लाभ उठाते हैं। जब तक विरोध नही होता तब तक कार्यमे सुगन्धि नही आती। विरोध तो महान् पुरुषोके लिए आभूषण है। वे विरोधमे घबडाते नही है। ऐसे अनेक गम्भीर भावोंसे सहित ग्रन्थकार अपनी ग्रन्थ-रचनाका आरम्भ किया करते है।

कर्तव्यके दृढ सङ्कल्पकी प्रकृति - महन्त पुरुषोकी यह भी एक प्रकृति होती है कि कार्यको बहुत सोच विचारकर उसका मथन करके आरम्भ करते हैं, क्योकि ये जानते है कि किसी भी कार्यका आरम्भ करके उसे छोडना उचित नही है।

उसे अपने मतव्यके अनुसार पूर्ण करदेना ही उचित है। कार्य आरम्भ करके उसको पूरा न कर सके, उससे अच्छा तो यह है कि कार्यको शुरू न करे, किन्तु कार्यको शुरू करके फिर उसे पूर्ण करदेना यह महापुरुषोका कार्य होता है। यह प्रकृति गृहस्थ हो महापुरुष उनके भी रहती है, साधु-मत हो महापुरुष उनके भी रहती है। प्रकृति सब की एक शैलीकी होती है जिनका होनहार भला होता है।

कर्तव्यक्षमता – गृहस्थावस्थामे रहकर गृहस्थधर्मको जो सही तौरसे नही निभा सकता उससे क्या यह आशा की जा सकती है कि साधु होनेपर वह साधुधर्मको निभा सकेगा। जिसमे जिस जातिकी प्रकृति होती है उसका उत्तरोत्तर विलास बढता है। कहते हैं कि पूतके लक्षण पालनेमे प्रकट हो जाते हैं। तभी तो कोई पुरुष जो गृहस्थधर्मको न निभा सकनेके कारण अथवा आजीविकाकी असुविधाके कारण साधु बन जाते है, पहले तो रसोई बनाते थे अथवा बैलगाडी हाँकते थे, साधु-सतोंके आराम और आदरको देखकर जिनकी यह इच्छा हो जाती है कि हम भी साधु बन जाये तो आजीविका अच्छी चलेगी और आदर भी होगा। और, ऐसे साधु भी कोई कोई मिल जाते है कि जिनकी यह इच्छा होती है कि हमारे साथ यदि बहुत साधु रहे तो हमारी बहुत प्रभावना लगेगी, सो मना-मनाकर साधु बनाते है। बन जावो साधु, क्या कठिन है, हम सब सम्हाल लेगे। इस प्रकारसे जो साधु बन जायं वे साधुधर्मको नही निभा सकते। साधुकी साधुता ही यह क्या जिस साधुको देखकर प्राय साधारणजन प्रभावित न हो सके। तो गृहस्थधर्म जिनसे नही सध सकता, घरमे जिनसे बात नही बन सकती उनसे साधुभेष रखनेपर भी बात बन जायगी यह कुछ कठिन सी बात है। किसी बिरलेके हो जाय यह बात अलग है।

सहिष्णु, क्षम एव धीर पुरुषोका मत् उपक्रम— गृहस्थोंको तो पचासों विपदायें हैं। और इसीमें प्रेक्टीकल शिक्षा भी मिलती रहती है —देखो दूसरोंके अपराध माफ करो तब सही काम बनेगा, किसी ने काम बिगाड दिया तो उसको माफ कर दो, जरा जरासी बातमें अधिक तनाव न बने नहीं तो काम न बनेगा, ये सब शिक्षायें गृहस्थ सीखते रहते है और गृहस्थ योग्य बन जाते है, पर जिन्होने अपने गृहवासके समयमें कुछ सस्कार नही सुधारा, अप्रिय व अहित बातों ही बनी रही, स्वार्थ, खुदगर्जी बनी रही तो साधुभेष रखनेके बाद तो अब कोई फिक्रका काम ही नहीं सो गौरववश और भी असद्व्यवहार बन जाता है। गृहस्थ धर्म भी एक बहुत बडी जिम्मेदारीका धर्म है। महापुरुष चाहे गृहस्थ हो चाहे साधुसत हो, उनकी प्रकृतिमें गम्भीरता, धीरता, उदारता सब कुछ बसी रहती है। ऐसे धीर गम्भीर पूज्य श्री माणिक्यनन्दी आचार्य इस परीक्षामुखसूत्र नामक ग्रन्थको प्रारम्भ करेंगे।

ग्रन्थरचनाका कारण माणिक्यनन्दी आचार्य इस परीक्षामुखसूत्रके कर्ता है। इसके पहिलेके अकलकदेव आदिक दिग्गज न्यायकुशल साधुसतोके न्यायग्रन्थ है उन ग्रन्थोका अर्थ गूढ है। और जो साधारणजन है उनके द्वारा नही जाना जा सकता है। तो उन ग्रन्थोमें व्युत्पत्ति बने, लोगोंका प्रवेश हो इस प्रयोजनके लिए उन न्याय ग्रन्थोंके प्रयोजनका मथन और उनकी कुञ्जियां बनाकर माणिक्यनन्दी आचार्यने यह परीक्षामुखसूत्र ग्रथ बनाया है। जो लोग न्यायशास्त्रोंके परिज्ञानके इच्छुक हैं उनके अनुग्रह करनेकी भावनासे प्रेरित होकर इस प्रकारसे सूत्रोकी रचना की है, जो सुगम हैं और उन न्याय ग्रथोमे प्रवेश करानेमे समर्थ हैं।

सूत्ररचनाके आद्य श्लोकमे अनेक ज्ञातव्य रहस्य इस सूत्र रचनासे पहिले यह एक श्लोक आया है जिस श्लोकमे अनेक बातें ध्वनित होती है। प्रथम तो यह श्लोक प्रभुके गुण स्तवनरूप भी है, दूसरे इस श्लोकसे यह भी झलकता है कि इस रचनाका सम्बन्ध और अभिधेय सम्यक् है। तीसरी बात यह है कि यह रचना बिना प्रयोजन नही की जा रही है। इससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि है। चौथी बात इसमे यह प्रकट है कि इसमे अनिष्ट प्रयोजन न होगा। जो प्रयोजन होगा वह हितकारी ही होगा। पाचवी बात यह झलकेगी कि जो प्रयोजन विचारा है उस प्रयोजनकी सिद्धि अशक्य नही है किन्तु साधा जा सकता है। ऐसे अनेक भावोसे गर्भित यह श्लोक इस ग्रन्थके आदिमे कहा जा रहा है।



प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

श्लोकका प्रकट अर्थ इस श्लोकका सीधा अर्थ तो यह है कि प्रमाणसे अर्थ की ससिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे उससे उल्टा होता है अर्थात् अर्थकी

सिद्धि नही होती है। इस कारण लघुबुद्धिजनोंके हितके लिए सिद्ध और सक्षेपमे प्रमाण तथा प्रमाणाभासका लक्षण कहेगे। इन पदोका स्पष्ट अर्थ इतना है जिसके सीधे विवरणको यो समझिये कि जो सम्यग्ज्ञान है वह प्रमाण कहलाता है और उस प्रमाण से जो हमारा इष्ट प्रयोजन है उसकी सिद्धि होती है। इष्ट प्रयोजन क्या होता है ? अज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, तो त्यागने योग्य हो उसे छोड दिया जाय, जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण किया जाय, जो उपेक्षा करनेके योग्य हो उससे उपेक्षा की जाय। ज्ञानसे ये ही प्रयोजन सधते है। जो ज्ञान प्रमाणीक नही है, सच्चे नही है, प्रमाणाभास है, झूठे है उनसे उल्टी बात सिद्ध होती है, अर्थात् प्रयोजनकी सिद्धि न हुए बिना अर्थकी सिद्धि सबको इष्ट है और अनर्थ से बचना सबको इष्ट है, इस कारण से प्रमाण और प्रमाणाभासका लक्षण कहा जायगा।

आद्य सूचनात्मक श्लोकमे मगलाचरणकी गर्भितता—इस श्लोकमे मगलाचरण भी गर्भित है, यह कैसे निकला सो सुनिये। कहा यह गया है कि प्रमाण से अर्थकी सिद्धि होती है। तो प्रमाणका अर्थ क्या है। इसमे तीन शब्द है प्र मा और आण। प्र का अर्थ है प्रकृष्ट, माका अर्थ है अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी और आण का अर्थ है दिव्यध्वनि। प्रकृष्ट है जिसकी अन्तरङ्ग बहिरग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि, उसका नाम है प्रमाण। प्रमाण शब्दसे अरहतका बोध होता है। अतरग लक्ष्मी है ज्ञान दर्शन सुख आनन्द। यह प्रकृष्ट है अरहत देवके, और उनकी दिव्यध्वनि खिरती है वह भी प्रकृष्ट है जो अनन्तचतुष्टयसे सम्पन्न हो, जिनकी दिव्यध्वनिसे भव्य जीवोको धर्मका प्रकाश मिलता हो उन्हे कहते है प्रमाण, तो प्रमाणका अर्थ हुआ अरहतदेव। उनसे अर्थकी मसिद्धि होती है। जो बात चाही जाय उसें अर्थ कहते है, समस्त जीवोको निराकुलता अभीष्ट है, वे परम शान्ति चाहते हैं। तो उस शान्तिकी शुद्ध प्राप्ति अरहतदेवसे होती है, अर्थात् अरहतकी दिव्यध्वनिसे द्वादशाङ्गका विस्तार हुआ और उस परमागमसे अनेक ग्रन्थोंकी रचना हुई। हम आज उन ग्रथोका अध्ययन करके ज्ञानप्रकाश पाते हैं और इस तरह मोक्ष पथमे चलते हैं। यह एक बडा उपकार है। तो हमारे मोक्षमार्गकी जो सिद्धि हो रही है, होगी उसका मूल निमित्त कारण अरहतका नाम जो प्रमाण है। प्रमाणसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है। जो प्रमाण नही है अर्थात् ज्ञान लक्ष्मीके और प्रकृष्ट दिव्य पदेशके जो मूल नही हैं और अपनेको देव सिद्ध करायें, मनाये वे सब प्रमाणाभास है, याने कुदेव है। जो न वीतराग हैं, न सर्वज्ञ है, न हितमे लगे है, उनसे दूसरोको हितका उपदेश मिलता है, ऐसे होकर भी जो अपनी देवके रूपमे प्रसिद्धि चाहे, जिनकी देवोंके रूपमे प्रसिद्धि है वे सब हैं कुदेव, प्रमाणाभाससे शान्तिकी सिद्धि नही होती, प्रत्युत सासारिक चतुर्गतियोमे भ्रमणरूप अनर्थकी ही प्राप्ति होती है।

गुणवर्णनमे स्तवन—यहाँ स्तवनके रूपमे इतनी बात कही गई है कि वीतराग सर्वज्ञदेवसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। और, जो कुदेव हैं उनसे मोक्षमार्ग

की सिद्धि नहीं होती। इतना कहनेमे मङ्गलाचरण यों ही आ गया कि वचनोंमे भगवानके गुणोंका थोडा भी वर्णन करना स्तुति कहलाया करती है। यों तो भगवान अपरिमित गुणोंके समुद्र है, उनका स्तवन कौन कर सकता है? जो कोई भी स्तवन करेगा वह गुणोंके केवल अंशका स्तवन कर सकता है, यो प्रभुके गुणोका थोडा भी स्तवन करना यह वचनोसे स्तुति कहलाती है। फिर उसके साथ-साथ मनमे और कायसे भी तो स्तुति है। कोई वचनो से स्तुति नही करता, किन्तु मनसे और कायसे प्रणाम करके यदि ग्रन्थरचनाको शुरू करदे तो उसके भावमे तो मङ्गलाचरण हो ही गया। यो भी नमस्कार होता है और फिर इस श्लोकमे वचनसे नमस्कार स्तवन भी सिद्ध हो गया।

मंगलाचरणके प्रकरणमे प्रमाण शब्दके अर्थका विवरण प्रभु अरहंत देवकी अन्तरङ्ग लक्ष्मी है ज्ञान और बहिरङ्ग लक्ष्मी है समवशरणकी रचना। ऐसी लक्ष्मी अन्यमे नहीं पायी जा सकती है। जिसका ज्ञान निर्लेप और केवल हो गया है, जिसके साथ अन्य किसी परभावका लेप नही है ऐसा केवलज्ञान निर्दोष और असीम प्रकाशवाला होता है, उस ज्ञानसे वे अन्तरङ्ग लक्ष्मीके स्वामी कहे गए हैं और बहिरङ्ग मे भी देखो कैसे विशाल समवशरणकी रचना होती है। इन्द्र जिनकी सेवामे सदा तैयार खडे रहते हैं, इससे और विशेष बहिरङ्ग लक्ष्मी किसके प्राप्त होती है? तो अन्तरङ्ग लक्ष्मी भी उत्कृष्ट अरहंतदेवके है और बहिरङ्ग लक्ष्मी भी उत्कृष्ट अरहंतदेव के है और दिव्योपदेश भी अरहंत भगवानके उत्कृष्ट है। ये बाते अन्य काल्पनिक देवो मे नही पायी जाती है। तो जिनके उत्कृष्ट मा और आण हो अर्थात् अन्तरङ्ग लक्ष्मी ज्ञान व बहिरङ्ग लक्ष्मी समवशरण प्रातिहार्य आदिक और दिव्यध्वनि जिनके उत्कृष्ट हो उन्हे प्रमाण कहते हैं। वे हुये भगवान सर्वज्ञदेव।

मंगलाचरणके प्रसंगमे श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव जिन्होने समस्त द्रव्योंको स्पष्ट जाना है और जिनके वचन न तो प्रत्यक्षसे विरोध खाते है, न आगमसे ऐसे जिनके निर्दोष वचन हैं उनसे ही जीवोके हितकी सिद्धि होती है, किन्तु जो प्रमाणाभास हैं कुदेव आदिक उनसे प्रयोजनकी सिद्धि नही होती। इस कारणसे प्रमाण और प्रमाणाभासका भी लक्षण कहा जायगा। इस परीक्षामुखसूत्रमे एक जगह अतिन्द्रियज्ञानका लक्षण बाधा है। जहा समस्त आवरण नष्ट हो गए ऐसा विशुद्ध ज्ञान अतीन्द्रिय है उसे केवलज्ञान कहते हैं। बस जहा केवलज्ञानकी व्याख्या आयी भगवान का स्वरूप आ गया, भगवान केवल ज्ञानस्वरूप है, जो केवलज्ञानका स्वरूप है वही भगवानका स्वरूप है, यो प्रमाणका असाधारण स्वरूप कहा जायगा और प्रमाणाभास ज्ञानाभासका भी वर्णन आ गया। तो यो प्रभुके गुणोका वर्णन हो गया, यही स्तुति है और यही मंगलाचरण है।

रचनामे प्रयोजन और सम्बन्ध व अभिधेय-- दूसरी बात प्रयोजनकी

कही जा रही है कोई भी पुरुष बिना प्रयोजनके कोई कार्य नही करता। क्या किसी को यो देखा है कि कौवेके दातोकी परीक्षा करता रहे ? जिस बातसे कोई प्रयोजन नही वैसा कोई प्रयत्न नही करता। तो इस ग्रथका कोई प्रयोजन भी है क्या ? तो इसी ग्रथमे विस्तारपूर्वक प्रयोजनको बतावेंगे। तीसरी बात यह है कि जिस कथनमे सम्बन्ध नही होता और अभिधेय नही होता उसे कोई बोले तो उसे लोग पागलके वचन कहते है। जैसे कोई बोलने लगे ६ पेडा, १० लड्डू, ५० पूडी, ६ खम्भे, ४ दरी, यो जो चाहे अटपट बोलने लगे, जिसका कोई प्रकरण नहीं है, सम्बन्ध नही है, न कोई बात है, तो ऐसे ही तो पागल लोग बोला करते है। तो इस ग्रथमे यह भी बताना चाहिए कि इस ग्रथका सम्बन्ध क्या है और इसमे क्या कहा जायगा ? जिसमे सम्बन्ध सिद्ध नही है उसको सुननेके लिए बुद्धिमान लोग प्रयत्न नही करते। ऐसे ही जब तक प्रयोजन न मालूम पडे तब तक कौन विवेकी तुम्हारी बातको सुनेगा ?

अनिष्टप्रयोजनपरिहार व शक्यानुष्ठानके वचनकी उपादेयता—इसी तरह अनिष्ट प्रयोजन भी न होना चाहिए। अनिष्ट बाते कोई उपदेशमे दे, उसे कौन सुनेगा ? जैसे कोई माताके विवाहका उपदेश करने लगे तो कोई भली बात है क्या ? अनिष्ट प्रयोजन है तो उसे कौन सुनेगा ? तो यह भी तो मालूम पडना चाहिए कि यह ग्रन्थ जो बनाया जा रहा है इसमे कुछ हमारा इष्ट प्रयोजन भी निकलेगा कि नही ? और मान लो प्रयोजन भी निकले और प्रयोजन बता दिया ऐसा जो किया ही न जा सके। कोई बीमार हो और उससे कह दिया जाय कि देखो तुम अमुक सर्पके फनपर जो धूल वगैरह लगी हो उसे पोछकर लगा लो तो ठीक हो जाओगे। तो क्या ऐसा किया जा सकता है ? अरे, प्रयोजन हो तो किया जा सके।

सर्व कार्योकी सचातुष्कता— प्रयोजन हो, सम्बन्ध और अभिधेय हो, अनिष्ट प्रयोजन न हो और किया जा सकने वाला हो, ये चार बाते जहा हो वह बात आदरके योग्य है। इस बातको सभी दर्शन कहते है। व्यवहारमे भी ये ४ बाते रहा करती है। चाहे धर्म चर्चा करे, चाहे व्यापारकी बाते करे। व्यापारकी बातोमे सबध तो होना चाहिए, इष्टप्रयोजन हो और किया जा सके, वही बात तो व्यापारमे की जाती है। सम्बन्ध कुछ न हो, प्रयोजन भी न बताया हो, कुछ आधार न बताया हो तो ऐसा कोई व्यापार होता है क्या ? व्यापारका सम्बन्ध अनेको पीढियो तक वही चलता रहता है। और, आजसे अनेक पीढी पहलेका नाम चला आया हो तो व्यापारी लोग उस नामको रखते है। वे यह नही सोचते कि वे तो अब जिन्दा नही रहे, उनका नाम अब क्यो चले ? तो इतना पुष्ट सम्बन्ध होता है व्यापार का। प्रयोजन भी उनका है कि आय हो, कोई प्रयोजन कुछ न विचारे और मद दिमाग वाले अथवा दिमाग काम न करने वाले बच्चोकी तरह कोई कुछ भी अपनी प्रवृत्ति करे तो उससे लाभ भी क्या होगा ?

ग्रन्थका समुचित सम्बन्ध—इस ग्रन्थमे यह बतलाया है कि सम्बन्ध क्या है ? इसका सम्बन्ध यह है कि इसमे सच्चे ज्ञान और झूठे ज्ञानका लक्षण बताना है। अभिधेय इतना है। जब हम किसी तत्त्वकी परीक्षा करने चले तो इन दो बातोमे सम्बन्ध रहता है कि इस मामलेमे सच्ची बात क्या है ? सही ज्ञान क्या है ? उस सही ज्ञानका आदर रखना है और यह बात झूठ है सो इसको अनास्था करना है। तो सत्यज्ञान और झूठा ज्ञान इनके पहिचाने बिना तत्त्वकी सिद्धि तो नही होती है। बहुत बडा सम्बन्ध है इस ग्रन्थका। परीक्षामुखसूत्र एक ऐसा कुञ्जीरूप ग्रन्थ है कि धर्मके प्रसङ्गमे भी सच्चाई और झूठकी परीक्षा करा देता है और व्यावहारिक बातोमे भी सत्य और झूठकी परीक्षा करा देता है। यह क्या साधारण सम्बन्ध है ? इसके बिना तो बुद्धिका विस्तार ही नही हो सकता है। और सम्बन्ध इतना यह स्पष्ट है कि जो शब्द होगे वे बात बतावेंगे और उनमे कौन सा तत्त्व जाना गया इस प्रकार प्रतिपादक प्रतिपाद्य सम्बन्ध है। यह ग्रन्थ उन्मत्त पुरुषोकी तरह नही बनाया जा रहा है। इसमे सम्बन्ध है, जो कहा जायगा उसका प्रकृष्ट विवेचन है। तो यह ग्रन्थ बुद्धिमान पुरुषोंके सुनने और मनन करने योग्य है।

परीक्षापद्धतिका महत्त्व—भैया ! परीक्षाकी पद्धतिका कितना बडा महत्त्व होता है। जैसे सोना कसनेवाली परीक्षाशिला होती है तो उसका महत्त्व उस कसौटीसे है उसके रूप और आकारसे नही है। कोई कहे कि वाह ! इससे भी सुन्दर कोई शिला रख ले, यह तो छोटी शिला है, कोई बडी सी शिला रख ले तो बडी अच्छी सोनेकी परीक्षा हो जायगी, तो उसका यह सोचना मिथ्या है। थर्मामीटर बुखार नापनेके काम आता है। कोई कहे कि यह तो बहुत छोटा है, एक बिजलीका डडा लगा दे तो ठीक रहेगा, छोटी मोटी चीजसे क्या फायदा ? तो उसका यह सोचना मिथ्या है, क्योकि उस बिजलीके बडे भारी डडेसे बुखारकी परीक्षा तो न हो जायगी। तो उसका महत्त्व परीक्षामे है। यह परीक्षामुखसूत्र ज्ञानकी परीक्षा बतावेगा कि यह ज्ञान सही है, इसमे अमुक दोष नही है, अमुक गुण है, इसलिए यह यथार्थ ज्ञान है और यह ज्ञान झूठा है, इसने इतने दोष हैं, यह यथार्थ ज्ञान नही है। तो ज्ञानकी परीक्षा करा देनेवाले इस ग्रन्थका बहुत बडा महत्त्व है। यो समझिये कि न्यायशास्त्रमे और प्रतिभाके विकासमे ऐसे ग्रन्थके समझे बिना प्रवृत्ति ही नही हो सकती। तो इस ग्रन्थमे सम्बन्ध और अभिधेय बराबर ठीक है।

ग्रन्थरचनामे प्रयोजन व शक्यानुष्ठानका दर्शन—इस ग्रन्थरचनाका प्रयोजन भी यही है सही ज्ञानकी परीक्षा करना आ जाय और उस परीक्षित सही ज्ञानसे हम अपने शान्ति मार्गका निर्णय बना लें, यह है इसका प्रयोजन। प्रयोजन भी इस ग्रन्थका समीचीन है और यह किया भी जा सकता है। कोई अशक्यानुष्ठान नहीं है कि किया न जा सकता हो। जिस बुद्धिमे इतने इतने बडे व्यापार करनेकी हिम्मत

है और बढे बडे देशोकी व्यवस्था बनानेकी शक्ति है उस बुद्धिमे क्या इतनी शक्ति नही है कि हम अपना सही स्वरूप जान ले और उसी स्वरूपके ज्ञाता रह सके ? सामर्थ्य तो सब है पर करनेकी बात है। जिसकी दृष्टि विपरीत है उसके लिए धर्म पहाड जैसा लगता है और जिसकी दृष्टि सुलझी हुई है उसके लिए धर्म बिल्कुल सरल है। लो यह तो मै धर्ममूर्ति हूँ, कुछ ज्ञान बनाकर विपरीत अभिप्रायोको दूर करे तो धर्मका मार्ग मिल सकता है और उससे शान्तिका लाभ होता है। यह क्या किया नही जा सकता ? जैसे बडे बडे योगिराजोके गुणोका स्तवन करते हैं – कहते है कि धन्य है वे व साधु, जो कुछ वे कर गए हम लोग वैसा नही कर सकते। अगर कर नही सकते तो फिर उस कामकी चर्चा ही क्या करे। भगवानका हम स्तवन करते है— प्रभु आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ है ! अरे, स्तवन करनेवाले भक्त जीव ! यह तो बता कि तुझमे यह भी भाव पडा है कि मैं भी प्रभु जैसा हो सकता हूँ ! यदि यह भाव पडा है तब तो तेरी प्रभुभक्ति सच्ची है, यदि यह भाव तुझमे नही पडा है तो तू ऐसा बन ही नही सकता, ऐसा परिणाम है तो उस स्तवनसे लाभ क्या है ? हम जिसरूप कभी नहीं बन सकते उसकी बातसे क्या लाभ है ? तो जो कुछ इस ग्रन्थमे कहा जायगा और जो इसकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त होती है वे सब बातें हम कर सकते हैं।

स्वहितका सुगम साधन स्वहित करनेकें लिए एक ज्ञानकी दृष्टि ही तो दृढ चाहिए। एक विचारशुद्धि ही तो चाहिए। वह ज्ञान निर्दोष मेरे निरन्तर बना रहे, बस यही आत्मलाभ है, यह क्या किया नही जा सकता ? बल्कि लोग मोहवश जो कुछ करते हैं या जिसके करनेका उत्साह रखते हैं वह तो सब असक्य है और अपना धर्म शक्य है। बडे बडे महल बनवाना, बडे आयके साधन बनाना ये सब अशक्य है। आपकी आत्मा इन्हे नही करती। हो गया अपने आप। उदय था अनुकूल मिल गया, पर आत्मा अपने परिणाम करके कई चीजमे परिणमन बना दे ऐसा तो नही होता। धर्म करना सक्य है और जो ज्ञान इस ग्रथमे बताया जायगा उस ज्ञानका बना लेना सक्य है। तो इस ग्रथमे धर्मवर्णन भी है और वह सब किया जा सकता है. इस कारण हे श्रोता जनो ! अपनी इष्ट प्राप्तिका उपाय जानकर इस ग्रथमे जो वक्तव्य आयगा उसका ध्यानपूर्वक श्रवण करें और मनन करके उसकी परीक्षाका माद्दा बना ले, परीक्षा करनेकी सही कुञ्जी प्राप्त कर ले फिर तो सब ज्ञान करना बहुत आसान हो जायगा। जब हम यह ज्ञान सही है, यह ज्ञान झूठा है इसकी परीक्षा करनेमे निपुण हो जायेंगे तो फिर ज्ञानमे बढना सरल है और सत्य बात क्या है और किसमे हित है यह सब जान लेना सुगम है।

प्रमाणका व्युत्पत्त्यर्थ प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नही होती है। इतने हिस्सेसे शब्द व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ कर रहे है। सीधा अर्थ तो यह है कि सम्यग्ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि होती है और मिथ्याज्ञानसे अर्थकी सिद्धि

नही होती है । यहा प्रमाण शब्दको ती । साधनोमे सिद्ध करना कर्तृ । साधन, करण, साधन और भावसाधन कर्तृ साधनमे तो यह अर्थ किया जायगा कि स्वपर प्रमेयके स्वरूपको जो यथावत् जानता है उसका नाम प्रमाण है । करणसाधनमे यो कहा जायगा कि जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है, और, भावसाधनमे जान ' को प्रमाण कहते है, यो कहा जायगा । इन साधनोमे भिन्न पदार्थोकी बात कुछ नही आयी, लेकिन कुछ भेद और प्रकट हुआ है । द्रव्य और पर्याय ये सज्ञा प्रयोजन आदिक विवक्षासे भिन्न है किन्तु भि पदार्थ आधार नही है, वह एक ही आधार है द्रव्य और पर्यायका इसलिए वह अभेद स्वरूप है ।

प्रमाणकी कर्तृसाधनतामे स्वातन्त्र्यकी विवक्षा जब यह कहा गया कि जो क्षयोपशम विशेषके कारण आत्मा जानता है उसे प्रमाण कहते हैं तो स्व और पर पदार्थके ग्रहणकी क्रियामे परिणत इस आत्मामे अपरतत्रकी विवक्षा की है अर्थात् यह जाननेमे स्वतत्र है तो कर्तृ साधनमे स्वतत्रताकी घोषणा की है । प्रमाण किसे कहते हैं ? जो जानता है सो प्रमाण है । इसमे द्रव्य और पर्यायका अभेद भी किया गया और स्वतत्रता घोषित की, तथा, ज्ञाता आत्माका प्रमाण शब्दसे ग्रहण किया । जैसे जो प्रकाश करे सो प्रदीप । तो स्व और परका प्रकाश करने वाले प्रदीपमे जैसे स्वतत्रताकी विवक्षा की इसी तरह इस प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्तिमे स्वतत्रताकी विवक्षा की है ।

प्रमाणकी करणसाधनता व भावसाधनतामे विवक्षा—जब द्रव्य और पर्यायमे भेद विवक्षाकी तब करणसाधन बना । जिसके द्वारा जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं । इसमे उत्पन्न हुई जो ज्ञान पर्याय है उसका प्रधानरूपसे आश्रय किया है । जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है । जिसमे कर्ताको तो गौण कर दिया और विज्ञान पर्यायको प्रधान कर दिया । तो इसमे साधकतमत्वकी विवक्षा रही । जाननरूप क्रियामे साधन विशेष क्या है उसकी विवक्षामे करणसाधन बना । और, केवल एक भावमात्रकी दृष्टि करे तो यथावत जाननेका नाम प्रमाण है, यह भाव हुआ । भाव क्रियाप्रधान होता है । तो इस प्रकार तीन साधनोसे प्रमाण शब्दका अर्थ किया । प्रमाणका अर्थ ज्ञाता हुआ, ज्ञानपर्याय हुई और जानन हुआ ।

द्रव्य व पर्यायके भेदाभेदके सम्बन्धमे एक जिज्ञासा—यहा यह शका की जा सकती है कि तुमने ये तीन साधन जो निकाले वे इस आधारपर निकाले कि द्रव्य और पर्याय अर्थात् आत्मा और विज्ञान पर्यायमे कथचित् भिन्न हैं और अभिन्नता ये दोनो तो परस्पर विरुद्ध तत्त्व है । विरुद्ध जो शब्द हैं वे एक दूसरेसे अत्यन्त दूर रहा करते है । परस्पर परिहार रूपसे अवस्थित रहा करते है, इस कारण इनमेसे कोई एक ही वास्तविक है, फिर वस्तुको भेदाभेदात्मक कहे तो सही नहीं । जो भेदरूप है वह अभेदरूप कैसे, जो अभेदरूप है वह भेदरूप कैसे । इस शकाके उत्तरमें कुछ उदा-

और हुआ नहीं करते, किन्तु जिस पदार्थका जो स्वरूप है उस स्वरूपका पदार्थमें निर्णय तो नहीं हो सकता। आत्मामें ज्ञानका विरोध है क्या? ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है। तो उस स्वरूपमें कभी भेदरूपसे देखना होता है, कभी अभेदरूपसे देखना होता है, कभी भेदाभेदात्मकरूपसे एक साथ देखना होता है। तो यह विरोधकी बात नहीं है। इसलिए प्रमाणका स्वरूप जो यह किया है कि जो जाने सो प्रमाण! जिसके द्वारा जाना जाय सो प्रमाण। जो जानन है सो प्रमाण। ये तीन बातें युक्तियुक्त सिद्ध होती हैं। केवल अभेद भी यथार्थ प्रतीत नहीं होता, केवल भेद भी यथार्थ प्रतीत नहीं होता है और अभेदको भेदसापेक्ष न मानकर और भेदको अभेदसापेक्ष न मानकर न्यारे न्यारे जगहमें अभेद और भेद इनकी प्रतीति नहीं होती। प्रत्येक पदार्थमें भेदाभेदात्मकता प्रतीत होती है। पदार्थ स्वयं कैसा है? यह तो अवक्तव्य है, पर उसको जब हम समझना चाहें तो कभी भेदप्रधान दृष्टिसे समझते हैं और कभी अभेदप्रधान दृष्टिसे समझते हैं।

ग्रन्थमें मौलिक प्रयोजनकी दृढ़ताका पोषण— यह ग्रंथ वस्तुके स्वरूपको समझनेका बड़ा उपाय है और जिस ज्ञानसे वस्तुको समझा जाता है वह ज्ञान सही है या झूठा है इसका निर्णय करनेकी कुञ्जियां बतायी गई हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि विषयोंका विवरण न रहा कि कहीं द्रव्योंका विवरण हो या किन्हीं तत्त्वोंका विवरण हो, इस ग्रन्थका प्रयोजन तो यह है कि हम जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ जानते हैं वह हमारा ज्ञान सच है या नहीं है इसका निर्णय करनेकी कुञ्जी दिखाई गई है। तब यों समझिये कि केवल बीज दृढ़ करायी गई है। हम पदार्थोंको जानते हैं उस प्रसंगमें जब तक हम अपने आपमें यह निश्चय नहीं बना पाते कि हमारा ज्ञान सही है तब तक पदार्थोंके ज्ञानमें भी संदेह रहता है, जो कोई यह पढ़ते हैं कि यह भी अमुक चीज है, चौकी है तो जो हमने ज्ञान किया है वह ज्ञान हमारा पक्का है, चाहे इस तरहका विकल्प कोई न करे। कौन करता है विकल्प, सब पदार्थोंको जानते हुए चले जाते हैं। प्रत्येक पदार्थके जाननेके बीच कोई ऐसा विकल्प नहीं करता कि मेरा ज्ञान सच है किसी पदार्थका ज्ञान सच हो, लेकिन मेरा ज्ञान सत्य है ऐसे निर्णयके बिना पदार्थके सम्बन्धमें जानकारीकी दृढ़ता नहीं हो सकती। तो यह अति आवश्यक है कि हम जो कुछ भी जानें वह ज्ञान हमारा पक्का है यह निर्णय करलें।

ज्ञानकी समीचीनताके परीक्षणका सम्बन्ध— दूसरे लोग जो कुछ कह रहे हैं, बता रहे हैं उनकी बात सच है या नहीं इसका निर्णय हम कब करेंगे? जब हम यह जान सकें कि जिसमें ऐसे ऐसे गुण पाये जायें वह ज्ञान तो सच है, जिसमें ऐसे दोष न रहें वह ज्ञान तो सच है और जिसमें ये गुण न हों, ये दोष हों वह ज्ञान मिथ्या है। तो इसमें यह ही बात बतायी जायगी कि कौन कौनसे दोष हुआ करते हैं जिन दोषोंको बताकर यह कह सकें कि आपका ज्ञान झूठा है। एक उदाहरणके लिये

प्रसग लें । कोई मनुष्य यह व्याख्या रखता है कि इस जगतको बनाने वाला कोई व्यक्ति है । अब कोई यदि इसका खण्डन करे तो खण्डन करने वालेके समक्ष ये दो बाते रखी जाये कि यह बतावो कि कोई व्यक्ति जगतको करने वाला है । यदि यह बात तुम मानते हो खण्डन करने वाले भाई ! तो तुम खण्डन ही क्या करोगे । और, यदि तुम यह मानते हो कि जगतका करने वाला कोई व्यक्ति नही है तो जो चीज नही है उसका तुम खण्डन क्या करोगे ? तो खण्डन करने वाले तुम चुप बैठो । यदि है तो तुम खण्डन क्या कर सकते और यदि नही है, चीज ही नही है तो खण्डन किस का करते हो । अब बतलावो किसका खण्डन करने आये हो ? तो खण्डन करनेवाला यह कहेगा कि हम तुम्हारे विकल्पोका खण्डन करते हैं । हम जगतके करने वाले व्यक्ति का खण्डन करने नही आये है । तुम्हारे विकल्पोसे जो मिथ्या तरग उठ रही है उस तरगका खण्डन करने आये है कि यह तरग तुम्हारी मिथ्या है अर्थात् बाह्य पदार्थोके अनुरूप नही है । तो खण्डन पदार्थका नही किया जाता । खण्डन किया जाता है दूसरो की मिथ्या धारणाका ।

व्यवहारमे धारणानुसारी प्रवर्तन—बातचीतका दौरान भी, लोगोका झुकाव भी दूसरोकी धारणापर रहता है । बातचीतके प्रसगमे हमे यदि यह समझमे आये कि आप इस समय गुस्साकी रूपमे आ गए तो हमारा भी सारा आशय बदल जायगा और जो बात आप कह रहे है उससे कभी अच्छी बात आप कह रहे है और हमारी समझमे यह रहे कि आप हितकी दृष्टिसे बात कह रहे है तो हमारा आशय विरुद्ध न बनेगा । तो जितना भी व्यवहार टिका हुआ है यह सब अन्त वार्तापर टिका हुआ है ज्ञानको हम किसको सही मानें किसको झूठ मानें इसका निर्णय इस ग्रन्थमे किया गया है ।

परीक्षाके सर्वसम्मत उपायकी वक्तव्यता—इस परीक्षामुखसूत्र जैसे वक्तव्यको समझे बिना कभी वस्तुके निर्णयमे सफल नही हो सकते । यो छोटी छोटी जानकारी रखकर अथवा ग्रन्थोमे जो कुछ सीधा सादा लिखा है उसे जानकर कोई सन्तोष मान ले—मैंने खूब अध्ययन किया है, मैंने तो सब कुछ अध्ययन कर लिया, वहा अधूरापन ही है । देखो, एक तो होती है कहनेकी जानकारी और एक होती है प्रतिभा । न्यायशास्त्रका प्रतिभासे सम्बन्ध है । किसी दूसरे पुरुषको हम अपने आगम शास्त्रकी कुछ बात कहकर उसे चुप करना चाहे तो वह चुप होगा क्या ? अजी साहब हमारे अमुक ग्रन्थमे तो यो लिखा है । लिखा होगा, तुम्हारे ग्रन्थ कपोल-कल्पित है, जो चाहे लिख दिया है, हर एक कोई दूसरोके लिए यही उत्तर दे सकता है । वहा तो युक्तियोसे सिद्ध करना होगा । और, युक्तियाँ वादी और प्रतिवादी दोनोके लिए मान्य हुआ करती है । शास्त्र, आगम दोनोके लिए मान्य नही हुआ करते । तो उन्ही युक्तियोसे प्रमाणोसे इस ग्रन्थमे बताया जायेगा कि किस शैलीसे युक्तिया निर्दोष होती

है और किस शैलीसे ज्ञप्तिक्रिया सदोष होती है। सदोष ज्ञान अप्रमाण है और निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नही होती अर्थात् सच्चे ज्ञानसे पदार्थकी सिद्धि होती है, सच्चे ज्ञानसे हितके प्राप्तिकी सिद्धि होती है और सच्चे ज्ञानसे ही अहितको छोडनेकी दृष्टि होती है। और, सच्चे ज्ञानसे ही उपेक्षा करके विश्रामसे स्थित होनकी दृष्टि होती है। तो समस्त कल्याण तो सच्चे ज्ञानपर निर्भर है और मिथ्याज्ञानसे सब अनर्थ ही अनर्थ होना है।

प्रमाणके एकवचनमे व्यापक दृष्टि—यद्यपि प्रमाण अनेक भेद वाले हैं जो आगे बताये जायेंगे। मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञानके भी अनेक भेद - जैसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, तर्क, अनुमान आदि अवधिज्ञानके भी अनेक भेदोमे प्रमाण बहुत विस्तृत हैं। प्रथम तो प्रमाणके ही भेदोमे परस्परमे बहुत विरोध है दार्शनिकोका। कोई दो ही प्रमाण मानते हैं, कोई तीन, चार, पाँच मानते, कोई एक अभाव मिलाकर एक प्रमाण अधिक मानते है तथा अर्थापत्ति प्रमाण छोड देते है। तो इनमे प्रमाणपरीक्षा की गई है, किसे प्रमाण कहते है, प्रमाण कितने होते हैं, कोई प्रमाण झूठा तो नही है, कोई वाहियात बात न आ जाय जो अप्रमाणभूत है। इस तरह आत्मज्ञान और प्रमाणकी परीक्षा की गई है। तो इस श्लोकमे जो एकवचनका शब्द देकर कहा है - प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है तो कोई यह कहे कि यो कहना चाहिए कि प्रमाणोमे अर्थकी सिद्धि होती है। तो यहा जितने भी प्रमाण कहे जायेंगे उन सब प्रमाणोमे जो एक लक्षण व्यापक है उस लक्षणकी मुख्यता रखकर एकवचन कहना सही बात है। जैसे कोई बडा युद्ध हो और उस युद्धमे सब लोग सफल हो गए तो लोग एकवचन करके भी बोलते हैं—देखो मनुष्य सब कुछ कर सकता है यह काम मनुष्यने किया। तो कोई कहे—वाह यह काम तो लाखो मनुष्योने किया, तो मनुष्य एकवचन कहनेसे सभीमे यह बात आ गयी। तो ऐसे ही प्रमाण शब्दका एकवचनसे निर्देश किया है तो उसमे प्रमाणका जो एक साधारण लक्षण है उस लक्षणकी दृष्टिसे प्रमाणको एकवचनसे कहा है।

सच्चे ज्ञानमे कल्याणकी सिद्धि होती है, जो तुम चाहो उसकी सिद्धि होती है और मिथ्याज्ञानसे अनिष्टकी सिद्धि होती है यह बात सही है ना। इसी कारण इस ग्रन्थमे सच्चे ज्ञानका और झूठे ज्ञानका लक्षण बताया जायगा। यह इस श्लोकका प्रयोजन है।

प्रमाणसे अर्थसिद्धिका समर्थन—प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है। प्रमाण नाम है ज्ञानका। सच्चे ज्ञानसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। अर्थके मायने है जो चाहा जाय। जो प्रयोजनके अर्थी हैं उनके द्वारा चाही हुई बात क्या है कि हेय का त्याग हो जाय, उपादेयका ग्रहण हो जाय। ज्ञानसे और क्या फल चाहते हो ?

ज्ञान करनेका यही फल है कि जो बात छोड़ने योग्य है, जिसमे अहित भरा है उसे छोड़ दे और जिसमे हित भरा है उसे ग्रहण करा दे। ज्ञानसे दो ही तो बाते होती है। तीसरी बात कही गयी थी कि जो उपेक्षा करने योग्य पदार्थ है उसकी उपेक्षा कर दे। तो उपेक्षा करना भी छुड़नेकी तरह है क्योकि जो उपेक्षा की जाने योग्य वस्तु है वह ग्रहण करनेकी नियाका कर्म नही होता। इसलिए उपेक्षा करना भी हेय करना समझिये। तो ज्ञानीके दो ही फल है कि छोडने योग्य चीजको छुडा दे और ग्रहण करने योग्य चीजको ग्रहण करा दे। इतना प्रकाश ला दे यह है प्रमाणका काम। तो अब समझ लीजिए कि जितना जो कुछ भी व्यवहार हो रहा, अर्थकी सिद्धि हो रही सब प्रमाणसे हो रहा है। तो प्रमाणसे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाय ऐसा प्रकाश उत्पन्न होता है।

सिद्धिके अर्थोमे प्राकरणिक सिद्धि—प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है, इसका अर्थ किया जा रहा है। सिद्धिका अर्थ तीन प्रकारसे होता है। जो चीज न हो उसकी उत्पत्ति हो जाना इसका नाम भी सिद्धि है। जो चीज चाही गई हो उसकी प्राप्ति हो जाना इसका नाम भी सिद्धि है। और उसके मर्मकी जानकारी हो जाना इसका भी नाम सिद्धि है। प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि कही गई है तो इसमे कौन सी सिद्धि ली गयी ? सिद्धिके तो तीन प्रकार है। जो चीज नही है उसकी उत्पत्ति हो जाना, इष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जाना व भावकी जानकारी होना। असत्की उत्पत्ति हो जाना, यह सिद्धि तो यहाँ ग्रहण नही की जा सकती है क्योकि ज्ञानमे अर्थकी सिद्धि होती है क्या इसका यह भाव बन जायगा कि ज्ञानसे जो चीज नही है वह उत्पन्न हो जाती है ? इसलिए असत्की उत्पत्ति होनेरूप सिद्धिका तो ग्रहण है नही। तब फिर दोनो सिद्धिया आती है। मन चाही चीजकी प्राप्ति हो जाना और उसके मर्मकी जानकारी हो जाना। ये दोनो प्रकारकी सिद्धियाँ सम्यग्ज्ञानसे हुआ करती हैं।

इस ग्रन्थमे सम्यग्ज्ञानका परीक्षण किया जायगा। सच्चा ज्ञान कौन हुआ करता है ? जिस सम्यग्ज्ञानके आधार पर ही सब कुछ हितप्राप्ति, अहितपरिहार व यथार्थ जानकारी सब कुछ निर्भर है उस सम्यग्ज्ञानकी परीक्षा करना आ जाय तो यह बहुत बडी प्रतिभाकी बात होगी। समीचीन सिद्धिका नाम है ससिद्धि। यहाँ प्रमाणके अर्थकी ससिद्धि होती है यह शब्द दिया गया है। भली प्रकार सिद्धि होनेसे मतलब यह है कि जिसमे अन्य कारणोके व्यवधानकी अटक न मानी जाय और सशय विपर्यय आदिक दोष भी न हो ऐसे अर्थकी सिद्धि होती है।

जातिभेदसे उपकारकार्यसिद्धिका ग्रहण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहाररूप सिद्धिमे भी मनुष्योकी जाति और प्रकृतिके भेदसे भेद हो सकता है।

किस बातमे हमारा और दूसरों का हित है, इस तरहसे अर्थसिद्धिकी व्याख्यामे विशेषरूपसे भेद हो सकता है मगर जिसे जो बात प्रयोजनकी हो उसे उस बातकी सिद्धि हो जाना यह अर्थसिद्धि है। यह सर्वत्र साधारणरूपसे है। जैसे हम आप लोगोको कोई नीमकी पत्तीका साग बनाकर खिलाये अथवा खाली नमक खूब भसकाये तो क्या यह हम आपको इष्ट है ? अरे नीमकी पत्ती मनुष्योको इष्ट नही है। ऊँट, बैल, भैंस वगैरहको इष्ट है। उनको तो नमक भी फकानेकी आवश्यकता होती है। न नमक फकाया जाय तो उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है। इन जानवरोको लोग छँटाक आध पाव तक नमक फका देते है, पर मनुष्योको ये चीजे इष्ट नही है। तो जाति और प्रकृतिका भी तो भेद होता है। जाति प्रकृति आदिके भेदसे उपकार करनेवाली अर्थसिद्धिका भेद तो हो जायगा, जैसे नीमकी पत्तीमें रहने वाले कीडे हैं, उन्हे तो नीम ही सुहाता है, या ऊँट आदिक जानवर हैं, उनका तो नीमकी पत्ती ही भोजन है। उन्हे तो जातिमे उस नीमकी पत्तीमे ही अभिलाषाकी बुद्धि उत्पन्न होती है, और हम आप लोगोकी अभिलाषा चन्दन आदिकमे रहती है, उनमें उन पशुओके द्वेष रहता है।

प्रकृतिभेदसे उपकारकार्थसिद्धिका ग्रहण —प्रकृतिभेदसे मनुष्योमे भी भेद निरखा जाता है। जिस मनुष्यके पित्त प्रकृति है उसे उष्ण चीजके स्पर्श करनेमे द्वेष होता है। पित्त प्रकृति वालेको ठडी चीज सुहाएगी, और जिसकी वातप्रकृति है उसके गर्म चीजके स्पर्शमे प्रेम होता है। तो पित्तप्रकृति वालेको उष्णस्पर्शमे द्वेष है और शीतस्पर्शकी अभिलाषा है और जिसकी वातप्रकृति है उसे गर्मस्पर्शकी अभिलाषा है और शीतस्पर्शसे द्वेष है। पित्त रोगवालेको आगका सेक कभी नही बताया जाता और वात रोग वालेको आगकी सेंकका भी प्रयोग किया जाता है। तो प्रकृति भेदसे अभिलाषाभेद है और उपकारकभेद है। तो यह भी अर्थसिद्धिमे गर्भित है। जिस व्यक्तिको जिस बातसे हित है उसकी सिद्धि होना उसकी अर्थसिद्धि है। तो सम्यक् ज्ञानसे अर्थकी संसिद्धि होती है। जो अभी जाति प्रकृतिके भेदमे जीवोके हितप्राप्ति अहित परिहारका भेद किया गया है यह बात सही है, इस बातको उनके ज्ञानकी दृष्टिसे विचारिये। वह ज्ञान असत्य नही है। हम पित्तप्रकृति वाले शीतस्पर्शमे हित समझें तथा दूसरे वातप्रकृति वाले उष्ण प्रकृतिमे हित समझें और वहाँ हम यह समझने लगे कि तेरी बुद्धि विपरीत है, तू उष्ण पदार्थको चाहता है तो उसके ज्ञानका हम अपने ज्ञानसे तौल करे यह बात तो न बनेगी। क्या हम यह कह सकते हैं कि उसका ख्याल झूठा है ? प्रकृतिभेदसे जो उपकारक अर्थ है उसे फिर बैठाते हैं, उसकी सिद्धिकी दृष्टिसे उसका ज्ञान प्रमाण है।

ग्रन्थकी परीक्षाप्रधानता—इस ग्रन्थमे ज्ञान ज्ञानका ही जिकर आयगा और व्यवहारिक ढगसे जिकर आयगा, जिसकी जरूरत हमे व्यवहारमे भी पडती है

और परमार्थ पुरुषार्थके लिए भी पडती है। इसका अध्यात्मसे भी प्रयोजन है और व्यवहारसे भी प्रयोजन है। ऐसा यह व्यापक परीक्षाग्रन्थ है। परीक्षा ही है प्रधान जिसमे उसे कहते है परीक्षामुख। परीक्षाका मुख है अथवा परीक्षाका आमुख है यह। जैसे किसी मनुष्यकी परीक्षा मुख से हुआ करती है। उसकी परीक्षा, उसका स्नेह, उसका सब कुछ जितना व्यवहार है उसका केन्द्र मुखस्थान है। कोई किसीसे बात करे तो उसके घुटनोमे बात न करेगा रूढि ऐसी है कि मुख देखकर बात करेगा। कुछ भी समझाना हो तो मुख देखकर समझायेगा। पैरोको घुटनोको देखकर कोई नही समझाता। तो जैसे व्यवहारपरीक्षामे, परिचयमे, व्यवहारमे मुखका स्थान है ऐसे ही ज्ञानकी परीक्षावोमे इस ग्रथका स्थान है। इसका नाम है परीक्षामुख।

हितकारितासे समीचीनताका प्रकाश–जो हितकी प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कराये ऐसा जो समर्थ ज्ञान है उसे सत्यज्ञान कहते है। यह चीज हितरूप है, यह चीज अहितरूप है यह व्यवस्था बनती है उपकारक चीज होनेसे और अपकारक चीज होनेसे। जो बात हमारे लिए उपकारक है वह हमारी हितकारी है और उसका ज्ञान सत्य ज्ञान है। जो हमारे लिए अहितकारी है वह हमारा अपकारक है और उसको ग्रहण कराने वाला ज्ञान झूठा है। केवल रुचिसे मतलब नही है और क्रियासे भी मतलब नही है, हित और अहितसे मतलब है। मिथ्यादृष्टि जीवोका मिथ्यात्वसे अहित होता है किन्तु वे तो मिथ्यात्वमे अपना भला समझते है, इस दृष्टिसे कही मिथ्यादृष्टि जीवका भ्रान्त ज्ञान सम्यक् नही कहलाने लगेगा। हितकारी भी हो वह ज्ञान सम्यक् है और प्रमाणभूत होता है। तो प्रमाणसे अर्थकी संसिद्धि होती है।

प्रमाणाभावसे अर्थसिद्धिका अभाव - अब दूसरे चरणका अर्थ लेते है कि प्रमाणाभाससे अर्थकी संसिद्धि नही होती। प्रमाणाभासका अर्थ यह है कि जो प्रमाण तो न हो और प्रमाणकी तरह मालूम पडे सो प्रमाणाभास है, ज्ञानाभास है। जो सही ज्ञान तो न हो पर सही ज्ञानकी तरह मालूम पडे वह ज्ञानाभास है। स्व और परमे समस्त जगत आ गया। स्वमे यह ज्ञाता निज खुद आ गया और परमे इस निज ज्ञाताके सिवाय शेष सर्व जीव और समस्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असख्यात काल द्रव्य। यो स्वपर प्रमेयके स्वरूपका प्रतिभास करने वाला प्रमाण होता है। जो ज्ञान प्रमाणकी तरह तो लगे पर वास्तवमे प्रमाण रूप नही है वह प्रमाणाभास है। इन प्रमाणाभासोका (झूठे ज्ञानोका) इस ग्रथमे विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा। जिन ज्ञानोसे धर्मका यथार्थ स्वरूप नही जाना जा सकता उनका तो इस ग्रन्थमे विस्तार पूर्वक वर्णन होगा ही, पर थोडा कुछ दिग्दर्शन करानेके लिए कुछ ज्ञानाभासोका दिग्दर्शन कीजिये जिन ज्ञानाभासोसे अर्थकी सिद्धि नही होती, जो अहितकारी ही होते है।

वैनयिकवादकी बुद्धिकी प्रमाणाभासता—प्रथम तो सर्वसाधारण मनुष्योके द्वारा सम्मत जो ज्ञान है, विनयवादीका जो ज्ञान है एक तो वही प्रमाणाभास है अर्थात् जो वैनयिकवादी है, जिनके परीक्षणकी प्रधानता नही है और सभी हमारे देव हैं, हमारे गुरु है, हमारे शास्त्र हैं, सभी धर्मोंमे एक बात है, सभी दर्शन एक रूप हैं, ऐसी विनयवाद की जो अवबुद्धि है, विचारहीन जो सकल सम्बधी ज्ञान है वह प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासके सम्बन्धमे इतनी भी बात समझ लेना चाहिए कि जो ९९ हिस्सा तक सच्चा सा लगे और जिसमे १ प्रतिशत भी असत्यकी गुजायश है वह प्रमाणाभास कहलाता है। शतप्रतिशत यथार्थज्ञानका नाम प्रमाण है। विनेय बुद्धि वालोने जहाँ सबको देव, गुरु, धर्म आदिक मान लिया उसमे कोई यथार्थ देव भी आ गया, यथार्थ गुरु भी आ गया, पर जहाँ यह ही यथार्थ है इसके अतिरिक्त अन्य नही इस प्रकार स्याद्वादकी पद्धतिसे विधिप्रतिषेधपद्धतिसे निर्णय नही होता है तो वह प्रमाणाभास है।

निर्विकल्प क्षणिक ज्ञानकी प्रमाणाभासता—एक निर्विकल्प ज्ञान, क्षणिक ज्ञान, क्षणिकवादियोने प्रमाण माना है। निर्विकल्पज्ञान यह शब्द सुननेमे बहुत सुहावना लगता है। कही निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाणाभास होगा। वह तो सच्चा प्रमाण है, मगर निर्विकल्प ज्ञानकी व्याख्या तो सुनो, जो निर्विकल्पवादी अपने सिद्धान्तमे व्याख्या करते हैं, उनके सिद्धान्तमे ज्ञान एक समय ठहरता है, दूसरे समयमे दूसरा ज्ञान होता है और ज्ञान क्या दूसरा आत्मा ही हो जाता है। क्षणिकवादमे निर्विकल्प ज्ञान माना है। उस ज्ञानके स्वरूपमें ज्ञेय ग्रहण नही, ज्ञेयाकार नही। किसी प्रकारसे यदि निर्णय किया जाय तो वह ज्ञान सविकल्प हो जाता है उस सिद्धान्त मे, और वह मिथ्या हो जाता है। तो बतावो निर्णायक ज्ञान सब मिथ्या है क्षणिकवादमे। और, जो निर्णायक नही, किसी बात को पुष्ट करने वाला नही, एक समय मात्रकी स्थितिका ज्ञान है वह प्रमाण है। ऐसा निर्विकल्प ज्ञान न हितकी प्राप्ति करा सकता न अहितका परिहार करा सकता। वह क्षणिक ज्ञान प्रमाणाभास है। जो योगी सम्मत, जैन शासनमे जिनकी पूज्यता कही गई है ऐसा जो भी, निर्विकल्प ज्ञान है वह ज्ञान भी सर्वथा निर्विकल्प नही है, किन्तु रागद्वेषके विकल्प नही रहे इसलिए वह निर्विकल्प है। परन्तु क्षणिकवादी तो स्वरूपसे ही ज्ञानको निर्विकल्प कहा करते हैं। वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? तो प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नही होती। इसको निरखते भी जाइये कि कौन लोग किस प्रकारके ज्ञानको सही मानते है और उस ज्ञानसे वास्तवमे अर्थ सिद्धि होती है या नही ?

सन्निकर्ष ज्ञानकी प्रमाणाभासता—कुछ लोग सन्निकर्ष ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियके द्वारा पदार्थोका भिडना हो तब वह सच्चा ज्ञान कहलाता है। कुछ थोडा जल्दी जल्दी सुननेमे कुछ अच्छा सा मालूम होता कि सन्निकर्षवादी ठीक

तो कह रहे है। जब तक हाथकी और चीजकी भिडत नही होती तब तक कैसे मालूम पडे कि यह ठडा है कि गर्म ? जब तक जीभकी और भोजनकी भिडत न हो तब तक कैसे मालूम हो कि क्या रस है। जब तक नाककी और उस चीजकी भिडत न हो तब तक क्या मालूम पडे कि इसमे गन्ध है। ऐसे ही आखोकी और चीजकी भिडत नही होती तब तक हमे वर्णका ज्ञान नही होता। ऐसी ही कानो और शब्दोकी भी बात है। तो कुछ ठीक सा लगता है कि सन्निकर्ष ज्ञान होता है। लेकिन ठीक कुछ नही है। ये भिडत प्रमाण है तो आत्मामे जो ज्ञानस्वरूप पडा है उस ज्ञानका विलास प्रमाण है ? इन सब बातोका बडे विस्तारपूर्वक इसमे खण्डन मण्डन आयगा जिसमे बडी-बडी नई बातें विदित होगी। यहाँ केवल इतना ही बताया जा रहा है कि जो सच्चे ज्ञानी नही है, प्रमाणाभास है, उन प्रमाणाभासोमे अर्थकी सिद्धि नही होती, झूठे ज्ञानसे कल्याणकी सिद्धि नही होती।

अस्वसवेदी ज्ञानकी प्रमाणाभासता—कुछ लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि ज्ञान सब अप्रत्यक्ष होते है। ज्ञानसे पदार्थ जाना तो जाता है, पर ज्ञानका थाह वह ज्ञान नही पाता जिस ज्ञानसे हमने पदार्थ जाना है। वह ज्ञान सच्चा है इसका ज्ञान करनेके लिए हमे एक नया ज्ञान उत्पन्न करना पडता है, फिर उस ज्ञानसे भी जो यह जाना कि यह ज्ञान सच्चा है ऐसा ज्ञान करने वाला वह ज्ञान सच्चा है या नही इसकी जानकारीके लिए तीसरा ज्ञान करना पडता है। इस तरह उन ज्ञानोकी सच्चाई जाननेके लिए ज्ञान ही ज्ञान करना पडता है। इतना बडा व्यवसाय करनेके बाद फिर हम यह निर्णय कर पाये कि हमने जो इस पदार्थको जाना वह सही है। कितनी लपेट उन ज्ञानोमे डाली गई है। इसे कहते है अस्वसम्विदितज्ञान। जो ज्ञान खुदके स्वरूपको न जान सके वह अस्वसम्विदितज्ञान ही प्रमाण है। स्वसम्वेदीज्ञान तो होता ही नही है ऐसा कुछ लोगोका कहना है। लेकिन यह प्रमाणाभास है। कोई दीपक जल रहा है और उस दीपककी वजहसे कमरे मे ठहरे हुए सब पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है जब कोई कहता है कि दीपक उठा लावो उस कमरेसे, तो क्या कोई यह कहता है कि दूसरा दीपक लावो तो हम दीपक उठा लायें ? अरे उस दीपकमे दूसरेको और खुदको प्रकाश करनेकी कला पडी है। जलते हुए दीपकका ही नाम दीपक है दीपको ढूँढनेके लिए दूसरे दीपककी जरूरत नही पडती। ऐसे ही ज्ञानको यह सच्चा है ऐसा समझनेके लिए दूसरे ज्ञानकी जरूरत नही पडती। तो जो अन्य अन्य प्रकारसे ज्ञान माना है और ज्ञानकी तरह लगता है किन्तु वास्तवमे यथार्थ ज्ञान नही है, वह सब प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासोसे अर्थकी सिद्धि नही है।

अप्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपकी प्रमाणाभासता—मतव्य ऐसा है कि जो ज्ञान दूसरे पदार्थको जानता है उस ज्ञानका कभी भी प्रत्यक्ष नही हो सकता। न अपने ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होता है और न दूसरे ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होता है। अस्वसम्वेद्य

ज्ञानमे यह बात थी कि ज्ञान अपनेको नही जानता, दूसरे पदार्थको जानता और उस ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता होती है। तब अन्य ज्ञानके द्वारा ज्ञात प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु किसीका मतव्य है कि कभी भी ज्ञान प्रत्यक्ष नही होना, ऐसा अत्यन्त अप्रत्यक्ष ज्ञानका मतव्य प्रमाणाभास है। प्रमाणसे तो अर्थकी सिद्धि होती है, प्रमाणाभासोसे अर्थोकी सिद्धि नही होती है। इस प्रकरणमे कुछ प्रमाणाभासोका वर्णन चल रहा है।

अनाप्तागमज्ञानकी प्रमाणाभासता – कुछ ज्ञान अनाप्त पुरुषोके द्वारा रचे गए आगम सम्बन्धी होते है। जो पुरुष निर्दोष नही है, सर्वज्ञ नही है, अपने आपका जो भ्रममे रक्खे हुए है ऐसे पुरुषोने भगवानका नाम देकर ग्रन्थ रचना की है, उनमे जो बचन हैं, ज्ञान हैं वे प्रमाणाभास हैं, जिनके वचनोमे पूर्व अपर विरोध हो और जो आत्माका प्रयोजन शान्ति और निराकुलता है उसके साधक न हो प्रत्युत रागद्वेष कामको ही बढाने वाले हो ऐसे बचन अर्थकी सिद्धि नही कर सकते। अतएव वे भी प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासोसे अनर्थ ही होता है। भगवानकी भक्तिके नामपर अनेक प्रकारके राग श्रृङ्गारमे मस्त रहना और अपने आपके वैराग्यकी सम्हाल न हो सकना ये सब बात अनाप्त आगमसे हुआ करती हैं।

अनुमानाभासकी प्रमाणाभासता – लोकमे छद्मस्थ जीवोमे एक व्यापक हुआ ज्ञान अनुमान हुआ करता है। अनुमानमे मुख्य तीन अङ्ग होते है–एक आधार जिसे पक्ष कहते है और एक साध्य जिसकी हमे सिद्धि करना है। और, एक साधन जिस कारणसे हम सिद्धि करेगे। अर्थात् साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान हैं। तो साधन ऐसा होना चाहिए कि उस साध्यके बिना कभी रह न सके। साध्यका अविनाभावी हो तब तो साध्यका, साधनसे ज्ञान होगा। यदि कोई साधन साध्यके बिना भी रहता हो तो उससे साध्यका नियम नही रह सकता। तो अनुमानमे प्राण तो अविनाभावी चिन्ह है। जिस अनुमानके साधनमे अविनाभाविता न रहे उस साधनसे अनुमान सिद्ध करनेका प्रयास अनुमानाभास है। प्रमाणाभासमे अर्थकी सिद्धि नही होती है। लक्षणके वर्णनमे बडे-बडे ग्रन्थ तैयार हैं, और कितना ही वर्णन करते जावो अनुमानखण्डका विषय ही दर्शनशास्त्रमे अलगसे एक बडा विषय है, पर अविनाभावके नियमको तोडकर अन्य-अन्य युक्तियोसे अनुमानोसे बडे श्रृङ्गार किए जाये तो भी वे निष्प्राण है। अविनाभावसे रहित अन्य प्रकारसे जो अनुमान बनाये गए हैं वे सब अनुमान अनुमानाभास हैं, प्रमाणाभास हैं। प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नही होती। यह कुछ सक्षेपमे दार्शनिकोकी दृष्टिसे प्रमाणाभास बताया है।

सशयज्ञानकी प्रमाणाभासता अब कुछ अन्य साधारण प्रमाणाभासोको सुनिये। जो दर्शनशास्त्रमे भी उपयोगी है और हमारे व्यावहारिक कामोमे भी उप-

प्रमाणाभासोसे अर्थसिद्धिका अभाव—इन सब प्रमाणाभासोसे अर्थकी सिद्धि नही होती। अर्थ मायने जो अभीष्ट हो, उपकारक हो, ऐसी हितकारी बातकी सिद्धि अनध्यवसायसे, नही होती, न ·ससे स्वर्ग अपवर्गकी सिद्धि होती है। मिथ्या तप करनेपर भी कुछ मिथ्याके कारण स्वर्ग नही मिलता, किन्तु उस स्थितिमे भी जो कषायकी मदता है उसके कारण स्वर्ग मिलता है। मिथ्या बातोसे लौकिक सद्-गति भी नही प्राप्त होती। मनुष्य तो गु ग अवगुणका पिण्ड है। गुणोसे सद्‌गति है अवगुण से नही। अपवर्गका नाम है मोक्ष। जहाँ धर्म, अर्थ काम ये तीन वर्ग नष्ट हो गए उसे अपवर्ग कहते है। धर्म, अर्थ, इन तीनका पुरुषार्थ जहाँ खतम हो चुका, अर्थात् जो कृतकृत्य हो गया उसे कहते है अपवर्ग। धर्मका अर्थ है यहाँ पुण्य। ो त्रिवर्गमे धर्म शब्द दिया है उसका अर्थ पुण्य है। वह मोक्ष पुरुषार्थमे शामिल है। त. स्वर्ग अपवर्गकी भी प्रमाणाभाससे सिद्धि नही है। और, इस लोकके भी सुख आदिकके साधनोंकी प्राप्ति होना या आ ाकारी होना यह भी सिद्धि नही रोती है प्रमाणाभाससे।

मिथ्यात्वकी महान विपदा—भैया ! सच पूछो तो जीवपर सबसे बडी आपत्ति मिथ्याज्ञानकी है। जैसे मिथ्याज्ञानसे ग्रस्त पुरुष किसी भी आधारपर टिक नही पाता, सशय, विपर्यय अनध्यवसायकी प्रमाणाभासतामे रहने वाले पुरुषोके जैसे कही समीचीन स्थिति पर टिकाव नही हं ता है ऐसे ही अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान न होनेपर ज्ञानाभासके अधकारमे रहने वाले पुरुषोको कही स्थिरता नही मिलती। ये ससारके सुख क्या कोई सुख है। थोडी देरको पुत्रकी चेष्टापर खु श हो रहे और थोडी देर बाद उसीपुत्रकी चेष्टाको देखकर धक्का लगता। थोडी देरको धनकी सम्हाल करते हुएमे मौज मान रहे और थोडी ही देरमें उसी धनके कारण कहो प्राण चले जायें। लेकिन इन्हे सुख माननेका जं भ्रम लगा है इस भ्रमसे ये ऐसे वेहोश हैं कि न तो समागमके कालमे ही शान्ति पा सकते हैं और न वियोगके कालमे ही शान्ति पायेंगे। तो प्रमाणाभासोसे अर्थकी सिद्धि नही होती है।

प्रमाणकी प्रधानता—इस श्लोकमे प्रमाण और प्रमाणाभासमे क्या होता है यह वर्णन किया गया है। प्रमाणसे अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हं ती है और प्रमाणा-भाससे हितकारीकी सिद्धि नही हं ती। सबसे पहले प्रमाणकी बात कही है। इसके बाद प्रमाणाभासकी बात कही है क्योकि प्रधान, समीचीन, हितकारी, उपकारक ही प्रमाण है। इस श्लोकमे दो अर्थ किए गए थे–एक अर्थमे तो भगवानका स्तवन होता है और एक अर्थमे इस ग्रन्थमे जो भी कहा जायगा उसका सकेत होता है। प्रमाणका अर्थ है भगवान। जहाँ प्रकृष्ट अन्तरङ्ग वहिरङ्ग लक्ष्मी और दिव्य ध्वनि हो उसे प्रमाण कहते है।

भगवान प्रकृष्ट माता—भगवा प्रमाता है। प्रमाताका यह भी अर्थ लगा

लो । एक तो होती है माता और एक होती है प्रकृष्ट माता । भगवान हमारी उत्कृष्ट मा है । जैसे माता बालकोका अनुशासन करती है । उपदेश आज्ञा और दन्ड विधान इन तीन पर जिसका प्रभुत्व है वह माँ सच्ची माँ कहला सकती है । कोई माँ बालकपर प्यार ही प्यार करे और हितका उपदेश न करे, वह बालक अहित कार्यमे लगे, उसे माँ दण्ड न दे तो वह माँ अपने मातृत्वकी जिम्मेदारी नही निभा सकती । वह तो एक तरहका पशु जीवन जैसा मोह है । जैसा पशुओमे मोह रहता है, पशु भी अपने बच्चेको यदि वह कुछ हैरान करे तो वे सीग मार देते है तब समझलो—जो बालक जैसा चाहे मनमानी करता है और उसकी माँ सब ओरसे आख बन्द करके उसे अपना मानती रहे, यह तो मेरा ही है तो वह माका मातृत्वका कार्य नही है । तो जैसे माता अपने बालको हितका उपदेश करके हितकी आज्ञा देती है और हितके विरुद्ध चले तो उसे दण्ड भी देती है इसी प्रकार भगवान अरहतदेवके शासनमे जीवोके उद्धारके लिए तीन व्यवस्थाये है —

जिनशासनका अनुशासतृत्व जिनशासनमे कैसा प्रेम हितका उपदेश भरा हुआ है, कितने कोमल शब्दोमे भेदविज्ञानके लिए प्रेरणा दी गई है—हे आत्मन् ! तू कुछ विराम ले, व्यर्थका कोलाहल मत मचा, कुछ समय स्वय ही अपने आपमे विश्राम लेकर अनुभव तो कर, यह देह तो पुरानी है और मैं इस देहसे न्यारा हूँ । देख समस्त परपदार्थोसे जब तेरी आसक्ति हटेगी, अपने आपके स्वरूपकी झाकी होगी तो तुझे ऐसा अद्‌भुत आनन्द प्रकट होगा कि फिर तुझे किसीसे यह जाननेकी भी जरूरत भी न होगी कि हम कल्याणके लिए क्या काम करे । स्वय ही अपने आपकी परिणतिसे उत्तर आ जायगा । । इस तरहसे अपने आपमे एक ज्ञाता द्रष्टा रहनेका ही पुरुषार्थ करनेमे कल्याण है । भगवान अरहतदेवके शासनमे हमे हित ही मिल रहा है और हितकी आज्ञा भी किसी उपदेशको कठोर शब्दोमे कहनेका ही तो नाम आज्ञा है । यदि तुम ऐसा कर गे, आत्मदृष्टि न करोगे तो देखो—ससारमे रुलोगे । तुम्हें यह करना चाहिए, आज्ञा देते है । कोई कुपूत माँकी हितकी आज्ञा न माने तो यह कुपूतकी बात है पर मा हो तो वह हितकी आज्ञा अवश्य देगी ।

जिनशासनमें पापशुद्धिविधान—जिनशासनमे हमे हितकी आज्ञा भी है और हितके विरुद्ध चले तो उसका दन्डविधान भी अरहतदेवने प्रसिद्ध किया है । तपश्चरण, सामायिक आदि दण्डरूप ही तो हैं । हम विरुद्ध चलते है तो उसके लिए उपाय बताया है—तुम विषयोमे बहुत लगे, तुम्हे अब तपश्चरण करने होगे तब तुम्हारा विषयोके लगावका पाप धुलेगा । तो जहाँ मातृत्वके सब गुण भरे हो उसे हम प्रमाता कहे तो क्या हर्ज है ? और, तीन लोक अलोकके समस्त पदार्थोका यथार्थ ज्ञाता ईश्वर प्रमाता है । तो ऐसे प्रमाणसे अर्थात् सर्वज्ञ भगवान अरहतदेवसे अर्थकी सिद्धि होती है । जिस तत्त्वसे हमारा उपकार होता है उस तत्त्वकी सिद्धि

होती है। और, प्रमाणाभाससे जो कि प्रमाता तो नही है, सर्वज्ञ निर्दोष तो नही है पर अपने आपको उनके तुल्य मानते हैं उनके अर्थकी सिद्धि नही होती है। यह एक प्रभुत्ववचनरूप अर्थ निकला।

प्रमाणकी प्रधानताका कारण ग्रन्थमे उपकारी वक्तव्यका सकेत है कि सच्चे ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि होती है और मिथ्या ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि नही है। इसमे प्रधान प्रमाण है क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, और मोक्षकी प्राप्ति ही समस्त पुरुषार्थोंमे उपकारी है। उत्कृष्ट पुरुषार्थ है मोक्ष मार्गमे लगना। जो बुद्धिमान लोग होते हैं उनका जितना भी प्रयास है वह मोक्षके लिए है। यहाँ भी देखलो जितना भी आपका प्रयास है वह दुःखसे छूटनेके लिए है। सभी मनुष्योंका प्रयास दुःखसे छूटनेके लिए है। सर्व प्रकारके दुःखोंमे छूटनेका जो प्रयास है उसका नाम मोक्षमार्ग है। तो दुःखोंसे छूटनेका उपाय सम्यग्ज्ञान है। जिसका दिमाग सही नही है, विवेक नही है वह दुःखसे छूटनेके उपायमे लग नही सकता। तो सम्यग्ज्ञान प्रधान है, प्रमाण प्रधान है। और, यह भी देख लीजिए कि प्रमाणसे ही यह प्रमाण है या प्रमाण नही है इसका निर्णय होता है। प्रमाणाभास किस काममे आता है। प्रमाणाभास न खुदकी प्रधानताका निश्चय कर पाता है। भ्रम करना और बात है, किन्तु प्रमाणसे यह प्रमाण है, यह प्रमाणाभास है इसका निर्णय होता है। इन कारणसे प्रमाण और प्रमाणाभासका निर्णय करना अति आवश्यक है। और, इसी कारणसे इस ग्रन्थमे प्रमाण और प्रमाणाभासका लक्षण कहा जायगा।

ग्रन्थरचनाकी अनावश्यकतापर आशका—इस समय एक शका की जा सकती है कि यह तो बतावो कि जो कुछ तुम ग्रन्थमे कहना चाहते हो वह पूर्व शास्त्रोंसे सिद्ध है, निर्णीत है या नही ? पुराने ऋषियोंने बताया है या नही, भगवानके आगममे लिखा है या नही ? यदि पूर्व शास्त्रोंने सिद्ध नही है तो ऐसी बात आपको कहनी न चाहिए, जो सर्वऋषिसम्मत न हो, जो भगवानकी परम्परासे चला आया हुआ न हो, केवल अपनी रुचिसे कहा गया हो वह तो मिथ्या है। यदि वक्तव्य प्रथमत सिद्ध है, पूर्वशास्त्रोंमे प्रसिद्ध है तो सिद्ध तो सिद्ध है ही, उसे फिर सिद्ध करनेका प्रयास करना पिसे को पीसनेकी तरह है उसे फिरसे क्यो कहना। जब वह बात सिद्ध हो गयी, सर्वमे सम्मत है, भली प्रकार सिद्ध है तो फिर उसे क्या कहना ? इसलिए इस ग्रन्थकी रचनाका प्रयास तुम्हारा व्यर्थ है। इसके उत्तरमे तीन विशेषण दिये हैं—"सिद्ध अल्प लघीयस"।

ग्रन्थरचनाकी आवश्यकताका वर्णन—इस ग्रन्थमे हम जो कहेंगे वह पूर्वशास्त्रोंसे सिद्ध है इसलिए असिद्ध वाला दोष तुम दे नही सकते। और, जो वक्तव्य होगा वह अल्प है और लघुबुद्धिवालोंके उपकारार्थ है इसलिए सिद्धको पिष्टपेषण

वाला दोष भी तुम दे नही सकते । अर्थात् अकलङ्क देवादिक आचार्योके ग्रथ बहुत विस्तारसे है, जो प्रसिद्ध है उस प्रसिद्धको लघु बुद्धिवालोके लिए अति सक्षेपमे जिससे उनका काम जल्दी ब। जाय इस थोडेसे जीवनमे, उनके लिए कहा जा रहा है । जो बुद्धिमान जन है वे तो इस प्रसिद्धको जानते ही हैं लेकिन जो लघुबुद्धि है उन्हे सक्षेपमे चाहिए और भी कुञ्जीरूप । कभी आपने देखा होगा किसी वक्ताके व्याख्यानमे जब बहुत विस्तारका व्याख्यान चलता हो और उस विस्तारमे कोई नवीन नवीन अद्भुत बात न आती हो तो उसके सुननेमे ऊब आने लगती है । और, सक्षेपमे थोडा उस वक्तव्यका मर्म बताया जाय तो ऐसे व्याख्यानकी उपयोगिता है । ऐसे ही सक्षेपमे ज्ञानके निर्णयकी बात इस ग्रथमे कही जायगी इस कारण हमारे ये दोनो दोप ग्रन्थकारके लिए नही आते । यह ग्रथ लघुबुद्धि वाले पुरुषोके लिए बनाया गया है और यह सिद्ध है । हम अपनी रुचिसे नही बना रहे है कि जो हमारे दिमागमे आये वैसा ही गढ दे, किन्तु जो आगम परम्परासे है, सर्वज्ञपिमम्मत है उसे ही कहेगे । यो इस ग्रथकी रचनाका प्रयास जो अतिलघुबुद्धि जन है उनके लिए किया गया है । इस ग्रथमे सच्चे ज्ञान और मिथ्याज्ञानके निर्णयकी बात कही जायगी जिससे हम यह परीक्षा कर सकें कि ऐसा ज्ञान तो सच्चा ज्ञान होता है और ऐसा ज्ञान मिथ्या ज्ञान हुआ करता है ।

प्रमाणके लक्षणका निर्देशन प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है । तो जिस प्रकार अर्थकी सिद्धि हो सके उस प्रकारसे प्रमाणका लक्षण बताना चाहिए । और, यह प्रकार हो सकता है व्यक्तिगत प्रमाणके लक्षणके विवरणसे । अर्थात् अमुक ज्ञानमे यह सच्चाई है इससे सिद्धि है तो व्यक्ति-व्यक्तिरूपसे प्रमाणके लक्षणकी उसमे अपेक्षा है कल्याणार्थी पुरुषोको । लेकिन वह व्यक्ति प्रतिव्यक्ति लक्षण एक साधारण लक्षणपर अवलम्बित है । जैसे मनुष्योमे प्रत्येक मनुष्योमे अलग-अलग भेदपूर्वक मनुष्य सामान्य जान लेनेके बाद हुआ करता है, मनुष्य सामान्य तो पहिचान लिया जाय फिर मनुष्य विशेषको भी जाना जाय, उनका विवरण किया जाय । तो प्रमाणोके विशेष लक्षणोका वर्णन सामान्य वर्णन पूर्वक होगा । तो सर्वप्रथम प्रमाणका सामान्यरूपसे लक्षण करते है । इससे पहिले प्रमाणके स्वरूपमे ही विवाद न रहे और उसके आधारपर हम प्रमाणोके लक्षणोके विवरणमे सफल हो सकें, एतदर्थं सर्वप्रथम इस ग्रन्थमे प्रमाणके लक्षणका निर्देश करने वाले सूत्रका अवतार होता है ।



स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।।१।।

वक्तव्यका प्रारम्भ और मगल आचार—जैसे कभी किसी विशेष अनुराग पात्र गुणी पुरुषसे मिलाप होता है तो उसके गुणोके अत्यन्त अधिक अनुरागमे

उसको नमस्कार आदिक अन्तेम्य व्यवहार क्रियावोका भी ध्यान नही रहता और एकदम गुणोका दर्शन करके हर्षमे आह्लाद हो जाता है और गुण वर्णनके लिए अपनी किसी गद्गद् भाषामे बन उठता है तो उसका वही मंगलाचरण है। अनेक ग्रन्थोमे ऐसा होता है कि मंगलाचरणके बिना ही ग्रन्थ शुरू कर दिया, पर उस प्रारम्भके सूत्रमे कोई गुणकीर्तन या गुणस्मरणका कोई ढग होता है। जैन तत्त्वार्थ-सूत्रको एकदम सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग कह कर रच दिया। उसका व्यावहारिक प्रकट मंगलाचरण कोई नही है, तो यही सूत्र मंगलाचरणरूप है। किसी भी गुणकी महिमापर दृष्टि पहुँचे इससे और अधिक मंगलाचरण क्या कहलाता है। इसीप्रकार अन्य ग्रन्थोमे भी जो अन्य दार्शनिकोके हैं अनेक ग्रन्थोमे मंगलाचरणके बिना ही सूत्र रच गए हैं। जैसे एक न्यायविवरणसूत्र है उसमे सबसे पहिले यह सूत्र दिया है—"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धि" अर्थात् समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है पुरुषार्थका भी चित्रण हो गया उपयगमे और सम्यग्ज्ञानका भी चित्रण हो गया। यह तो मंगल आचार है। इस सूत्रका अर्थ है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। इस लक्षणके कहनेमे ज्ञानका पूर्णस्वरूप और अनेक विशेषताएँ एकदम उपयोगमे प्रकट हो जाती है तो ऐसे सहज ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, प्रमाणभूत ज्ञानका स्तवन करना कीर्तन करना लक्षणाख्यान करना यह सब मंगलाचार है।

सूत्रमे प्रत्येक शब्दकी सार्थकता—इस ग्रन्थमे समस्त वक्तव्यका आधारभूत यह प्रथम सूत्र है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक प्रमाण प्रमाणका ही वर्णन होगा। हैं तो थोडेसे ही सूत्र, तत्त्वार्थसूत्रसे आधेसे भी कम सूत्र हैं, चौथाई होंगे, किन्तु इनका वक्तव्य बहुत है। वह वक्तव्य सिद्धान्तके ढगसे, न्यायके ढगसे, युक्ति, खण्डन मण्डनके ढगसे है। प्रमाणका लक्षण कह रहे हैं—जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान हो वह प्रमाण है। इस शब्दयोजनामे बहुत रहस्य भरे हुए है। इसमे इतनी बातोका प्रकाश होता है कि स्वका भी निश्चयात्मक हो, जो ज्ञान जान रहा है पर पदार्थोंको वह ज्ञान अपने ज्ञान स्वरूपका भी निश्चय करने वाला हो। और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला हो वह ज्ञान प्रमाण है। कोई एक चीज, जान रहे है वैसी की ही वैसी लगातार जानते रहे, उसमे कुछ अपूर्वताकी बात न आये तो ऐसे ज्ञानको एक धारावाही ज्ञान कहते हैं, वह भी प्रमाण कोटिमे नही है। जो स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक हो वह ज्ञान प्रमाण है।

सयुक्तिक शैलीसे प्रमाणस्वरूपकी सिद्धि—अब चूँकि यह न्याय शास्त्रका ग्रन्थ है तो इसमे कुछ भी बात न्यायशास्त्रके ढगसे हो कहनी चाहिए। तो यही सीधी बात है, इसे अगर युक्तियोसे सक्षिप्त शब्दोमे कहे तो यो कहना होगा कि स्वापूर्वव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है अन्यथा प्रमाणता बन नही सकती यह युक्ति

बन गयी। न्यायशास्त्रमे हेतुकी प्रधानता होती है, इसमे हेतु देकर युक्ति लेकर बात बोलनेकी प्रधानता है। सिद्धान्तकी बात कही जाय उसे यदि हेतुके शृङ्गारमे सजा कर कहा जाय तो वह दार्शनिक शैली हो जाती है। सिद्धान्त शैली और दार्शनिक शैलीमे यह अन्तर है। या यों कहलो कि बूढे बुजुर्गोकी बातमे और जवानोकी बातमे इस ढगका अन्तर है। स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है क्योकि प्रमाण होनेमे इतना इसका अनुमान बना। जो जो स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक न हो वह प्रमाण नही होता। इस कारण प्रमाणका लक्षण स्व अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही कहना चाहिए।

प्रमाणमे स्वव्यवसायात्मकता —इस प्रसगमे जो स्व शब्द दिया है इसका अर्थ आत्मा न लेना कि ऐसा अर्थ करने लगो कि जो आत्माका और परपदार्थोंका निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण है। दार्शनिक शैलीमे और प्रमाणके इन लक्षणोमे अभी यह बात नही कही गयी। यहाँ पर "पर" शब्द दिया ही नही गया। स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे आत्माका निश्चय करने वाला हो चाहे पर पदार्थोका निश्चय करने वाला हो सब अपूर्व अर्थमे सम्मिलित है, उनका ज्ञान प्रमाण है। तब स्व शब्दसे ज्ञानका स्व लेना। जो जानने वाला ज्ञान है वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है। मैं सत्य हूँ और पदार्थकी जानकारीका भी निश्चय करता हूँ कि यह पदार्थ इस प्रकार है। अथवा ज्ञान व आत्मामे अभेद है इस कारण स्व शब्दसे आत्माका ग्रहण हो ही जाता है।

ज्ञानकी प्रमाणताका निरूपण—परिमितवादियोके जितने भी शब्द निकलते हैं उन शब्दोमे रहस्य और अन्यका व्यवच्छेद पडा हुआ होता है। जिस शब्दके कहे बिना काम नही चल सकता उस ही शब्दको बुद्धिमान लोग कहते है। फालतू बात कहनेकी प्रतिष्ठा नही है। तो इस लक्षणमें स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान ये ५ शब्द दिए गए हैं प्रमाणके लक्षणमे। और, इन ५ शब्दोमे बहुत-बहुत दार्शनिक रहस्य भरे है। प्रथम तो ज्ञान शब्दको ही लीजिए। ज्ञान प्रमाण है यह कहनेकी क्या जरूरत पडी है। क्या कोई दार्शनिक ज्ञानको छोडकर अन्य चीजोको भी प्रमाण मानते हैं ? हां मानते है। ऐसे भी दार्शनिक है जो ज्ञानको प्रमाण न कहकर ज्ञानातिरिक्त पदार्थोंको, अज्ञानको प्रमाण कहते हैं। यह बात एकदम सीधा कहनेमे चाहे समझनेमे न आये जल्दी कि ऐसे कौनसे दार्शनिक होगे जो ज्ञानको छोडकर अज्ञानको भी प्रमाण माने, दर्शनक्षेत्रमे उतरनेपर यह सब विदित हो जाता है।

कारकसाकल्यकी प्रमाणताका पक्ष—एक दार्शनिक है—कारकसाकल्यवादी। उसके सिद्धान्तमे कारकसाकल्य प्रमाण है। कारकसाकल्यका अर्थ यह है कि जैसे हमारे व्यवहार ज्ञानमे जिन-जिन साधनोकी आवश्यकता पडती है जैसे प्रदीपकी

जरूरत पडे, इन्द्रियकी जरूरत पडे, किसी साधनकी जरूरत पडे, लोकके समागमकी आवश्यकता पडे पुस्तककी जरूरत पडे, मास्टरकी जरूरत पडे, इन सबका जो जुडाव है, मिल जाना है वह प्रमाण है। इसमें ज्ञानकी बात नही कही गयी है। मोटी दृष्टिमे व्यवहारभाषामे व्यवहारी जनोको यह बात कुछ ठीकसी लगती है यह ही तो प्रमाण है। कारकसाकल्य प्रमाण न हो तो यह बात कैसे बने कि यह जगर सही रखी हुई है यह प्रकाश आदिक सब पदार्थोंका जो जुटाव है वह प्रमाण है। कोई यदि उनसे यो प्रश्न करे यो तो सारी जरूरतें पडी हैं दुनियांमे। क्या हमारे प्रमाणमे ये सब प्रमाण आते हैं ? तो उनका कहना है कि नही, जरूरत अवश्य है, जिसमे अव्यभिचारता है जिसमे अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव आदिक कुछ दोष नही हैं, सशय आदिक जिसमे कुछ ऐब नही हैं ऐसे साधनोंका जो जुडाव है वह प्रमाण है। लो अब तो प्रमाणताकी एक और छाप लगा दी।

कारकसाकल्यके मतव्यमे ज्ञानकी अदृष्टि—कारकसाकल्यकी प्रमाणताके मन्तव्यमे यहाँ यह विचार कीजिए कि इस दार्शनिकका ज्ञान पर झुकाव नही है और इसमे यह हेतु दिया है कि कारकसाकल्य प्रमाण है क्योंकि साधकतम होनेसे। साधनोमे जो खास-खास साधन हैं, जिनके बिना काम नही चलता उन्हे कहते हैं साधकतम। प्रकाश बिना, इन्द्रिय बिना, समागम बिना, ग्रन्थ बिना प्रमाण नही होता, तो यह साधकतम है। घडी देखे बिना समयका ज्ञान नही होता तो घडी भी प्रमाण है। देखिये यह सब सुननेमे बहुत सुहावना लगता है। यह सब प्रमाण ही तो है। किन्तु, प्रमाण तो ज्ञान ही होता है। भैया ! कुछ लोग कारकसाकल्यको ही ज्ञान कहते हैं साधकतम होनेसे। सो ये कारकसाकल्यमे कारकोको प्रमाण मानते हैं। कारकसाकल्यवादी जन कारकोको विषय करके जो जानकारी बनती है उस जानकारीको प्रमाण नही कह रहे।

अज्ञानरूप कारकसाकल्यमे प्रमाणताकी अनुपपत्ति—यदि भिन्न कारकोके समूहको प्रमाण मान लेगे तो इसका अर्थ है कि ये ही सब जानने वाले हो गए। सो यह कारकसाकल्य अज्ञानरूप है। अज्ञानरूप कारकोका समूह स्व और परके जाननेमे साधन नही बन सकता। जैसे ये प्रमेय पदार्थ पडे हैं, ये अज्ञानरूप हैं, ये जानकारीके साक्षात् साधकतम नही बन सकते इसी प्रकार कितने भी हेर फेरसे कारक इकट्ठे कर लिए जायें तो भी इनमे प्रमाणता नहीं आती। प्रमाणता ज्ञानमे ही होती है। जाननेमे साधकतम कारकसाकल्य नही है, ज्ञान ही है। जाननेमे साधकतम ज्ञानी ही है, पदार्थ नही है यह छाट की जा रही है। हमारे किसी भी जाननेमे १०-२० पदार्थ विषयभूत होते हैं और उनमेसे कम रह जायें तो जानना भी नही बनता। प्रकाश न हो जानना न बनेगा, आखे न हो ठीक तो जानना न बनेगा, इतने पर भी आखें प्रमाण नही हैं। प्रकाश प्रमाण नही है। कारकोका ढेर प्रमाण नही है, किन्तु यह

ज्ञान ज्योति प्रमाण है। जो जाननेकी क्रियामे साधकतम हो याने खास साधन हो, अनिवार्य साधन हो वह प्रमाण होता है।

प्रमाणमे ज्ञानकी ही साधकता -यहाँ एक चर्चा उपस्थित हुई है कि साधकतमको तुम प्रमाण मानते हो तो कोई पुरुष कुल्हाडीसे लकडी काट रहा है तो लकडी काटनेका साधन है कुल्हाडी। जिसके द्वारा लकडी काटी जाय वही तो साधकतम है काटनेका। साधकतम कहते है करणको। जो साधकतम हो वह प्रमाण है इस पर कोई कहे कि वाह, जाननेमे साधकतम तो एक प्रकाश है तो फिर प्रकाश प्रमाण हो जायगा क्या ? कहते है-"नही"। प्रकाश जाननेमे साधकतम नही है। जाननेमे साधकतम तो ज्ञान ही है, पर कारकसमूह निमित्त है इसलिए उपचारसे कारकसाकल्यको साधकतम कहते हैं।

साक्षात् साधकतममे साधकत्वकी प्रतिष्ठा -भैया ! तुमने हमने जो कुछ जाना। साधारण लोग तो यह कहेगे—वाह, प्रकाशके ही द्वारा तो जाना, न प्रकाश हो तो हम जाने कैसे। पर जरा अन्तर्दृष्टिसे निहारो—प्रकाशके द्वारा हमने नही जाना, ज्ञानके द्वारा हमने जाना। प्रकाश तो एक कारण पड गया हमारे जाननेमे, पर ऐसे अनेक कारणोको यदि हम साधकतम मानने लगें तो बडा घपला हो जायगा। एक पेन्सिल चाकूसे आपने बनाया तो पेन्सिल बनानेका साधक है चाकू, हम कहे—नही जो लोहार है, लोहार न होता तो चाकू न बनती। कोई कहे नही लोहार भी नही है, वह मालिक साधन है जिसके घरमे वह लोहार रहता था। यदि वह मालिक अपने घरमे बैठनेको जगह न देता तो वह लोहार कैसे कहाँ बैठकर चाकू बनाता ! तो यो तो पचासो घपले हो जायेंगे। जो साक्षात् साधक हो, जिसमे दूसरेका व्यवधान न आये वह साधकतम माना जाता है। चाकूसे पेन्सिल बनानेरूप कार्यमे साक्षात् साधन चाकू है लोहारका चाकू क्रियासे व्यवधान है। तो ऐसे ही प्रकाश उपचार साधन है साक्षात् नही। व्यवहारसेही इसे साधन कहते हैं। न हो ये प्रकाश आदिक तो छद्मस्थ अवस्थामे इन्द्रियजन्य ज्ञान वाले ज्ञान नही कर सकते। लेकिन साक्षात् साधकतम ज्ञान है वह ज्ञान ही सामान्यरूपमे प्रमाण है। जानने वाला ज्ञान है। इसके द्वारा जाना गया यह भी क्यो कहे—जानने वाला खुद ही यह है और वही प्रमाण है।

प्रमाणमे ज्ञानकी ही साक्षात् साधकतमता—कोई यह कहे कि प्रकाश उपचारसे प्रमाण तो हो गया ना व्यवहारसे, तो अज्ञानरूप भी तो चीज प्रमाण हो गयी। उपचारसे इन सब साधनोका जुटाव जिन साधनोसे ज्ञान बनता है, ज्ञान जागृत होता है वे सब साधन उपचारसे प्रमाण है, साक्षात् प्रमाण नही है। तो मुख्यरूपसे तो स्व और परपदार्थोंके परिच्छेदनमे साधकतम ज्ञान ही है।

इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है। इस सूत्रमें जो 'ज्ञान प्रमाण' बताया है सो ज्ञान शब्दकी ही विशेषता कहा जा रही है कि कुछ लोग अज्ञानको भी प्रमाण करते हैं। कुछ बाह्य कारण शब्दोंसे बताया जाता है। और, इन सब शब्दोंमें यह बात की जा सकती है कि यदि यह शब्द न देते तो क्या बिगड़ता है, क्या तुम्हारा काम न चलेगा? उसका समाधान उसके होता है कि यदि इस शब्दको न देते तो वह वक्तव्य स्पष्ट नहीं हो सकता था यह आशय सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान प्रमाण ऐसा कहनेमें अज्ञानरूप जितने भी प्रमाण माने गए हैं उनका ज्ञानशब्दके द्वारा उन सबका निराकरण होता है।

उपचार साधनसे साधकतमपनेकी असम्भावना निमित्त कारणमें साधकता उपचार करनेसे प्राण आदि भी कह दीजिए। लोकमें यह भी कहा जाता है कि अन्न हमारा प्राण है। ये गेहूं वगैरह जो अन्न कहे जाते हैं ये हमारे प्राण हैं क्या? यह अनाज न खावें तो कैसे हमारे प्राण रहेंगे, इस कारण कहा जाता है कि अन्न हमारा प्राण है। सबकी बात छोड़ें कोई बड़ी विभूति है, मकान है जायदाद है तो लोग कहते हैं कि यह जायदाद हमारा प्राण है, यह हम दूसरेको दे दें तो कैसे हम जिन्दा रहेंगे। तो ये ईंट पत्थर मकान भी प्रमाण कह दिये जायें तो उपचारका फिर कोई ठिकाना है क्या? उपचारसे कही हुई बात साक्षात् युक्त तो नहीं होती। उदर रोग है तो कोई कहे कि यह तो सीधा वातरोग है। वातरोगसे उदरकी बात न मानना चाहिए। और जिसने कहा यदि उदरकी बात तो अत्यन्त युक्त-मान करती है। कोई कहे कि सीधा वातरोग बना है तो क्या यह बात ठीक है? वातरोग तो शरीरमें होता है तो उपचारकी बातें बहुत-बहुत व्यवधानोंमें हुआ करती हैं, पर जो किसी कार्यमें साक्षात् साधन हो, वह उस कार्यमें साधकतम करण माना जाता है। लोग तो यों भी कह बैठते हैं कि मेरी आंख तो यह पुरुष है, मेरी आंख तो ये बच्चे हैं जो अपनेको आरामसे रखते हैं, यों उपचारसे कहनेका तो बहुत बड़ा विस्तार है, पर पूछना है साधकतमकी जो साक्षात् कारण हो। तो प्रमाणका साक्षात् कारण ज्ञान है, कारकसाकल्य नहीं। इस तरह ज्ञान प्रमाण कहकर अज्ञान प्रमाण न हो जाय इस बातका ध्यान रखा गया है।

ज्ञानके प्रमाणत्वका निरूपण इस ग्रंथमें सर्वप्रथम प्रमाणताका लक्षण कहा है। जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है। इसमें स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान ये ५ शब्द दिये हैं जिनमेंसे इस समय ज्ञान शब्दपर ही व्यवच्छेद प्रधान विवरण चल रहा है। ज्ञान शब्द न देते तो क्या आपत्ति थी? स्व व अपूर्व अर्थका जो निश्चय कराये वह प्रमाण है इतना ही यदि कहते तो ऐसी स्थितिमें कारकसाकल्य वादीके, अर्थात् जो साधन, विषय व निमित्तके समूहको ही प्रमाण मानते हैं, उनके इस अभिमतको प्रमाण मान लिया जाता इसी प्रकार

अन्य अन्य ज्ञानातिरिक्त स्थितियोंको प्रमाण मान लिया जाता। प्रमाण तो ज्ञान है। उसमे भले ही किसी स्थितिमें अन्य साधन हो, अन्य निमित्त हो फिर भी प्रमाण ज्ञान ही होता है, अचेतन प्रमाण नहीं होते।

उपचारमें स्वरूपनिबन्धताका अभाव—बाह्य साधन और निमित्त परिच्छेदन क्रियामें व्यवहित कारण हैं। जैसे प्रमाण तो है साक्षात् ज्ञान याने प्रमाणका साधकतम है ज्ञान और उस ज्ञानमें निमित्त आदि दृष्टियोंसे, विषयकी दृष्टिसे पदार्थ भी हुए, इन्द्रिया भी हुई बाह्य साधन, लेकिन वे व्यवहित हैं व्यवहित साधनको साक्षात् साधन नहीं कहा जा सकता। उपचारमें साधन कह दीजिए, पर उपचारसे जिसे हम साधन कहते है वह परमार्थसे साधन नहीं बन सकता। जैसे अन्न हमारा प्राण है, यह उडद बातरोग है यो अनेक व्यपदेश चलते है पर परमार्थसे तो यह बात नहीं हुई। बोरेमे जो उडद भरे है क्या वे सब बातरोग भरे है? उन बोरोमें जो भी अन्न पड़े है क्या वे मनुष्यके प्राण है? उपचारका अर्थ उपचार तक ही है। उपचारकी बात परमार्थसे युक्त नहीं मानी जा सकती।

लिखितमें प्रमाणत्वकी उपचारता नैयायिक वैशेषिकोंने प्रमाणके सम्बन्धमे कहा है कि प्रमाण कुछ ज्ञानरूप भी होता कुछ अज्ञानरूप भी होता। सो बोधाबोधात्मक प्रमाण तीन प्रकारोमे व्यवहृत होता है। वे प्रमाण ये तीन है—लिखा हुआ प्रमाण, गवाह प्रमाण और भोगना प्रमाण अर्थात् कब्जा प्रमाण। लिखित हो, गवाह हो या जो कब्जामे हो अर्थात् जो भोगा जा रहा हो सो प्रमाण है ये भी बात सही नहीं है। लिखा हुआ होने पर भी जो लिखित स्याही है, अक्षर है, रूपक है वह प्रमाण नहीं है, उसका निमित्त पाकर उसको विषय बनाकर उससे जो बोध किया वह ज्ञान प्रमाण हुआ। कहीं लिखा हुआ दस्तावेज प्रमाण नहीं है। व्यवहारसे कहते हैं लोग लेकिन परमार्थ दृष्टिसे वस्तुके स्वरूपका विचार होता है। क्या ये लिखे हुए अक्षर प्रमाण है? इन लिखे हुए अक्षरोंके वाचनमे जो एक ज्ञान बना, जो कुछ भाव आया वह ज्ञान प्रमाणरूप है। नहीं तो लिखित एक ही वाक्यमे कोई कुछ अर्थ लगाता कोई कुछ। खीचातानी करके जो अक्षर ताना जाना यह बात फिर न बनती। अगर लिखित ही प्रमाण है तो वह अपनी एक ही ज्योति प्रकट करता। सो प्रमाण तो ज्ञान ही हैं जो प्रकटरूपसे जाना जाय उसे प्रमाण कहते है, अर्थात् सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदिक दोषोंसे रहित जो ज्ञान है उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान एक सामान्य शब्द है। यदि उस ज्ञानको ही इस दृष्टिसे निरखा जाय कि ज्ञान तो वही है जहाँ कोई दोष न हो उस ही ज्ञानका नाम प्रमाण है।

साक्षी और भुक्तिमें प्रमाणत्वकी उपचारता गवाहको भी व्यवहारमें प्रमाण माना गया। वह गवाह भी साधकाम जो ज्ञान है उस ज्ञानका हेतु होनेसे

प्रमाण माना है यह साक्षात् प्रमाण नही है। जैसे लिखित निबन्ध ज्ञानका हेतु होनेसे प्रमाण है इसी प्रकार गवाहके वचनोंको सुनकर यथार्थ बोध हो तो वह बोध प्रमाण है। सो यह साक्षी भी उपचार प्रमाण है। इसी तरह कब्जेकी बात है। अधिकार भोगना यह तो बाह्यमे अचेतन पदार्थरूप है और अन्दरमे विकल्प रूप है। प्रमाण तो एक जो ज्ञप्ति क्रियाका साधकतम है, जानकारीके प्रकाशरूप है वह ज्ञानप्रमाण कहा गया है अर्थात् ज्ञान ही अनुपचरित प्रमाण है।

व्यवहित कारणोमे विवक्षित क्रियाकी असाधकतमता - ज्ञानके अतिरिक्त अन्य जितनी भी अभी बातें बतायी गयी थी कि भाई प्रकाश भी प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है, यह समस्त पदार्थोंका समूह प्रमाण है। तो वह सब एक व्यवहित बात है। इस उपचार साधनकी बातको एक युक्ति द्वारा सोचें। जो जिस कार्यमे दूसरेके द्वारा व्यवहित हो वह उस कार्यमे मुख्यरूपसे साधकतम नही बन सकता, जैसे चाकूसे पेन्सिल छीली तो पेन्सिल छीलनेरूप कार्यमे साक्षात् साधक चाकू है। कोई कहे वाह लोहार भी तो साधक है। लोहारने चाकू न बनाया होता तो पेन्सिल कहाँसे छिलती ? तो लोहार व्यवहित साधन है अर्थात् छीलन क्रियामे साक्षात् साधन जो चाकू है वह व्यवधानसे है, लोहार उसके बादकी चीज है। वह चाकूके बनानेमे साधकतम है। जो जिस कार्यमे दूसरेसे व्यवहित है वह उस कार्यमे मुख्य रूपसे साधकतम नही हो सकता। स्व और परके जाननेमे यह कारकोंका समूह ज्ञानसे व्यवहित है अर्थात् स्व और परके परिच्छेदरूप क्रियामे, जाननरूप क्रियामे साक्षात् साधन तो है ज्ञान और फिर उस ज्ञानमे विषय अथवा साधन अन्य-अन्य पदार्थ भी पडे हैं। तो वे सब पदार्थ व्यवहित है, दूर के हैं, साक्षात् साधकरूप नही हैं इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है। कारकसाकल्य प्रमाण नही है। कारकसाकल्यका अर्थ है सर्व पदार्थोंका समूह, समग्रता

कारकसाकल्यके स्वरूपनिर्णयके विकल्प —अब थोडा स्वरूप दृष्टिसे भी विचार करें कि जिस कारकसाकल्यको तुम प्रमाण कहना चाहते हो वह स्वरूपसे कुछ व्यवस्थित है या नही ? यदि वह स्वरूपसे ही व्यवस्थित नही अर्थात् उसका कोई सत्त्व ही नही तो फिर उसके सम्बन्धमे प्रमाणकी व्यवस्था करना और कुछ सोचना व्यर्थ सी बात है। स्वरूपसे प्रसिद्ध हो तभी तो उसमे प्रमाणपनेकी व्यवस्था करिये। स्वरूप प्रसिद्ध हुए बिना प्रमाण व्यवस्था करने लगे तो जिस चाहेकी व्यवस्था करने लगें, खरविषाण, वन्ध्यातनय, आकाशपुष्पादिककी स्वरूपसे प्रसिद्धि हो तभी प्रमाणपनेकी व्यवस्था हो सकती है, जिसके लिए तुम प्रमाण कह रहे हो, तो अब कारकसाकल्यका स्वरूप बताइये। क्या चीज है कारकसाकल्य ? क्या समस्त कारकोंका ही नाम कारकसाकल्य है ? अर्थात् विषयभूत पदार्थ, साधनभूत इन्द्रिय प्रकाश आदिक क्या इन सब पदार्थोंका ही नाम कारकसाकल्य है या इनका जो धर्म है उसका

नाम कारकसाकल्य है, या इन पदार्थोंका जो कार्य है उसका नाम कारकसाकल्य है, या इन तीनोसे कुछ अलग चीज है कारकसाकल्य ? इन चार विकल्पोंके माध्यमसे कारकसाकल्यका स्वरूप बतलायो क्या है ?

कारकोमे कारकस्वरूपके साकल्यका अभाव—यदि समस्त कारकोका ही नाम कारकसाकल्य है तो कारक तो कर्तारूप है या कर्मरूप है प्रमाणके साधकतम तो नही, सो यह कारकसाकल्य या तो कर्तारूप मानो या कर्मरूप मानो। यदि करणरूप मानते हो वे कर्ताकर्मरूप नहीं रहे। कारक प्रमाण है तो क्या कर्तारूपमे आकर प्रमाण बनते है या कर्मरूपमे आकर प्रमाण है या करणरूपमे आकर प्रमाण हैं। तो ये समग्र पदार्थ कर्ताकर्मरूप माने गए है कारकसाकल्यवादीके भी सिद्धान्तमे तिसपर भी वे करण माने गये हैं तो प्रमाण तो जो जाननेमे साधकतम हो सो है। करण मान ले तो कर्ता कर्म नही रहता, कर्ता कर्म माने तो करण नही रहता, अर्थात् ये समग्र पदार्थ स्वतन्त्र है अपनी क्रियाके परिणमनमे अथवा ज्ञान करनेकी इच्छा होना और प्रयत्न करना इनकी जिसमे आधारता है, वही तो कर्ता हुआ करता है। जिसमे ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्न इन तीनका आधारपना होता है वही तो कर्ता माना गया है तथा जो विषयभूत है निर्वर्त्य है वह कर्म माना गया है। यो वे कर्ता कर्म हो गए तो करणपनेका विरोध है। साधकतम नही हो सकता। साधकतम हुए बिना व्यवस्था नही। अगर कहे कि करण है तो कर्ता कर्म नहीं रहे क्योकि करण मान लिया, एक पदार्थमे एक कामके लिये तीनोका परस्परमे विरोध है। और सीधी बात यह देखिये कि प्रधान क्रियाका अनाधार हुआ करता है करण। सर्वत्र जितने भी काम होते है वे किसके द्वारा किए गए, इसका जो उत्तर हो वह क्रियाका आधार नही होता। वह साधकतम रहे तो जो भी एक अपेक्षारहित होकर जिसे भी करण माना गया, साधकतम माना गया वह क्रियाका आधार होगा। इस कारणसे कारकसाकल्यका भी कोई स्वरूप नही बना कारकोके रूपमे। ये पदार्थ ही कारकसाकल्य नही हुए।

कारकधर्मको कारकसाकल्य माननेकी अनुपपत्ति—अब यदि दूसरी बात आप स्वीकार करें कि इन पदार्थोंका जो धर्म है वह कारकसाकल्य है, तो देखिये है तो एक सीधी सी बात कि ज्ञान प्रमाण है किन्तु इतनी सी बात न मानने पर और इससे अधिक चतुराई छाटनेका प्रयत्न करनेमे कितने विकल्प और उलझन करने पडे। किसी समयमे दर्शन क्षेत्रमे किसी तत्त्वकी बारीकी निकालनेका प्रयत्न करना एक जोर शोरसे हो रहा होगा, और अधिक बारीकीमे जानेपर कुछ अपनी कल्पित बुद्धिके अनुसार कल्पनासे उस लेनसे अलग भी हो सकते हैं। तो जब कोई स्याद्वादका आश्रय लिया नही और उसकी बारीकीमे घुसने लगे तो जिस ओर बुद्धि चली उस ओर ही एकान्त हुआ और अधिकसे अधिक गहराई तक जानेका यत्न किया, फल

यह हुआ कि जो एक माध्यम है, साधारण सी बात है उस बातसे भी अलग हो सकते हैं और हुए हैं। यहाँ तो एक बहुत मोटी दृष्टिसे कारकसाकल्य कहा गया था जैसे लोग एकदम प्रकट कह देते है कि लो यह है लिखा हुआ प्रमाण, लो यह है हमारा गवाह, यह तो है प्रमाण ? इन शब्दोसे कोई व्यवहारिक अर्थमे अडचन नही होती। लोग बोला करते हैं। यह है कब्जा प्रमाण, यह है भोगना प्रमाण। तो वह एक प्रमाणके, ज्ञानके स्वरूपके सजानेमे मोटी दृष्टिकी बात है, पर ऐसा कोई कह देवे एक बार और उसे सिद्ध करें तो फिर उसका सिलसिला उसको सिद्ध करनेका ही चलने लगता है। जब कल्याणभावना नही होती और एक बात कोई मुखसे निकल गयी तब तो वहाँ यह पडता है कि हमारी बात न गिरे। यो कारकसाकल्यके बारेमे भी अनेक पृष्ठोमे उनके कर्ता बडे निबन्ध लिख गए।

कारकोके सयोगको प्रमाणभूत कारकसाकल्य माननेपर आपत्ति - यहाँ यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि कारकसाकल्य क्या चीज है ? कारकोका नाम तो कारकसाकल्य है नही, और कारकोका धर्म यदि कारकसाकल्य बताया तो धर्म भी क्या है ? उन पदार्थोका सयोग होना यही धर्म है कारकसाकल्य या कुछ इनसे भिन्न चीज है ? सब पदार्थ जुड गए, सामने आ गए, प्रमाण होने लगा, व्यवहारमे मजबूती आयी, जानकारी आयी तो सब पदार्थोका सयोग हुआ, यही कारकसाकल्य है क्या ? अथवा इससे कोई भिन्न चीज है ? सयोग नही पडा है ऐसी कोई चीज कारकसाकल्य है क्या ? यदि सयोगकी बात कहते हो तो इस विषय पर तो बहुत वक्तव्य है, यह एक जुदा ही विषय है, सयोग नामक कोई तत्त्व है क्या ? सयोग कोई चीज है क्या ? किस प्रकार है, किसका धर्म है इस सम्बन्धमे अलगसे ही इसी ग्रथमे आगे आयगा।

कारकसाकल्यमे कारकोकी असयुक्तताको धर्म माननेपर विडम्बना — सयोगसे भिन्न और कुछ कारकोका धर्म हो तो इसका अर्थ है कि वह सयोगमे नही है, जुदा-जुदा है, अलग-अलग पदार्थ पडे हैं। अलग-अलग पदार्थ पडे हो उसका नाम तो साकल्य नही है, समग्रता नहीं है। अलग-अलग पदार्थोमे भी प्रमाण माना गया तो इसमे तो बहुत अटपटी बात माननी पडेगी। पदार्थ बहुत पडे हुए हैं न्यारे-न्यारे क्षेत्रमें। वे प्रमाण बन गए तो जितनी भी प्रमाणताका उनमे सामर्थ्य है उन सबको एक साथ बता दें ये पदार्थ। यह क्या बात है कि हम उतने पदार्थोको निरखकर किसी एक ज्ञानमे आते है, जो आशय हो, जो प्रमाण हो, जैसी दृष्टि जगे उस ओर का हमारे मे प्रमाण बनता है। पदार्थ ही अगर प्रमाण बन गए तो पदार्थ जितने-प्रमाणके कारण बन सकते हैं उन पदार्थोसे सारे ही प्रमाण एक साथ निकलना चाहिए और निकल आये तो प्रमाण कुछ रहेगा नही। जब प्रमाणका एक मिश्रण हो गया तो फिर प्रमाण क्या रहा। किसीकी चीजको गुमाना हो तो अनेक

अनेक चीजोमे मिश्रण कर दीजिए, वस्तु ही गुम हो जायगी। तो कारकसाकल्य क्या चीज है, कहाँ खोजा गया, यह शब्द। बात तो सीधी सी थी कि हमारे ज्ञानमे ये वाह्य पदार्थ आते है। और कुछ वाह्य पदार्थ साधक बनते हैं तो उनको हम व्यवहारमे प्रमाणरूप मानते है। वस्तु बिना हम कैसे जाने, प्रमाण क्या करें? यो कोई कर्म बनता है। कोई विषय बनता है, कोई साधक बनता है, कोई बाह्य निमित्त बनता है, कुछ अन्तरङ्ग निमित्त बनता है, यह सब है, पर यह साक्षात् प्रमाण हो एसी बात नही है। प्रमाण तो सम्यग्ज्ञान ही हो सकता है। तो यह भी बात तुम्हारी युक्त नही रही कि कारकोका जो धर्म है वह प्रमाण है क्योकि वह न सयोग रूप है न असयोग रूप है।

कारकोके कल्पित धर्मके बारेमे प्रष्टव्य विकल्प—खैर कारकोका साकल्य किसी भी रूप धर्म हो, पर यह तो बतावो कि वह धर्म कारकोसे भिन्न है या अभिन्न? स्याद्वादमे जो एक विशद ज्ञान होता है उसका कारण यह है कि ज्ञाता किसी भी तत्त्वको एक झलकमे झाक लेता है पर उसका जब प्रतिपादन करते हैं तो प्रतिपादन स्याद्वादके बिना अशक्य है। उसको किसी भी धर्मसे कह लेंगे और प्रतिपक्ष अन्य अपेक्षाओसे और जो–जो कुछ ज्ञानमे आया है उन सबकी अपेक्षा तोड दें और केवल एक ही धर्मका एकान्त करके चले तो यथार्थ निरूपण नही हो सकता। इसी कारण स्याद्वादमें सबका समाधान भरा हुआ है। और इस शैलीसे च्युत होने पर समाधान प्राप्त नही होता। वह तुम्हारा धर्म कारकोका कारकोसे जुदा है या अभिन्न है? यह कहा जा रहा है कारकसाकल्यवादियोसे कि यदि कारकोसे जुदा है वह धर्म कारकसाकल्य कारकोसे यदि अभिन्न है तब तो या कारक हुआ या धर्म हुआ, तत्त्व क्या निकला यदि कारकधर्म कारकसे भिन्न है जो कि प्रमाणभूत माना गया है, जो जुदा जब हो गया तो धर्म अलग पडा और कारक अलग पडे। अगुलीका जो भी धर्म है वह अगुलीसे जुदा है इसका अर्थ क्या है? जुदा कहाँ है वह धर्म और किस रूप है? क्या वह सत् स्वरूप नही है? कुछ भी जुदा नही है फिर भी जुदा माननेकी हठ करे तो दो सत्त्व हो गये—एक धर्म हो गया और एक अगुली हो गयी। दो सत्त्व न्यारे–न्यारे हो गए। अगुलीके रूप, रस, गध, स्पर्श, शक्ति जो भी धर्म माना जाय उसके बिना यह अगुली रह गयी तो अगुली क्या? और अगुलीके आधार बिना वे रूपादिक धर्म रह गए तो वे क्या। तो कारकोका धर्म यदि कारकोसे जुदा है, उन पदार्थोंसे भिन्न है, तो या तो धर्म रह गए या कारक रह गए, कारकोका व धर्मका कुछ सम्बन्ध ही नही रहा। अत्यन्त भिन्नोका यदि सम्बन्ध जुडेगा तो सम्बन्ध किस तरह जुड गया? उस सम्बन्धमे अनेक विकल्प होगे और उनका स्वय यह समाधान पावोगे कि अत्यन्त भिन्न पदार्थोका सम्बन्ध एक जगह है या अनतिदूर है इतनेसे अधिक उनका कोई अर्थ नही है। तो जब वे धर्म और कारक भिन्न–भिन्न हुए तो उनका सम्बन्ध नही बनता। तो कारकोका धर्म कारकसाकल्य है यह बात सिद्ध नही होती।

कारककार्यको प्रमाण माननेकी अनुपपत्ति—यदि कारकोके कार्यको कारकसाकल्य कहते हो तो इस सम्बन्धमे तुम्हारा मानना यह हुआ कि प्रमाणकी उत्पत्ति पदार्थकी ओरसे हुई। तो पदार्थ तो सदैव परिपूर्ण है। सारे प्रमाण एक साथ बनने चाहिएँ। फिर प्रमाण तुच्छ नही रहा। सीधी सी बात एक ज्ञान प्रमाण है, इतना ही न माननेपर कितनी कितनी उलझने और बाते सोचनी पडी है। उन सबका कष्ट छोडकर सीधा यह मान लें कि जो हितकी प्राप्ति कराये अहितका परिहार कराये ऐसा जो ज्ञान है वह प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है इस बातको सबसे पहिले कह रहे हैं प्रमाणकी परीक्षा इस ग्रथमे की जायगी कि कौन सा प्रमाण दोषमे सहित है व कौन सा प्रमाण दोषोसे मुक्त है, क्योकि प्रमाणके आधार पर ही गुण और मोक्षकी व्यवस्था बनती है।

कारकोके कार्यरूप कारकसाकल्यके विकल्पका विचार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रकरणमे एक दार्शनिकने यह बात रखी कि प्रमाण तो सब पदार्थ जुडे जायें वह सामग्री प्रमाण है। उन पदार्थोमे यह आत्माको भी मानता है और जो जाननेमे पदार्थ आते है उन्हे भी मानता है अर्थात् आत्मपदार्थ, प्रकाश, इन्द्रिय सबका जुडाव हो जाय तो प्रमाण होता है। इसका नाम रखा है कारकसाकल्य। तो पदार्थ सामग्रीके सम्बन्धमे ही पूछा जा रहा है कि कारकसाकल्य नाम किसका है। तो पहिले इन दो विकल्पोका तो खण्डन कर दिया है कि कारकोका नाम ही कारकसाकल्य है यह भी ठीक नही, कारकोके धर्मका नाम कारकसाकल्य है यह भी ठीक नही। अब तीसरा विकल्प चल रहा है कि पदार्थोंकी क्रियाका नाम कारकसाकल्य है अर्थात् आत्मा और पदार्थ इन सबका जो कार्य है वह प्रमाण है। तो इस सम्बन्धमे आपत्ति दी जा रही है।

नित्य कारकोका कार्य प्रमाण माननेपर प्रमाणोकी युगपत् उत्पत्तिका प्रसग कारकसाकल्यको मानने वाले विशेष प्रकारके नैयायिक और भट्ट पदार्थोंको नित्य मानते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य है और अनित्य भी, ऐसा मानते हैं कि जिनमे परिणमनका कोई अवकाश नही है, अपरिणामी नित्य है, तो परिणमनके बिना नित्यमे यदि प्रमाणको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य मान ली जाय तो नित्य पदार्थोसे सदैव प्रमाणोकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिए। जो पदार्थ अपरिणामी भी नित्य है, कूटस्थ कभी भी कुछ भी परिणमन न कर सके ऐसे पदार्थोसे प्रथम तो प्रमाणकी उत्पत्ति नही हो सकती। और, कदाचित् मानलो प्रमाणकी उत्पत्ति होने लगे तो नित्यमे जो कार्य बनेगा वह सदा बनना चाहिए। कार्यके सम्बन्धमे अब तो यह गुंजायस है कि पदार्थ जब जिस योग्य होता है तब उससे वह कार्य बनता है। किन्तु जो सर्वथा नित्य माने तो उसका अर्थ है कि नित्य होकर यदि उससे कार्य बनता है तो कार्य करनेकी योग्यता भी सदैव है। तो जब योग्यता सदैव है तो कार्य सदैव

होते रहना चाहिए। और, पदार्थोंको प्रमाण उत्पन्न होनेका कार्य मानते है तो सारे प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिए।

ज्ञानरहित कारकोका कार्य प्रमाण माननेपर अव्यवस्था—यह कारक साकल्पका मतव्य आत्माको ज्ञानस्वभावसे रहित जैसा माननेवालोका ही एक भेद है। इसके मन्तव्यमे आत्मा ज्ञानस्वरूप नही है। आत्मा है, चेतन है पर वह ज्ञान करनेका स्वभाव नही रखता। ज्ञानके विना ही उनका चैतनस्वरूप है और चैतन्यस्वरूप उतना है कि जिसमे ज्ञानका सम्बन्ध जोडने के लिए आत्माको चेतन माना है। लेकिन आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप नही तो वहा फिर एक प्रश्न यह हो सकता है कि ज्ञानका जब आत्मा से सम्बध ही कुछ नही रहा और ये दोनो भिन्न पदार्थ हो गए तो ज्ञान आत्मामे ही क्यो जुडता है अन्य पदार्थोंमे क्यो नही जुडने लगता ? इसके उत्तरमे वे चैतन्य धर्म कहकर माने तो उसमे यह बात भी समा जानी है कि उस चेतनका ज्ञानसे निकट सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध है स्वरूप सम्बन्ध। लेकिन ऐसा विचित्र मन्तव्य है कि आत्मा तो है और वह चेतन है पर ज्ञानशून्य है। ज्ञान निकलता है प्रकृतिसे अचेतन से और उस ज्ञानका जब चेतन आत्मामे सम्बन्ध होता है तो आत्माको ज्ञान करने वाला कहते है। सारी हरकतें ये सब प्रकृतिमे मानी गयी है। आत्मा तो नित्य अपरिणामी है ऐसा मन्तव्य है इनका। तो जो नित्य है आत्मा और उससे निकलता है प्रमाणका कार्य तो इसका अर्थ यह है कि आत्मामेसे प्रमाण कार्य निकलनेका स्वभाव है और वह है नित्य तो उससे सभी प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिए।

सर्वथा नित्यसे कार्यकी असिद्धि व अव्यवस्था—ऐसा नियम है कि जिस समय जो पदार्थ जिसका जनक होता है उस समय उस पदार्थकी उत्पत्ति होती ही है। जैसे कि प्रकृतिमे, प्रमाणके सम्बन्धमे उत्पन्न होने वाला प्रमाण प्रमाणके कारणसे होता ही है। अब तुमने माना है सारे प्रमाणोका कारण नित्य कारक आत्मा आदिक सामग्री केवल आत्माको ही प्रमाणका कारण ये लोग नही मानते। जैसे प्रमाण बननेमें पदार्थ, इन्द्रिय, प्रकाश ये सब साधन है ऐसे ही एक आत्मा साधन है। तो प्रमाण का कारण जो कुछ भी हो वह कारकसाकल्यवादियोके यहा नित्य माना गया है और उस नित्यसे प्रमाणरूप कार्य होता है तो इसका अर्थ यह है कि प्रमाण कार्यका जनक नित्य कारक सदैव प्रमाणकी योग्यता वाला है तब सभी प्रमाणोकी उत्पत्ति एक साथ हो जानी चाहिए। यद्यपि कूटस्थ नित्यमे कार्य नही माना गया, फिर भी किसी प्रसगमे जबरदस्ती कुछ मानना भी पडता है। इस जबरदस्तीके माननेमे ही दोष दिया जाता है। कुछ कूटस्थ नित्य हो, उसका कार्य न हो वह तो यहा बडा दोष है ही पर नित्यसे कार्य होनेमे भी एक दोष यह है कि सारे कार्य एक साथ हो जाने चाहियें।

नित्यानित्यात्म पदार्थसे अनुरूप कार्यव्यवस्था—पदार्थ सब नित्यानित्यात्मक हैं। न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य हैं। यदि नित्य ही हो तो भी

कार्य नही बन सकता और अनित्य ही हो तो भी कार्य नही बन सकता। पदार्थ है कोई एक, अपने अपने विशिष्ट कार्यके प्रसगमे और वह परिणमनशील है। समय समयपर विशिष्ट विशिष्ट योग्यता आया करती है तो वह जो विशिष्ट योग्यता है वह कार्यका जनक है न कि पदार्थका नित्य स्वभाव कार्यका जनक है। इस कारण जो ऐसा मतव्य है कि कारकोके कार्यका नाम कारकसाकल्य है और कारकसाकल्य प्रमाण है वह अविचारितरमणीय है। जैन दर्शनमे ज्ञानको प्रमाण माना है, अव्याप्ति अतिव्याप्ति असम्भव आदिक दोषोसे रहित जो सम्यग्ज्ञान है सो प्रमाण है, इसके विपक्षमे यहा कारकसाकल्के प्रमाणपनेकी वात चल रही है कि जो जो प्रमाणमे साधन पडते हैं उन उन पदार्थोका जुडाव हो जाना यही प्रमाण है। उस जुडावका नाम है साकल्य सकलस्यभाव साकल्य। सकल नाम है सवका। जैसे कहते है ना सकल बन्धुवोसे प्रार्थना है सकल नाम है साकल्य। अर्थात् सवका जुडाव सवका भाव। तो वह साकल्य कारकोका काय है तो कारक तो है नित्य सो यह साकल्य अर्थात् यह प्रमाण सवका सव एक साथ हो जाना चाहिये।

नित्यसे सतत और सकल प्रमाणोकी उत्पत्ति न होनेपर प्रमाणविकलताका प्रसग– यदि ऐसा कहेगे कि प्रमाणका कारण आत्मादिक मौजूद तो हैं नित्य, परन्तु सब प्रमाणोकी एक साथ उत्पत्ति नही होती। तो जव सवकी उत्पत्ति नही होती तो कभी भी उत्पत्ति नही होना चाहिए। जो नित्य है और जिसमे कुछ करनेका स्वभाव है तो जब वह नित्य सदा है तो काम भी सदा रहना चाहिए। नित्य मौजूद होनेपर भी काम नही होता तो इसका अर्थ है–कभी होना ही न चाहिये, हो तो सब हो, जब प्रमाणकी उत्पत्ति नित्यसे न होगी तो सारा ससार चू कि नित्य कारणमय है तो प्रमाण कभी हो ही नही सकता। किंतु ज्ञानके प्रमाणत्व माननेपर जैसा आवरणका क्षयोपशम है, जैसी आत्मामे योग्यता है और जैसी परिस्थिति है उस उस प्रकारसे ज्ञान होता रहता है। यहा न यह बाधा है कि सव प्रमाण एक साथ हो जाना चाहिए और न यह बाधा है कि ये भिन्न भिन्न प्रमाण कैसे होते रहते हैं।

सर्वदा नित्यसे प्रमाणव्यवस्थाका अभाव—देखिए सर्वज्ञ भगवानके सारे प्रमाण एक साथ रहते हैं जो सवके सव केवल ज्ञानरूप हैं क्योकि वहा आवरणका क्षय है शुद्ध ज्ञानका विकास है। तो सकल प्रमाण बने उसकी स्थिति विलक्षण हुआ करती है। वहा प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था नही रहती। किंतु, जहा क्रमसे ज्ञान हो वहा प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था है। जहा सर्वदा प्रमाण है और सब कुछ ज्ञात है वहा प्रमाणकी व्यवस्था क्या। चू कि सम्यग्ज्ञान है केवलज्ञान इस कारण उसे प्रमाण कहते हैं। लेकिन जिस ज्ञानमे प्रमाण और अप्रमाण का फेर चलता रहे वहा ही तो प्रमाणकी व्यवस्था व्यवहार्य हो सकेगी। हम कभी प्रमाणरूप जानते है कभी अप्रमाण रूप जानते हैं तो यहा सिद्ध करना होगा कि यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है तो इन व्यवहारी प्रमाणोके स्वरूपमे आत्मा आदिक नित्य कारकोसे

प्रमाणकी उत्पत्ति मानी गयी तो सदैव प्रमाण होना चाहिये। और, न हो तो कुछ भी न होना चाहिए।

नित्यकी उपस्थितिमे कदाचित् कार्य न होने पर उस के कारणत्वका अभाव यदि ऐसा कहेंगे कि आत्मा आदिक जो प्रमाणके कारण है वे तो हैं सदा और प्रमाण करनेकी सामर्थ्य भी है मगर प्रमाण का स्वय ही यथाकाल जब जो होना है, होता है तो इसके मायने है कि प्रमाण उनका कार्य नही रहा। आत्मा आदिक मौजूद हैं फिर भी प्रमाण कभी होता कभी नही होता तो इसके मायने यह हुआ कि आत्माका कार्य प्रमाण नही, कारकोका कार्य प्रमाण नही। जैसे आकाश सदा मौजूद है फिर भी कभी प्रमाण ज्ञान बनता है कभी नही बनता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका कारण आकाश नही है। ऐसे ही ये सब कारक मौजूद है जिनके साकल्यको तुम प्रमाण कहते हो और फिर भी प्रमाण कोई कभी होता, कोई कभी नही होता तो उसका कुछ अन्य कारण खोजना चाहिए, इन कारको को प्रमाण न माने क्योंकि प्रमाणके करनेमे समर्थ इन कारकोंके मौजूद होने पर भी सदैव विद्यमान रहने पर भी कभी प्रमाण होता है और कभी नही होता है इस कारण प्रमाणका स्वरूप ज्ञानको छोडकर अन्य रूपमे नही बनता।

आत्माको उपस्थितिमात्रसे कादचित्क प्रमाणका कारण माननेपर आकाशादिके प्रमाणकारणत्वका प्रसग—शायद यह भी थोडी बहुत बुद्धि लगायें कि प्रमाण जब हुआ तो आत्मा आदिकके रहने पर ही तो हुआ इसलिए प्रमाण आत्मा आदिकका कार्य है। यो तो आकाशके होनेपर भी हुआ तो प्रमाण आकाशका कार्य बन गया। जिसे कोई व्यवस्था बैठालनेकी मनमे नही है वह तो कुछसे भी कुछ कह सकता है चलो ऐसा ही कर लो। आकाशको भी प्रमाणका कारण मान लो। तो कहते है आकाशको प्रमाणका कारण मान लिया तो फिर आत्मा नामकी चीज कुछ भी रही नही। यह आत्मा है यह अनात्मा है यह भेद डालनेका तुम्हारे पास क्या सबूत रहा? ज्ञानका साधकतम भी नहा है। और जैसे आकाशके होनेपर प्रमाण माना ऐसे ही आत्माके होनेपर माना तो फिर भेद क्या रहा? तो आत्माका नाम ही मिटा दो, है ही नही कुछ चीज। पूरे भौतिकवाद पर उतर आवो। अपनेको नास्तिकमयताका लाञ्छन मिटानेके लिए आत्मा माना है पर वह तो न माननेकी तरह है। आस्तिक पुरुषोकी तरह हमारी अप्रतिष्ठा न हो इसलिए इस रूपमे आत्मा माना गया है। अब यह बतलावो कि किसका नाम आत्मा है किसका नाम अनात्मा है? आकाशको अनात्मा कहेंगे ऐसा भेद डालनेका तुम्हारे पास साधन क्या रहा? वैसे तो भेद डालनेका साधन स्पष्ट है। जहाँ ज्ञान दर्शन है वह आत्मा है। जहाँ ज्ञान दर्शन नही वह आत्मा नही। जो प्रमाणका अभिन्न आधार है, वह आत्मा है, जो प्रमाणका अभिन्न आधार नही वह आत्मा नही।

उपस्थितिमात्रसे पदार्थोंको प्रमाणका कारण माननेपर आत्मा व अनात्माके विभागका अभाव – जब तुमने आकाशके होनेपर प्रमाण कार्यको माना और आत्माके होनेपर प्रमाणकार्यको माना तो आकाशमे और आत्मामे यह आत्मा है, यह अनात्मा है इस भेदके होनेका कारण क्या है सो बतलाओ ? लो, अब कारण बतलाते है सो उनका कारण सुनिये वह भी दोदापट्टीका वक्तव्य मिलेगा। कारक साकल्यके माननेवाले जरन्नैयायक कहलाते है। यह नैयायकोका एक भेद है। उ का कहना है कि जिसमे प्रमिति अर्थात् ज्ञप्तिका समवाय सम्बन्ध रहता हो वह तो आत्मा है और जिसमे जानकारीका सम्बन्ध न बने वह अनात्मा है, और जानकारी है आत्मासे जुदी चीज । उसका सम्बन्ध बना रहे हैं। तो उसीमे ही यह प्रश्न हो जायगा कि प्रमिति आत्मामे क्यो गई और आकाशमे क्यो नही गई ? ज्ञानका आधार है अचेतन प्रकृति। उसका कार्य है ज्ञान। और उसका सम्बन्ध होता है आत्मासे। अथवा ज्ञान नामका एक स्वतत्र ही तत्त्व है आधार पूछनेकी जरूरत ही नही है।

आत्मामे ज्ञानके समवाय सम्बन्धकी असिद्धि – जहा द्रव्य गुण क्रिया सामान्य विशेष समवाय और अभाव ये ७ पदार्थ माने गए है तो ७ माननेका अर्थ ही यह है कि ये सबके सब स्वतत्र है। जैसे द्रव्य भी स्वतत्र चीज है ऐसे ही गुण भी स्वतत्र है और समवाय स्वतत्र है। अब समवाय गुणको द्रव्यसे जोड देता है तो इस तरहकी कम्पनी चलती है, उससे जगतकी व्यवस्था है। तो जैसे गुण स्वतत्र है और द्रव्यकी क्रिया स्वतत्र है। द्रव्य अलग चीज है क्रिया अलग चीज है फिर क्रियाका द्रव्यमे जुडाव होता है उसे कहते है समवाय सम्बन्ध, ऐसे ही सामान्य अलग है विशेष अलग है, अभाव भी अलग पदार्थ है। अभावके मायने हैं पदार्थका न होना, सत्त्व न होना, एग्जिस्टेन्स न होना, तो यह न होना किस रूप है, यह 'न होना' क्या द्रव्य है, 'न होना' क्या गुण है, 'न होना' क्या क्रिया है, 'न होना' क्या समवाय है, सामान्य है ? ये तो नही है। ये नही हैं तो एक अलग चीज हो गयी, तो ऐसे आत्मा प्रमिति का समवाय है, जानकारीका समवाय है और आकाश आदिकमे नहीं है ऐसा यदि कहेगे तो प्रथम तो यह बात है कि समवाय नामका सम्बन्ध ही नही है इसका आगे निराकरण करेंगे। फिर जानकारीका सम्बन्ध भिन्न आत्मामे हो गया यह फिट बैठता ही नही, यदि यह प्रमाण होना नित्य पदार्थका कार्य है तो सदैव होते रहना चाहिए। सो कारकोका कार्य भी साकल्य नही है, प्रमाण नही है किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञानातिरिक्त अन्यमे प्रमाणताकी असिद्धि—गुण आत्माका ज्ञान है और जब जिस ज्ञानके आवरणका क्षयोपशम है, जैसा अन्य पदार्थका निमित्तसाधन मिलता है उस कालमे उस ढगसे प्रमाण बन जाया करता है, ऐसा न मानकर इन पदार्थोंके जुडावका ही नाम प्रमाण मान लिया जाय तो उसमे अनेक विडम्बनाये हैं। इसी कारण लिखा हुआ भी प्रमाण नहीं है, गवाह भी प्रमाण नहीं है, आपका भोगना भी

प्रमाण नही है, लिखा हुआ तो यह है, पर यह पदार्थ प्रमाण नही । इस लिखे हुएके अर्थकी जो समझ बनती है वह ज्ञान प्रमाण है । ये कागज, ये अक्षर, यह स्याही, ये पौद्गलिक चीजें प्रमाण नही है । ये तो अचेतन है, गवाह भी प्रमाण नही है । जैसे कहते है ना कि तुम्हारे मुकदमेका गवाह कौन ? एक आदमी खडा कर दिया लो यह है प्रमाण ! तो वह भी प्रमाण नही है । उसकी बात सुनकर जो चित्तमे ज्ञान बनता है और जो ज्ञान यह निर्णय रखता है कि यह बात सच है ऐसी सत्यताका निर्णय करानेवाले ज्ञानका नाम प्रमाण है वह साक्षी प्रमाण नही है । तो ज्ञान ही प्रमाण है । ज्ञानको छोडकर अन्य चीजोका प्रमाण माननेका निषेध किया जा रहा है । इस ग्रन्थ मे प्रमाणकी परीक्षा इसलिये की जा रही है कि तत्त्वका निर्णय तो प्रमाणपर ही निर्भर है । प्रमाणका ही निर्णय न हो तो तत्त्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है । सो स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, ऐसा इस प्रथमसूत्रमे कहा गया है ।

कारकोमे स्वभावभेद माननेकी आवश्यकता ज्ञान प्रमाण है इसके विरोधमे कारकसाकल्यवादी कह रहे हैं कि कारकोंका समुदाय प्रमाण है अर्थात् आत्मा, प्रमेय पदार्थ, प्रकाश आदिक साधन इन सबका जुडाव प्रमाण है, इस सम्बध मे चर्चा चलते-चलते जब कारकसाकल्यका स्वरूप पूछा गया तो कुछ विकल्पोके बाद इस विकल्पपर आये कि कारकोके कार्यका नाम कारकसाकल्य है । इस प्रसङ्गपर यह प्रश्न किया गया कि तुम्हारे यहा कारक तो नित्य है, आत्मा आदिक पदार्थ कूटस्थ नित्य अपरिणामी है, उनका कार्य यदि प्रमाण है तो वह तो सदा रहता है, तो सदैव और समस्त प्रमाण एक साथ हो जाना चाहिए । तो इस अतिप्रसक्तिके निराकरणमे यह कहेगे कि जिस समय जो होता है, उसी प्रकार आत्मा आदिक कारकोमे प्रमाणके करनेकी समर्थता होती है । इसी कारण एक समय समस्त प्रमाणोकी उत्पत्ति नही होती । शङ्काकारके अभिप्रायमे यह बात है कि आत्मा आदिक पदार्थ है तो नित्य और उनका कार्य है प्रमाण, किन्तु जब जिस समय जो प्रमाण बनता है उस समय उस प्रमाणके ही करनेका सामर्थ्य आत्मा आदिकमे है ।

भैया ! इस बातको तब तक सही नही बैठा सकते है जब तक उन भिन्न भिन्न प्रमाणोको प्रकट करनेकी सामर्थ्यका आत्मा आदिकमे भेद न मान लिया जाय, आत्मा आदिक वे ही है और प्रमाण होता रहने, कभी कोई कभी कोई यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? यहा विशेष हँसीकी बात तो यह है कि ज्ञानको प्रमाण माननेमे तो उन्हे कुछ अडचन सी हो रही है और ज्ञानको प्रमाण न मानकर आत्मा आदिकको प्रमाण माना है । आत्मा आदिकके कार्यको तो प्रमाण कहते है पर ज्ञानको प्रमाण नही कह सकते ।

प्रमाणभेदका कारण – जैन दर्शनमे जिस समय जिस ज्ञानावरणका क्षयोपशम आत्माको मिला और इस अवस्थामे जिस इन्द्रियकी समर्थता व प्रमेय पदार्थोका

अभिमुख होना आदिक निमित्त प्राप्त होते है उस समय उस प्रकारका प्रमाण जगता है। यहा सब प्रमाणोका एक साथ उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग नही आता। एक साथ सब प्रमाण उत्पन्न हूं, जायें उनकी स्थिति मानो ऐसी समझिये जैसे सर्वज्ञदेवका ज्ञान। तीन काल तीन लोकके सब पदार्थोंका एक साथ ज्ञान हो रहा है तो सर्वज्ञके ज्ञानमे क्या तो प्रमाणकी व्यवस्था करें और क्या अप्रमाणकी व्यवस्था करें, प्रमाण अप्रमाण की अपेक्षा रखता है और अप्रमाण प्रमाणकी अपेक्षा रखता है अपने स्वरूपको बताने मे, उत्पत्तिमे नही। तो जब तक आत्मा आदिक नित्य कारकोमे स्वभावभेद न माना जाय, योग्यता भेद न माना जाय तब तक भिन्न भिन्न प्रमाण उत्पन्न होनेकी बात नही बन सकती।

कारकोमे स्वभावभेदका समर्थन — यदि कारक पदार्थमे स्वभावभेद माने बिना नित्य पदार्थकी क्रिया अनेक प्रकारसे मान ली जाय तो एक प्रकारके अणुमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब तरहका निर्माण हो जाय, इसमे कौनसी कठिनाई आती थी? फिर क्यो चार जातिके अणु माने, जो कारणस्वभाववादी मानते हैं। उनका एक अभिमत है कि पृथ्वीके अणुसे पृथ्वी ही बनेगी, जलके अणुसे जल, अग्निके अणु से अग्नि और वायुके अणुसे वायु ही बनेगा। इस सम्बन्धमे जैनदर्शन यह कहता है कि ये चारोंके चारों पुद्गल है और लक्षण सामान्यकी दृष्टिसे यह सब कुछ होनेका आधार पुद्गल अणु है। हां, इतनी विशेषता जरूर है पर्यायस्वभावकी वजहसे कि जिस अणुमे पृथ्वी बननेका सामर्थ्य है वह अणु चिरकाल तक पृथ्वी बनानेका सामर्थ्य रखेगा। जल अग्नि बनानेका सामर्थ्य न रखेगा, किन्तु यह नियम नही है कि त्रिकाल पृथ्वीके अणु अलग ही हों। जैसे इस चौकीमे काठमे आप जो कुछ भी बनवायेंगे दो चार सौ वर्ष तक काठकी ही चीज बनेगी, मिट्टीकी चीज घडा आदि इससे न बन सकेगी। लेकिन यह नियम नही किया जा सकता कि इन काठके अणुवोमे घडा कभी न बन सकेगा। तो जैसे तुमने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके अणु अलग माने है वहा एक अणुमे चारका काम आप न चला पाये और यहा एक नित्य आत्मादिक कारकसे अनगिनते प्रमाणोंके क्रमसे आप काम चलाना चाहते हैं। जैसे प्रमाणके प्रसङ्गमे आत्मा आदिक कारकोमे कोई एक नित्यस्वभावका समर्थन कर रहे हैं ऐसे ही इन अणुवोमे भी एक नित्य स्वभाव वाला कुछ मान लेना चाहिये था। ये अनेक और भिन्न स्वभाव वाले चार तत्त्व माननेकी क्या जरूरत थी? तो जैसे तुम्हारे भौतिकवादके प्रसङ्गमे कारण और जाति-भेदके बिना कार्य-भेद नही होता है, ऐसा मानते है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार प्रकारके प्रकट कार्य है तो चार प्रकारके कार्योंके लिए चार प्रकारके कारण माने गए हैं, तो वैसे जहापर कारणभेदके बिना, जातिभेदके बिना कार्यभेद नही होता ऐसा मतव्य रखा है ऐसे ही यहा भी मान लीजिए कि आत्मादिक कारकोमे शक्तिभेदके बिना भिन्न प्रकारके प्रमाण नही हो सकते, फिर इन आत्मा आदिक कारकोको सर्वथा अपरिणामी नित्य ही क्यो मानते?

प्रमाणप्रकटनपद्धति सीधी बात तो यह है कि आत्मा है, ज्ञानस्वभावी है, उपाधिके कारणसे आत्मामे ज्ञानविकाश रुका हुआ है तो जैसे आवरणका क्षयोपशम होता है सो क्षयोपशमके अवस्थाकी ऐसी ही प्रकृति है कि इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश आदिक योग्य योग्य कारकोके सन्निधानमे ज्ञान होता है और ज्ञान ही वास्तवमे प्रमाण है, किन्तु इस तथ्यको स्वीकार किए बिना केवल बाहरी-बाहरी पदार्थोंको ही उनके समूहोको प्रमाण माननेकी कल्पना करना यह प्रतिष्ठाको नही प्राप्त हो सकता। तो एक शक्तिसे अनेक प्रकारके कार्य नही हो सकते। जितनी प्रकारके कार्य होते हैं उतनी प्रकारकी शक्तिया पदार्थोंमे माननी पडेगी। ज्ञान नाना होते है, प्रमाण नाना होते है तो इसके प्रमातामे अथवा जिन-जिनको कारक माना गया है उनमे उतने शक्तिभेद जरूर होने चाहिये। जैनदर्शनमे ज्ञानावरण कर्म ५ माने गए है उनमे एक मतिज्ञानावरण है, पर मतिज्ञानावरण उतने है जितनी प्रकारके मतिज्ञान हो सकते हैं, और पदार्थोंके ज्ञानकी दृष्टिसे जितनी प्रकारके पदार्थ ज्ञान मतिज्ञानमें होते हैं उतने ज्ञानावरण हो सकते है और उन ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उन उन पदार्थोंका ज्ञान होता है। घटज्ञानावरण पटज्ञानावरण, चौकीज्ञानावरण जितने चाहे ज्ञानावरण मानते जाइये, उन उनके क्षयोपशममे उतनी उतनी शक्तिया प्रकट होती है और उन शक्तियो से आत्मा ससारावस्थामे ज्ञान करता है।

स्याद्वादसे स्वभाव और शक्तिका दर्शन—इस प्रसङ्गमे कारकसाकल्यवादी जैनोपर एक आपत्ति डालते है कि तुम एक शक्तिसे अनेक शक्तिका धारण करना मानते हो अर्थात् द्रव्योमे एकस्वभाव होता है और उस एकस्वभावमे अनेक शक्तिया पडी होती है तो जिस एक शक्तिसे अनेक शक्तियोका द्रव्य धारण करते हैं तो उन शक्तियोमे धारणार्थ फिर अनेक शक्तियोकी कल्पनाये करनी पडेगी, इस तरह अनवस्था दोष होगा। तो जैसे तुम्हारे यहा एक ही शक्तिसे अनेक कार्य मान लिए गए, एक स्वभाव से आत्मा चैतन्य स्वभावमात्र ही तो है और उस एक स्वभावसे अनेक पदार्थोंके ज्ञान की शक्ति मान ली गयी ऐसे ही हमारे यहा भी एक नित्य पदार्थ है और उससे अनेक प्रकारके प्रमाण मान लिए जायेंगे।

समाधान—यह आपत्ति उचित नही है, कारण यह है कि नयविवक्षामे अनेक शक्तियोके समूहको एक स्वभाव कहा करते है, किन्तु उस स्वभावमे जब कार्यभेद देखते है तो अनेक शक्तिया कहते है। जैसे आत्मा एक चैतन्य स्वभावमात्र है, इसका अर्थ यह है कि द्रव्यदृष्टिसे निर्विकल्पाभिमुख पद्धतिसे आत्मा चैतन्य स्वभावमात्र है, किन्तु उस ही तत्त्वको जब हम पर्यायदृष्टिसे देखते हैं, उसके वर्तमान परिणमनका विश्लेषण करके जब हम वस्तुदृष्टिसे देखते हैं तो आत्मा अनन्त शक्तिस्वरूप है। यह पदार्थको देखनेकी पद्धति है। पदार्थ एक स्वभावरूप भी है, पदार्थ अनेक शक्तिरूप भी है। वहा एक स्वभावने अनेक शक्तियोको धारण कर रखा हो ऐसी बात नही है।

पदार्थ जैसा है वैसा ही है, उसे आप कभी एक शक्तिरूप भी देख लो, कभी नाना शक्तिरूप भी देख लो।

नित्यानित्यात्मक व उपादानभूत कारक न माननेसे विवाद— जितने ज्ञानभेद होते हैं वे अपने अपने कारणकलापोसे उतनी प्रकारके परिणमनरूपसे भेद होते हैं। एक प्रत्यक्ष दृष्ट सुगम दृष्ट बातको न मानकर अप्रत्यक्ष दुर्गम तत्त्वको मानने मे न जाने कितनी बुद्धिमानी पहिले समझी जाती थी। कुछ उसीमे ही एक पाण्डित्य माना जाता होगा कि ऐसे निरूपणसे लोगोपर प्रभाव डाला जा सकता है यह देखो कुछ विशिष्ट और नई बात कह रहे है जो बात अब तक समझमे नही आयी। जैनदर्शनमे त पदार्थके स्वरूपको सीधी रीतिसे प्रतिपादनका महत्त्व दिया गया है। तो ज्ञान ही प्रमाण है और जब जब यह आत्मा जिस जिस प्रकारकी योग्यतामे होता है तब तब उस उस प्रकारका इसके ज्ञान प्रकट होता है। इसकी अनुत्पत्ति तो सर्वथा नित्य वादियोके हो सकती है। आत्मा नित्यानित्यात्मक है। इसका द्रव्य सदैव रहेगा अतएव नित्य है, किन्तु यह प्रति समय परिणमनशील है जो इसका स्वभाव है शक्ति है उस शक्तिका प्रति समय परिणमन होता है अत आत्मा अनित्य है। जब जब जैसी योग्यता है तब तब वैसा परिणमन होता है। जहाँ यह आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है वहा पर फिर सब परिणमन अनन्तकाल तक अनन्त परिणमन एक समान होगे। भैया ! उपाधिके सम्बन्ध तक इस आत्मामे विभिन्न परिणमन होते हैं। इन सब विवादोका मूल तो इतना ही है कि पदार्थ नित्यनित्यात्मक नही माने गए। सारी समस्या नित्यनित्यात्मक माननेसे सुलझ जाती है।

सर्वथा नित्य कारकसे कार्योत्पत्तिकी असभवता—पदार्थ केवल नित्य है तो कार्य कैसे होता है ? कार्यका होना नित्यसे सम्भव नही है। जब तक पदार्थमे क्रिया न बने, पदार्थमे परिणमन न बने तब तक कार्य कैसे हो ? और मान लो कार्य हो गया तो फिर यह बतावो कि वह कार्य उस नित्य पदार्थसे जुदा है या एकमेक है ? वह जुदा है तो फिर क्रिया किसका और कार्यका आधार क्या ? कार्यका आधार माननेसे अनित्य स्वभाव सिद्ध हो जाता है। तो प्रमाण माने गये हैं आत्मा आदिक पदार्थ और वे हैं कूटस्थ नित्य अपरिणामी और उनसे प्रमाणरूप कार्यकी सिद्धि की जा रही है तो ये सब अडचने उत्पन्न हो रही हैं इस कारक साकल्यवादीके लिये। नित्य पदार्थोंसे प्रमाणरूप कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है और अगर होने लगे तो सारे प्रमाण एक साथ हो जायें। जब तक कारणमे कारकोमे स्वभाव भेद न पडे तब तक भिन्न भिन्न कार्य नही बन सकते। अब तो यह कहेंगे अपने कारकसाकल्यके समर्थनमे कि प्रमाणके कारण तो है आत्मा आदिक, किन्तु जब सहकारी अन्य कारण मिलते हैं तब उस उस प्रकारके कार्य होते है। आत्मा तो अविकृत सरल नित्य है उसमे कोई हेर फेर नही होता, किन्तु अन्य अन्य सहकारी कारण जैसे मिलते हैं उसके अनुसार प्रमाणकी व्यवस्था बनती है, तब देशका, कालका स्वभाव भेद बन जाता है।

नित्य कारकमे सहकारी अपेक्षाका अकारण—यहा यह कहा गया कि आ मा नित्य है और उसका कार्य प्रमाण है पर ये भिन्न भिन्न जो प्रमाण होते है वे आत्माके स्वभाव भेदसे नही होते, किन्तु सहकारी कारणोके मिलनेका जो भेद है, कब कैसे सहकारी मिले उन भेदोसे प्रमाणमे भेद चलता है। यह पक्ष भी सही न उतरेगा कारण यह है कि जो नित्य पदार्थ है वह अनुपकार्य होता है अर्थात् उसे किसी अन्यकी अपेक्षा नही होती है। उसमे जो बात पडी है वह उसमे निरपेक्ष पडी है। उसमे न विकार होगा न कोई परिणमन भेद होगा। तो नित्य पदार्थ अनुपकार्य हुआ करता है इस कारणसे सहकारीकी अपेक्षा ही नही बन सकती। जो कुछ सुधर सके बिगड सके जिसमे कुछ परिणमन हो सके उसे ही तो सहकारीकी अपेक्षा होगी। जो कूटस्थ है नित्य है, सदैव एक स्वभाव है, सहकारी मिलकर करेगे क्या ? वहा तो कुछ बदल होती नही।

कारकोके कार्यमे सहकारी अपेक्षाके विकल्प—नित्य पदार्थ चू कि अनुपकार्य है इसलिये उसमे सहकारीकी अपेक्षा नही बनती फिर भी माने जबरदस्ती कि सहकारीकी अपेक्षा होती ही है और उन सहकारी कारणोके भेदसे प्रमाण भेद चलता है तो यह बतलावो कि उन सहकारी पदार्थो ने इन आत्मा आदिक नित्य पदार्थोमे क्या सहायता दी ? क्या कोई विशेष बात उत्पन्न की ? या एक ही प्रमाणरूप कार्य को मित्र बनकर उन सहकारियोने भी किया ? जैसे कोई गोष्ठीका मुख्य मनुष्य किसी कार्यको करता है तो सहकारी लोग क्या किया करते है ? या तो उस मुख्य पुरुषमे कुछ अतिशय पैदा करदे। खुद तो न करेंगे किन्तु उसका साहस बढादे, एक मार्ग दर्शनदे, एक तो सहकारी लोग यह काम कर सकेगे या जिस कार्यको वह कर रहा है वहाँ ये भी साथ साथ उस ही एक कामको करने लगे या इस प्रकारसे सहकारी बन सकते हैं। तो आप यह बतलावो कि आत्मा आदिक नित्य पदार्थ जो भी प्रमाणका कार्य करते हैं तो वहा सहकारी कारण उन आत्मा आदिकमे क्या कोई अतिशय पैदा कर देता है, या उस एक प्रमाण रूप कार्यसे उस आत्माके साथ साथ यह भी क्रिया करता है ? जैसे व्यवहारमे मुख्य पुरुष कोई काम कर रहा है तो मित्रजन दो तरहसे उसका उपकार कर सकते है। उस मुख्य पुरुषका हौसला बढादे इस तरहसे या उस कार्यको साथ साथ करने लगे इस तरहसे तो सहकारी कारणसे जो प्रमाणरूप कार्य करनेके लिए आत्मा आदिककी सहकारता दी है तो किस प्रकारकी सहायता दी ? इन कारकोमे अतिशय पैदा कर दिया क्या।

कारकोमे अतिशयाधानकी अनुपपत्ति—यदि अतिशय सहकारियोने पैदा कर दिया तो यह बतलावो कि यह अतिशय इन कारकोसे भिन्न है या अभिन्न है ? जो अतिशय सहकारी कारणोने किया है प्रमाणरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिये वह अतिशय इन कारकोसे जुदा है या इन कारकोरूप है ? यदि कहे कि कारकोसे जुदा है

वह अतिशय ता ऐसे छुदे अतिशयको कर देनेपर भी कारकोंका कार्यप्रमाण नहीं हो सकता । क्योंकि, अतिशय तो न्यारा है । और, फिर अतिशयको ही प्रमाणका कारण कह लीजिए । उस अतिशय ने ही प्रमाण किया । अतिशय तो आत्मासे जुदा है ना तो आत्मा ने क्या किया ? और, आत्माका कार्य प्रमाण फिर कहा रहा, अतिशयका कार्य रहा । फिर कारककी रट छोड दीजिए कि कारकसाकल्य प्रमाण है । यह तो सब कुछ सहकारी कारणका प्रताप है । आत्मा फात्मा सब त्याग दीजिये और यदि भिन्न अतिशय ही किया गया तो उस प्रमाणसे पहिले क्यो न अतिशय बन गया ? सहकारी कारण भी सब जगह है तो अतिशय बनता रहता । और यो ये सारे प्रमाण को उत्पन्न करदें कुछ करदे तो वहा सब विप्लव हो जायगा, इस कारण यह समझना कि प्रमाणमे मुख्य कारण तो जिसका परिणमन है वह है । जब तक एक मूल उपादान नहीं माना जाय तब तक सहकारी कारणोंसे कुछ बात बन नहीं सकती भिन्न अतिशय यदि पैदा किया तो उस अतिशयका जब कारकमे सम्बन्ध ही नहीं है और फिर यह पूछें कि सहकारी कारणमे वह अतिशय भिन्न है क्या, भिन्न है तो सहकारीका भी अतिशयसे सम्बन्ध नहीं रहा, तब तो वह किसीका भी कार्य नहीं है ।

ज्ञानको प्रमाण माननेकी स्पष्ट और सुगम वार्ता—भिन्न अतिशयसे यदि कार्यकी उत्पत्ति मान ली जाय और फिर उससे किसीका कारक नाम दिया जाय तो यह तो यो समझो कि कल्पनारूप कारीगरका महल खडा करना है । जैसे कल्पनासे कोई महल खडा करदे तो वह कल्पनामात्र है वस्तुमे वहा स्वरूप तो नहीं मिल रहा । इस कारण अपनेमे कुटेव छोडकर सीधी बात मान लें कि ज्ञान प्रमाण है जिसमे प्रकाश मिलता है, जिसमे चिज्ज्योति होती है वह जानन प्रमाण है । उसको छोडकर अन्य अन्य कारकोको प्रमाण कहना केवल व्यवहारमात्र है । जैसे लोग यह कहते है कि दस्तावेज प्रमाण है वह अमुक प्रमाण है तो यह सब व्यवहार कथन है । साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही होता है और वह ज्ञान जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक होता है वह ज्ञान प्रमाण है । प्रमाणके स्वरूपकी व्यवस्थामे जो जो अन्य मतव्य हो सकते हैं उनका निराकरण किया जा रहा है ।

कारकोमे अतिशयाधान द्वारा सहकारिताका अभाव- प्रमाणके स्वरूप बतानेके प्रसङ्गमे सिद्धान्तपक्ष तो यह है कि सच्चा ज्ञान प्रमाण होता है । इसके विपरीत कारकसाकल्य वादियोका मतव्य है कि आत्मा, मन आदिके पदार्थोंका साकल्य प्रमाण है । इस सम्बन्धमे अनेक प्रश्न, विकल्प उठाकर समाधान किया गया है । अब प्रकरणमे यह विकल्प चल रहा है कि सहकारी कारणकी अपेक्षा होनेसे आत्मा और मन आदि कारक एक साथ समस्त प्रमाणोंको उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जिस ज्ञानकी और प्रमाणकी आवश्यकता होती है उसकी उत्पत्ति होती है । यह बात निश्चित है कि जब हमारे प्रमाण नाना हो रहे है तो प्रमाणके कारणोंमे भी स्वभाव भेद होना चाहिए । वह स्वभावभेद सहकारीकी अपेक्षा रखनेसे होता है । यह पूर्वपक्ष

की वार्ता है। इस प्रसगमे यह पूछा गया कि सहकारी कारण इस आत्मा और मनमे कोई अतिशय पैदा करना है तो वह अतिशय भिन्न है या नही ? यदि अतिशय भिन्न है तो उत्तर दिया ही जा चुका। यदि अतिशय अभिन्न है तो सहकारी कारणोमे प्रमाण बनानेके लिये आत्मा, मन आदि कारकोमे अभिन्न अतिशय किया तो इसका अर्थ यह है कि सहकारी कारणोने आत्मा और मनको ही उत्पन्न कर दिया, क्योकि अतिशय हुआ आत्मासे भिन्न। फिर आत्मा आदिक पदार्थ नित्य कहा रहे ? इस कारण सहकारी कारण पदार्थ आत्मा आदिकमे अतिशय उत्पन्न करते हैं यह बात तो बन नही सकती।

सहकारियोमे एकार्थकारिताका अभाव यदि यह पक्ष ले कि आत्मा मन आदिक जो मुख्य कारक है वे भी प्रमाण कार्यको करते हैं और सहकारी जो प्रकाश आदिक अनेक कारण है वे भी उस कार्यको करते हैं अर्थात् प्रमाणरूप एक कार्यको आत्मा मन आदिक मुख्य कारक और प्रकाश आदिक सहकारी कारण ये सब मिल जुलकर एक साथ उस एक प्रमाणको करते है। यदि ऐसा मतव्य है तो इस सम्बन्धमे हम सहकारी कारणका तो निषेध करते नही ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमे प्रकाश पदार्थ आदि ये सब सहकारी कारण तो हैं ही लेकिन सहकारी कारण भी तो तब सफल होगे जब जो मुख्य कारण है उसमे कुछ परिणमन तो हो। अब मुख्य कारण है आत्मा, वह तो रहे अपरिणामी उसमे रच मात्र परिण मन न हो, तरगे न हो और सहकारी कारण उस प्रमाणको बनादें तो इसके कारण दो आपत्ति होगी एक तो यह कि जब आत्मा अपरिणामी है तो सहकारी कारण मिले तब भी अपरिणामी सहकारी कारण न मिले तब भी अपरिणामी, तो अतिशय क्या कर दिया ? सहकारी कारण मिलनेसे पहिले भी उन्हे कार्य करना चाहिए तथा आत्मा मन कुछ भी विक्रिया नही करते है तो सहकारी कारण मिलनेपर भी न करना चाहिये। मित्र तो साधारण सहायक बन सकते है, मुख्य काम तो जिसका होना है उसको ही करना पडेगा अब आत्मा मन आदिक तो तुम्हारे अपरिणामी रहे और सहकारी कारणने उस कार्यको कर दिया तो इसका अर्थ है कि सहकारियोने किया, आत्मा आदिकने कुछ नही किया, और सहकारी कारण हैं सब अज्ञानरूप, तो कारकसाकल्यके मतव्य मे प्रमाणकी व्यवस्था नही बन सकती।

कारकसाकल्यमे बेजोल मेलका यत्न—ज्ञान प्रमाण है, पदार्थोंका जुट जाना यह प्रमाण नही है। यद्यपि अनेक सहकारी कारणोके रहते सते इस छद्मस्थ अवस्थामें इस अपूर्ण अवस्थामे आत्मा ज्ञान कर पाता है। लेकिन ज्ञानका, प्रमाणका साधकतम कोई भी सहकारी कारण नही है। साधकतम है ज्ञान, आत्मा। इस प्रकरणमे मुख्य बात यह समझना हैं कि कारकसाकल्यवादी आत्माको अपरिणामी मानते हैं। और, आत्मा मन आदिक कारकोका सान्निध्य जुट जाय उसे प्रमाण मानते

है। इसमे दो दृष्टियां मिली जुली है। एक तो उस जैसी दृष्टि जिस मतव्यमे सारे जगतका मूल एक कोई ब्रह्म है और वह अपरिणामी है इस तरहकी दृष्टि तथा दूसरी दृष्टि वह जैसे लोकव्यवहारमे कहते है कि सब सामग्री मिल जाये तो प्रमाणकी बात होगी। जैसे कोई मुकदमा हो तो उसके जितने सबूत करनेवाले कागज है, उनका जुडाव है तो इन सबके जुडावसे प्रमाण सिद्ध करते हैं। यो ही प्रमाण आत्मा मन सब जुट जायें वह प्रमाणकी स्थिति है। इन दोनोका मिल करके कारकसाकल्यका सिद्धान्त हुआ है।

अपरिणामीके प्रति सहकारिताका अभाव—इसमे आपत्ति निरखनेके प्रसङ्गमे शङ्काकारने यह बात रखी कि आत्मा आदिक तो मुख्य कारण हैं और प्रकाश आदिक सहकारी कारण है। ये कारण मिलते है तो प्रमाण बनता है। तो इन सहकारियोने अतिशय तो नहीं किया और एक भी कामको ये जुड मिलकर करें तो आत्मा तो अपरिणामी है, जुडनेमे पहिले भी कारका प्रसङ्ग होगा, फिर यह नहीं कह सकते कि सब मिलकर एक साथ एक प्रमाणको करते है, दूसरी बात यह भी सोचनेकी है कि सब साधन जुड जाये फिर भी सहकारी कारण पररूपसे नही परिणम सकते। यो कहो कि निमित्त कारण उपादानरूपसे नही परिणम सकते। फिर कोई क्या सहकारिता करेगे?

परका परमे अननुष्ठान—जैसे कोई कभी बीमार हो जाय तो मित्रजन क्या करेगे? इसके रोगको, इसकी बीमारीको कोई खीच न सकेंगे। वे वाह्य रहेंगे, विचार करेंगे, चेष्टा करेंगे, पर कभी पीडामे वे साथ नही दे सकते। अथवा जैसे किसीका दिमाग कमजोर हो गया हो, कुछ पागलपनकी अवस्था सी हो उस समय रिस्तेदार या मित्रजन उसके बारेमे चर्चा करते है, पर कुछ चर्चा करनेवाले उस रूपसे परिणमन करके तो ठीक न कर देगे। मोहमे लोग चाहते है कि इसका आधा रोग हमे लग जाय, इसका रोग तो मिट जाय, पर कोई किसी दूसरेके रूपसे परिणम सकता है क्या? वस्तुमे ऐसा स्वरूप ही नही है। तो ये सहकारी कारण मुख्य कारकोके रूपसे परिणम ही नही सकते। और, फिर यह भी तो सोचिये कि तुम्हारा आत्मा जब परिणमता ही नही है, कुछ कार्य ही नही करता तो जो स्वय अकारक है, जिसमे करनेका स्वभाव नही पडा है वह, अन्य कितने ही सहकारी कारण जुट जायें, कभी कार्य कर ही नही सकता। पत्थरोको कितना ही उबाले पर वे सीझ नही सकते जिसमे जो कार्य करनेका स्वभाव नही है वह अनेक सन्निधान होनेपर भी उसमे हो नही सकता।

प्रमाणका स्वरूप और उपकार—देखो भैया! जबर्दस्तीकी खोजमे कितना बेजोड मिलान किया है, आत्मा अपरिणामी है और सब पदार्थ जुट जाये वह प्रमाण है। इन दोनोका मेल बैठाना कितना दुर्गम हो रहा है, बैठा ही नही सकते।

सीधी सी चीज थी ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा है और उसका जो निर्दोष परिणमन है निर्दोष ज्ञान है वह प्रमाण है, इस अन्तःतत्त्वपर दृष्टि न देकर बाहरी२ पदार्थोंमे उलझ कर कारकसाकल्यको प्रमाण माना जा रहा है। प्रमाण तो वह स्वय है, ज्ञान है, जो हेयका त्याग करादे और उपादेयको ग्रहण करादे ऐसी बुद्धि उत्पन्न करे वह ज्ञान प्रमाण है। कोई ज्ञान लौकिक प्रमाण होते, कोई ज्ञान अलौकिक प्रमाण होते। तो लौकिक प्रमाणमे भी यह बात पायी जाती है कि उसकी दृष्टिसे जो हेय हैं उसे छोडदे, जो उपादेय है उसे ग्रहण करले। वह ज्ञान क्या ज्ञान है जिस ज्ञानके होनेपर अहित-कारी चीजका छोडनेका साहस न हो, अहितकारीको अहितकारी न समझ सके और हितकारीको हितकारी न जान सके। तो ज्ञानातिरिक्त जो मेल जोल सचय है वे प्रमाण नही है किन्तु सर्व स्थितियोमे ज्ञान ही प्रमाण है सुविदित तो यह है प्रमाणरूप परिणमता हैआत्मा। आत्मा यदिअपरिणामी है तो कितनी ही चीजे जुट जाये,प्रकाश-जुटे,मास्टर लगा दे कुछ भी कार्य करे उसमे प्रमाणता हो ही नही सकती है। तब तो जो सहकारी कारण है वे ही वास्तवमे प्रमाणके करने वाले हुए, अर्थात् प्रकाश प्रमाण हुआ, जगह आदि प्रमाण हुई।

प्रमाण आत्माका अनुपम उपकार—प्रमाण नाम है ज्ञानकी दृढताका। जाननेसे अधिक दृढता मानना है, और प्रकृष्ट माननको अर्थात् सही ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। दृढ बात जो खण्डनीय न हो उसे प्रमाण कहते है। जैसे लोग पूछते हे—आपके पास कोई प्रमाण है उस सम्बन्धमे ? अर्थात् जिसका खण्डन न किया जा सके ऐसा कोई सबूत है क्या आपके पास ? तो उसके सबूत पूर्वपक्षकारके ये बाह्य पदार्थ है और जैन दर्शनमे सबूत है ज्ञान। जो प्रमाण है वह ज्ञान ही है। यदि किसीकी कल्पनामे स्थिति ऐसी है कि आत्मा तो कूटस्थ अपरिणामी है और सहकारी कारण जुटाते है तब प्रमाण बनता है। तो इसका अर्थ यह है कि अनुपकारी जो आत्मा है जो कुछ भी कार्य नही करता उसकी सत्ताकी अपेक्षा किए बिना ही फिर तो सहकारी कारणोसे प्रमाणकी उत्पत्ति होनी चाहिये। आत्मा मौजूद है, आत्मा जरा भी नही परिणमता, न उसमे तरग उठती और सहकारी कारण वहा प्रमाण बनादे तो इसका अर्थ क्या हुआ ? सहकारी कारण भी वेज्ञानके हैं, इसका अर्थ यह है कि सहकारीकार-णोसे ही प्रमाण बना, आत्मा आदिकसे प्रमाण नही बना।

नित्यवादकी दृष्टिमे अपरिणामिता इस प्रसगमे एक दृष्टि और देखो कि जिन लोगोने आत्माको कूटस्थ अपरिणामी, अविकारी, अनुपकारी माना है उन्होने किस नयका हठ किया ? ऐसा कोई भी दर्शन नही है जो जैन दर्शनमे न आया हो। वस्तुस्वरूपके बारेमे जितने भी दर्शन है वे सब दर्शन जैन दर्शनसे निकले है। ऐसा कोई भी वस्तुस्वरूपका निर्देशक दर्शन नही है जिसका दर्शन जैन आगममे न हो। वे सब दर्शन सापेक्ष बन जाये तो वह जैन दर्शन कहलाने लगता है और वह एकात वादमे उतर जाय तो वह एक एकान्तवाद कहलाने लगता है। तो यह आत्मा अपरि-

णामी है अनुपकारी है यह सिद्धान्त कहांसे निकला ? जैन दर्शनमें सभी पदार्थोंको नित्यानित्यात्मक माना है। आत्मा भी नित्यानित्यात्मक है। उसमें नित्यताकी ही दृष्टि करके निरखा तो आत्मा अपरिणामी विदित हुआ।

अपरिणामित्वकी दृष्टि—आत्माकी यह नित्यता किस दृष्टिसे है सो सुनिये यह आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है द्रव्य दृष्टिकी मुख्यता करके सोचते जाइए परमशुद्ध निश्चयनयकी मुख्यता करके निहारते जाइये। यह एक स्वभावमात्र है और उस स्वभावका कभी परिणमन नहीं होता। इसके दो अर्थ लीजिये। यह आत्मा चैतन्य स्वभावी है। चैतन्य स्वभावको त्यागकर आत्मा किसी अचेतन स्वभाव रूप बन जाय ऐसा नहीं होता। दूसरा अर्थ यह है कि चैतन्यस्वभावी आत्मामें जो भी परिणमन हुआ तरंग हुई, अवस्था बनी ये सब पर्याय दृष्टिका विषय है और केवल द्रव्यदृष्टिको ही निहारें तो स्वभाव अपरिणामी है आत्मा अपरिणामी है, उसमें विकार नहीं है। परिणमन मानना विकार मानना यह पर्यायार्थिकनयका विषय है।

अपरिणामी कारकसे प्रमाणकी अनुपपत्ति—द्रव्यदृष्टिसे जो तत्त्व बसा है आत्मामें वही जिसका सर्वस्व तत्त्व बन गया लो एकान्त हो गया। तो इस तरहका तो आत्मा माने और फिर प्रमाणके स्वरूपको सिद्ध किये बिना तो किसीकी बात चल ही नहीं सकती सो अपरिणामी आत्मा मानकर फिर प्रमाणको सिद्ध करनेकी बात जब आई तब आत्माको प्रमाणका साधन मुख्य मान लिया जाय तो अपरिणामीपनेका विनाश हो जाय परिणमन बन जायगा, है तो कारकोंकी आड़ लेनेपर पदार्थोंके सम्बन्ध जुटानेकी बात कहनी पड़ी। आत्मा नित्यानित्य स्वरूप है ऐसा मान लेनेपर कुछ भी व्यायाम नहीं करना पड़ेगा प्रमाण सिद्ध करनेके लिये। स्वयं सीधा मार्ग रखा जा सकता है। तो सहकारी कारण क्या करें यदि मुख्य कारण खुद अपरिणामी हो। जरा कोई आंख उठाकर भी तनिक देख लो ऐसे आदमीके समक्ष तो कुछ सहकारी लोग कार्य कर भी सकेंगे और जो ऐसा कूटस्थ ठूंठ सा बैठा हो कोई पुरुष, न कभी हरकत हुई न होगी ऐसे पुरुषका सन्निधान होना न होना बराबर है। फिर न तो आत्मा प्रमाणका कारण बना न बाह्य साधन भी प्रमाणके कारण बने। प्रमाणरूप न तो आत्मा परिणम सका न सहकारी कारण परिणम सके और न सहकारी कारण आत्माको परिणमा सके। और आत्मा तो सहकारी कारणोंको परिणमाता ही नहीं है। इससे सभी अकारक हो गए। अब बातका ही उच्छेद हो गया। जैसे कहते हैं बात करनेके द्वार बन्द हो गया किसीसे भी कुछ उत्पन्न नहीं हो रहा। तब यह मानना चाहिए कि समस्त भाव समस्त पदार्थ स्वरूपसे ही कार्यके करने वाले होते हैं।

पदार्थमें परिणामशीलताका स्वभाव—भैया ! केवल प्रमाण ही क्या, जितने भी जगतमें जो कुछ कार्य हो रहे हैं ये सब निरन्तर हो रहे हैं। किसी भी पदार्थका कोई कार्य बीचमें बन्द हो जाय, कोई पदार्थ ऐसा सोचे या चाहे कि मैं अना-

दिकालसे प्रति समय निरन्तर परिणमता चला आ रहा हूँ कुछ विश्राम लेलूँ एक समयको अपना परिणमन बन्द कर दूँ। ऐसा करनेसे सत्ताका अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थमे निरन्तर कार्य हो रहे हैं, इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से ही परिणमते हैं। विभाव अवस्थामे यह तो हो सकता है कि वाह्य सहकारी कारणोका सन्निधान पाकर यह अपनी ही सीमामे अपने ही स्वभावके विरुद्ध परिणमन कर जाय वहा भी अपने ही करतवसे, अपने ही परिणमनसे विभाव परिणमन किया पर स्वय कोई अकारक हो और दूसरे उसे करते रहे तो जैसे यह अकारक है वैसे ही दूसरे भी अकारक है। जो नही परिणम सकता उसे हजारो शक्तिया भी आ जाये पर वह परिणम नही सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही कार्यके करने वाले हैं।

प्रमाणकी ज्ञानस्वरूपताका निर्णय – अब यह निरखलो प्रमाण नाम क्या है ? ज्ञानकी दृढता। यह ऐसा ही है इस दृढ निश्चयका ही नाम तो प्रमाण है। अब विचार करनेकी वात है कि अगर यह निश्चय अज्ञान स्वरूप है तो वह प्रमाण ही क्या, और वह निश्चय ज्ञान स्वरूप है तो यही सिद्ध हुआ कि ज्ञान प्रमाण है। पदार्थोका मिलन जुलन प्रमाण नही, किन्तु ज्ञान प्रमाण है। और वह ज्ञान कोई स्वतत्र पदार्थ नहीं है, कभी हुआ कभी और किस्मका हुआ कभी और ढगका हुआ, ऐसा ज्ञान कोई स्वतत्र वस्तु नही है। अथवा स्वतत्र वस्तु माने तो ज्ञान और ज्ञानमयका अभेद करके मानना होगा। जो ज्ञानस्वरूप है वह स्वतत्र वस्तु है। वह आत्मा धर्म है, ज्ञान धर्म है। आत्माके नाना परिणमन होते है। जब सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणमन हुआ तव वह प्रमाण है, जब सदोष ज्ञानरूपसे परिणमा तब वह प्रमाणाभास है, इनकी व्यवस्था सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे है, पदार्थोके जुटावसे नही। किसी भी घटनामे अनेक सवूत दिये जानेपर भी वादी प्रतिवादी, जज, श्रोता वकील सब अपना अपना ज्ञान बना रहे है और फिर उस ज्ञानसे प्रमाणता उत्पन्न हुई। बाह्य तो सहकारी कारणमात्र है। इन वाह्य पदार्थोसे प्रमाण उत्पन्न नही होता, किन्तु आत्माके ज्ञान परिणमनसे ही प्रमाण उत्पन्न होता है।

सर्वथा नित्योसे कार्यक्रमकी उत्पत्ति सिद्ध करनेकी युक्तिका निराकरण—आत्मा आदिक कारणोको प्रमाणका साधकतम माननेपर यह आपत्ति दी थी कि तुम्हारे मन्तव्यमे आत्मा आदिक तो नित्य है तव समस्त प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए ? इस समाधानमे शकाकार यह कह रहा है कि जितने भी कार्य होते हैं वे सामग्रीसे उत्पन्न होनेका स्वभाव रखते है अर्थात् किसी कार्यके सम्वन्धमे जिन जिन कारकोका सद्भाव चाहिए उन सवकी समग्रता हो जाय तो कार्य सामग्रीसे उत्पन्न होता है और सामग्री अनेक कारणोके समन्वयको कहते हैं। तो समस्त कारण जुट जानेपर कार्य होता है इस कारण प्रत्येक पदार्थ नित्य भी हैं और उनका करनेका स्वभाव भी है। लेकिन जव तक इस तरहकी असमग्रता रहती है, तव तक तो

कार्यकी उत्पत्ति नही होती, इसी कारणसे सभी प्रमाण एक साथ नही उत्पन्न होते। इस पर आचार्य देव समाधान करते है कि कोईसा भी एक भाव यू कि वह नित्य है तो कार्योंकी उत्पत्ति करनेमे समर्थ है तो समर्थ ही है। फिर किसी भी समर्थ नित्य पदार्थ को अन्य अन्य कारणोकी अपेक्षा न होना चाहिए। यदि कोई पदार्थ किसी कार्यके करनेमे समर्थ है तो उसको परकी अपेक्षा नही है। और यदि परकी अपेक्षा है तो इस का अर्थ है कि स्वय कार्यमे समर्थ नही है।

कारकसाकल्यमे उपादाननिमित्तकी व्यवस्थाका अभाव—एक भी कोई पदार्थ यदि कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखता है। तो उस कार्यमे ही कार्य उत्पन्न हो जाना चाहिए। सो तो किसी भी पदार्थमे कार्यके उत्पन्न करनेका स्वभाव नही हो पाता। यह बात कही जा रही है उस सिद्धान्तके लिए जो सिद्धान्त उपादान निमित्त की व्यवस्था न करके केवल सब कारणोंके जुटनेसे कार्य होता है इतना भर मानते हैं और इस मान्यतामे उस कार्यके प्रति सभी कारकोंका एक समान स्थान दिया जाता है वहा यह आपत्ति आयी। यदि किसी एक पदार्थको उपादान मान ले और अनेक पदार्थ निमित्त बने रहे और उनका निमित्त पाकर उस पदार्थमे कार्य चलता रहे तो यह तो वस्तुस्वरूपके अनुकूल ही बात है और ऐसा होता है। जैसे रोटी बनी तो उस का उपादान तो आटा है और निमित्त है बनाने वाला, अग्नि, चकला, वेलन, पानी आदि जिन जिन साधनोंकी वहा जरूरत हुई वे अन्य पदार्थ निमित्त कारण हैं जो कि रोटी रूप तो न परिणम सके, परन्तु जिनके सन्निधान बिना रोटीका कार्य नही बन सकता। तो यहा उपादान और निमित्तकी व्यवस्था है। यदि यहा भी रोटी नामक कार्यके लिये आटा, चकला, वेलन सबका एकसा ही बने, उपादान निमित्तकी व्यवस्था न रहे तब वहा ये सारे प्रश्न उठ सकते है कि किसी एक पदार्थमे रोटीको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है या नही, यदि है तो एक साथ वह सब कार्य हो जाना चाहिए। और, यदि किसीमे सामर्थ्य नही है तो सबका मिलकर भी न होना चाहिए लेकिन जो उपादान निमित्तकी व्यवस्था है उस व्यवस्थामे यह आपत्ति नही आती।

प्रमाणके प्रसङ्गमे उपादाननिमित्तकी व्यवस्था—उपादान कारण जिस योग्य परिणमनरूप है अपनी योग्यताके अनुसार बाह्य पदार्थोंका निमित्त पाकर परिणम जाता है, यही बात छद्मस्थ जीवोंके ज्ञानकी है, प्रमाणकी है। हम आप सब आत्मा प्रमाणरूप परिणमते हैं इस प्रमाणका उपादान आत्मा है। भेदविवक्षासे साधकतम ज्ञान है और उस ज्ञानविकासमे, इस अपूर्व अवस्थामे इन्द्रिय, प्रकाश, पदार्थकी सन्मुखता इन सबकी आवश्यकता होती है। तो ये सब निमित्त कारण हुए किन्तु प्रमाण तो ज्ञान ही हुआ, क्योंकि प्रमाणरूप परिणमा है ज्ञान अथवा आत्मा। इन सब सन्निधानोंके होनेपर भी प्रकाश कही ज्ञानरूप नही परिणमा, प्रमेय पदार्थ कही ज्ञानरूप नही परिणमा। तो उपादान और निमित्तकी व्यवस्थामे तो कार्यकी

अपेक्षा तो उपकारकोमे हुआ करती है, जो कुछ कर सके और जिसमे कुछ किया जा सके तो अतिशयकी व्यवस्था बनती है अन्यथा यदि अनुपकारक कारणोसे भी अतिशय बन जाय तो वडी अव्यवस्था हो जायगी। मिट्टीसे घडा बनाना है तो जुलाहेसे फिर उसमे अतिशय पैदा कराले क्योंकि अटपट कारणोसे भी अतिशय बनने लगे। तो अनुपकारक जो कारण है उनका मौजूद होना न मौजूद होनेकी तरह है। मानना आपको यह हर जगह पडेगा कि प्रत्येक कार्य केवल एक केवलमे हुआ करता है। इनका उपादानकारण तो आत्माको मान ले और बाकी सबको वाह्य निमित्त मानले तो कुछ आपत्ति नही रहती।

कारकोमे विरुद्ध धर्मोका अध्यास– लोकमे प्रमाणरूप कार्यमे सबका एक स्थान रहे और सबका साकल्य हो, समूह हो तब वह उत्पन्न होता है, यो उस कार्यमे साकल्यस्वरूप मानना यह युक्तिविरुद्ध बात है। वहा केवल यदि कोई कार्यको करता है तो सभी कार्य एक साथ होने चाहिये और केवल यदि कार्यको नही करता, कुछ सामग्री मिलनेपर कार्य उत्पन्न होता है तो फिर कारकमे करण स्वभावता व एकस्वभावता नही रही, क्योंकि वाह्य सामग्री मिलनेपर कार्य करना और वाह्य सामग्री न मिलने पर कार्य न करना ऐसे विरुद्ध दो धर्म आ गए तब स्वभावभेद बन ही गया। इस प्रकार कारकसाकल्यका कोई स्वरूप नही बनता। अत प्रमाण सीधा ज्ञानको मान लीजिए, कारकोके जुटावको प्रमाण नही मानो वहा यह व्यवस्था तो बना लीजिए कि प्रमाण तो ज्ञान है और वह आत्माका कार्य है और उस उत्पत्तिमे किसी परिस्थितिमे वाह्य साधन कारण हुआ करते हैं। इसके विरुद्ध अज्ञानरूप अथवा ज्ञानरूप सामग्रीको, साकल्यको कारण मानना युक्त नही है।

साकल्यकी अनुपपत्ति अब अन्तिम बात इस प्रसङ्गमे यह पूछ रहे है कि खैर, थोडी देरको इतनी बात मान लें कि समस्त कारकोका साकल्य प्रमाणका साधकतम है तो यहा अब ये दो बाते हो गयी– एक समूह बना और उस समूहको जो बना रहा हो वह अर्थात् याने वे सब कारक पदार्थ। तो वह साकल्य कैसे बना ? क्या समस्त कारक साकल्योके उत्पन्न करनेमे प्रवृत्त होते है या कुछ कारक साकल्यको उत्पन्न किया करते है ? अर्थात् समूहको सब कारक मिलकर बनाते है ? यदि सब पदार्थ साकल्यको उत्पन्न करते हैं तो अभी साकल्यका स्वरूप ही नही बन पाया तो उनको हम सकल मानने लगे यह भी असिद्धि है। दूसरी बात यह है कि साकल्यकी सिद्धि हो तो मालूम पडे कि इसका नाम सकल है। जब सकल समझमे आये तो साकल्यकी सिद्धि हो। यो अन्योन्याश्रय दोष हो गया। तो सब सकल कारक मिलकर साकल्य उत्पन्न करते हैं और वह साकल्यप्रमाणका साधकतम है, इस तरह साकल्य प्रमाण बनता है, ये सब बाते कपोल कल्पनाकी चीजे हुई। यदि कहें कि दो चार कारक मिलकर साकल्यको सिद्ध करते है तो इसमे तो अव्यवस्था है, कभी कोई कभी कोई साकल्यको उत्पन्न करदे तो प्रमाण अप्रमाणकी कुछ व्यवस्था ही न रही।

प्रमाणमे करणान्तरकी कल्पनाका व्यर्थ प्रयास – भला, जिस स्वभावसे तुम इन पदार्थोको चाहे वे सकल हो या असकल, साकल्यको उत्पन्न करनेवाला मानते, उसी स्वभावसे प्रमाणको उत्पन्न करनेवाला क्यो नही मान लेते ? व्यर्थमे क्यो एक बीचमे साकल्यकी कल्पना करते ? शायद यह कहो कि कोई भी कार्य करणके विना नही होता, लिखनेकाकार्य लेखनी बिना नही होता तो प्रमाणका भी कार्य किसी करण द्वारा तो होना चाहिए। तो साकल्यकी कल्पना सही है, तो कहते है कि प्रमाणके उत्पन्न होनेमे करण तुमने साकल्य माना तो साकल्यके बननेमे करण दूसरा मानो फिर उसका करण तीसरा मानो, इस तरह करणकी ही अनवस्था हो जायगी।

कारकसाकल्यको अध्यक्षसिद्धताका अभाव अन्तमे एक सीधे स्पष्टरूपसे शङ्काकार यो बात रख रहा है कि भाई यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि पदार्थोकी सामग्री जुटती है तब प्रमाण बनता है, इसमे दोषकी क्या बात है ? जो हेरफेरकर तुम हमारे मतव्यका खण्डन करते हो ? समाधान यह दिया जा रहा है कि प्रत्यक्ष सिद्ध होता तो हम खण्डन कैसे करते ? आत्मा और मनका सयोग ये सब अतीन्द्रिय बाते है। इसमे प्रत्यक्षकी गति ही नही हो रही, केवल कुछ एक अनुमानसे यो कहदें कि जब किसी विशिष्ट अर्थकी उपलब्धि हो रही है तो उसमे कोई करण अवश्य है। और, वह करण साकल्य है या कुछ भी है। यो हम करणकी कल्पना मानते है और इस तरहसे हमारा साकल्य सिद्ध होता है। कहते हैं कि यह भी बात युक्त नही है कारण कि साकल्यका स्वरूप ही सिद्ध नही है । सब कारकोको, साकल्यको एक समान स्थान मानकर प्रमाण माना जाना युक्त नही है। दूसरे यह आत्मा और मन प्रत्यक्ष भी नही है और जिनको यह आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है उनके यहा सब ही प्रमाण है, केवल ज्ञान है, सर्वज्ञता है, वहा प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था करने हम नही जा रहे, हम तो इस लोकव्यवहारमे और जब तक उस सर्वज्ञपदकी प्राप्ति नही हुई है, तब तकके प्रसङ्गमे प्रमाण और अप्रमाणके व्यवस्थाकी बात कह रहे हैं। इसमे सकल कारकोका प्रसङ्ग कारकसाकल्य है यह बात भी तुम्हारी नही बनती।

कारकसाकल्यकी प्रमाणताका निराकरण – देखिये ! कारकसाकल्यके स्वरूपकी ही सिद्धि नही है। तुम क्या स्वरूप मानते हो ? सकल कारकोका नाम साकल्य है, इसका भी खण्डन किया। कारकोका धर्म भी साकल्य नही है, कारकोका कार्य भी साकल्य नही है। अब क्या इन पदार्थोसे भिन्न अन्य पदार्थको साकल्य मानोगे ? यदि अन्य पदार्थोको साकल्य मानोगे तो सभी साकल्य हो गए। तो हमेशा ही प्रमाण होते रहना चाहिए। तो सभी जीव सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जायेंगे। तो कारक साकल्य प्रमाण नही है क्योकि उसका स्वरूप नहीं बनता और कदाचित् स्वरूप भी बन जाय तो ज्ञानका व्यवधान हो गया। अर्थात् प्रमाणका कारण साक्षात् तो ज्ञान है और अन्य कारण एक व्यवहित कारण है। इसलिए प्रमाण ज्ञान ही है । ज्ञानको

छोडकर अन्य-अन्य बाते प्रमाण नही है। यहा तक कारकसाकल्यका प्रकरण चला। अब सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है इसपर चर्चा चलेगी।

सन्निकर्षके प्रामाण्यका पूर्वपक्ष - इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण मानने वाले दार्शनिक कह रहे है कि कारकसाकल्य तो असिद्ध स्वरूप है, अतएव उसमे प्रमाणता नही है तो न होओ, अपने सन्निकर्षका स्वरूप तो सिद्ध और प्रमितिकी उत्पत्तिमे साधकतम है अत सन्निकर्ष तो प्रमाण होना ही चाहिए। सन्निकर्षका अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होना जैसे जब आखोसे देखते है तो लोकमे भी यह व्यवहार किया जाता है कि आखकी और पदार्थकी भिडन्त हुई। जैसे किसी पुरुषका किसी दूसरे पुरुषसे मिलाप होता है तो कहते है आखसे आख भिडी, ऐसे ही पदार्थ से इन्द्रियका सन्निकर्ष हुआ और जब सन्निकर्ष हुआ तब प्रमाणता आती है। जब किसी वस्तुको हाथसे छूते है तो स्पर्शका ज्ञान होता है और वह प्रमाण होता है। जब रसना इन्द्रियसे किसी पदार्थका सम्बन्ध होता है तो रसका ज्ञान होता और वह प्रमाण होता है। जब रसना इन्द्रियसे किसी पदार्थका सम्बन्ध होता है तो रसका ज्ञान होता और वह प्रमाण होता है, ऐसे ही आखसे जब हम किसी पदार्थको निरखते है तो नेत्र दृष्टिका पदार्थसे सम्बन्ध हुआ और उसमे ज्ञान हुआ और प्रमाण हुआ। इस तरह सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थका भिडन्त प्रमिति क्रियामे साधकतम है, इन्द्रिय और पदार्थमे भिडन्त हुए बिना न ज्ञान होता और न प्रमाण होता है, तब सन्निकर्ष प्रमाण है। स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण नही है, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है ऐसा सन्निकर्षवादी अपना मतव्य रख रहे हैं।

सन्निकर्षके स्वरूपका विवरण-- सन्निकर्षके सम्बन्धमे बहुत प्रसिद्ध बात है कि नेत्रका और घटका सयोग हुआ, सब लोग कहते है। चक्षुसे ग्रहण करके घटका जो परिज्ञान हुआ वह प्रमाण है क्योकि इन्द्रियका और घटका सयोग हो गया और घटमे जो रूप है, जो काला नीला आदिक रूप है उस रूपका घटसे है समवाय और घटसे है नेत्रका सयोग। तो नेत्रका रूपसे सयुक्तसमवाय हो गया। जैसे यह घडी है, बहुत प्रसिद्ध बात है कि हम यह कहते है कि नेत्र और घडीकी भिडन्त हुई तब हमने जाना कि यह घडी है। तो घडीका जो कुछ आकार है इस आकारसे भिडन्त हुई, तो घडीसे नेत्रका सयोग हुआ, पर घडीमे जो रूप है, सफेदी है, इस सफेदीसे आखका सयोग नही हुआ, किन्तु घडीमे समवायसम्बन्ध से रहनेवाला जो रूप है तो रूपवाली घड़ीका सयोग हुआ सो नेत्रका रूपसे सयुक्तसमवाय है याने इन्द्रियसे सयोगमे आने वाली घडीमे रूपका समवाय है। समवायका अर्थ है तादात्म्य जैसा सम्बन्ध। घडीमे रूप तादात्म्य सम्बन्धमे रह रहा है ऐसा तो जैन सिद्धान्त कहता है, सन्निकर्षवादी तादात्म्यसम्बन्धको नही मानते, समवाय सम्बन्ध मानते है।

समवाय सम्बन्ध माननेका कारण--समवाय सम्बन्ध माननेका उनके

दर्शनमे यह कारण है कि ये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव इस प्रकार ७ पदार्थ माने हैं। जैन सिद्धान्तमे तो एक पदार्थ है जो सत् है जिसे द्रव्य कहते हैं, द्रव्य गुणमय है, द्रव्य पर्यायमय है। द्रव्यमे ही सामान्यका बोध है, द्रव्यमे ही विशेषका बोध है और किसी द्रव्यरहित द्रव्यके पाये जानेका नाम अभाव है। जैसे कोई कहे कि अमुक कमरेमेसे समयसारकी पुस्तक उठा लावो और वहा समयसारकी पुस्तक है नही कहा गया कि चौकीपर पुस्तक रखी है सो उठा लावो। तो यह आदमी गया और कमरेमे देखकर कहता है कि वहा तो पुस्तक नही है, तो यह कहता है कि तूने आखो देखा है कि वहाँ पुस्तक नही है ? तो वह कहता है—हा हमने खूब देखा, वहा पुस्तक नही है। तो पुस्तकका जो अभाव है वह भी दीखनेकी चीज है क्या ? उसने क्या देखा जिसे यह कहता है कि हमने खूब देखा वहा पुस्तक नही हैं। तो उसने पुस्तकरहित चौकीको देखा। सो केवल चौकीके देखनेका ही नाम है पुस्तकका अभाव। अभाव नामकी कोई अलग चीज नही है किन्तु वहाँ अभावको भी अलग तत्त्व माना गया है। तो जहा द्रव्य, गुण आदिक पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं तो द्रव्यमे गुण तादात्म्यसे रहते हैं फिर यह नही कह सकते। तादात्म्यका तो अर्थ है कि वही आत्मा है उसका। तो जब जुदे-जुदे पदार्थ मान लिये द्रव्यगुणको तो समवाय सम्बन्ध उन्हें मानना पडा। समवाय सम्बन्ध सयोगकी अपेक्षा विशिष्ट निकट सम्बन्ध है, तो नेत्रका तो है घडीसे सयोग और नेत्रका रूपसे है सयुक्त समवाय और रूपमे जो रूपत्व है उस रूपत्वके साथ है नेत्रका सयुक्त समवेत सम्बन्ध अर्थात् रूपमे रूपत्वका समवाय है, तो नेत्रका घडीसे सयोग है नेत्रका रूपमे सयुक्तसमवाय है और नेत्रका रूपत्वसे समवेत समवाय है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है और समझमे आ सकती है तो हमारा सन्निकर्ष ही ज्ञानका जनक है और प्रमाण है ऐसा सन्निकर्षवादी कहते जा रहे हैं।

समवाय सम्बन्धके मूलमे सत्त्वभेद - यहा एक प्रश्न हो रहा है कि जैसे उन्होने द्रव्य गुण क्रियाको जुदा पदार्थ माना है इसी प्रकार जैन सिद्धान्तमे भी तो ६ पदार्थ कहे गए हैं फिर उनको जुदे पदार्थ माननेका निराकरण क्यो किया गया है ? उत्तर - कहे गए है कही कही ६ पदार्थ, लेकिन वहा पदार्थका अर्थ है पदका अर्थ। जो पद कहा है, जो शब्द कहा है उसका वाच्य जो कुछ ज्ञेय है वह है पदार्थ। भिन्न सत् वाला है ऐसा पदार्थका अर्थ नही है। मूल पदार्थ तो वहा दो ही हैं—जीव और अजीव। जीवमे अजीवके आनेका नाम आश्रव है, सो यह आश्रव जब उभयदृष्टि से देखें तो जीवगत है और अजीवद्रव्यदृष्टिसे देखें तो अजीवगत है, किन्तु वहाँ ७ पदार्थ भिन्न-भिन्न सत् माने गए हैं। और, उनका समवाय सम्बन्ध माना है, उस सिद्धान्त मे द्रव्य और द्रव्यका तो सयोग सम्बन्ध है और द्रव्यके साथ गुण कर्म सामान्य विशेष आदिकक समवाय सम्बन्ध होता है। यों समझिये कि अति निकट और विशिष्ट सबध का नाम समवाय है और बाह्य सम्बन्धका नाम सयोग है।

सन्निकर्षकी प्रमितिक्रियामें साधकतमताके समर्थनका पक्ष—सन्निकर्ष

प्रमाण ज्ञानकी सर्व स्थितियोंमे निहारले, इन्द्रियका और पदार्थका जब भिड़न्त हो, सम्बन्ध हो तब ज्ञान होता है, तो सन्निकर्ष प्रमाण है और सन्निकर्ष ही ज्ञानका साधकतम है, जो साधकतम हो सो प्रमाण है। यहा ज्ञान और अज्ञानकी बात नही है। जाननेका नाम प्रमाण नही है और अज्ञानका भी नाम प्रमाण नही है, किन्तु जो प्रमिति क्रियामे साधकतम हो वह प्रमाण है। ज्ञानका नाम प्रमाण क्यो नही है? यो कि ज्ञानके साथ प्रमाणका नियम नही है कि जो जो ज्ञान हो सो प्रमाण है। सशय ज्ञान, विपर्ययज्ञान, ये भी तो ज्ञान हैं, पर प्रमाण कहा? और अज्ञान भी प्रमाण नही ऐसा भी नही है, जैसे ये प्रमेय पदार्थ हैं ये पदार्थ न हो तो ज्ञान कहासे हो? तो जानकारीकी क्रियामे ये पदार्थ साधकतम है कि नही? साधकतम है और प्रमाण हो रहे है। तो ज्ञान होना या अज्ञान होना इनकी प्रमाणताके साथ व्याप्ति नही है किन्तु तो जानकारीमे, प्रमिति क्रियामे साधकतम हो, जिसके बिना ज्ञान न हो सके वह प्रमाण है और वह साधकतम है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण है, ऐसा सन्निकर्षवादी कह रहे है।

सन्निकर्षकी प्रमितिक्रियामे साधकतमताका अभाव—अब इसका समाधान सुनिये! सन्निकर्षवादियोने जो यह युक्ति दी थी कि प्रमितिकी उत्पत्तिमे साधकतम सन्निकर्ष है यह बात गलत है। सन्निकर्ष जानकारी उत्पत्तिमे साधकतम नही है। साधकतमका अर्थ होता है जो खास साधन हो। जैसे पेन्सिलके छीलनेमे चाकू साधनतम है, पेन्सिल भी ले लो और आदमी भी बैठा हो और चाकू न हो तो पेन्सिल छीलें कैसे? बहुत प्रसिद्ध बात है कि छेदनक्रियामे साधकतम चाकू है ऐसे ही जानकारीकी क्रियामे साधकतम सन्निकर्षको कहते हो यह बात सही नही है। क्योकि साधकतम उसे कहते है कि जिसके सद्भावमे प्रमितिकी भाववत्ता हो अर्थात् जानकारी हो और जिसके अभावमे प्रमितिकी अभाववत्ता हो याने जानकारी न हो वही तो साधकतम है जिसके होनेपर कार्य हो और जिसके न होनेपर कार्य न हो वही तो कार्यमे साधकतम है, पर यह बात सन्निकर्षमे सम्भव नही है क्योकि सन्निकर्षका सद्भाव होनेपर भी कही–कही जानकारी नही बनती और कही–कही सन्निकर्ष न होनेपर भी जानकारी हो जाती है, इस कारण सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

सन्निकर्ष होनेपर प्रमाणकी अनुपपत्ति—ऐसी कौनसी परिस्थितिया है कि जहा इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध भी हो रहा है और फिर भी जानकारी नही हो रही? प्रथम तो वही परिस्थिति ले लो। यहा इन्द्रियोका और आकाशका सम्बन्ध है और जानकारी नही हो रही आकाश की। आकाशसे भी इन्द्रियोकी भिडन्त है पर आकाश तो जान नही रहा है, इसी प्रकार और और भी सूक्ष्म मूर्त पदार्थ व अमूर्त पदार्थ है, उनके साथ भी इन्द्रियका सम्बन्ध है, जहा इन्द्रिय है वहा वह भी हैं, पर नही जानकारी होती है। तो यह तो समझ लीजये कि इन्द्रियका सयोग होनेपर भी

जानकारी नहीं हो रही है, अब दूसरी बात सुनिये। इन्द्रियका संयुक्त समवाय होनेपर भी जानकारी नहीं हो रही है, जैसे इस घडीमे आंखोका संयोग है और घडीमे रस भी है, तो घडीमे जैसे रूपका समवाय है, ऐसे ही उसमे रसका भी समवाय है, और आंखका रसमे संयुक्त समवाय हो रहा है पर ज्ञान तो रसका नही हो रहा है। आंखका घडीमे संयोग है और घडीमे रसका समवाय है तो रसके साथ संयुक्त समवाय हो गया कि नही? मगर जानकारी नही हो रही। तीसरी बात संयुक्त समवेतसमवाय की देखो—इस घडीमे रसका समवाय है और रसमे रसत्वका समवाय है तो आंखोका रसत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय हो गया मगर रसत्वका ज्ञान तो नही हो रहा। यदि सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञान नही होता तब सन्निकर्ष जानकारीमे साधकतम किस तरह है?

सन्निकर्षमे सम्बन्धकी प्रधानता—यहा एक शंका उठी है कि नेत्र इन्द्रिय का रस विषय ही नही है तो रसके साथ नेत्रइन्द्रियकी व्यभिचारिता क्यों दिखाई जा रही है? यहा यह बात कह रहे है कि नेत्रका रसके साथ संयुक्तसमवाय है अर्थात् नेत्र इन्द्रियके संयोगमे आयी हुई घडीमे रसका समवाय है, रसके साथ इन्द्रियका साक्षात् सम्बन्धकी बात नही कह रहे, रससे इन्द्रियका साक्षात् सम्बन्ध होता ही नही जब कभी भोजन करते है तो उस समय भी रसका रसना इन्द्रियमे सम्बन्ध नही होता। साक्षात्, किन्तु रसना इन्द्रियमे भोज्य पदार्थका सम्बन्ध होता है और भोज्य पदार्थमे है रसका समवाय तो वहा भी इन्डाइरेक्ट सम्बन्ध है। ऐसे ही इन्डाइरेक्ट संयुक्तसमवायका सम्बन्ध है नेत्रेन्द्रियसे रसका भी संयुक्त समवाय है। नेत्रका रसमे समवाय नही कह रहे, न नेत्रका रसमे समवाय है, न रूपका नेत्रसे समवाय है, किन्तु संयुक्त चीजमे समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला जैसा रस है वैसा ही रूप है। इन्द्रियके संयोगमे जो चीज आयी है उसमे जितनी भी समवाय सम्बन्धसे रहने वाली बातें है उन सब का नेत्रइन्द्रियसे संयुक्त समवाय सम्बन्ध है लेकिन ज्ञान नही होता। यहा विषयकी बात नहीं कही जा रही है। विषयकी बात कही जाय तो सन्निकर्ष नही रहा। सन्निकर्षमे तो सम्बन्धकी बात है। तो केवल सम्बन्धकी दृष्टिमे निहारना है यह बात। विषयके तो मायने ज्ञानका सम्बन्ध है, ज्ञानकी बात कही जा रही है। ज्ञान प्रमाण है यह तो जैन दर्शनका सिद्धान्त है। सन्निकर्ष प्रमाणकी बात तो उस सन्निकर्षमे सम्बन्ध की दृष्टिसे निहारना है। तो इन्द्रियका संयोग होनेपर भी, इन्द्रियका संयुक्तसमवाय होनेपर भी इन्द्रियका संयुक्तसमवेतसमवाय होनेपर भी ज्ञान नही होता अतः सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

सन्निकर्षके अभावमे भी प्रमाणकी उत्पत्ति—अब कुछ परिस्थितिया ऐसी देखिये कि जहा सन्निकर्षका अभाव होनेपर भी जानकारी बन जाती है, प्रमाण हो जाता है। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है। जैसे अनेक विशेषताओंको समझकर

विशेष्यका ज्ञान हो जाता है, उस विशेष्य ज्ञानमे इन्द्रियका कहा सम्बन्ध रहा ? आपसे पूछें कि छतरीवाला किसे कहते है ? तो आप कहेंगे कि जिसके पास छतरी है वह छतरीवाला है। तो न तो छतरीमे इन्द्रियका सयोग हुआ न छतरीवालेमे इन्द्रियका सयोग हुआ, सन्निकर्ष तो कुछ नही हुआ, पर विशेषणका ज्ञान करनेसे विशेष्यकी जानकारी हो गयी। तो यहा ज्ञान प्रमाण रहा या सन्निकर्ष प्रमाण रहा ? इससे यही निर्णय रखो कि ज्ञान ही प्रमाण है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण नही है।

सन्निकर्षमे योग्यताके आलम्बनका उपक्रम—यदि सन्निकर्षवादी यह कहे कि सन्निकर्षमे भी योग्यता मानी जा सकती है। घटका और आकाशका यद्यपि इन्द्रिय से सम्बन्ध हुआ है, लेकिन यह नेत्र इन्द्रिय घटको ही जान सकती है, आकाशको नही जान सकती है। इन्द्रियका घडीके रूपसे सयुक्तसमवाय है और घडीके रससे भी सयुक्त समवाय है, लेकिन नेत्र इन्द्रिय रूपको ही जानेगी, रसको न जानेगी। ऐसी योग्यता है। तो कहते है कि अरे भले भाई ! फिर तो योग्यताको ही प्रमाण मान लो, बीचमे क्यो सन्निकर्षका रोडा अटकाते हो। सीधे मान लो कि योग्यता प्रमाण है। अब जिस जिसमे जैसी जाननेकी योग्यता है वह प्रमाण है, सन्निकर्षकी बात कहा रही ? अब योग्यताके सम्बन्धमे योग्यतास्वरूपके विकल्प बनाकर पूछा जायगा।

योग्यताके स्वरूपके प्रश्न—इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षमे जब प्रमाणता का अविनाभाव नही रहा अर्थात् सन्निकर्षके होनेपर भी कही प्रमाण नही बनता और सन्निकर्षके न होनेपर भी प्रमाण बन जाय, ऐसी स्थिति बताई तब सन्निकर्षके मन्तव्यमे यह कहा जा रहा है कि सन्निकर्षमे जैसी योग्यता होती है वैसा वह पदार्थका ज्ञान करता है। नेत्रइन्द्रियका पदार्थमे सयोग है और उस पदार्थके रूपमे सयुक्त समवाय है और इसी तरह उस पदार्थके रससे भी नेत्रइन्द्रियका सयुक्त समवाय है। तो नेत्रइन्द्रियका रूपसे और रससे सयुक्त समवाय होनेपर भी नेत्र इन्द्रिय व पदार्थका सन्निकर्ष रूपको जानता है रसको नही जानता। इसमे योग्यता कारण है। ऐसा कहनेपर सन्निकर्षके मतव्यसे योग्यताका स्वरूप पूछा जा रहा है कि योग्यताका अर्थ क्या है ? योग्यता नाम शक्तिका है या जानने वालेके आवरणके विनाशका नाम योग्यता है। यदि शक्तिका नाम योग्यता है तो वह शक्ति इन्द्रियगम्य है या अतीन्द्रिय है ?

सन्निकर्षके मन्तव्यमे शक्तिरूप योग्यताकी असिद्धि—इन्द्रियका पदार्थमे पदार्थके गुणमे व गुणके भावमे जो सम्बन्ध रहता है उसमे जो योग्यता मानी है, शक्ति मानी है वह शक्ति इन्द्रियजन्य तो है नही। जैसे चक्षु इन्द्रियसे घट पट आदिक पदार्थ एकदम इन्द्रिय द्वारा गम्य हैं इस तरह यह नेत्रइन्द्रिय व पदार्थका सन्निकर्ष नेत्र रूपको ही जानेगा, रसको नही, ऐसी शक्ति इन्द्रिय द्वारा कहा दीख रही है और अतीन्द्रिय भी शक्ति नही है क्योकि अतीन्द्रिय शक्ति सन्निकर्ष सिद्धान्तमे ही नही मानी। सन्निकर्ष के मतव्य वाले इन्द्रिय गोचर कुछ भी नही मानते। यहा तक कि कोई प्रभु सर्वज्ञ हो

तो वह कहीं आत्माके ही द्वारा सर्वज्ञ नहीं है किन्तु वह भी अतिशय विशेष उत्पन्न करके इन्द्रिय और मनसे सबको जानता है। अतीन्द्रिय तो कुछ मानते ही नहीं है। तो शक्तिका नाम तो योग्यता रही नहीं।

सहकारी कारणोके सान्निध्यका प्रयोग—यदि सहकारी कारणोंका सान्निध्य मिल जाये इसका ही नाम आप शक्ति रखते है तो सहकारी कारणोसे प्रमाण बनता है ऐसा मतव्यका निराकरण तो कारकसाकल्यके निराकरणमे बताया ही गया है। सहकारी कारण तो प्रमाणमे केवल निमित्तरूप हो सकता है। मुख्य कारण तो आत्मा ही है लेकिन न आत्माको प्रमाण माना सन्निकर्ष वालोंने और न सहकारिताको प्रमाण माना, किन्तु पदार्थ और इन्द्रियके सम्बन्धको प्रमाण माना। यह मतव्य लौकायतिककी तरह है अर्थात् जैसे लौकिक मनुष्य जिस स्थितिको प्रमाण मानते है मोटी दृष्टिसे उस स्थिति तक ही इस आशयकी दृष्टि है। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होनेपर भी जो ज्ञान नहीं होता उसमे योग्यताका बहाना लिया गया है। वह योग्यता शक्तिरूप तो है नहीं तथा सहकारी कारणोके सान्निध्यका कारकसाकल्यमे निराकरण किया।

सन्निकर्षमे सहकारी कारणोके विकल्प—यदि कहोगे कि सहकारी कारणोका मिल जाना यह एक विशेष योग्यता है तो सहकारी कारण क्या है? इन्द्रिय पदार्थका सम्बन्ध करके किसीको जाना और किसी को नहीं जाना। इसमें व्यवस्था बनाई गई है सहकारी कारणोके मिलापकी। जहा सही सहकारी कारण मिल जाता है वहा तो इन्द्रिया जान लेती है और जहां सहकारी कारण नहीं मिलता वहा इन्द्रिया नहीं जानती। तो सहकारी कारण वह है क्या? द्रव्य है या गुण है या क्रिया है? द्रव्य नाम पदार्थका है, कई पदार्थ मिल जायें और वे तुम्हारे प्रमाणमे सहयोग दे क्या ऐसा है? या कोई गुण मिल जाय और तुम्हारे प्रमाणमे सहयोग दे क्या ऐसा है? या कोई क्रिया चेष्टा प्राप्त हो जाय तब तुम्हारे प्रमाणमे सहयोग हो क्या ऐसा है? तीन प्रश्न यहा हुए। क्या प्रमाणमे सहकारी द्रव्य है या गुण है या क्रिया है? द्रव्य है तो कैसा द्रव्य है व्यापी या अव्यापी? अर्थात् जो सारे जगतमे फैला हो या जो कुछ जगह रहने वाला हो वह द्रव्य है?

सन्निकर्षमे द्रव्यकी सहकारीकारणताकी असिद्धि—यहा प्रश्न यह किया जा रहा है कि सन्निकर्ष प्रमाण माननेवालोने यह युक्ति दी थी कि इन्द्रियमे रूप, रस आदिकसे सयुक्त समवाय होने पर भी नेत्रइन्द्रियका सन्निकर्ष रूपको ही जानता, रस आदिकको नहीं, रसना इन्द्रियका सन्निकर्ष रसको ही जानता रूप आदिक को नहीं। इन विभागोको बनानेमे कारण है योग्यता। वह योग्यता सहकारी साधन है। तो सहकारी साधन क्या व्यापक द्रव्य है? व्यापक द्रव्य तो तुम्हारे सन्निकर्ष मे सदा ही मौजूद रहते है। जिस समय नेत्रइन्द्रियका पदार्थसे सम्बन्ध हो रहा है उस

समय क्या आकाश दिशा, काल, आदमी आदिक नहीं है ? यदि नही है तो ये व्यापी ही नहीं रहे । ज व्यापी ये सब सहकारी कारण है तो सदैव सभी विषयोका किसी भी इन्द्रियग ज्ञा ह ते रहना चाहिए । यदि यह कहे कि अव्यापी द्रव्य हमारे सन्निकर्ष मे एग योग्यता उ प करने है तो वे अव्यापी द्रव्य कौनसे है ? मन है, नेत्र है या प्रकाश है ? जब अ गोका सन्निकर्ष आकाशके साथ हो रहा उस समय भी ये तीन है। जब नेत्रसे घट जान रहे है उसी समय नेत्रइन्द्रियका सम्बन्ध आकाशसे भी है और उस समय भी मन पास है, नेत्र भी है, प्रकाश भी है, फिर आकाश आदिकका ज्ञान क्यो नही ह ता ? इस कारण द्रव्य तो सहकारीकारण बन नही सकता ।

सन्निकर्षमे सहकारीकारणरूपसे अवमत गुणके विकल्प— यहा बात यह कही जा रही है कि जब यह सिद्धान्त रखा आचार्यदेव ने कि ज्ञान ही प्रमाण होता है और वह ज्ञान जो स्व एव अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक हो । इसके विरोधमे सन्निकर्ष सिद्धातने यह बात रखी कि ज्ञान प्रमाण नही है किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है । इसे कहते है सन्निकर्ष । तो सन्निकर्षमे यह आपत्ति दी थी कि कही कही तो सन्निकर्ष होनेपर भी प्रमाण नही बनता और कही सन्निकर्ष न होनेपर भी प्रमाण बन जाता है । तो उसके कारणमे योग्यता बताई जा रही है । वह योग्यता सहकारी कारणोके सान्निध्यरूप है तो क्या वह सहकारी कारण गुण है ? जहा गुण मिला वहा प्रमाण बन जाता है, गुण न मिले वहा सन्निकर्ष प्रमाण न करे । तो वह गुण है क्या ? क्या ज्ञातामे रहने वाला गुण सहकारी है या प्रमेय पदार्थमे रहनेवाला गुण सहकारी है या जानने वाले और जाने गये पदार्थ दोनोमे रहने वाले गुण सहकारी है ।

सन्निकर्षमे गुणकी सहकारीकारणताकी असिद्धि—यदि कहे कि ज्ञेय पदार्थमे रहनेवाला गुण सहकारीसान्निध्य है तो आकाशमे तो सदैव गुण है वह भी तो प्रत्यक्ष है फिर क्यो नही उसका ज्ञान हो जाता ? यदि कहे कि यह तो जानने वालेके गुणोकी महिमा है, जानने वाले पुरुषका गुण मिले सही तो यह सन्निकर्ष जाने । तो प्रमाताका वह गुण क्या है ? क्या पुण्य पाप या इच्छा आदिक ? जैसा पुण्य पाप हो वैसा इन्द्रियके सन्निकर्षमे ज्ञान बने अथवा जिस प्रकारकी इच्छा हो तिस प्रकारसे सन्निकर्षसे ज्ञान बने तो ये तो दोनो ही बाते पुण्य पाप भी और इच्छादिक भी आकाश और इन्द्रियके सम्बन्धके समय मौजूद है और अब भी मौजूद है फिर क्यो नही आकाश का इन इन्द्रियोसे ज्ञान हो जाता ? या दिशाका या समयका या आत्मादिकका ? जैसा सम्बन्ध नेत्रइन्द्रियका इन पदार्थोके साथ है ऐसे ही इस आकाशके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है तो उस समय ये पुण्यपाप या इच्छा सम्बन्ध नही हो जाती । इसी तरह ज्ञाता और ज्ञेय दोनोके गुणोका कारण बताओ तो जो दोनोमे दोष दिया है यह दोष आ जाता है । साराश यह है कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाणका नियमित कारण बने यह बात घटित नही होगी ।

सन्निकर्षमें क्रियारूप सहकारीकारणकी असिद्धि —कदाचित् यह कहें कि क्रियाकी ऐसी विशेषता है कि उस योग्यताके कारण कोई सन्निकर्ष किसीको जानता है कोई किसीको जानता है तो वह क्रिया क्या अन्य पदार्थकी क्रिया है जो तुम्हारे सन्निकर्षमें सहकारी या इन्द्रियकी क्रिया सहकारी है ? जैसे जब पलकोंको बन्द कर लेते है तब ज्ञान नहीं होता, पलकोंको खोलते हैं या नेत्रके गोलकको घुमाते हैं तब ज्ञान हुआ करता है। यो इन्द्रियकी क्रिया ज्ञानमें सहयोगी है या अन्य पदार्थकी क्रिया ? अन्य पदार्थकी क्रिया यदि ज्ञानमें सहयोगी हो जाय तो अन्य पदार्थ तो सदैव हैं, सदैव उनकी क्रिया है तो सदैव सारा ज्ञान होना चाहिए। यदि कहें कि इन्द्रियकी क्रिया सहकारी कारण है तो आकाशके सन्निकर्षके समय भी नेत्रमें क्रिया चल रही है, क्यों नहीं ज्ञान हो जाता ? इस कारण शक्ति नामकी योग्यता तो तुम्हारे सन्निकर्षमें ठीक नहीं है।

प्रमाणका साधकतम प्रतिपत्ताके प्रतिबन्धका अपाय —यदि ज्ञाताके आवरणका विघात कारण कहें याने जाननेवाले जीवके ज्ञानके आवरणका जितना विनाश है उतना उसका ज्ञान होता है, तो अब कही तुमने ठीक बात ! इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस जीवके ज्ञानावरण कर्मका जितना क्षयोपशम है उस क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार यह जीव ज्ञान किया करता है। और, वह प्रमाण होता है, फिर यह सन्निकर्षकी बात जीवमें क्यों लगा रहे हो ? जिस जीवके जहाँपर जिस प्रकारसे ज्ञानावरणका विनाश होगा उस जीवके उस जगह उस प्रकारके अर्थका परिज्ञान हो जाता है। और, ज्ञानावरणके विनाशमें ज्ञान बनता है, इस बातका आगे खूब समर्थन भी किया जायगा। तो यही मान लो—जाननेवालेके ज्ञानावरणका अपाय होना पदार्थके ज्ञानमें कारण है, सन्निकर्ष कारण नहीं है। सन्निकर्षमें रहनेवाली योग्यतासे ज्ञानके प्रमाणका विधान बनाते हो सो योग्यतासे ही प्रमाण बना लो, सन्निकर्षसे क्या प्रयोजन ? कहीं इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होकर ज्ञान होता, कहीं इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध न हुआ तब भी ज्ञान होता लेकिन ज्ञानावरणके विघटन बिना ज्ञान किसीके नहीं होता। इस कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो ज्ञानके होनेमें मुख्य कारण है और इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश ये सब उसके सहकारी कारण हैं। उन सहकारी कारणोंमें कोई निकट सहकारी है कोई बाह्य सहकारी है, किन्तु ज्ञानके होनेमें ज्ञानावरणका विनाश सबको आवश्यक है।

सर्व ज्ञानियोंके ज्ञानावरणप्रकृतिके अपायका नियम—सर्वज्ञदेवको सर्व लोकालोकका ज्ञान है क्योंकि उनके सर्व ज्ञानावरणका क्षय है। यहाँ हम आपको कुछ कुछ पदार्थोंका ज्ञान है क्योंकि ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, तो इस प्रतिबन्धापायरूप योग्यताके द्वारा ही ज्ञानमें निर्णय बन सकता है। इन्द्रिय और पदार्थका संबंध होनेपर भी किसीका ज्ञान होता है और किसीका ज्ञान नहीं होता। अत सन्निकर्ष

मुख्य नही रहा, किन्तु ज्ञानावरणका विनाश मुख्य कारण रहा और उसमे उपादान रहा आत्मा । प्रमाणरूप परिणमन आत्माका ही तो हुआ है ना, न तो इन्द्रियका हुआ न ज्ञेय पदार्थोंका हुआ । आत्मा ज्ञान स्वरूप है । ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है और हम सब आत्मामे यह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे वाह्य इन्द्रिय आदिककी सहकारिता पाकर उत्पन्न होता है और किसी शुद्ध आत्माके ज्ञानावरणका चूकि सर्वक्षय हो गया है अतएव इन्द्रिय आदिक कारणोके विना केवल आत्मपरिणमनसे ही समस्त लोकालोकका ज्ञान होता है । यह तो एक ससारी अवस्था की परिस्थिति है कि इन्द्रियका और पदार्थका सम्बन्ध पाकर हम आपका ज्ञान होता है । पीठ पीछे क्या है ? इसका हमे कुछ ज्ञान नही है । यह एक हमारी परिस्थिति है और आंखके आगे क्या है ? इसका हमे ज्ञान हो रहा है । तो इसका अर्थ यह नही है कि इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे ज्ञान बन रहा है या इन्द्रिय और पदार्थका सम्बध ही प्रमाण है । प्रमाण तो ज्ञान है उस ज्ञानके विकासकी ऐसी परिस्थिति ससारी जीवकी है । और मुक्त जीवकी ऐसी पराधीन परिस्थिति नही है । वह अपने आत्मपरिणमनसे समस्त लोकालोकको स्पष्ट एक साथ जानता है ।

स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यताकी ज्ञानरूपतासे मुख मोडनेका प्रदर्शन— योग्यता साधकतम है ज्ञान मे, इतनी वात सिद्ध हो जानेपर और सन्निकर्षके मतव्यकी मनमानी बात सिद्ध न होनेपर फिर भी सन्निकर्षके मतव्य वाला पुरुष ज्ञानप्रमाण न वन सके इसकी सिद्धि करनेकी कोशिश कर रहा है । भाई ! योग्यता ही अर्थके परिच्छेदन करनेमे साधकतम है तो रहा आये, किन्तु योग्यता प्रमाण बना ज्ञान प्रमाण नही बना । क्योकि, पदार्थके परिज्ञानमे साधकतम योग्यता है और यही आपने सिद्ध किया है, ऐसा सन्निकर्षवादी कह रहे है कि इसपर भी ज्ञान प्रमाण तो सिद्ध नही हुआ ? योग्यता प्रमाण सिद्ध हुई है । जैसे जब कभी किसी वातपर विवाद हो जाय दो पुरुषोमे, उनमे एक हठी है और हठीकी बात गिर जाती है तो गिर जानेपर भी किसी न किसी तरहसे दूसरेकी बात पूर्णतया सिद्ध नही हो ऐसा वाक्य बोला ही करते है । कोई बात पूर्ण सिद्ध हो जाय तो इतना तो कोई कह ही सकता है कि हाँ साहव ! आपकी बात कुछ कुछ ठीक जचती है, हम इसपर विचार करेंगे । तो किसी की वात ठीक होनेपर भी अनेक शब्द तो ऐसे रिजर्व है ही कि मानकर भी हमने नही माना यह बात चारके आगे रखी जा सकती है । जैसे कभी कभी शास्त्रसभाके श्रोतावो मे भी यह बात हुआ करती है, कोई हठी शङ्काकार हो और उसकी शङ्काका पूर्ण समाधान भी मिल जाय तो इतना तो तब भी वह कहता है कि हाँ हो तो सकता है ऐसा, पर हम इसपर विचार करेंगे ! लो वात सही होनेपर भी गैर सही है । इस प्रकारकी असिद्धिकी कोशिश इन शब्दोमे हो गयी ।

स्वार्थपरिच्छित्तिरूप योग्यतामे ज्ञानरूपताका समाधान- सन्निकर्षके

होनेपर भी कभी प्रमाण होता है और सन्निकर्ष न होनेपर भी कभी प्रमाण बन जाता है। इस स्थितिसे सन्निकर्षकी प्रमाणता नही रहती, लेकिन सन्निकर्षको ही प्रमाण कहनेके लिए एक योग्यताको स्वीकार किया है, सो योग्यताके स्वीकार करनेमें योग्यता मुख्य बन गयी, सो योग्यता ही प्रमाण हुई, सन्निकर्ष तो प्रमाण नही हुआ, ऐसी बात सुनकर सन्निकर्षवादी कहता है कि ठीक है, योग्यता प्रमाण हुई पर तुम्हारा ज्ञान तो प्रमाण नही हुआ ?

ऐसी आशङ्कापर समाधान दे रहे हैं कि भाई ! योग्यता क्या हुई ? यही तो ना कि पदार्थके परिज्ञान करनेकी शक्तिरूप जो अन्तः पुरुषार्थ है, भावेन्द्रिय है वही तो योग्यता रही। वह भाव इन्द्रिय स्वयं ज्ञानस्वरूप है। तो ज्ञान ही तो प्रमाण रहा। केवल एक नामभेदसे भावका भेद डालना उचित नही है। जब सन्निकर्षवालेसे यह कहा गया कि योग्यता प्रमाण रहा तुम्हारा सन्निकर्ष नहीं रहा तो उसके एवजमे वह उत्तर देने लगा कि हाँ, योग्यता प्रमाण है, तुम्हारा ज्ञान प्रमाण नही रहा। अरे ! वह योग्यता ज्ञानस्वरूप ही तो है। योग्यता प्रमाण है इसका अर्थ यह है कि ज्ञान प्रमाण है।

स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यताकी साधकतमता—देखो जिसके न होनेपर और अन्य पदार्थोंके होनेपर भी जो बात उत्पन्न नही होती है वह उसके कारणसे उत्पन्न हुई, मानना चाहिए। जैसे कुल्हाडीके न होनेपर और और पदार्थ कितने ही हों, मिट्टी है, पत्थर हैं, लोग खडे है, कुछ भी अनेक पदार्थ हो पर एक कुल्हाडीके न होनेपर काठ नही छेदा जा सकता, तो काठके टुकडे करनेमे साधकतम तो कुल्हाडी रही। इसी प्रकार भावेन्द्रियरूप योग्यताके न होनेपर चाहे सन्निकर्ष भी हो, चाहे कारक साकल्य भी हो लेकिन पदार्थका ज्ञान नही होता इससे यह सिद्ध है कि पदार्थका ज्ञान, पदार्थका प्रमाण भावेन्द्रियके द्वारा बनता है। तो भावेन्द्रिय कहो, अथवा योग्यता कहो या ज्ञान कहो सब उसके निकटकी बातें हैं। अपना और परपदार्थोंका आभास होने वाले ज्ञानरूप प्रमाणकी सामग्री तो यह योग्यता है, इस कारण प्रमाणकी उत्पत्तिमे योग्यता साधकतम है। वह योग्यता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि यह अन्तःस्वरूप योग्यता किसी अन्य पदार्थके परिणमनको लेकर प्रमाणरूप नही बनती अतएव वह स्वतन्त्र होकर ज्ञानरूप बनती है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

ज्ञानमे साधकतमका और बाह्य सहकारी कारणका निर्णय—इतनेपर भी सन्निकर्षके मतव्य वाले कह रहे है कि चलो योग्यतासे ज्ञान बना, पर उसमे कुछ सन्निकर्ष भी तो कारण पडा इसलिये सन्निकर्ष भी तो प्रमाण है। चलो इतनी भी बात सही, पर हमारा सन्निकर्ष भी तो प्रमाण है ? कहते है कि इस तरह कारणका बाह्य कारण बननेसे यदि साधकतम बन जाय तो काठके छेदन करनेकी क्रियामें लोहार भी साधकतम करण बन बैठेगा, पर लोहार छेदनक्रियामे साधकतम तो नहीं

है। कहते है कि वाह उपचारसे तो वह भी साधकतम है। न होता लोहार, न बनाता लोहार वह कुल्हाडी तो काठको कैसे छेद लेते? तो उपचारसे लोहार भी उस छेदन, क्रियामे कारण है। तो कहते है कि इस प्रकार उपचारसे तुम्हारा सन्निकर्ष भी कारण मान लेंगे, पर मुख्यरूपसे तो सन्निकर्ष प्रमाण नही रहा। ज्ञान ही प्रमिति क्रियामे मुख्य साधकतम है और प्रमाण है। इस प्रकार स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है यह सिद्ध किया गया है।

अचेतन सन्निकर्षके प्रमाणत्वकी सिद्धिका पूर्व पक्ष—प्रमाणके प्रकरणमे प्रमाणकी बात जल्दी समझनेके लिये प्रमाणका नाम ज्ञान, और प्रमाताका नाम ज्ञाता प्रमेयका नाम ज्ञेय और प्रमितिका नाम जानकारी करना, ये चार भाव समझ लीजिए चार चीजें हुई, ज्ञाता अर्थात् जानने वाला, ज्ञेय अर्थात् जो पदार्थ जाननेमे आये, अप्रि जो जाननेकी क्रिया चल रही है याने जानकारी होना और ज्ञान। इनका प्रकृतमे नाम है प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाण। सन्निकर्षवादी इद्रिय और पदार्थके भिडावको प्रमाण कहते है। जैसे कि लोकमे कुछ साधारणतया विदित किया जाना है कि इद्रिय और पदार्थ जब ये दोनो निकट या आमने सामने आये तब ज्ञान हुआ और तब पक्की बात मानी गयी, इसे कहते हैं सन्निकर्ष। सन्निकर्ष प्रमाण नही है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है, सिद्धान्तकी बात तो यह है, किन्तु सन्निकर्ष प्रमाण मानने वाले यह कह रहे है कि ज्ञानको प्रमाण मानने वालोने इस तरह प्रमाण माना कि ज्ञान और ज्ञातामे फर्क न मानकर ज्ञाता ही तो ज्ञानरूप परिणमा है, सो उनके सिद्धातमे ज्ञाता प्रमाण बन बैठा, प्रमाता प्रमाण बन गया, लेकिन प्रमाता और प्रमेय जुदी चीज है और प्रमाण भी जुदी वस्तु है। आत्मा प्रमाण नही बन सकता, क्योकि आत्मा तो प्रमाता है अथवा आत्मा ही प्रमेय है। तो प्रमाण तो प्रमाता और प्रमेयसे भिन्न चीज होना चाहिये। क्योंकि प्रमाण उसे कहते है जिसके द्वारा दृढ ज्ञान किया जाय। प्रमाता दृढ ज्ञान करने वालेको कहते है। प्रमेय जो दृढतासे जाना गया वह प्रमेय है। तो प्रमाण तो न्यारी वस्तु हुई ना? जानने वालेका ही नाम तो ज्ञान नही होता। जानने वाला आत्मा है और ज्ञानके द्वारा आत्माने जाना, लोग भी ऐसा कहते हैं। तो ज्ञान तो आत्मासे जुदी वस्तु है प्रमाण आत्मासे भिन्न चीज है जिसके द्वारा आत्मा प्रमाण किया करता है, जो प्रमाता है, जो प्रमेय है वह प्रमाण नही बन सकता प्रमाण उससे कुछ न्यारी चीज है। ऐसा सन्निकर्षवादी कह रहे है।

सन्निकर्षकी प्रमाणताके पूर्वपक्षका समाधान अब प्रमाताके प्रमाणत्व का विरोध बताने वाली आशकाका समाधान सुनिये। न्यायप्राप्त किसी भी बातको बिना ही युक्तिके केवल मानने मात्रसे निषेध नही किया जा सकता। ज्ञान आत्मासे जुदा नही है। आत्माका जो काम हो रहा है उस ही कामको जब करण साधनसे देखते है तो यो कहते कि ज्ञानके द्वारा जाना, जब कर्तृ म बनकी मुख्यतासे देखते हैं

तब यो कहेंगे कि आत्माने जाना और वस्तुत जाननेमे आया क्या ? आत्माका ही परिणमन जाननेमे आया । बाह्य पदार्थ तो ज्ञानके विषय हैं इसलिए इनको ज्ञेय कह देते है । वस्तुत तो आत्मा ही ज्ञेय है आत्मा ज्ञाता है, आत्मा ही ज्ञान है और जाननेका जो काम है वह भी आत्मासे अलग नहीं है, यह न्यायप्राप्त बात है । न्याय-प्राप्त बातका केवल माननेमात्रसे निषेध नही होता, उसमे समीचीन युक्ति हो तो उसका निषेध चल सकता है । सन्निकर्षवालोंने यों कहकर टाल दिया कि जो प्रमाता है प्रमेय है उस हीमे प्रमाणपना नही होता । प्रमाणपना कोई भिन्न चीज है । तो केवल माननेमात्रमे न्यायसिद्ध बातको मना नही किया जा सकता । अनुभवसे विचार लो । आधार आधेय भावसे विचार लो । उपादान उपादेय भावसे विचार लो । प्रमाण प्रमातासे अर्थान्तिर नही है, भिन्न चीज नही है ।

शङ्काकारके पूर्वपक्षका सोदाहरण विवरण—शङ्काकारका प्रयोजन यह है कि जैसे यह कहा गया कि बढईने कुल्हाडीसे काठको छेद दिया तो यहां कर्ता तो जुदा है, करण जुदा है, काम न्यारा है । इसी तरह हर स्थितियोंमें कर्ता जुदा होता, कर्म जुदा होता करण जुदा होता । आत्माने ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थोको जान लिया तो इसमे आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है, ज्ञेय जुदा है, तीनो एक नहीं बन सकते । जैसे बढई, कुल्हाडी और काठके टुकडे क्या ये तीनो एक ही बात है ? भिन्न-भिन्न पदार्थ है । क्यो भिन्न हैं कि कारक जुदे-जुदे हैं बढईने-यह कर्ता कारक है, कुल्हाडी के द्वारा-यह करण कारक है, काठ यह कर्म कारक है । कर्ता और कर्मसे जुदी चीज होती है करण । जैसे इस दृष्टान्तमे बढई और काठसे जुदी चीज है कुल्हाडी, ऐसे ही आत्माने ज्ञानके द्वारा पदार्थको जाना तो कर्ता तो आत्मा हुआ और कर्म ये पदार्थ हुए जो जाने गए और करण ज्ञान हुआ । तो करण प्रमाण और प्रमेयसे जुदी चीज रही तब आत्मा ही प्रमाण नही बन सकता । आत्मामे प्रमाणता नहीं आ सकती । आत्मा तो चेतन है और जिसके द्वारा जाना वह अचेतन होना चाहिए । जैसे बढई तो जीव है और जिसके द्वारा काठ छेदा गया वह अचेतन है कुल्हाडी । इस प्रकार भिन्न कारकीय उदाहरण देकर इस आत्माके मर्मकी अनभिज्ञतासे एक युक्तिरहित बात कहकर सन्निकर्षवादी आत्मामे प्रमाणपनेका निषेध कर रहा है ।

केवल अभ्युपगम मात्रसे विरोधकी असिद्धि—आचार्य देव कहते हैं कि केवल कहने मात्रसे न्यायसिद्ध बातका निषेध नही किया जा सकता । यदि कहने मात्र से जिस चाहे बातका उल्लघन कर दिया जाय तो जैसे तुम यह कह रहे हो कि प्रमाण और प्रमेयमे जुदी चीज होती है तो हम यह कह दे कि प्रमाण अचेतनसे जुदी चीज होती है । तो यो प्रमाण चेतन बन जायगा । प्रमाणमे चेतना नही है । चेतना तो आत्मामे है, और जब ज्ञान साधनके द्वारा आत्मा चेतता है तो आत्मा ज्ञानी कहलाता है । आत्माने जाननेका धर्म नही है, केवल चेतन है, स्वरूप है आत्माका चेतन, पर

आत्माकी जानकारी करनेका अपने स्वभावमे माद्दा नही है। जब ज्ञानका सम्बन्ध होता है तब आत्मा जानता है। ऐसा मतव्य है सन्निकर्षवादियोका और तभी इनका प्रमाण अचेतन है और वह है सन्निकर्ष। सो केवल कहने मात्रसे न्यायप्राप्त बातका विरोध नही होता, युक्ति और अनुभवसे भी देख लो प्रमाणका आधार प्रमाता ही होता है।

प्रमाणके अप्रमेय होनेपर प्रमाणके असत्त्वका प्रसग—इस समय सन्निकर्ष सिद्धान्तने क्या बात रक्खी कि प्रमाण, प्रमाता और प्रमेयसे जुदी चीज होती है तब इसमे आपत्ति देखो। प्रमाण न्यारा हुआ सन्निकर्ष वालोका, प्रमातासे भी और प्रमेयसे भी जुदा। तो इसका अर्थ है कि प्रमाण प्रमेय नही रह सका। जैसे प्रमाण प्रमेय नही रहा ऐसे ही प्रमेय नही रहा ऐसे ही प्रमेय प्रमाण नही रहा। सीधे शब्दो मे यो समझो कि इनका कहना यह है कि ज्ञाता और ज्ञेयसे ज्ञान जुदी चीज है। इसका अर्थ यह निकला कि ज्ञान ज्ञाता नही है, ज्ञान ज्ञेय नही है तो ज्ञान ज्ञेय भी नही रहा अर्थात् ज्ञान समझमे आ जाय, जाननेमे आ जाय, ऐसा भी नही रहा तो जब प्रमाण प्रमेय भी नही रहा तो प्रमाणकी सत्ता नही रहा। जो बात हमारी जानकारी मे न आये उसकी सत्ता क्या। प्रमाण हमारी जानकारीमे नही आता तो उसकी सत्ता क्या ? क्योकि जितने भी सद्भाव है उनकी व्यवस्था तभी है जब वे ज्ञानमे आये। ज्ञानमे आये बिना सद्भावकी कुछ व्यवस्था नही है इसी कारण जितने भी सत् है सबमे प्रमेयत्व धर्म पाया जाता है। तुम्हारा ज्ञान अलग तो पदार्थ है और अचेतन है और साथ ही यह भी कैद लगा रहे हो कि वह ज्ञेय भी नही होता। तो जब ज्ञेय भी नही रहा तो उसकी सत्ता क्या ? तुम्हारा प्रमाण कुछ नही है। केवल कपोल कल्पनाकी चीज है। जैसे बालकको डरानेके लिये एक हौवा कहा जाता है, पर उस हौवाको किसीने देखा है क्या ? उसके कितने हाथ पैर होते हैं। कोई बता सकता है ? अरे वह तो कोई चीज ही नही है। ऐसे ही तुम्हारा प्रमाण तुम्हारा सन्निकर्ष हौवाकी तरह है। एक मन बहलानेके लिये या दूसरोसे झगडा ठाननेके लिये या अपनी जिन्दगी यो ही बितानेके लिये दूसरोपर अपनी चतुराईका एक रोब जमाने के लिये ये सब कल्पनाये है, सत्त्व कुछ नही है।

कल्पित तत्त्वचतुष्टयीमे अव्यवस्था व अव्याप्ति—जो यह कहा है सन्निकर्ष सिद्धान्तमे कि तत्त्व तो बस चारमे ही परिसमाप्त होता है—प्रमाता, प्रमाण प्रमेय और प्रमिति, ये बाते कुछ भिन्न-भिन्न नही हैं। भिन्न-भिन्न तो सत् हैं। उन सब सतोमें प्रमाता एक आत्मा ही हो सकता है जहा-जहा प्रमाता शब्द कहा वहा अपने मनमे ज्ञाता अर्थ लगाते जायें, जाननेवाला अर्थ लगाते जाये इससे वक्तव्य शीघ्र समझमे आता जायगा। तो एक पदार्थ तो प्रमाताकी जातिका है बाकी पदार्थ अप्रमाता अर्थात् अजीव जातिके हैं। अब प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति ये प्रमाताके ही धर्म है और उपचारसे अजीव पदार्थ भी प्रमेय हो सकता है, किन्तु प्रमिति, प्रमाण

और प्रमाता ये तीन तो जीवके ही तत्त्व होते हैं । प्रमितिका अर्थ है जानकारीका काम होना, सो जाननारूप क्रिया याने काम तो ज्ञाताका ही हो रहा है । प्रमेय प्रमाता भी है और अप्रमाता भी है। जीव भी प्रमेय है और अजीव भी । तत्त्वकी व्यवस्था तो यो है इन चार रूपोमे तत्त्व नही है, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति तो हुआ जीवतत्त्व, किन्तु प्रमेय जीव भी व अजीव भी है। सन्निकर्षसिद्धान्तके अनुसार प्रमाण प्रमाण ही रहता, वह कभी प्रमेय नही बनता, किन्तु प्रमेय बने बिना प्रमाणके भी सद्भावकी व्यवस्था नही बनाई जा सकती। कोई चीज है, इसकी व्यवस्था आप कब बना सकेंगे ? जब ज्ञानमे बात आये तब ना। और ज्ञानमे आये सो ही ज्ञेय है। तो प्रमाणको प्रमेयका विरोधी भाव माननेपर प्रमाणका यो अभाव ही समझिये। प्रमेय तो अवश्य होना चाहिए किन्तु पूर्वपक्षकारने यह माना है कि प्रमाण प्रमेय नही बनता।

सन्निकर्षके प्रसङ्गमे तत्त्वचतुष्टयकी कल्पनासे चारोके अभावकी पुष्टि —अच्छा, बतावो, तुम्हारा प्रमाण प्रमेय नही है तो क्या सर्वज्ञके द्वारा भी प्रमाण प्रमेय नही है ? तुम्हारे प्रमाणको क्या सर्वज्ञ देव भी नही जानते ? यदि सर्वज्ञके ज्ञान से भी प्रमाण अप्रमेय बन गया तो फिर सर्वज्ञ भी तुम्हारा कोई नही रहा। इस प्रकरणमे यह भी जानें कि इनके सर्वज्ञ भी ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा आत्माके साधनसे ही सबको जान लेते हो ऐसे नही है किन्तु ये सर्वज्ञ इन्द्रिय और मनमे एक ऐसा अतिशय पैदा कर लेते है कि इन्द्रिय और मनसे ही सबको जानते रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ हैं इनके। ऐसे सर्वज्ञ देव भी आपके प्रमाणको प्रमेय करते नही हैं तब फिर सर्वज्ञता ही क्या रही ? तो प्रमाण कुछ चीज नही ना, क्योकि वह प्रमेय ही नही है। इसी तरह प्रमाता भी कुछ नही रहा क्योकि प्रमाता प्रमेयत्व धर्मका आधार नही है। तुम्हारे सिद्धान्तमे तो चारो तत्त्व हैं न्यारे न्यारे। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति। एकमे दूसरा नही है तो प्रमाता भी क्या प्रमेय नही है ? यदि प्रमाता भी प्रमेय नही है तो प्रमाताका भी असत्त्व हो गया। आत्मा भी कुछ नही रहा। तो प्रमाण भी कुछ नही रहा और प्रमाता भी कुछ नही रहा। अब रह गये दो—प्रमिति और प्रमेय। जानकारी का काम और जाननेमे आने वाले पदार्थ। जब प्रमाता ही नही रहा, प्रमाण ही नहीं रहा तो प्रमेय क्या और प्रमिति क्या ? जानकारी का काम किसमे हो रहा, उसका आधार क्या ? तो यो तो तुम्हारे चारोके चारो तत्त्व असत् हो गये।

दार्शनिकोकी बुद्धिप्रयोगमे स्वतन्त्रता—भैया ! तत्त्वकी सिद्धि असिद्धि की विचित्रता सुनकर आश्चर्य न करें कुछ मतव्य ऐसे भी आयेंगे इसी ग्रन्थमें कि हम तो चारोको झूठ मानते हैं, न प्रमाण है, न प्रमेय है और न प्रमिति है, यह तो तुम सब लोगोने कल्पनासे एक जाल बना रखा है ऐसे भी सिद्धान्त आते हैं। ऐसा कहनेमे कोई ऐसा आश्चर्य नही करना चाहिये कि कोई ऐसा भी मानने वाला होगा क्या ? दार्शनिकोको अपनी बुद्धिके [illegible] स्वतन्त्रता रहती है और वे युक्ति

लगा लगाकर कुछ से कुछ भी बात सिद्ध करदे, उन्हे अनिष्ट कुछ नही दिखता। जैसे आज कलके जो ऊंचे साहित्यकार लोग है और इतिहासके विशेपज्ञ है, ईमानदार लोग है वे इतिहासकी खोज करते करते यदि उनके खोजमे अपने कौलिक धर्मके विरुद्ध बात आ रही है तो उसका प्रकाश करनेमे वे जरा भी हिचकिचाहट नही रखते क्योकि, इतिहासज्ञ और खोज करने वालोका यह धर्म ही है। जो धर्म कुल-परम्परासे माना है वह धर्म नही है इतिहासज्ञोका। उनके ज्ञानमे जो सच बात खोजमे आई हो उसे निर्भयतासे प्रकट करना यही उनका धर्म है। तो दार्शनिकोको बुद्धिकी स्वतन्त्रतासे प्रयोग करनेका अधिकार है। फिर परस्पर विचार होने पर खण्डित हो या अखण्डित हो यह आगेकी बात है।

एक ही आत्मामे भिन्न रूपसे भी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण व प्रमितिकी असिद्धि—देखिये सन्निकर्षके आशयमे प्रमाण प्रमेयत्व धर्मका आधार नही बताया इसी तरह प्रमाता भी प्रमेयत्व धर्मका आधार नही रहा तो ये भी घोडेकी सीगकी तरह असत् हो गए। कुछ चीज ही नही रही। देखिये किसी भी सत्की सिद्धि करनी हो तो उसे प्रमेयत्व धर्मका आधार मानना ही चाहिए। अर्थात् वे प्रमेय है ऐसी स्वीकारता करना ही चाहिए। तो अब प्रमाताका भी अभाव होने लगा। जो मूल चीज है, सब पदार्थोमे प्रधान पदार्थ है आत्मा, उसका भी अभाव होने लगा। तो इस प्रसगमे पूर्व पक्षकार कहता है कि नही नही, प्रमाता तो प्रमेयत्व धर्मका आधारभूत है। अच्छा प्रमातामे प्रमेयत्व धर्म भी है ? तो अब यह बतलावो कि प्रमातासे भिन्न प्रमेयत्व है जिसके कारण प्रमाता प्रमेय बना या प्रमाताका ही धर्म एक प्रमेयत्व है। अगर जुदा मानते हो तो वहाँ पर भी उसके प्रमाताका प्रमेय व अन्य मानें, फिर वहाँ भी उसके प्रमाताका भी प्रमेयत्व अन्य बन गया। तो यो तो अनन्त प्रमाता मानने पडेंगे, अनन्त ज्ञाता मानने पडेंगे तब एक ज्ञाताका सत्त्व सिद्ध कर पावोगे। यदि यह कहो कि जुदा-जुदा प्रमाता नही है तो उस ही एक प्रमातामे धर्म भेदसे उस ही एक आत्मामे प्रमातापन भी सिद्ध होता है और प्रमेयत्व भी सिद्ध होता है। तो यो प्रमाणमे भी प्रमेय धर्म मान ले क्या हर्ज है। तो यह बात अब वापिस लो कि प्रमाण प्रमाता और प्रमेयमे जुदी चीज हुआ करती है।

एक ही आत्मामे धर्म भेदसे प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण व प्रमितिकी सिद्धि—देखिये वही एक आत्मा है। उस ही को जब हम कर्तासाधनसे देखते हैं तो वह जानने वाला है, उस ही को जब हम करण साधनसे देखते है तो वही ज्ञान बना, उस ही को जब हम कर्म साधनसे देखते है तो वही परमार्थसे ज्ञेय लगा। और, जब क्रियाकी दृष्टिमें देखते है तो जानकारी होनेसे कामका आधार भी वही आत्मा रहा। ये न्यारे-न्यारे तत्त्व नही है। जो न्यारे तत्त्व है उनकी तो सुध भी नही ले रहे हो। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य जो न्यारे-न्यारे पदार्थ हैं

उनका तो तुम जिक्र भी नही कर रहे और मान रहे कि तत्त्व तो चार ही है। यो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति। तो इस व्यवस्थामे तुम्हारा सन्निकर्ष प्रमाण नही हुआ।

इन्द्रिय और पदार्थमे सन्निकर्षका अनियम—और भी सोचिये! सन्निकर्षका अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध बनना। तो जरा सम्बन्धकी बात विचारो कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध भी होता है या नही। आंखका पदार्थके साथ सम्बन्ध देखा है क्या? पदार्थ अपनी जगह है। और, यदि आंख पदार्थका सम्बन्ध करके जानती होती तो आंखमे लगे हुए काजलको आंख क्यो नही जान पाती? इस काजलका तो आंखोसे और निकट सम्बन्ध हो गया तो आंख पदार्थसे भिड करके जाने वाली चीज नही है। आंख अप्राप्यकारी है। पदार्थको प्राप्त करके नहीं जानता है, इस बात पर प्रकाश डालनेमे यहां बहुत बडा विस्तार हो जायगा। यह खुद इसी ग्रथमे आगे बताया जायगा कि आंख और मन ये दो पदार्थोंसे भिडकर नहीं जानने वाले है। अन्य इन्द्रियमे तो यह सम्भव है। स्पर्श इन्द्रिय हाथसे पदार्थको छूकर जानता है, रसना इन्द्रिय रससे पदार्थसे भिडकर जानता है, घ्राणमे भी जब सम्बन्ध बने तब जानता है। कानोसे भी जब शब्द स्कन्धका सम्बन्ध हो तब जानता है किन्तु आंख और मन ये पदार्थसे भिडे बिना भी जानते हैं, ये भिडकर जान भी नही सकते। तब फिर इन्द्रियका और पदार्थका सन्निकर्ष होता, नेत्रका व पदार्थका सयोग सम्बन्ध होता नेत्रका रूपसे सयुक्त समवाय सम्बन्ध होता, नेत्रका रूपत्वसे सयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध होता, यह बात सिद्ध नही हो सकती। सन्निकर्षका स्वरूप ही नहीबनता इस कारण सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान प्रमाण है। एक सीधी सही बातको न मानना और बुद्धि भी जबदस्ती पैनी बनाकर कुछसे कुछ कल्पनाएँ कर लेना यह तो आत्मकल्याणार्थी पुरुषका काम नही है। प्रमाण स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञान को ही कहते है।

इन्द्रियसन्निकर्षको प्रमाण माननेपर सर्वज्ञके अभावका प्रसङ्ग—सन्निकर्षको मानने वाले सिद्धान्तमे सर्वज्ञका अभाव होगा, इन्द्रियका परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध नही बन सकता। इस विषयमे यह अनुमान प्रमाण है कि इन्द्रिया साक्षात् परमाणु आदिक मे सम्बन्धित नही हो सकती हैं, क्योंकि इन्द्रिय होनेसे। जैसे हम लोगोंमें इन्द्रियां परमाणुवोसे साक्षात् सम्बन्ध नही कर सकी। इसी प्रकार सर्वज्ञकी भी इन्द्रिया परमाणु आदिकसे साक्षात् सम्बन्ध नही कर सकती। सन्निकर्ष सिद्धान्तमे सर्वज्ञ भी इन्द्रिय और मन वाला माना गया है। केवल एक उसमे तपश्चरणका योगका प्रताप है ऐसा कि कुछ हमसे उसका विशिष्ट प्रकार इन्द्रिय और मन काम करता है, और उस ही योगबलसे सर्वज्ञ बनता है। तो इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ न तो साक्षात् सम्बन्ध बन सकता है और न पर-

परा या सम्बन्ध बन सकता है । इस प्रकरणमे साक्षात् सम्बन्धके अभावकी बात चल रही है । सन्निकर्षको प्रमाण माननेपर समस्त विश्वका ज्ञान सम्भव नही है, क्योकि इन्द्रिया समस्त पदार्थोके साथ एकसाथ सम्बन्धको प्राप्त नही हो सकती और परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थोके साथ तो इन्द्रियका सम्बन्ध होता ही नही है ।

इन्द्रियसन्निकर्षसे सर्वज्ञाभावनिवारणार्थ कल्पित योगजधर्मानुग्रहके विकल्प इस प्रकरणमे सन्निकर्ष माननेपर यह आपत्ति दी है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ न रहेगा क्योकि इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध ही नही बनता । इस बातको सुनकर सन्निकर्ष सिद्धान्तवादी कहते है कि सर्वज्ञके तो इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन सकता है, क्योकि उनके योगज धर्मका ऐसा ही प्रताप है । कोई अदृष्ट विलक्षण ऐसा धर्म है सर्वज्ञमे कि जिसके प्रतापसे इन्द्रिया परमाणु आदिकके साथ साक्षात् भिड सकती है । हम लोगोकी इन्द्रिया सूक्ष्म पदार्थोके साथ नही भिडती लेकिन परमात्माकी इन्द्रिया तो भिड जायेगी । अतएव सर्वज्ञ बन जायगा । सर्वज्ञका अभाव नही होता ऐसा पूर्व पक्ष रखनेपर अब उनसे प्रश्न किया जा रहा है कि तुमने इन्द्रियमे योगज धर्मका अनुग्रह माना अर्थात् योग समाधि आदिक जो विलक्षण अदृश्य धर्म है उसका प्रताप ऐसा माना इन्द्रियमे जिसके प्रतापसे इन्द्रियका पदार्थोसे साक्षात् सम्बन्ध बनता है । तो यह तो बतावो कि योगज धर्मका अनुग्रह है क्या चीज ? परमात्माके अदृष्ट प्रतापका उपकार है क्या चीज ? इन्द्रियमे क्या बात उस धर्मने डाल दी ? क्या अपने विषयमे लग रही इन्द्रियमे कोई अतिशय पैदा कर दिया सर्वज्ञने या अपने विषयमे लग रही इन्द्रियमे कुछ सहायता पहुँचाई उस योग समाधिने ? दो प्रश्न किए गए हैं । पूर्व पक्षने यह कहा है कि परमात्माकी इन्द्रियोका सब पदार्थोके साथ चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो, सम्बन्ध बन जाता है क्योकि उनमे अदृष्ट समाधिका ऐसा ही उपकार है । तो उस उपकारकी बात पूछ रहे हैं कि परमात्माने इन्द्रियमे क्या उपकार किया ? क्या अपने विषयमे प्रवृत्ति करती हुई इन्द्रियोमे कुछ अतिशय पैदा कर दिया जिसमे कि वे परमाणुसे भी सम्बध करलें ? अथवा उन इन्द्रियोको कुछ सहायता पहुँचा दे ।

योगजधर्म द्वारा इन्द्रियोमे अतिशयाधानका निराकरण—योगज धर्म द्वारा इन्द्रियमें अतिशय करनेकी बात तो युक्त है नही क्योकि परमाणु आदिकमे इन्द्रियकी परिणति हो नहीं है । अतिशय तो वहां पहुचाया जा सकता कि कुछ माद्दा तो हो किसीमे कुछ काम करनेका । इन्द्रियाँ परमाणुमे लगती ही नही है । उनका सम्बन्ध ही नही होता तो अतिशय क्या पहुँचा दें ! अतिशयकी बात वहाँ ही सम्भव है जहाँ कोई कार्य हो सकना हो, विशेष न कर सकते हो, पर विषय तो हो करनेका तब तो कोई उसमे अतिशय उत्पन्न करदे, पर परमाणु आदिकमे तो इन्द्रिया लगती ही नही है अतिशय क्या किया जायगा ? और, यदि परमाणुमे इन्द्रिया लग गयी

ऐसा स्वभाव मानते हो तो फिर अतिशय पैदा करनेकी या अनुग्रह करनेकी क्या जरूरत रही ? इन्द्रियोका परमाणु आदिकमे प्रवृत्ति करना खुद स्वभाव बन गया। शायद यह कहो कि समाधि बलसे ही इन्द्रिया परमाणु आदिकमे लगती है ता अब यह विकट समस्या आ गयी। योगजधर्मका अनुग्रह होनेपर तो इन्द्रिया परमाणु आदिकमे लगेगी और परमाणु आदिकमे इन्द्रियोकी प्रवृत्ति होनेपर समाधि धर्मकी सिद्धि होगी तो यह अन्योन्याश्रय दोष हो गया, इसलिए यह बात नही है कि परमात्मा, ईश्वर सर्वज्ञ अपनी इन्द्रियमे कुछ अतिशय पैदा कर लेते हैं जिससे परमाणु आदिकमे भी इन्द्रियका सम्बन्ध हो जाता है।

जैन सिद्धान्तमे ज्ञानस्वभावसे सर्वज्ञताकी सिद्धि—जैन सिद्धान्तमे सयोगकेवली अरहत भगवानके द्रव्येन्द्रिय तो मानी हैं। जैसे हम आपके कान, आँख नाक आदि मौजूद हैं उनके परमौदारिक शरीर हो गया, निर्दोष इन्द्रिय हो गयी पर यह ढाँचा सब मौजूद है फिर भी इन्द्रिय द्वारा सर्वज्ञ ज्ञान नही करते, क्योकि उनके समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुका है। ये भाव इन्द्रिय रही नही तो द्रव्यइन्द्रियसे सर्वज्ञ देव ज्ञान नही करते किन्तु आत्माका ही स्वभाव ज्ञानका है और वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है तो स्वभावसे ही वे समस्त विश्वको जानते हैं।

सन्निकर्षवादमे सर्वज्ञताकी पद्धति—सन्निकर्षवादमे यह बताया गया है कि इन्द्रियका सहारा छोडकर तो ज्ञान हुआ ही नही करता। अपनेको ही देख लो, इन्द्रियका और मनका सहारा लिये बिना ज्ञान कर ही नही सकते। तो ऐसा तो किसीके न होता होगा कि इन्द्रिय और मनके बिना अपने आप ज्ञान करले। तीसरी बात इसमे यह भी पडी हुई है कि आत्माका ज्ञान करनेका स्वभाव नही माना इस सिद्धान्तमे। आत्मा चेतन तो अवश्य है। पर ज्ञान गुणका सम्बन्ध हो तो चेतन आत्मा ज्ञानी बनता है। तो चेतनका अर्थ उनके यहाँ केवल चैतन्य स्वरूप मात्र है। उसका काम जानने देखनेका नही है। अन्य पदार्थोंमे कुछ विशेषता डालनेका यत्न किया जिसमे ज्ञानका सम्बन्ध हो सके, चेतन आत्मामे ज्ञान मौजूद नही है, वह तो एक तत्त्व सर्व... ...है तो वहाँ ज्ञानके समवाय सम्बन्ध होनेसे ज्ञानी माना गया है तो ऐसी आत्मा भी अपने आपकी ओरसे ज्ञान नही कर सकता। ज्ञानस्वभाव तो ज्ञानकी उत्पत्तिके जो साधन हैं इन्द्रिय और मनसे यहाँ भी ...ी साधन है ऐसा इस सिद्धान्तमे माना गया है और उसीपर तो इन्द्रियका पदार्थोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध सर्वज्ञके भी

सहायता पहुचा देते हैं सर्वज्ञ कि वे इन्द्रिय परमाणुओंके साथ सम्बन्ध करने लगती हैं। तो यह भी बात युक्त नहीं है क्योंकि कोई भी सहायता करे तो अपने विषयका उल्लंघन करके सहायता नहीं पा सकता कोई पदार्थ। जिस पदार्थ मे जो कला हो रही है उसकी सहायता कोई क्या पहुचायेगा? अपने विषयका उल्लघन करके इन इन्द्रियमे सर्वज्ञकी सहायताका अनुग्रह बन जाय यह सम्भव नहीं है। यदि इसे सम्भव मानते हो, अर्थात् सर्वज्ञ इन्द्रियोंमे ऐसी सहायता पहुँचा देते कि वे इन्द्रियाँ परमाणु आदिकमे भी लग जायें अर्थात् अपने विषयका उल्लंघन करके भी इन्द्रियाँ काम करने लगे तो एक ही इन्द्रिय रूप, रस, गंध, स्पर्श सबको ही जाननेमे क्यों नहीं लग जाती। यह भी अनुग्रह बन बैठा फिर ५ इन्द्रियकी जरूरत ही क्या है। तो इन्द्रियका तो परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन नहीं सकता और फिर साक्षात् सम्बन्ध हुए बिना सब को सर्वज्ञ जाने कैसे। सर्वज्ञका अभाव हो जायगा यदि तुम सन्निकर्षको प्रमाण मानोगे।

समस्त पदार्थोंमे अन्त करणके सम्बन्धकी असिद्धि – इन्द्रियोका परमाणु आदिमे सम्बन्ध न होनेसे सर्वज्ञके अभावकी आपत्तिके बाद सन्निकर्ष पक्षमे यह कहा जा रहा है कि इन्द्रिय तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानका जनक नही है, ज्ञान उत्पन्न नही करता, किन्तु एक ही मन सर्वज्ञमे समृद्धि आदिक अदृष्ट धर्मोंसे अनुगृहीत होकर एक साथ सूक्ष्म आदिक समस्त पदार्थोंके विषयमे ज्ञानको उत्पन्न कर देते है, अर्थात् इन्द्रिय का तो पदार्थसे सम्बन्ध नही है सर्वज्ञके किन्तु मनका सम्बन्ध बनता है? इसपर आचार्यदेव उत्तर देते है कि मन तो तुम्हारा अत्यन्त अणुप्रमाण है, अत्यन्त छोटा बटके बीजसे भी छोटा मन है और इसी कारण जल्दी भी गति कर करके सब इन्द्रियो से क्रमसे ज्ञान करा पाता है। उसका भी एक साथ पदार्थोंसे सम्बन्ध नही बन सकता मन भी क्रम क्रमसे सम्बन्ध करेगा। अणु प्रमाण मन जहाँ जहा जिन जिन पदार्थोंमे लगेगा उनका ज्ञान करने लगेगा। एक साथ सब पदार्थोंमे मन नही लग सकता।

एक साथ सर्व पदार्थोंके साथ मनके सम्बन्धकी असम्भवता यदि कहो कि सर्वज्ञका मन एक साथ सब पदार्थोंसे सम्बन्ध कर लेता है तो एक ऐसी घटनामे जहा मनको अधिक दौड लगानेकी जरूरत भी नही होती। निकट ही पाचो विषय मौजूद हो, कमसे कम वहा तो मन एक साथ पाचो इन्द्रियका ज्ञान करा देवे। जैसे बेसनकी एक बहुत बडी कडी कडी पपडिया बनाई जाय, तेलमे बनावे, और उसे खावे तो उस समय पाचो विषय अत्यन्त निकट है। तेलकी गध आती, पपडियाका रूप दिखता, चरं चरंकी आवाज कानोसे सुनाई पडती। बडा कडा स्पर्श भी हो रहा। रसनासे स्वाद भी लिया जा रहा। यहा तो रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द ये पाचो ही चीजे एक साथ हो रही है तो इन सबका ज्ञान भी एक साथ हो जाना चाहिए ना? लगता तो ऐसा ही है कि हाँ, एक साथ सबका ज्ञान हो रहा है और इसे सन्निकर्ष सिद्धान्तने भी नही माना।

मनका चिन्ह— मनका चिन्ह एक साथ ज्ञान न उत्पन्न करने देना है । एक साथ सारे विषयोका ज्ञान न हो सके ऐसा नियन्त्रण रखना यही मनका काम बताया गया है । सवज्ञ देवका भी मन समस्त वस्तुवोमे सम्बन्धको प्राप्त नही कर सकता । एक साथ तो सम्बन्ध हो ही नही सकता । वहाँ एक साथ सम्बन्ध हो जाय तो यहाँ भी दूर-दूरकी घटनामे चाहे सम्बन्ध न बने किन्तु अत्यन्त निकट वाले विषयमे तो एक साथ मन काम करदे सो होता नही । शायद यह कहो कि जब हमे घट-पट आदिकके अवलोकनके समय मनकी बात क्रमसे बन रही मालूम होती है तो वहा भी क्रम है । बडी लम्बी पपडिया खानेकी घटनामे भी क्रमसे ही ज्ञान मानना होगा । तो कहते हैं कि सर्वज्ञके भी समस्त पदार्थोंमे मनके सम्बन्धमे क्रम काल्पनिक मान लो । सवज्ञका भी मन सब पदार्थोंमे क्रम-क्रमसे लग रहा है ।

ज्ञानस्वभावसे सर्वज्ञता माननेकी युक्तता—यदि यह बात कहो कि सर्वज्ञका फिर प्रताप ही क्या ? उनमे समाधि और योगका ऐसा प्रताप है कि हम आपमे देखी हुई व्यवस्थाका भी उल्लंघन हो जाता है । तो मन एक साथ समस्त पदार्थोंमे भिड जाता है । तो आचार्यदेव कहते है कि आप इतनी सिद्ध करनेकी मेहनत क्यो कर रहे हो ? फिर तो सीधा यही मान लो कि समाधिविशेषके कारण उत्पन्न हुए धर्मकी ऐसी महिमा है सर्वज्ञदेवमे कि मनकी अपेक्षा लिए बिना ही अपने ही स्वभावसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता बन जाता है । फिर अदृष्टकी कल्पना ही क्यो करते ? इन्द्रिय, मन सवज्ञदेवके हैं और अदृष्टके कारण सबमे एक साथ लगते हैं ये सब व्यर्थकी कल्पनाएँ क्यो करते ? सीधा मान लो कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और जब शुद्ध हो जाता है आत्मा समाधिविशेषके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चरित्रकी पूर्णताके कारण, जब ज्ञान निर्दोष हो जाता है तो एक साथ समस्त पदार्थों का जानने वाला बन जाता है ।

मनका समस्त पदार्थोंके साथ परम्परा सम्बन्धका भी अभाव अणु मनका समस्त अर्थोंके साथ साक्षात् और एक साथ तो सम्बन्ध बन नही पाता । सो सन्निकर्ष प्रमाण माननेपर सर्वज्ञका अभाव हो जायगा, क्योकि इन्द्रिय और मनका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बनना ही नही । इतने पर भी सन्निकर्ष सिद्धातमे कहा जा रहा है कि इन्द्रिय और मनका यदि परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध नही बनता तो न बने किन्तु परम्परासे तो सम्बन्ध बन जायगा वह किस तरह ? देखिये मन तो महेश्वरके साथ सम्बद्ध और, मनके साथ घट आदिक पदार्थ सम्बद्ध हैं और घट आदिकके साथ रूपका समवाय सम्बन्ध है तो इस तरहसे सम्बद्ध-सम्बन्धकी कल्पनासे मनका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध बन गया ना ? जैसे रेलगाडीका एक इजनका अनेक डिब्बोसे सम्बन्ध है, और वे डिब्बे एक दूसरेसे सम्बन्ध होनेके कारण चलने लगते हैं, ऐसे ही मन महेश्वरसे लगा, मनसे घट आदिक लगे, घट

आदिक पदार्थोंमे रूप,आदिक लगे तो यो समस्त पदार्थोंको जान लिया जाता। कहते हैं कि इस तरह भी सर्वज्ञताकी सिद्धि नही हो सकती, क्योकि सम्बन्ध–सम्बन्ध भी अर्थात् परम्पराका सम्बन्ध भी समस्त वर्तमान पदार्थोंके साथ ही तो रहेगा। जो भूतमे हो गए, जो आगे होगे उन पदार्थोंसे कैसे सम्बन्ध बनेगा ?

सन्निकर्षके मतव्यमे अनेक ज्ञानोके द्वारा भी सर्वज्ञताकी सिद्धिका अभाव—शायद यह कहो कि भूत कालमे उनका भी सम्बन्ध था, भविष्यकालमे उनका भी सम्बन्ध बनेगा तो जब भूतकालमे सम्बन्ध रहा तो वर्तमानकालमे सम्बन्ध नही रहा। भविष्यमे सम्बन्ध रहा तो वर्तमानमे सम्बन्ध नही रहा। तब भी सबका जानने वाला सर्वज्ञ नही बन सका। यदि कहो कि भूत सम्बन्ध भविष्यके परम्परा सम्बन्धसे वर्तमान सम्बन्ध न्यारा है तो भूत भविष्यत्कालीन सम्बन्ध–सम्बन्धजनित ज्ञानसे वर्तमानसम्बन्धसम्बन्धज ज्ञान भी न्यारा हुआ, फिर भी सर्वज्ञता नही बनी। एक ज्ञानसे सारे पदार्थ जान लिए जाये तभी तो सर्वज्ञ कहलायेगा, यदि कहो कि बहुत ज्ञानोसे जान सके तो वह भी सर्वज्ञ है तो यह तो बतलावो कि उन बहुत ज्ञानोसे जो सबका जानना हुआ वह क्रमसे हुआ या एक साथ ? यदि बहुत ही ज्ञानोमे सबका जानना क्रमसे बना तो अनन्त काल तक भी सर्वज्ञ नही बन सकता। जब क्रमसे जाने तो फिर और जाने, फिर और जाने तो सबका जानना कभी नही बन सकता। यदि कहो कि एक साथ उन बहुतेरे ज्ञानोके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है तो यह बात तो असम्भव है। पदार्थ सारे एक साथ कभी रहे ही नही। जो आज हैं वे भूतकालमे न थे, भविष्यमे न होगे वे एक ही समयमे समस्त पदार्थ रह जायें यह कभी सम्भव ही नही हुआ। तो एक साथ मनका सम्बन्ध भी नही बन सकता।

ज्ञानस्वभावसे ही सर्वज्ञता व प्रमाणताकी सिद्धि इस प्रकरणके कथन का प्रयोजन यह है कि इन्द्रिया पदार्थोंके साथ भिडकर ज्ञानका कारण बने और यह भिडाव ही वास्तविक प्रमाण हो तो इससे एक तो मूल दृष्टिका अभाव हो गया। जिस ज्ञानमे मग्न होकर आत्मा ससारके सकटोका विनाश कर सकता है उस ज्ञानकी तो सुध भी नही रही, केवल एक बाहरी इन्द्रिय पदार्थके भिडावपर निगाह रही और फिर सन्निकर्षका स्वरूप भी तो नही बनता और जैसा भी सन्निकर्षका स्वरूप मान लिया अपनी कल्पनामे तो उस स्वरूप दृष्टिसे सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती।

शायद यह कहो कि सर्वज्ञ तो नित्य है, सदा रहता है और सदासे ही वह सबका ज्ञान करता चला आया है और आगे भी सबका ज्ञान करता रहेगा। वह तो नित्य है, उसके सम्बन्धमे तो कुछ सोचना व्यर्थ ही है। वह तो अतुल है, उसकी सबसे विलक्षण महिमा है। ईश्वरकी मायाको कौन पहिचान सकता है ? उसको तो जो कुछ भी असम्भव सी बात कह दो वह भी सम्भव है, इस कारण ईश्वरमे दोष नही दे

गया है सन्निकर्षकी प्रमाणताका खण्डन, यह भी बात युक्त नहीं है। नित्य ईश्वर सर्वदा सबको सबका ज्ञान बना रहता, सदा जानता रहता, और जिसमें कोई क्रम करके परिणमन उत्पन्न हो ऐसा होता ऐसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं है। इस बातका स्पष्ट इस प्रसंगसे मालूम करते कि ईश्वरका स्वरूप अपरिणामी नहीं है और अनादिसे ही वह कर्मोंसे रहित होने और अनन्त जीवोंकी व्यवस्था करनेमें प्रवीण होने आदिक रूप ईश्वरता नहीं बनता। ईश्वर तो सर्वज्ञ और अनन्त आनन्दमय है, दोषरहित बन गया प्रभु एवं वीतराग है सो यह लीजिए कि ईश्वर कहते ही हैं ज्ञानपुञ्ज को। ज्ञानका नाम ईश्वर है वही प्रमाण है। सन्निकर्ष उपचरित प्रमाण तो बन जायगा, किन्तु मुख्य प्रमाण नहीं बन सकता। अतएव स्व अपूर्वार्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, यही निर्विवाद मानना चाहिए।

इन्द्रियवृत्तिमें प्रमाणस्वरूपका अभाव—कुछ लोग ज्ञानको प्रमाण न कहकर इन्द्रियकी वृत्तिका प्रमाण कहते हैं। नेत्र खोले नेत्रोंका प्रयोग किया, किसी भी इन्द्रियको विषयाभिमुख किया ऐसी इन्द्रियकी वृत्तिका ही नाम प्रमाण है। ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुम इन्द्रिय वृत्तिको उपचारसे प्रमाण मानते तो सब यो कोई हानिकी बात नहीं है लेकिन मुख्य प्रमाण नहीं हो सकता। उपचार प्रमाणका अर्थ है कि साक्षात् जो प्रमाण है उस प्रमाणकी उत्पत्तिमें निमित्त आदिक बाह्य कारण हों वे उपचार कहलाते हैं। तो परोक्ष ज्ञानमें छद्मस्थ अवस्थामें इन्द्रियके व्यापार भी ज्ञानमें साधन कहलाते हैं, लेकिन इन्द्रियका व्यापार ही प्रमाण हो जाय यह नहीं हो सकता। प्रमाण तो ज्ञान है, इन्द्रिय जड है। इन्द्रियका जीवके निमित्तसे भी हलन चलन हो तो भी वह आखिर जडकी ही तो क्रिया है। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो ज्ञान क्रियाका आधार आत्मा है और इन्द्रियकी क्रियाका आधार पुद्गल है। तो ज्ञानस्वभाव ही मुख्य प्रमाणका कारण है। इन्द्रिय व्यापारको उपचारसे प्रमाण कह सकते हैं।

इन्द्रियवृत्तिकी असिद्धस्वरूपता—दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय व्यापार स्याद्वादके आश्रय बिना स्वरूपसे ही असिद्ध है। इन्द्रिय व्यापारका अर्थ क्या? इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियकी क्रिया। तो इन्द्रियकी वह वृत्ति इन्द्रियसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि इन्द्रियसे इन्द्रियकी वृत्ति अभिन्न है तो इसका अर्थ है कि इन्द्रिय ही है। एक ही चीज हुई याने इन्द्रिय व्यापार कहो या इन्द्रिय कहो एक ही बात हुई। तो इन्द्रिय तो हमेशा मौजूद है। सोती हुई हालतमें भी इन्द्रिया हैं, वहा क्यो नहीं प्रमाण हो जाता? किसीको बेहोशी हो गई हो अथवा कोई पागल हो गया हो उस स्थितिमें भी इन्द्रिया हैं और इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियसे अभिन्न है तो वहा पर भी प्रमाण क्यो नहीं हो जाता? इस कारण इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियसे अभिन्न कह नहीं सकते। कदाचित् यह कहो कि सोती हुई हालतमें भी प्रमाण चल रहा है, बेहोशी और पागलकी

साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि तादात्म्य सम्बन्ध है तो उसमे तादात्म्यसे नेत्र ही हो गया वह सर्वत्र मौजूद है, फिर सोई हुई हालतमे, बेहोशी और पागलपनकी हालतमें भी प्रमाण हो जाना चाहिए। समवाय सम्बन्ध मानोगे तो तुम्हारा समवाय भी व्यापी हैं और तुम्हारी श्र.त्र इन्द्रिय भी व्यापी है, तब तो सदा ही प्रमाण होते रहना चाहिए किसी जगह इन्द्रियका व्यापार है किसी जगह नही है यह बात कैसे बनेगी ? यदि इन्द्रियका और इन्द्रियकी वृत्तिके साथ सयोग सम्बन्ध मानते हो तो सयोग होता है भिन्न भिन्न पदार्थोंमे, तो यह व्यापार भी भिन्न पदार्थ हो गया और इन्द्रिय भी भिन्न पदार्थ हो गया। तब तो उसका सम्बन्ध ही क्या, और उस चेष्टासे इन्द्रियमे अनुग्रह ही क्या होगा।

इन्द्रियका वृत्तिसे सम्बन्धके लिये प्रतिनियतविशेषका अभाव—यदि यह कहो कि यद्यपि इन्द्रियकी चेष्टा इन्द्रियसे भिन्न है और जुदे जुदे पदार्थ है फिर भी इसमे कोई खासियत ऐसी पायी जाती है कि यह वृत्ति इन्द्रियकी कहलाती है। तो भला वह खासियत क्या चीज है ? इन्द्रिय विषयको प्राप्त कर लेना, ग्रहण कर लेना क्या यह खासियत है ? अथवा पदार्थके आकार परिणमन बन जाये यह विषयको पा लेना यह खासियत मानते हो तो इसीका नाम तो इन्द्रिय सन्निकर्ष है और इन्द्रिय सन्निकर्षके बारेमे तो बहुत बहुत वर्णन किया जा ही चुका है। यदि फिर कहो कि इन्द्रिय और वृत्ति ये एक भिन्न पदार्थ हैं और उनके किसी खास कारणका सम्बन्ध होता है तो वह खास कारण और क्या है ? ज्ञेयाकार वृत्ति यदि खास कारण है तो अर्थाकार परिणति बुद्धिमे मानी गई है। इन्द्रिया तो अचेतन हैं उनमें अर्थाकार परिणति नही होती और फिर अर्थाकारवृत्तिका स्वरूप भी तो घटित नहीं होगा इन्द्रियवृत्ति प्रमाण मानने वालोंके सिद्धातमे। क्या वह इन्द्रियस्वरूप है ? क्या वह इन्द्रियका धर्म है ? अथवा कोई अन्य चीज है ? ऐसे तीन विकल्पोके दोष पहिले कह ही दिये हैं, इस कारण इन्द्रिय वृत्ति प्रमाण है यह बात सिद्ध नही होती।

इन्द्रियवृत्तिकी असिद्धि व ज्ञानके प्रमाणत्वका निर्णय— और भी देखिये वृत्ति हुआ परिणाम और इन्द्रिया हुई परिणामी। तो परिणाम परिणामीसे भिन्न होता है कि अभिन्न होता है ? इस पर इस ग्रन्थमे आगे भी कहा जायगा। और सक्षेपमें इतना समझ लो कि परिणाम यदि परिणामीसे भिन्न है तो फिर चर्चा ही क्या करें क्योकि परिणाम जुदी चीज है और परिणामी जुदी चीज है। एकका दूसरे से वास्ता ही क्या परिणामी मायने द्रव्य और परिणाम मायने पर्याय। द्रव्यसे पर्याय जुदी है तो फिर चर्चा ही क्या करते ? किसकी यह पर्याय है यह बता ही नही सकते। और यदि द्रव्यसे पर्याय अभिन्न है तो चर्चा ही क्या करते ? एकरूप हो गया चाहे सर्वस्व द्रव्य कह लो और चाहे सर्वस्व पर्याय कह लो। यो इन्द्रिय वृत्तिका स्वरूप भी नही बनता है, फिर इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है यह बात भी सिद्ध कैसे होती। इस कारण

यही मानना चाहिए कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाणके साधन आदिककी खोजमे प्रमाणके स्वरूपका भी विपर्यास कर डाला। यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामे परोक्ष दशासे ये सब ज्ञानके साधन होते है किन्तु स्वय ही तो ये प्रमाण नही हैं। प्रमाण तो ज्ञान हो सकता है। कहते ही प्रमाण उसे है कि दृढताके साथ जो सही पगी बुद्धि है वही प्रमाण है। तो ज्ञान ही प्रमाण है इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नही है इस प्रकरणमे यह निर्णय रखिये।

ज्ञातृव्यापारकी प्रमाणताका कथन—प्रमाणके स्वरूपके निर्णयके प्रसगमे एक दार्शनिकका यह भी कथन है कि ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नही है। ज्ञाताका अर्थ है आत्मा। आत्माका व्यापार प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नही है। एकदम सुननेमे ऐसा लगता है कि जो आत्माका व्यापार है वह ज्ञान ही तो है किन्तु इस दर्शनमे ज्ञाता (आत्मा) अचेतन है। आत्मा स्वरूपसे चेतन नही है, किन्तु चेतन का समवाय सम्बन्ध होता है तो वह चेतन बनता है। कुछ ऐसा सोचा जा सकता कि यह दर्शन कहाँसे निकला कि जब आत्मामे चेतनका सम्बन्ध होता है तब चेतन होता है। आत्मा स्वरूपसे चेतन नही है। यह सब तीव्र परीक्षाकी जिसकी इच्छा होती है और वह सीमाका उल्लघन करके भी तत्वको निकालना चाहते है तो वहाँ कितनी ही बातें स्वरूप विरुद्ध भी दर्शनमे आ जाती हैं।

आत्माकी पर पदार्थोंसे विविक्तता - अध्यात्म क्षेत्रमे यह तो प्रकट ही है कि धन वैभव मकान आदिक आत्माके नही है। आत्मासे सब पृथक् है, इसके बाद फिर यह देह भी आत्माका नही है, आत्मासे प्रथक् चीज है। यह देह हाड मास लोहू आदिकसे बना हुआ है, पौद्गलिक है। आत्माके देहसे निकल जानेके बाद इस देहका कौन महत्त्व करता है? बडे-बडे नेता लोग जिन पर देशका सब कुछ अवलम्बन रहता है उनका आत्मा भी जब देहसे निकल जाता है तो फिर उस देहका कौन महत्त्व रखता है? हाँ महत्त्व इतना ही रहता है कि ठाठबाठसे चन्दनकी लकडीमे जला दिया जाता है। उस देहसे किसीको प्रेम नही रहता। और, भीतर चलकर देखो तो इस देहसे भी अधिक सम्बन्ध है कर्मोंका। मरण करनेके बाद दूसरे भवमे यह देह नही जाता पर ये कर्म साथ लगे रहते हैं। ये कर्म भी आत्माके नहीं है, अचेतन है, पौद्गलिक है। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है। देखिये जगतके सभी पदार्थ है तो अपनेसे भिन्न पर उनसे मोह करके अपनी दुर्गति कर रहे हैं। जिन वस्तुवोसे स्नेह किया जा रहा है वे भी पानीके बबूलेकी तरह है। आज कही है मरकर अभी कहीके कही पैदा हो जाये। किसीसे कुछ नाता नही है। यो ही अटपट कोई जीव मिल गया उसे अपना मानकर कितना अपना अनर्थ किया जा रहा है। तो ये कर्म भी आत्माके नही है।

आत्मद्रव्यकी परिणतियोसे विविक्तता— आत्माके और अन्दर चले तो ये

राग द्वेष मोह परिणाम जो उत्पन्न होते हैं वे भी आत्माके नही है। अब जरा अध्यात्मदर्शनमे उतर रहे हैं। अब आत्माके ही गुणपर्यायमें विविक्तता देखी जा रही है। राग द्वेष आत्माके नही है क्योंकि ये कभी उत्पन्न हुए और कभी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है, आत्माके स्वभाव नही है। अब जरा और अन्दर चलिये आत्मामें जो विचार उत्पन्न होते है, बुद्धि जगती है ऐसी बुद्धिका जगना, विचारोंका होना ये परिणमन भी आत्माके नही है, क्योंकि ये विचार, ये चतुराई, ये ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुई है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर और इन्द्रिय मनकी समर्थता होनेपर ये विचार उत्पन्न हुए है। विचार आत्माके स्वरूप नही है। कुछ और भीतर चलिये तो आत्मामें जो एक शुद्ध ज्ञान भी होता है, ज्ञान परिणमन, ज्ञप्तिक्रिया भी होती है तो भी शुद्ध जानन भी जो रागद्वेषसे रहित है और विचार तक रूप भी नहीं है किन्तु जैसे पदार्थ है तैसी ही स्पष्ट जानन क्रिया हो रही है ऐसा ज्ञान परिणमन भी आत्मद्रव्य का नही है क्योकि आत्मद्रव्य शाश्वत है और यह ज्ञानकी क्रिया यह पर्याय अनित्य है।

आत्माको चेतनासे विविक्त निहारनेका प्रयास—आत्मा शाश्वत चित्स्वभावरूप है, चिदतिरिक्त भावोसे विविक्त है यहाँ तक विविक्तताकी बात देखें वह तो युक्त है लेकिन एक दर्शन यहाँ तक उतर गया कि आत्माके चेतना भी नही है। और, उसके यहाँ तक उतरनेका एक कारण हो सकता कि जब तक आत्मामे चेतनता समझेंगे, ज्ञान समझेंगे तब तक तो सारे संकट सहने पडेंगे। क्योंकि जगके सारे विकल्प, सारे संकट ज्ञानकी वजहसे हो रहे है उसके दर्शनमे, न जानकारी आये, न कोई दुःख हो। कोई अनिष्ट समाचार जाननेमे आ गया तो दुःख हो गया। जाननेमे न आता तो दुःखकी कोई बात न थी। कही २० हजारका टोटा पड गया, जाननेमे आ गया तो दुःख है नही तो कोई दुःख न था। तो सारे दुःखोकी जडमे ज्ञान कारण है एक मोटी कल्पनामे। तो इस दर्शनने चाहा कि आत्मामेसे चेतनकी रस्सी ही काट दें और उस चेतनसे शून्य कोई आत्माका स्वरूप निरखने लगे तो ये ज्ञान विकल्प दुःख सब दूर हो जायेंगे। सम्भव है कि यह सोचा हो और इस आधारसे आत्मामे चेतनता भी न मानते हो, किन्तु चेतनताके सम्बन्धसे आत्मा चेतन है यो अचेतन अज्ञानरूप आत्माके व्यापारका नाम प्रमाण है ऐसा मतव्य भी यथार्थ नही है।

प्रमाणके पूर्वपक्षोके निरूपणके क्रमका मर्म—यह परीक्षामुखसूत्रका प्रथम सूत्र है। इसमे प्रमाणका स्वरूप बताया है कि जो निश्चय और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है। इस प्रसगमे ज्ञानातिरिक्त भावको प्रमाण माननेके पूर्वपक्ष आये हैं और जिस क्रमसे अभी तक कहा गया है उस क्रमको देखिये। भेदसे अभेदकी ओर बढ कर अज्ञानको प्रमाण माननेका पूर्वपक्ष किया है। सबसे पहिले कारकसाकल्यको प्रमाणकी बात रखी। चाहे ज्ञानरूप हो चाहे अज्ञानरूप हो। जितने ज्ञानमे साधक पदार्थ है उन सबका जुडाव हो जाय वह प्रमाण है। तो यह

बहुत मोटी दृष्टि रही। आत्मा मन पदार्थ इन्द्रिय ये सब जुड़ जाये तो यही प्रमाण होता है। इसके बाद सब पदार्थ और साधनकी बातको तो महत्त्व नही दिया, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका लगाव बने, सम्बन्ध बने तो प्रमाण है यह बात रखी। तो कारकसाकल्यमे तो बहुत बुद्धि भ्रमाई और इन्द्रिय सन्निकर्षमे यहाँ तक आये कि इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्बन्ध है वह प्रमाण है। इसके बाद फिर और अभेदमे चले तो इन्द्रिय वृत्तिको प्रमाण कहा। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धको तो सन्निकर्ष कहते है। उसमे दो बाते रखी और इसमे इन्द्रिय वृत्ति रखी नेत्र उघाडे जायें और हस्त आदिकका कोई व्यापार हो वह प्रमाण है। अब इसके बाद और भीतर चले तो ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण कहा। आत्माका जो व्यापार हो, पुरुषार्थ हो, चेष्टा हो वह प्रमाण है।

ज्ञातृव्यापारकी प्रमाणताका मूल आलोचन बात तो ठीक है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है, किन्तु इसमे इतनी छाट रखना चाहिए कि आत्माके व्यापार तो दो प्रकारके हैं —एक तो प्रदेश परिस्पदरूप और एक ज्ञानरूप। आत्मा हिला, एक जगहसे दूसरी जगह चला, चाहे वह शरीरके सम्बन्धमे चला हो और चाहे मरणके बाद चला हो, परिस्पद तो आत्मामे होता है। तो आत्माका परिस्पद भी व्यापार है, पर परिस्पद प्रमाण नही है। हलन चलन गमन आत्माका एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे जाना यह जाना कोई प्रमाण चीज नही है, जिस क्रियामे जाननेका सम्बन्ध नही। और, एक व्यापार है जाननरूप। क्रियासे प्रयोजन नही। जो पदार्थ है, सत् है वह जाननेमे आ गया तो आत्माका जो जाननरूप व्यापार है वह प्रमाण है। लेकिन इस मतव्यमे तो यह बात रखी गई है कि आत्मा तो स्वरूपत चेतन ही नही है। चेतनका समवाय सम्बन्ध होनेसे आत्मा चेतन होता है। उस चेतन आत्माका व्यापार जो कि चेतन है, ज्ञानरूप है वह प्रमाण है और, यह व्यापार है पदार्थको जैसा है वैसा ही प्रकाश करने वाला, कितनी परस्पर विरुद्ध सी बात लग रही है। एक ही वाक्यमे यह कहा जा रहा है पूर्वपक्षमे कि पदार्थका ज्योका त्यो प्रकाश करा देनेवाला ज्ञाताका व्यापार अज्ञानरूप है फिर भी प्रमाण है। पहिले तो बताया पदार्थ का सही स्वरूप प्रकाश करा देने वाला और फिर कह रहे अज्ञानरूप। पदार्थका ग्रहण भी करा दे और अज्ञानरूप रहे।

ज्ञातृव्यापारकी उपचारसे प्रमाणता - खैर मान भी लो कोई आत्माका ऐसा व्यापार भी हो अर्थतथात्वप्रकाशक जो कि ज्ञानरूप नही है, सो यदि है भी तो उपचारसे प्रमाण है, वास्तवमे प्रमाण नही है। जैसे धर्मचर्चा चलते हुएमे कोई पूछे कि इसका प्रमाण क्या है? तो झट किताब उठाकर बीचमेसे लिखा हुआ दिखा देते है कि देखो यह प्रमाण है, पढ लो। तो क्या ये अक्षर, ये पुस्तक प्रमाण है? ये तो उपचारसे प्रमाण हैं, परमार्थसे तो ज्ञान प्रमाण है। उन अक्षरोको पढकर जो ज्ञान

बना वह साक्षात् प्रमाण है। उन अक्षरोको पढकर उस मतव्यका प्रतिभास कर सकने मे ये बाह्य साधन हैं। तो क्या यहाँ पुस्तक प्रमाण नही रही? रही, इस कारण कि प्रमाण भूत ज्ञानके करानेमे साधन बनी। तो उपचार प्रमाण हुआ। सीधा प्रमाण तो ज्ञान है।

ज्ञातृव्यापारके ग्राहक प्रमाणका प्रश्न — इस पक्षमे यह बताया जा रहा है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है। तो आचार्यदेव पूछ रहे हैं कि आत्माके व्यापारका निर्णय तुमने कैसे कर लिया? कि आत्मामे व्यापार हुआ करता है? किसी प्रमाणसे ज्ञातृव्यापारको तुमने ग्रहण किया है क्या? यदि समझा है, ग्रहण किया है तो वह कौनसा प्रमाण है जिस प्रमाणमे तुमने आत्माके व्यापारको ग्रहण किया है? आत्मा का व्यापार कौन सा? जाननेमे आये हुए पदार्थ और जानने वाला आत्मा, इनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध बने ऐसा सुझाव आकर्षक बने दोनोका वह लगाव बने जिसमें पदार्थके स्वरूपमे प्रकाश हो जाय पदार्थ जाननेमे आ जाये, ऐसे व्यापारको प्रमाण कह रहे हैं इस सिद्धातमे। उस व्यापारकी बात पूछी जा रही है कि यह आत्मव्यापार क्या प्रत्यक्षसे ग्रहणमे आया है या अन्य किसी प्रमाणसे? तुमने आत्माके व्यापारको क्या प्रत्यक्षसे जाना है?

इन्द्रियप्रत्यक्षकी प्रमाणताका अनियम – यदि ज्ञातृव्यापारको प्रत्यक्षसे जाना तो प्रत्यक्ष तो तीन प्रकारके होते है—एक स्वसवेदन प्रत्यक्ष एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और एक मानसिक प्रत्यक्ष। अनुभवमे जो बात उतरी वह स्पष्ट प्रत्यक्ष होती है। अनुभवमे उतरी हुई बातसे बढकर तो और प्रत्यक्ष हो ही नही सकता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानसिक प्रत्यक्ष तो फेल हो जाते, पर अनुभव प्रत्यक्ष कभी फेल नही होता। इन्द्रिय प्रत्यक्षकी स्थिति तो यह है कि आंखो देखी बात भी कही झूठ निकले। जैसे किसीकी अपनेसे लडाई है वह किसीसे ५० हाथ दूर पर खूब घुलमिलकर बातें कर रहा है और आप उसे आखो देख रहे हैं तो आप तो यही सोचेंगे कि यह हमारी बुराई कर रहा है पर क्या सच है ऐसा? सच तो नही है।

इन्द्रियप्रत्यकी अप्रमाणतका एक उदाहरण एक घटना ऐसी बताई गई है कथानकमे कि एक राजाका बिस्तर एक नौकर लगाता था, वह नौकर बिस्तर लगानेमे बडा प्रवीण था, बडी कोमल शैया सजाता था। एक दिन नौकर के मनमें आया कि हम रोज यह बिस्तर सजाते हैं, थोडा लेटकर देखें तो सही कि इसमे राजा को कितना आराम मिलता होगा, सो वह चादर तानकर लेट गया। दो मिनट मे ही उसके निद्रा आ गई, सो गया। जब रानी आई तो वह भी रोज की तरह उसी पलग पर लेट गई और सो गई। थोडी देर बाद राजा आया, यह दृश्य देखकर उसे बडा गुस्सा आया, सोचा कि मै तलवारसे दोनोका शिर उडा दू, लेकिन कुछ विद्वानोके साथ रहनेसे उसमे कुछ विचारशक्ति आयी थी, सो वह सोचता है कि इन्हें जगाकर

देखें तो सही कि मामला क्या है ? भावुकतामें आकर कोई निर्णय न बनाना चाहिए, सो पहिले रानीको जगाया तो वह एकदम अचम्भेमें आ गई, यह क्या ? राजा तो यह हैं ! यह कौन पडा है ? तब जो बात-चीत हुई, उससे राजाको यह निर्णय हुआ कि यह धोखा हुआ है। रानीको भी विदित नहीं कि यह कौन है ? नौकरको जगाया तो वह तो डरके मारे कांपने लगा, बोला कि मैं तो दो मिनटको लेटा था और नींद आ गयी। मुझे यह पता नहीं कि रानी भी मेरे पास लेटी थी। सोचता है कि मैंने बड़ा अपराध किया जो दो दो मिनटको सोनेका संकल्प किया। तो आंखो देखी बात भी झूठ निकली।

मानसिक जचावकी अप्रमाणताका व अनुभूतिकी प्रमाणताका एक उदाहरण - अब मनकी बात देखो। मन मायने युक्तिया, मानसिक प्रत्यक्ष भी झूठ हो सकता है। किसी पुरुषके दो स्त्री थी। मान लो बडी स्त्रीके तो पुत्र न था और छोटीके था, तो बडीने झगडा उत्पन्न किया, केस दायर किया यह लडका तो मेरा है इसका नहीं है। वकील भी आया, चर्चा चली। तो वकीलने युक्ति दी कि देखिये ! पतिका जो वैभव होता है उसपर स्त्रीका हक है कि नहीं ? वह वैभव स्त्रीका कहलाता है या नहीं ? हा, कहलाता है। तो दुनिया जानती है कि यह लडका पतिका है, जो भी पतिकी चीज है उस पर स्त्रीका भी आधा हक है। लो युक्तिमें सिद्ध कर दिया, लेकिन राजा सोचता है कि एक लडका दो स्त्रियोका कैसे होगा ? राजाने कहा —अच्छा, इसका कल निर्णय करेंगे। दोनो स्त्रियोको अलग—अलग कोठरीमे ठहरा दिया। उसे निर्णय करनेकी बुद्धि भी समझमे आयी। दूसरे दिन दोनों स्त्रिया जब सामने आयी तो राजा तलवारसे काटने वालोंको बुलाकर कहता है कि देखो भाई ! यह लड़का दोनो स्त्रियोका है इसलिए इस लडकेके दो हिस्से कर दीजिए, पेटसे बराबर बराबर दो टुकडे कर दीजिए। ज्यों ही उस लड़केके पास तलवार वाला खडा हुआ कि छोटी स्त्री झट कहने लगी कि महाराज यह लडका मेरा नहीं है। इसीका है, इसे दे दीजिये अब इस घटनाको देखकर राजाने अनुभव कर लिया और जो स्त्री काटनेके लिए मना करती है उसीको यह लडका दे दिया। उसका यह भाव था कि यह जिन्दा तो रह जाये, कहीं रहे, मैं इसकी सकल देखकर ही खुश रहूँगी। जिस स्त्रीका लडका था वह तो उस लडकेकी मृत्यु न चाहती थी और जिस स्त्रीका लडका न था वह तो बहुत खुश हो गयी। कहती है -हां महाराज आपका निर्णय बिल्कुल सहिया है, दूधका दूध पानीका पानी। उसे तो ईर्ष्या थी कि यह लडका खतम ही हो जाय। तो यह दिलकी बात, अनुभवकी बात प्रमाण हुई। यहा भी अब तक मानसिक प्रत्यक्ष है, इससे बढकर बात होती है आत्माकी अनुभूति। तो प्रत्यक्ष तीन तरहके है - स्वसंवेदन, बाह्य इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ और मनसे उत्पन्न हुआ। इन तीनोंमें कौन सा प्रत्यक्ष आत्माके स्वरूपको ज्ञात करने वाला है सो बताओ ? ऐसा प्रत्यक्षमात्रको प्रमाण मानने वाले दार्शनिकसे स्याद्वादी पूछ रहे है।

स्वसंवेदनमें अज्ञानरूप आत्मव्यापारकी असिद्धि—आत्माका व्यापार प्रमाण है ऐसा पक्ष रखने वाले दार्शनिकोंसे पूछा जा रहा है कि ज्ञाताका व्यापार तुमने कुछ ग्रहण भी किया है क्या ? आत्माके व्यापारको तुमने प्रत्यक्षसे जाना है ? तो प्रत्यक्षमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तो जान नहीं सकते क्योंकि स्वसम्वेदनका विषय अज्ञान नहीं माना। स्वसम्वेदनने तो हम ज्ञानका सम्वेदन कर सकेंगे कि घट आदिक पदार्थोंका भी स्वसम्वेदन होता है ? स्वसम्वेदनका विषय ज्ञान होता है अज्ञान नहीं होता। जैसे चौकी हमने जाना तो स्वसम्वेदनमें नहीं जाना, स्वानुभवमें नहीं जाना, ज्ञानसे जाना, और, और ज्ञान हैं पर स्वसम्वेदन ज्ञानका विषय तो स्व होता है। स्व मायने आत्मा व सम्वेदन मायने ज्ञान। तो ज्ञानका स्व विषय हो तो उसे स्वसम्वेदन कहते हैं। स्वसम्वेदन तो अज्ञानमें होता नहीं आत्मव्यापार प्रमाण मानने वालोंने भी नहीं माना।

इन्द्रियोंसे ज्ञातृव्यापारके ग्रहणका अभाव—यदि कहो कि बाह्य इन्द्रियोंमें हम ज्ञाताके व्यापारका प्रत्यक्ष कर लेंगे, आत्माके व्यापारको प्रमाण माना ना, और वह व्यापार है इसका अज्ञानरूप क्योंकि आत्मा इनके सिद्धान्तमें स्वरूपतः चेतन नहीं है, किन्तु चेतनाका सम्बन्ध होनेसे आत्मा चेतन बनता है। तो ऐसे आत्माके व्यापारका ग्रहण बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं बनता क्योंकि इन्द्रिया तो अपने सम्बद्ध अर्थमें विषयभूत अर्थमें प्रवृत्त हुआ करती हैं। ज्ञाताके व्यापारके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध तो नहीं है जिससे कि ये इन्द्रिया आत्मव्यापारको प्रत्यक्ष कर सकें। इन्द्रियका तो प्रतिनियत रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द ये ही विषय हैं। तो बाह्य इन्द्रियोंसे भी आत्मव्यापारका ज्ञान नहीं बना।

मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञातृव्यापारके ग्रहणका अभाव—मानसिक प्रत्यक्षसे भी आत्माका व्यापार नहीं जाना जाता, क्योंकि ऐसा कहा प्रतीत हो रहा है कि यह ज्ञाताका व्यापार है। मनका विषय माना भी नहीं है कि ज्ञाताके व्यापारको मन जान ले, और मन यदि प्रतीतिके बिना किसीको जानने वाला मान लिया जाय तो फिर धर्म आदिक जो अतीन्द्रिय तत्त्व हैं उनका भी मन प्रत्यक्ष करले तो मनसे भी ज्ञाताका व्यापार जाना नहीं जाता।

ज्ञातृव्यापारका अनुमान द्वारा अग्रहण—यहां पूर्वपक्षकारने यह सिद्धात रखा कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु आत्माका व्यापार प्रमाण है और, वह व्यापार है अज्ञानरूप तथा अर्थका सही सही प्रकाश करने वाला। तो पहिले तो यही सुननेमें खटक आ रही है कि ज्ञाताका व्यापार अर्थका प्रतिभास करने वाला है और अज्ञानरूप है। जो प्रतिभास करे वह अज्ञानरूप कैसे ? यदि यह मान लिया जाय कि ज्ञाताका ज्ञानरूप व्यापार पदार्थका प्रकाश करना है तो कोई गड़बड़ी नहीं। तो प्रत्यक्षसे तो आत्मव्यापारकी सिद्धि हुई नहीं अनुमानसे भी नहीं सिद्ध होती, अज्ञानरूप आत्म-

व्यापारकी प्रमाणता, क्योंकि अनुमान वहाँ होता है जहाँ दो चीजें हों साध्य और साधन, फिर उनका सम्बन्ध भी जान लिया गया हो तब तो एक चीजके ग्रहणसे दूसरेका ज्ञान हो जाता है। जैसे धुवाँ और अग्नि इन दोनोंका सम्बन्ध है। हम सब लोग खूब जानते है कि अग्नि कारण है धुवाँ कार्य है। जहाँ धुवाँ होता है वहाँ समझ लेना चाहिए कि यहाँ आग है धुवेंका और अग्निका जब अविनाभावी सम्बन्ध जान लिया गया तब कहीं सिर्फ धुवाँ दीखे, अग्नि न दीखे तो अग्निका अनुमान होता है। इसी तरह ज्ञातृव्यापारका आप अनुमान बनाते हो तो वह साधन बतावो जिसका आत्मव्यापारसे अविनाभाव सम्बन्ध हो और फिर उसको जाननेसे ज्ञातृव्यापारको जान लिया जाय क्योंकि अविनाभावरूप नियमसे ही अनुमान प्रमाण बनता है। जो चीज जिसके बिना न हो वह हो तो साध्यकी सिद्धि नियमसे है अन्य सम्बन्धकी प्रतिष्ठा नही है, कारण हो तो कार्य जरूर हो ऐसा नियम तो नही है। और-और भी कई सम्बन्ध जुड जाये तो वे सही नही बैठते किन्तु अविनाभाव सम्बन्ध हो तो वह सही नियम बैठता है। तो वह अविनाभाव सम्बन्ध तुमने जाना कैसे ?

ज्ञातृव्यापारकी सिद्धिमे अन्वयनिश्चयका अभाव - अविनाभाव सम्बन्ध जाना जाता है दो प्रकारसे। एक अन्वयके निश्चयसे और एक व्यतिरेकके निश्चयसे। जैसे धुवाँको देखकर अग्निका ज्ञान कर लिया वह तो है अन्वयनिश्चय और जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जहा अग्नि नही होती वहा धुवाँ नही होता, और फिर धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान करे तो यह हुआ व्यतिरेकनिश्चयके द्वारा अग्निका ज्ञान। तो ज्ञातृव्यापारका तुम अन्वय निश्चयसे ज्ञान करते या व्यतिरेक निश्चयसे ? अन्वयसे करते हो तो तुमने वह अन्वय प्रत्यक्षसे जाना या अनुमानसे ? प्रत्यक्षसे तो कह नही सकते। ज्ञाताके व्यापारका स्वरूप प्रत्यक्षसे तो निश्चित ही नही है। जब साध्य और साधन दोनो पहिले ज्ञानमे आ गए हो प्रत्यक्ष सम्बन्धसे तब तो एकके ज्ञानसे दूसरेका ज्ञान होगा तो जब ज्ञानका व्यापार प्रत्यक्षसे नही जाना तब फिर जो हेतु दोगे उसका तो चिन्तन करना ही व्यर्थ है। यदि कहो कि अनुमानसे हम जान लेगे अविनाभाव सम्बन्ध। तो यह भी बात सही नही है क्योंकि पहिले अन्वय सम्बन्धका निश्चय हो तब तो अनुमान चले जब अनुमान बने तब अविनाभावके सम्बन्धका निश्चय हो। यदि दूसरे अनुमानने किया तो अनावस्था दोष आयगा। फिर उसके अन्वयका निश्चय अन्य अनुमानसे करें। तो अन्वयके निश्चय द्वारा आत्मव्यापारका काम नही बनता।

ज्ञातृव्यापारकी सिद्धिमे व्यतिरेकनिश्चयका अभाव - व्यतिरेकनिश्चय द्वारा भी आत्मव्यापारकी प्रमाणताका अनुमान भी सिद्ध नही है। व्यतिरेक निश्चय का रूप यों बनना चाहिये कि ज्ञाताका व्यापार न हो तो अर्थका प्रकाश नही होता। इससे ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है। यह व्यतिरेकनिश्चयका ढाचा है। तो यह बतलावो कि ज्ञाताका व्यापार न होना यह भी तुमने जाना है क्या कभी ? तो ज्ञाताके

व्यापारका अभाव तुमने कैसे जाना ? पहिले दीखा हो और फिर न दीखा तो तब तो कह सकते कि भाई ज्ञाताका व्यापार नहीं है। इस कमरेमे चौकी नही है यह तब किसीने जाना जब कि पहिले चौकीका परिचय कर लिया है। जिसे वस्तुका, चौकीका परिचय ही नही है उसका अभाव भी कोई क्या सिद्ध करेगा। यदि कहे कि कभी भी नही देखा और फिर भी अभाव बने तो यो तो जिस चाहेका अभाव सिद्ध कर लो। यहाँ न तो स्वभावसे अनुपलम्भ है, न कारणसे, न व्यापारसे। और न ऐसा है कि आत्मव्यापारका कोई विरोधी हो और उसकी सत्ता देखो तो उससे भी ज्ञाताके व्यापारका अभाव समझा जा सकता है। जैसे ठडका विरोधी गर्मी है तो जहाँ हम हम गर्मी देखे वहाँ निश्चय करलें कि ठड नही है, किसी भी प्रकारसे तुम्हारा अज्ञानरूप आत्मव्यापार सिद्ध नही होता। प्रमाण क्या मानोगे ? व्यतिरेकनिश्चयके लिये जगह जगह जा जाकर यदि तुम्हे ज्ञाताका व्यापार न मालूम पडे तब तो कहें कि नही है, पर वह तो सद्भावरूप है ही नही अज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार, तो उसका अभाव भो क्या सिद्ध करोगे ? तो ज्ञाताका व्यापार अज्ञानरूप होकर भी प्रमाण है यह बात युक्त नही बैठती।

ज्ञानातिरिक्त भावोकी उपचारसे प्रमाणताकी सम्भावना—सीधी सी बात है कि ज्ञान प्रमाण है, लेकिन ज्ञानके प्रमाणताकी बातें छोडकर अन्य-अन्य बातोमे प्रमाण क्यो ढूढा जा रहा है ? पूर्वपक्षकारो द्वारा या ढूढा जा रहा है कि दुनिया भी ज्ञानको प्रमाण न ढूढकर चीजको प्रमाण कहा करती है। इस मामलेमें तुम्हारा सबूत क्या है ? तो झट रुक्का, गवाह, मौका आदि दिखा दिया, कब्जा बता दिया, लो साहब प्रमाण। लोकमे ये सब प्रमाण माने जाते हैं। सो यो ही दार्शनिको ने ज्ञानको छोडकर अन्य-अन्यको प्रमाण ढूढनेकी चेष्टा की, किन्तु जैन सिद्धान्त यह कहता है कि हजारो प्रमाण ढूढ लो ज्ञानातिरिक्त, वे सबके सब प्रमाण उपचारसे बनेंगे। साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही होता है तो आत्मव्यापारका सद्भाव ही सिद्ध न हो सका तो प्रमाण क्या कहोगे ?

अजन्य नित्य ज्ञातृव्यापारसे प्रमाणव्यवस्थाका अभाव—खैर मान भी लिया जाय कि आत्माका व्यापार है कोई और वह प्रमाण माना जा रहा है तो वह ज्ञाताका व्यापार किन्ही दूसरे पदार्थोंसे उत्पन्न किया गया है या नही ? अजन्य है या जन्य है इन दो बातोका उत्तर दो ? यदि किसी भी पदार्थसे आत्माकी चेष्टा अनुत्पन्न है तो वह अजन्य आत्मव्यापार सद्भावरूप है या अभावरूप ? अभावरूप मानोगे तो वह नित्य है या अनित्य ? आत्माका व्यापार जो कारकोसे उत्पन्न नही हुआ और है सद्भावरूप तो नित्य तो कह नही सकते, क्योकि आत्मव्यापार यदि नित्य हो जाय तो अधे भी देखने लगे। क्योकि आत्मव्यापार तो नित्य हैं, हर जगह मौजूद हैं, फिर सोये हुए भी जगते हुएकी तरह जानने लगेंगे या सभी लोग सब कुछ जानने

जन्य क्रियात्मक व्यापारकी असिद्धि – यदि यह कहो कि उत्पन्न किया जाता है वह आत्मव्यापार जिसे हम प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं तो वह उत्पन्न किया गया आत्म व्यापार क्या क्रियारूप है या अक्रियारूप हलन चलन जाना आना इन रूप आत्माकी चेष्टा है या हलन चलन न हो ऐसी चेष्टा है ? यदि क्रियारूप मानते हो तो हलन चलनरूप है । तो हुई या इससे कुछ विरुद्ध बात हुई ? तो हलन चलनकी बात तो आत्मामे बनती नही । इस सिद्धातमे आत्मा एक माना है और उसमे हलन चलन नही माना है । देखिये इस प्रसगमे कितनी बातें एक साथ मान ली आत्मा एक है, सबमे व्यापी है, परस्पद नही करता, निश्चल है और उसका व्यापार प्रमाण है और वह व्यापार अज्ञानरूप है । कितनी विरुद्ध बातें इस मतव्यमे मानी हैं । यदि कहो कि परिस्पदरूप क्रिया नही है तो जिसके कुछ भी हलन चलन नही है वह फल क्या पैदा करेगा । अभाव तो फलका जनक नही होता । तो क्रियात्मक व्यापार सिद्ध नही होता।

जन्य अक्रियात्मक ज्ञातृव्यापारकी असिद्धि – अब आत्माका अक्रियात्मक व्यापार मानते हो तो वह ज्ञानरूप व्यापार है या अज्ञानरूप ? आत्माकी चेष्टा प्रमाण है और वह चेष्टा अक्रियात्मक है । तो वह ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ? यदि ज्ञानस्वरूप मानते हो तो जो ज्ञानस्वरूप है वह अन्य प्रमाणोंसे क्यो जाना जाय ? वह भी खुदका स्वरूप है तो जाननेके द्वारा जाननेमे आ जायगा । तो उस ज्ञातृव्यापारको जाननेके लिये अन्य प्रमाण क्यो बनाये जा रहे हैं ? जैसे प्रमाता है तो वह स्वरूप प्रत्यक्ष है ऐसे ही ज्ञातृव्यापार यदि ज्ञानरूप है तो वह स्वरूप प्रत्यक्ष हो जायगा । उसके लिये अन्य प्रमाण ढूढनेकी जरूरत नही है । तो ज्ञातृव्यापार बोधरूप तो नही रहा । आत्माकी चेष्टा जो कि प्रमाण है वह ज्ञानरूप है तो चिद्रूप आत्मा और अज्ञानरूप व्यापार बना यह सम्भव नही आता यह तो विरुद्ध बतायी है, ज्ञाताका व्यापार बताया है और उसे अज्ञानरूप कहते । वह तो ज्ञानरूप ही बनेगा । तो प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान प्रमाण नही होता । जब कभी किसी चीजका हम स्मरण करते हैं तो उसमे आलम्बन ज्यादा किसका लगाते हैं । जैसे कोई चीज भजन वगैरह पढ रहे हैं और बीचमे कुछ भूल गए तो उस भूलनेके बाद अपने ही दिमागमे जोर लगाते हैं । तो प्रमाणता तो ज्ञानसे ही बनी । जब कुछ पढ रहे हैं तो भी विशेष आलम्बन अक्षरो पर नही रहता किन्तु ज्ञानपर रहता है, बुद्धिपर रहता है । जहा हम सोचा करते हैं । तो प्रमाणपनेके लिए प्रकृति भी यह सिद्ध करती है कि ज्ञानका आलम्बन लेकर ही जानकारीकी दृढता आया करती है । प्रमाण मायने दृढ विज्ञान । उस दृढ विज्ञान को अज्ञानरूप बनायें यह कहा सम्भव है ?

प्रमाणके प्रकरणमे दार्शनिकोकी दृष्टि – अथवा ज्ञानरूप प्रमाण है, ठीक है, पर उसकी हम प्रमाणता साबित कर सकें इसके लिए बाहरी पदार्थोंकी ही चर्चा करनी पडेगी । इस दृष्टिसे अनेक दार्शनिकोंने बाह्य पदार्थोंपर ही जोर दे डाला है ।

किन्तु साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही है। न तो कारकसाकल्य प्रमाण है न इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण है, न इन्द्रिय व्यापार प्रमाण है और जो चौथी बात आत्मव्यापार रखी है वह भी प्रमाण नही है अथवा यह भी निरख सकते हो उस कारक साकल्यमे कि कोई चीज तो साक्षात् प्रमाणका भी कारण है। कारकसाकल्यमे केवल इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश तक ही नही माना है, आत्मा मन यह भी सामिल है। इन्द्रिय सन्निकर्षमे प्रमाणता उपचारसे, है क्योकि ये भी तो कारण बन रहे है। इन्द्रियका पदार्थका भिडाव हो तो वह प्रमाणका कारण बनता है ना, तो वह उपचारसे प्रमाण है। इन्द्रियका हम व्यापार न करे, आँखें न खोलें, विषयके सम्मुख इन्द्रिया न जायं तो प्रमाण तो नही होता। तो ठीक है वे भी उपचारसे प्रमाण है। साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान होता है। ऐसे ही ज्ञातृव्यापारकी बात चल रही है। ज्ञाताका व्यापार तो प्रमाण है, किन्तु जानन क्रियाका आधारभूत ज्ञानपरिणमनरूप व्यापार प्रमाण है, न कि कोई अज्ञानचेष्टा प्रमाण है। तो ज्ञाताका व्यापार प्रमाण तो मानो, किन्तु वह ज्ञानरूप व्यापार प्रमाण है ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञातृव्यापारके स्वरूपपरिचयके लिये पुन विकल्प—स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसा ज्ञान जो अपने स्वरूपका भी निश्चय कर रहा हो कि मै ठीक हूँ। जो मै जान रहा हूँ यह ज्ञान ठीक है ऐसा स्वका भी निश्चय हो रहा हो और जिस पदार्थको जान रहे हैं उस पदार्थके विषयमे भी यह पदार्थ ऐसा ही है इस प्रकारका ज्ञान दृढ हो रहा हो जिस एक ज्ञानके द्वारा वह ज्ञान प्रमाण है। इसके प्रतिपक्षमे कुछ दार्शनिकोने अपना मतव्य रखा है जिसमेसे यह ज्ञातृव्यापारका मतव्य प्रकृतमे चल रहा है। इस सिद्धान्तका यह कथन है कि ज्ञाताका आत्माका ऐसा व्यापार प्रमाण है जो पदार्थको जैसा है तैसा ही प्रकाश करदे किन्तु है स्वय अज्ञानरूप। तो आत्माका व्यापार प्रमाण है, इस सम्बन्धमे अनेक बाते पूछी गई थी। अब एक बात और पूछी जा रही है कि तुम्हारा कहना है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है। व्यापारका अर्थ है चेष्टा, पुरुषार्थ, क्रिया तरग, वृत्ति कुछ भी हो। तो वह व्यापार इस आत्माका धर्मीस्वभावरूप है या धर्मस्वभावरूप है। धर्मी उसे कहते हैं जो धर्मका पिण्ड हो, स्वामी हो। और धर्म कहते है उस अनन्त धर्मी पदार्थका कोई एक हिस्सा। जैसे आत्मा तो धर्मी है, ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख आदिक धर्म है इसीप्रकार तुम्हारे आत्माका यह व्यापार स्वय धर्मी है या धर्म है?

ज्ञातृव्यापारमे धर्मीस्वभावताकी व धर्मस्वभावताकी असिद्धि—यदि ज्ञातृव्यापार धर्मीस्वभावरूप है तो आत्मा भी धर्मी हुआ और आत्माका व्यापार भी धर्मी हुआ। तो जैसे आत्मा धर्मी प्रमाणान्तरोको गम्य नही है अर्थात् वह अज्ञानरूप है और किसी ज्ञानके द्वारा जाना नही गया इसी प्रकार व्यापार भी जाना नही गया,

अज्ञात रह गया। यदि वह कहो कि ज्ञानका व्यापार धर्मस्वभाव है, धर्मरूप है तो वह धर्म व्यापार धर्मी ज्ञातासे भिन्न है या अभिन्न है ? या भिन्नाभिन्न है या न भिन्न है न अभिन्न है। यदि आत्म व्यापार रूपधर्म आत्मासे भिन्न है तो सम्बन्ध क्या ? भिन्न तो बहुत सी चीजें है। उन चीजोका किसीका किसीके साथ अटपट जोड दो तो नही होता। यदि कहो कि वह धर्म अभिन्न है तो अभिन्नके मायने वही आत्मा हुआ, प्रमाणान्तरसे सो गम्य न होना चाहिए अर्थात् अज्ञात रहना चाहिए, असत् होना चाहिए। यदि कहो कि भिन्न अभिन्न दोनो है तो जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे ? धर्म और धर्मी ये दोनो कभी एक जगह एक साथ रहते भी हैं क्या ? कोई यह कहे कि स्याद्वाद तो मानता है कि भिन्न भी है अभिन्न भी है तो स्याद्वादमे दृष्टिया भी दो हैं। एक दृष्टिमे भिन्न है और एक दृष्टिसे अभिन्न है। यहा नयवाद नही है। जो कह दिया वही हठ है तो भिन्नाभिन्न नही बनता। यदि कहो कि दोनो नही है तो अन्योन्यव्यवच्छेद होगे भिन्न और अभिन्न। तो अभिन्न भिन्नको हटाने वाला है भिन्न अभिन्नको हटाने वाला है। जैसे जीव और अजीव ये दोनो विरुद्ध बाते है। जीव और जो जीव नही है सो अजीव। कोई कहे कि जीव अजीव दोनो नही है तो यह कैसे सिद्ध होगा ? दोनो अन्योन्य व्यच्छेदरूप है। उनका एक साथ निषेध नही हो सकता। तुम एकको निषेध करोगे तो दूसरेका हाँ बनेगा। इस कारण ज्ञाताका व्यापार ही नही सिद्ध होता, प्रमाण क्या कहोगे ?

दार्शनिकतामे सिद्धान्तके पूर्वापर प्रभावकी दृष्टि—यहा दर्शनशास्त्रमे यो समझिये कि जैसे राजनीति लोकनीति होती है। बहुत आगेकी बात सोचते है कि इसका किसपर प्रभाव पडेगा, इसका क्या असर होगा। ऐसे ही आगे पीछे बहुत सी बाते सोचकर दार्शनिकोने अपना सिद्धान्त बनाया है। कुछ बाते ऐसी लगती है कि ये तो स्पष्ट झूठ है, ये क्यो बोल रहे ? जैसे इसी प्रसगमे यो लग रहा होगा कि आत्माका ऐसा व्यापार जो पदार्थका सही प्रकाश कर दे फिर भी अज्ञानरूप है। चित्तमे तो यो नही बैठता, लेकिन इन दार्शनिकोने कुछ आगा पीछा भी सोचा है, चाहे वह निभे या न निभे। यह सिद्धात है विशेषवाद। विशेषवादका अर्थ है किसी भी चीजको बारीकीसे सोचना और उस सोचनेमे किसी भी तरह अगर दो बातें मालूम पडें तो उन्हे न्यारा पदार्थ समझ लेना, यह विशेषवादका मूल है। जैसे लोग कहते हैं आत्मामे ज्ञान है, इन दो शब्दोको सुनकर तो किसी एक वस्तुका बोध होता है और ज्ञान शब्द सुनकर किसी एक व्यक्तिका, प्रकाशका, भावका बोध होता है। जब दो शब्दोके सुननेसे हमे दो तरहका बोध होता तो ये न्यारे–न्यारे हैं यह विशेषवादका सिद्धान्त है। यदि ऐसा न मानो तो दो शब्द क्यो, दो दिमाग क्यो, दो बुद्धि क्यो जगी ? जिस सम्बन्धमे हमारी बुद्धि भिन्न–भिन्न जगे वह तो भिन्न पदार्थ है यह तो हुआ विशेषवादके दर्शनका रूप। जैसे स्याद्वाद एक सिद्धान्त है ऐसे ही विशेषवाद भी एक सिद्धान्त है।

विशेषवादमे हितलाभकी कल्पनाकी पद्धति अब यह पूछा जाय कि विशेषवादने ऐसा बारीकी करके एकके दो हिस्से बनाकर विशेषवाद निकालकर फायदा क्या उठाया ? उनका फायदा सुनो। उनका सिद्धान्त है कि जीव सब मुक्त होना चाहते है और मोक्ष-प्रिय है और मोक्षमे तरङ्ग विकल्प कल्पनाएँ कुछ नही चलना चाहिए। अत्यन्त केवल अवस्थाका नाम मोक्ष है और यहां हम लोगोकी केवल अवस्था है नही, दूसरी दूसरी बहुत सी चीजे लगी है, बुद्धि लगी है, यह भी आत्माके पीछे पड गई, इस बुद्धिने आत्माको बहुत बरबाद कर दिया। न बुद्धि होती तो दुःख काहेका, विकल्प क्यो होता ? ये जो खम्भा चटाई वगैरह है ये अच्छे है। चाहे देशमे लडाई हो चाहे बम गिरें, जो चाहे हो पर ये कभी दुखी होते है क्या ? और, ये जो देशवासी लोग है वे क्यो सोचकर दुखी होते है। क्यों दुखी होते है ? ये मकान, पत्थर भी तो इसी देशके वासी है, ये क्यो नही दुखी होते ? इनमे बुद्धि नही लगी है, मनुष्योको बुद्धि लगी है सो सोचते है और दुखी होते है। यह बुद्धि जटसे मिट जाय तो जीवका मोक्ष हो जाय। सुखदुःख मिट जाये, इच्छा द्वेष मिट जाये, पुण्यपाप मिट जाये तो मोक्ष होता है सारी चेष्टाये समाप्त होजायें तो मोक्ष होता है, अब यह सिद्धान्त आया।

विशेषवादके एकान्तमे स्वरूपकी असिद्धि—भैया ! सुननेमे तो जरा अच्छा भी लगता है कि विशेषवाद ठीक तो कह रहा है, गलत क्या हुआ ? पर गलत यो हुआ कि वस्तुका एकरूप मिटा जा रहा है। सुख—दुःख इच्छा द्वेष ये स्वरूप नही है आत्माके। ये मिट जाये यह तो हम भी चाहते है, किन्तु बुद्धि शब्दसे उन्होने समस्त ज्ञानस्वभावका ही ग्रहण कर लिया कि ज्ञान न रहे आत्मामे तो आत्माका मोक्ष होता है, किन्तु ज्ञान है आत्माका स्वरूप। प्रत्येक पदार्थ अपना स्वभाव तो रखते ही है। ज्ञान भी मिट गया, फिर जरा सोचो तो सही कि फिर आत्माका स्वरूप रहा क्या ? इस मर्मसे परिचित न होनेके कारण ही यहा बुद्धिके विनाश, ज्ञानके विनाशका नाम मोक्ष कहा गया है। कौनसा मर्म अपरिचित था ? आत्मा सहज ज्ञान सामान्यस्वभावी है और उपाधि आश्रय कारण पाकर उस ज्ञानस्वभावका परिणाम ससारमे ऐसा साकार प्रकट हुआ है वह है विशेष विशेष ज्ञान। वह विशेष ज्ञान ही विशेषवादमे सब कुछ मान लिया गया है, इसके अतिरिक्त उसका स्रोतभूत आधारभूत ज्ञानसामान्य से यह सुनकी दृष्टिमें नही है, विशेषवादी है ना ? सामान्य तो यहा नही माना। आत्माका ज्ञान सामान्य स्वरूप है और वह गुण है, अभिन्न धर्म है आत्माका स्वरूप है, यह विशेषवादमे माना नहीं गया। सामान्यका अभाव इस प्रकारसे है वस्तुके स्वरूपमे, लेकिन सामान्यको भी उन्होने विशेष करके माना। वह भी एक जुदा पदार्थ है। जिसकी वजहसे १०० गायें खडी हैं और उन सबमे गौ सामान्यका बोध हो रहा है तो वह गौ सामान्य बिल्कुल अलग चीज है और वह एक है, व्यापक है। स्याद्वादमे तो एक वस्तु है उस अभेदरूपसे देखते है तो सामन्य और भेद दृष्टिसे देखते है उसका विशेषदृष्टि होती है, किन्तु ऐसा नही है कि सामान्य सर्वव्यापक है और एक है

तो इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मामे ज्ञानस्वभाव नही मौजूद है ज्ञानका समवाय होता है तब आत्मा ज्ञानी बनता है। और उस आत्माका व्यापार प्रमाण है तो व्यापार भी अज्ञानरूप हुआ।

ज्ञातृव्यापारको कारको द्वारा जन्य माननेपर आपत्ति— ज्ञातृव्यापारके सम्बन्धमे यह प्रश्न किया गया था कि आत्माका यह व्यापार किन्हीं पदार्थोमे उत्पन्न किया जाता है या नही ? यह प्रश्न कल हुआ था। तो उत्पन्न नही किया जाता इसका बहुत विकल्पोसे निराकरण हुआ। अब उत्पन्न करनेमे लगे हुए जो कारक हैं वे कारक भी क्या अपना काम करने मे अन्य कारकोकी अपेक्षा रखते हैं या नही ? यदि वे भी अन्य कारकोकी अपेक्षा रखते हैं तो अनवस्था दोष हो गया। वे भी किसी अन्यकी अपेक्षा रखेंगे, तो कही उसकी समाप्ति ही नही होगी। यदि कहो कि वह कारकसमुदाय किसीके भी व्यापारकी अपेक्षा नही रखता तो यो ही कारक ही पदार्थका प्रकाश करदे तब फिर बीचमे ज्ञातृव्यापार क्यो माना जा रहा है ?

तत्त्वनिर्णयके लिये प्रमाणपरीक्षाकी आवश्यकता—देखिये ! जब तक प्रमाणकी परीक्षा नही बन जायगी कि कैसा ज्ञान प्रमाण होता है तब तक हम कुछ निर्णय ही नही कर सकते है। यो साधारण निर्णय तो लोगोके चल ही रहा है, किन्तु जब सूक्ष्म तत्त्वका विवेचन किया जाय और उसमे यह विवेचन सही है यह सही नही है उसकी बारीकी न ज्ञात की जाय, प्रमाणकी खूब परीक्षा नही कर पाये, नही समझ सके कि ज्ञान ऐसा होना चाहिए, निर्दोष हो सदोष न हो तब तक हम तत्त्वका निर्णय नही कर सकते। मोटी बातका निर्णय करनेके लिए मोटी बुद्धि काम दे जायगी मगर सूक्ष्मतत्त्वका निर्णय करनेके लिए तो सूक्ष्म परीक्षा चाहिये। और उस परीक्षामे मूलमे इस ज्ञानकी ही परीक्षा पहिले चाहिए।

दार्शनिक क्षेत्रमे धारणाओका खण्डन— कोई भी पुरुष किसी वस्तुका खण्डन नही किया करता, किन्तु मानने वालेके विचारका खण्डन किया करता है कि तुम्हारा विचार तुम्हारी दृष्टिमें सही है किन्तु तुम्हारा विचार गलत है। जैसे किसी पुरुषने इस चश्माघरको घडी कह दिया तो लोकभाषामे लोक क्या कहते है ? यही कहते हैं कि तुम इस पदार्थका खण्डन करनेके लिये कहते हो कि यह घडी नही है, चश्माघर है। इसपर जोर लगाते हो। तो यह बतावो कि यहा पदार्थका खण्डन कर रहे हैं या इस चश्माके बारेमें पुरुषने जो विचार बनाया उस विचारका खण्डन कर रहे है ? विचारका खण्डन होता है पदार्थका खण्डन नही होता। एक बात सामने रख दें, जो ईश्वरको सृष्टिकर्ता नही मानते उनके सामने। क्या, कि यह बतावो ईश्वर सृष्टिकर्ता है या नही ? ईश्वर सृष्टिकर्ता यदि है तो तुम खण्डन क्या करते और ईश्वर सृष्टिकर्ता नही है तो किसका खण्डन करते ? कही असत्पर भी शस्त्र चलता है क्या ? जब सृष्टिकर्ता नही है तो तुम खण्डन किसका करने जा रहे हो ? तो स्याद्वादका यह

उत्तर होगा कि हम किसी पदार्थका खण्डन मण्डन नही करते किन्तु उस सम्बन्धमे जो तुम्हारी धारणा है उस धारणाका खण्डन कर रहे है, तुम्हारा ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान सम्यक् नही है। विचारका खण्डन है, इस पदार्थका खण्डन नही है। यह तो दार्शनिकक्षेत्रकी बात है।

आध्यात्मिक क्षेत्रमे विभावोका खण्डन—अध्यात्मक्षेत्रमे देखिये वहापर भी अतरङ्गको ही छुवा गया है। ज्ञानी और अज्ञानीका जहा विश्लेषण किया गया तो यही तो किया गया कि अज्ञानीका तो मतव्य ऐसा है कि मेरा पदार्थ शत्रु है, दूसरा मेरा बिगाड करता है दूसरा जीव, दूसरा पदार्थ यह मेरा बिगाड किया करता है और ज्ञानीका यह मतव्य है कि दूसरा पदार्थ मेरा शत्रु नही है, मेरा बिगाड करने वाला नही है, किन्तु मेरा ही विभाव परिणाम मेरा शत्रु है, और इसी बुनियादपर लोकमे सिह और कुत्ता इन दोनोके अन्तरकी प्रसिद्धि हुई है। देखिये, कुत्ता कितना उपकारी जीव है, आप रोटीके दो टुकडे खिलादे तो वह आपका रात दिन भक्त रहता है। और वह भी पूछ हिलाकर, प्रेम दिखाकर, विनय दिखाकर आपकी रोटीके दो टुकडे खाता है, आज्ञाकारी रहे, विनयशील रहे, साधक रहे आपकी उन रोटीके दो टुकडोंपर। तो कुत्ता बडा उपकारी जानवर होता है, और सिंह कितना अनुपकारी जीव है। सिंह दिख जाय तो यहाँ भगदड मच जाय, पर किसी पुरुषको यदि यह उपमा दे दी जाय कि ये तो बडे उपकारी है, गरीबोका बडा ख्याल करते है ये तो साहब कुत्तेके समान है, तो यह बात यद्यपि अच्छी कही गई है, पर वह सुनने वाला बुरा मान जायगा। और यदि यह उपमा दे दी जाय कि ये साहब तो सिहके समान हैं तो कहा तो यह गया कि यह साहब तो अनुपकारी है, दुष्ट है पर वह सुनने वाला इस उपमाको सुनकर खुश होता है। तो सिहकी उपमा क्यो अच्छी लगती है और कुत्तेकी उपमा क्यो बुरी लगती ? वहा ज्ञानी और अज्ञानीके आशय जैसा अन्तर है। कुत्तेको लाठी मारो तो वह लाठीको चबाता है, उसके यह समझ बनी है कि मेरा शत्रु यह लाठी है, वह आदमीको नही चबाता, और किसी सिंहको कोई लाठी मारे तो वह लाठीपर नही आक्रमण करता है, सीधे उस मनुष्यपर ही आक्रमण करता है, क्योकि उसे सच्चा बोध है कि मेरा शत्रु तो यह मनुष्य है। इसी तरह ज्ञानी पुरुष सही जानता है कि मेरा शत्रु कोई दूसरा पदार्थ नही है, मेरा शत्रु तो मेरी कल्पना है, मेरा विभाव है, मेरा शत्रु तो मेरी कल्पना है, मेरा विभाव है। और अज्ञानी पुरुष किसी दूसरेको अपना शत्रु समझ लेता है। तो उन कल्पनाओ और विभावोको मेटने का यत्न करना है। यही है तत्त्वज्ञानका कार्य। तो यहा भी दार्शनिक क्षेत्रमे जो खण्डन चलता है वह दूसरेके विचारोका खण्डन चलता है, पदार्थका खण्डन नही चलता।

आत्मव्यापारको कारकोसे जन्य माननेपर आपत्ति—पदार्थका पदार्थके रूपसे प्रकाश करने वाला आत्मव्यापार अज्ञानरूप होकर भी प्रमाण है तो वह

व्यापार क्या किन्ही कारकोंसे उत्पन्न होता है ? जैसे इन्द्रिय हैं, मन है आदिक पदार्थों के कारणसे उत्पन्न होता है, तो आत्मव्यापारको कारकोंके व्यापारकी अपेक्षा रही और कारकोंके व्यापारको भी किसी अन्यके व्यापारकी अपेक्षा है ना, तब तक दूसरेके व्यापारकी अपेक्षामे ही ये अपनी शक्ति खो देंगे तो पदार्थका प्रकाश कब होगा ? यदि व्यापारान्तरकी अपेक्षा न रखकर यह ज्ञातृव्यापारको उत्पन्न करदे तो इन कारकोमे ही क्यो न ऐसी शक्ति मान लीजिए कि ये ही सीधे किसीकी अपेक्षा बिना पदार्थका प्रकाश कर दें ।

असिद्ध तत्त्वमे अनेक पर्यनुयोगोका अवकाश— यदि अन्य व्यापारकी अपेक्षा बिना अपने व्यापारमे कोई समर्थ होते है तो अन्य पदार्थ भी उसी कामको करदें और न समर्थ होते तो प्रकृत पदार्थ भी अपना कार्य न करें, यह आपत्ति रखी जानेपर पूर्वपक्षकार एक विवाद उपस्थित करते है कि इस तरहके प्रश्नोसे तो सर्व पदार्थोंका स्वभाव न रहेगा । हम यह कहने लगें कि अग्निमे जलानेका स्वभाव है कि नही, यदि अग्निमे जलानेका स्वभाव है तो वही स्वभाव आकाशमे भी आ जाय अन्यथा अग्निमे भी जलानेका स्वभाव न रहे । ये तो सब अटपट बातें कही जा सकती है । तो समाधानकार उत्तर देते हैं कि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध है उसमे तो ऐसे प्रश्न नही चल सकते । किन्तु अज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार तो सिद्ध नही है वहाँ ऐसे पर्यनुयोग होते ही हैं । और जब ज्ञातृव्यापारमे ही स्वभाव नही माना पदार्थोंके प्रकाश करनेका, किन्तु अन्य कारकोंकी अपेक्षा रखकर प्रकाश होता है तो वहाँ यह निर्णय है कि न ज्ञातृव्यापार अर्थका प्रकाश कर सकेगा और न कारक भी अर्थका प्रकाश कर सकेंगे । प्रयोजन यह है कि आत्माका वह व्यापार जो अचेतन है, अज्ञानरूप है, पदार्थका प्रकाश करदे यह सम्भव नही है तो आत्मव्यापारका स्वरूप न प्रत्यक्षसे सिद्ध हो सका, न अनुमानसे सिद्ध हो सका और न अन्य युक्तियोसे सिद्ध हो सका ।

अर्थापत्तिसे ज्ञातृव्यापारको सिद्ध करनेका उपक्रम— इतनेपर भी पूर्व पक्षकार अर्थापत्तिसे आत्मव्यापारको सिद्ध करना चाहते हैं । एक प्रमाण उन्होने अर्थापत्ति माना । जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, अनुमान प्रमाण होता है ऐसा ही उनका एक अर्थापत्तिप्रमाण है । अर्थापत्तिका अर्थ है कि जिसके होनेपर जो बात हो उसको बताकर साध्यको सिद्ध करना, अर्थात् ज्ञाताका व्यापार होनेपर पदार्थका प्रतिभास होता है इस कारण ज्ञातृव्यापार प्रमाण है । जैसे ये खम्भे, किवाड, काठ इनके होने पर तो पदार्थका प्रतिभास नहीं होता, किन्तु आत्माका व्यापार होनेपर पदार्थका प्रतिभास होता है इस कारण ज्ञातृव्यापार प्रमाण है यह अर्थापत्तिसे सिद्ध होता है । इस विषयमे अर्थापत्तिके सम्बन्धमे जब विचार किया जायगा तो अविनाभाव ही बनेगा लेकिन ये पूर्वपक्षकार अर्थापत्तिको अनुमानसे अलग प्रमाण मानते हैं, किन्तु अविनाभावका अनुमानसे सम्बन्ध है ।

अर्थापत्तिसे भी ज्ञातृव्यापारकी असिद्धि– तो अर्थापत्तिसे ज्ञातृव्यापारको सिद्ध करने वालोसे पूछा रहा है कि आत्माका व्यापार होनेपर अर्थका प्रकाश होता है ? तो अर्थका प्रकाश आत्मव्यापारसे भिन्न चीज है या अभिन्न चीज है ? जो पदार्थ का प्रकाश हुआ वह ज्ञातृव्यापारसे जुदी चीज है या अभिन्न चीज है ? इस प्रश्नको समझनेके लिए पहिले स्याद्वादका सिद्धान्त सुनिये । पदार्थविषयक ज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न है, इसके उत्तरमे पहिले सोच लीजिए । अर्थप्रकाशका आत्मासे तादात्मय होनेसे वह आत्मासे अभिन्न है और सज्ञा व्यपदेश नाम धर्म धर्मी आदिकी अपेक्षा अर्थप्रकाश आत्मासे भिन्न है, यो कथचित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है । स्याद्वादकी दृष्टि नही रखने वालोसे यह प्रश्न किया जा रहा है कि अर्थका प्रकाश आत्मव्यापारसे जुदा है या एक ही चीज है ? यदि एक ही चीज है तो अर्थप्रकाश और आत्मा एक ही बात हुई । फिर तो जैसे आत्मा सदा है तो अर्थप्रकाश भी सदा रहेगा । फिर न कोई सोया हुआ कहलाया न जगा हुआ कहलाया सभी जगे हुए कहलाये । न कोइ पागल कहलाया न कोई स्वस्थ कहलाया । सभी स्वस्थ कहलाये । और सबको सबका ज्ञान हो जाना चाहिए । यदि अर्थप्रकाणको व्याप.रसे भिन्न कहते नो जब भिन्न हो गया यो अर्थप्रकाशका आत्मासे सम्बन्ध क्या रहा ? फिर प्रमाण किसको बताते हो ? जब कोई आकार ही नही रहा, सम्बन्ध ही नही रहा फिर प्रमाण क्या चीज है ? यदि उपकार मानते हे, किसीके द्वारा उपकार हुआ तो अनवस्था दोष हो जायगा, वह उपकार भी किसी ओरसे हुआ इस कारण अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापारकी सिद्धि नही होती है ।

अर्थापत्तिसे साध्यसिद्धिका अनियम– अब और भी सुनिये । अर्थापत्तिसे इस ज्ञातृव्यापारकी कल्पना करते हो तो अन्यथानुत्पत्तिसे अनिश्चित ही ज्ञातृव्यापार को मानते हो या अन्यथानुपपत्तिसे निश्चित व्यापारको मानते हो । अर्थापत्ति और अन्यथानुत्पत्तिमे विधि और निषेधका क्या अन्तर है । जिसके होनेपर जो हो उसको बताकर साध्यकी सिद्धि करना अर्थापत्ति है और जिसके बिना जो न हो उसे बताकर साध्यकी सिद्धि करना अन्यथानुत्पत्ति है । अर्थापत्तिसे अन्यथानुत्पत्ति जोरदार साधन माना गया है । तो अन्यथानुत्पत्तिसे तो यदि ज्ञातृव्यापार निश्चित है तो इसीके मायने तो अनुमान है क्योंकि दृष्टान्तमे अविनाभाव हो या दार्ष्टान्तमे अविनाभाव हो उसीसे तो साध्यकी सिद्धि होती है, तब अर्थापत्ति अलग प्रमाण नही रहा, प्रमाण सख्याका विघात हो गया । उसमे यदि अन्यथानुत्पत्ति निश्चित नही है तो जिस चाहे चीजसे जो चाहे चीज सिद्ध करलो । कोई पूछे देखना जरा मदिरमे पडित जी बैठे हैं या नही, और वह कहदे कि हाँ बैठे है । कैसे जाना कि मदिरमे बैठे है ? भीट सफेद है इससे जाना । तो यह भी कोई बात है क्या ? कुछसे कुछ कह देवे । अन्यथानुत्पत्ति जहाँ नही है और उससे फिर साध्यकी सिद्धि मानें तो जो चाहे सिद्ध करें सब पागलपनकी चेष्टाये होगी । तो किसी भी प्रमाणसे चैतन्य स्वभावी आत्मव्यापारकी प्रतीति नही होती फिर वह अर्थका क्या प्रकाश कर सकेगा और कैसे प्रमाण बनेगा ?

अस्वसवेदकज्ञानरूप ज्ञातृव्यापारके प्रामाण्यकी असिद्धि—भैया ! बात तो कुछ भलीसी थी कि आत्माकी चेष्टा प्रमाण है लेकिन वह चेष्टा अज्ञानरूप मान लें वह कैसे प्रमाण हो सकता है। इतनी बात विचारकर एक दार्शनिक यह कहता है कि ज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार तो प्रमाण हो जायगा ना? आत्माका जो ज्ञानरूप प्रवर्तन है, ज्ञानस्वभावी आत्माका जो व्यापार है वह पदार्थका सही सही प्रकाशक होनेसे प्रमाणरूप हो जाय, यह बात तो ठीक है लेकिन उस ज्ञानस्वभावी आत्मव्यापार को स्वसम्वेदी माने तो प्रमाण है। यह दार्शनिक आत्माको ज्ञानस्वभावी तो मान रहा है और आत्मव्यापारको पदार्थका प्रकाशक मान रहा है, किन्तु ज्ञानको परोक्ष मान रहा है। जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान ज्ञानसे समझमे न आये तो ज्ञान पदार्थको कैसे समझादे। क्या कोई दीपक ऐसा देखा कि सारे पदार्थोंको तो प्रकाशित करदे और दीपक खुद प्रकाशित न हो? दीपकको ढूढनेके लिये दूसरे दीपककी जरूरत पड़ती है क्या? अथवा जिस कमरेमे बिजलीका लाट जल रहा है उसे कोई कहे कि देखना कमरेमे लाट जल रही है या नही तो उसे देखनेके लिये दूसरा बल्व जलानेकी आवश्यकता है क्या? ऐसे ही आत्मामे ज्ञान तो जगा पर पदार्थोंके समझनेके लिये, मगर उस ज्ञानका ज्ञान कभी भी नही बन पाता, वह ज्ञान अपने आपको जान ले यह उस का स्वभाव ज्ञाताके व्यापारको भी प्रमाण नही कह सकते, क्योंकि जो सर्वथा परोक्ष ज्ञानस्वभावी है वह तो कहने मात्रकी चीज है, यह असत् है।

ज्ञानकी स्वसवेदकता—जितने भी ज्ञान होते हैं सब स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान होते हैं। चाहे हम उस तरहसे सोचें या न सोचें। हमने यदि जाना कि यह चौकी है तो यह ज्ञान प्रमाण है कब? जब यह चौकी है यह भी निर्णय हो और भीतर यह भी निर्णय हो कि मेरा ज्ञान बिल्कुल पक्का है। यह चौकी है, यह हमारा ज्ञान सच्चा है, और उसका पक्का निर्णय भी है ये दो बातें प्रत्येक ज्ञानमें एक साथ लगी रहती हैं छद्मस्थके भी। यद्यपि लौकिक जन पदार्थोंपर ही दृष्टि होनेके कारण पदार्थ-पदार्थका ही निर्णय विकल्प माना करते हैं, वे बहुत कम इस ओर दृष्टि देते है कि मेरा ज्ञान सही है कि नही। जब कभी किसी पदार्थके ज्ञानमें सशय होता है तब इसका उपयोग करते हैं मैंने यह जाना है, यह सही जाना या नही जाना, उस समय तो ज्ञानके ज्ञानका प्रयास लोग करते है, मगर साधारणतया अनेक वस्तुयें विदित होती रहती हैं, वहाँ ज्ञान मेरा सही है या नही इसका विचार नही रखते किन्तु ज्ञान सही है इस तरह के विश्वासमे जाननेका निश्चक व्यवहार होता रहता है ज्ञानमें। कभी सुन नेके बाद भी ज्ञानसे निर्णय किया तो वह श्रुततत्त्वका निर्णय किया। श्रुततत्त्वका निर्णय करने वाला यह ज्ञान भी मेरा सही है ऐसा विचार लोग कम करते हैं मगर दृढता उसकी अवश्य है, तभी पदार्थका ज्ञान सही होता है।

ज्ञानमे स्वपरप्रकाशक स्वभावता—ज्ञानमे दो प्रणालीका स्वभाव है

स्वयका प्रकाश करे और पदार्थका प्रकाश करे। इस प्रकार स्वपरका प्रकाश करना ही ज्ञानका स्वभाव है ऐसा ज्ञान प्रमाण नही है जो ज्ञान दूसरेका तो प्रकाश करे और खुदका प्रकाश न कर सके। जो यह मतव्य सोचा है इसमे कुछ कुछ लोक प्रणालीमे लगता भी ऐसा है। जब सशय ज्ञान होता है ना तो उस समय मेरा यह ज्ञान सही है या नही ऐसा सशय होनेपर उस ज्ञानकी समीचीनताका निर्णय करे तो इसपर लगता है कि हम एक नया ज्ञान पैदा करके जान रहे है। वैसे तो लगता है सच, पर जिस ज्ञानमे सशय है या नही है उसमे भी फेर नही है। तो जो स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान है वही प्रमाण है।

प्रमाणस्वरूपपर विचार—परीक्षामुख सूत्रमे यह प्रथम सूत्र चल रहा है, जिसमे यह सिद्धान्त रखा कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रसगमे अभी प्रमाणके स्वरूपमे अनेक वाद विवाद रखे गए थे उनका वर्णन किया गया है इस सूत्रमे स्व, अपूर्वार्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान, और प्रमाण इन ५ शब्दोका विश्लेषण चल रहा है। प्रमाण कौन हुआ करता है इस निर्णयके लिये पदार्थके स्वरूपका विवरण चला। अब आगे ज्ञानका विवरण चलेगा, फिर व्यवसायात्मकका, फिर अपूर्व अर्थका और फिर स्वका इनमो पर विचार होगा। कभी अनुलोम विचार होता कभी प्रतिलोम विचार होता अर्थात् कभी प्रारम्भसे सिलसिलेवार विचार होता और कभी अन्तसे सिलसिलेवार विचार किया जाता है। कभी किसी निबन्धको जाँच रहे हो और उस निबधमे कुछ पैरा बनाते हो तो कभी बुद्धि इस तरह चलती कि प्रारम्भसे ही बना लें और कभी बुद्धि इस तरह चलती कि अन्तसे पैरा बनाना शुरू करे। अन्तसे पैरा बनाया तो यह हुआ प्रतिलोम कार्य और शुरुसे ही अनुच्छेद बनाते गए तो यह हुआ अनुलोम कार्य। तो प्रमाणका जो स्वरूप कहा है स्वापूर्वार्थव्यवसायक ज्ञान प्रमाण। इसमें प्रत्येक शब्दोपर प्रतिलोम पद्धतिसे विचार किया जा रहा है। तो अभी प्रमाण शब्दपर विचार चला।

कारकसाकल्य व सन्निकर्णका सिद्धान्त—इस प्रमाण स्वरूपके विरुद्ध सर्वप्रथम तो कारक साकल्यवाद रखा गया। ज्ञान प्रमाण नही है, किन्तु समस्त कारकोका समूह जुट जाय वह प्रमाण है। इसमें एक मोटी दृष्टि रखी कि जैसे किसी घटनाके सिद्ध करनेमे अनेक दस्तावेज अनेक गवाह और अनेक प्रमाण एकदम सामने रख देते है कि लो साहब! यह है तुम्हारा प्रमाण। इसीतरह हम जो अर्थ प्रतिभास करते है उस प्रतिभासमे जितने साधन साधक होते है उन साधनोको रख रहे है। इन कारकोका समूह प्रमाण है लेकिन ये साधकतम नही होते। प्रमाणका साधकतम ज्ञान ही है। इसके बाद फिर पदार्थकी बात छेड दी, फिर इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्मान है वह प्रमाण है ऐसी बात रखे इसका नाम है सन्निकर्ष। तो सन्निकर्षमे भी प्रमाणताका निराकरण किया। सन्निकर्ष होनेपर भी जो ज्ञान जगा वह प्रमाण है न कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है।

इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापारका सिद्धान्त— सन्निकर्षके बाद रखा इन्द्रिय वृत्ति। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध तो नहीं किन्तु इन्द्रियका खुलना बढ़ना आदि यह प्रमाण है। ये कुछ भीतरकी ओर आते जा रहे हैं। कारकसाकल्यमें तो एक दम बाहर बाहर उनका बोलना था इन्द्रिय सन्निकर्षमें कुछ उसके भीतर आये और इन्द्रियवृत्तिमें पदार्थको भी छोड़ दिया, केवल इन्द्रियके व्यापार तक आ गए और अब इन चार प्रमाणोंमें इन्द्रियको भी छोड़कर आत्माके व्यापार तक आये। यहाँ और भीतर आये। लेकिन सबके आशयमें अज्ञानरूपता बन रही है। ज्ञानको प्रमाण नहीं माना और अब पाँचवें प्रमाणमें ज्ञानको भी प्रमाण माना, जो परोक्षरूप ज्ञान है वह है प्रमाण, ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा है। वह ज्ञान खुदको ज्ञान नहीं कर सकता। ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए और ज्ञानकी जरूरत होती है ऐसे ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानस्वभावी आत्माके व्यापार को प्रमाण कहा है। वह भी युक्त नहीं कहा।

प्रमाणमें साधकतम और उपचार— यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपमें जितने भी पक्ष रखे गए वे सब उपचारसे तो प्रमाण माने जा सकते हैं। चूँकि ज्ञानके बननेमें वे सब बातें आती तो हैं, पदार्थ भी जुटते हैं, इन्द्रिय और पदार्थका झुकाव भी होता है और इन्द्रियमें व्यापार भी होता है, आत्मामें ज्ञानके लिए चेष्टा भी जगती है, तो ये सब प्रमाण उपचारमात्रसे तो हो सकते हैं किन्तु साधकतमरूप नहीं हैं अर्थप्रकाशमें साधकतम ज्ञान है और वही प्रमाण है। इस प्रकार सिद्ध करनेके पश्चात् अब द्वितीयसूत्रमें "ज्ञान" इस शब्दपर विचार किया जायगा।



परीक्षामुखसूत्र-प्रवचन

[द्वितीय भाग]



हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥

ज्ञानमे प्रामाण्यका समर्थन— हित और अहितकी प्राप्ति तथा परिहार करनेमे समर्थ प्रमाण हुआ करता है और चूंकि हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमे समर्थ ज्ञान ही है इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है। इस सिद्धान्तको दार्शनिक पद्धतिके वचनोमे कहा जाय तो यो कहना चाहिए कि ज्ञान ही प्रमाण है, क्योकि हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेमे ज्ञान ही समर्थ है। जहा युक्ति सहित वचन बोले जाते है वह दार्शनिक पद्धति बन जाती है। यह एक अनुमान प्रमाणका भी रूप बन गया, ज्ञान प्रमाण है हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ होनेसे। हित मायने सुख है और सुखके साधन है। अहित मायने दु ख है और दु खके साधन हैं। सुखको भी हित कहते है और सुखके साधनको भी हित कहते हैं, दु खको भी अहित कहते हैं और दु खके साधनको भी अहित कहते है। तो ऐसे हितकी प्राप्तिमे और अहितके परिहारमे समर्थ ज्ञान होता है। ज्ञानसे ही जानकर यह बोध होता है कि यह हितरूप है और यह अहितरूप है। तो ज्ञानने हितकी प्राप्ति करायी और अहितका परिहार कराया।

प्रमाणके प्रसगमे प्राप्तिका अर्थ—यहा प्राप्तिका अर्थ उपादेयभूत कियाका साधने वाला अर्थप्रकाश लेना है। अर्थात् पदार्थका बोध हो जानेका नाम प्राप्ति है। जो हम करना चाहते है, जो अर्थक्रिया हमे इष्ट है उसके साधनेवाला जो पदार्थ है उस पदार्थका ज्ञान हो जाना यही यहा प्राप्ति है। अर्थक्रिया चाहने वाला पुरुष उस काम के निष्पादनमे समर्थ जो वस्तु है उसकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और उसके प्रदर्शन की खोज करता है। जैसे किसीको प्यास लगी है तो क्या चाहता है वह? पीना चाहता है। अर्थ क्रिया है पीना। उस पीनेकी क्रियाका साधक है जल। उस जलकी मालूमात हो जाना कि यह जल है, यही ज्ञानने हितकी प्राप्ति करायी। यहा प्राप्तिका अर्थ जलके निकट पहुचना, जलको ग्रहण कर लेना नही है बल्कि अभिमुखोपस्थित जल पदार्थमे जलका बोध होना है। यही प्राप्ति है क्योकि ज्ञानके द्वारा प्रदर्शित अर्थ मे ही तो प्राप्ति होती है। ज्ञानके द्वारा जो बात ज्ञात हुई उसमे हितकी प्राप्तिका अभाव नही है। जो इष्ट था वह तुरन्त मिल गया। देखिये जिसको प्यास लगी है और पानी चाहता है पीनेके लिये तो उस समय उसको इष्ट यही है कि जल कही

दिख जाय । जल मिल जाय यह भी भावमे भरा है पर साक्षात् उसकी क्या आकांक्षा है ? जल दिख जाय । तो उसका छद्मभाव जलका दिख जाना है, और वह दिख गया बस यही हितकी प्राप्ति है । जल मिल जाय इस भावनामे इच्छाकी प्रधानता है और जल दिख जाय इस आकांक्षामे प्रमाण अर्थात् ज्ञानके प्रदर्शनकी प्रधानता है । यद्यपि जलका देख लेना केवल देख लेनेके लिये नही चाह रहा है, पीनेके लिये चाह रहा है मगर पीनेका काम जो वह करेगा भावीकालमे उससे पहिले जल देखनेकी उसकी आकांक्षा तेज है । तो पदार्थके प्रदर्शकत्वमे हितकी प्राप्ति साक्षात् है ।

ज्ञानकी हित प्राप्ति समर्थताके सम्बन्धमे एक प्रश्नोत्तर—इस प्रसगमे क्षणिकवाद सिद्धान्तमे कुछ आपत्ति उठा सकता है । क्षणिकवाद ज्ञानको क्षणस्थायी मानता है । क्षण क्षणमे नये नये ज्ञान बनते हैं । जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह उस ही क्षण रहा और तुरन्त नष्ट हो जाता है । तो क्षणिकवाद यहा प्रश्न कर रहा है कि ज्ञान तो क्षणिक होता हैं । अर्थकी प्राप्ति जब होगी उससे पहिले ही यह ज्ञान नष्ट हो जाता है फिर इस ज्ञानको प्राप्ति करने वाला कैसे कहा जाय ? उत्तरमे सामान्यतया यह समाधान दे रहे हैं कि प्राप्तिका अर्थ केवल प्रदर्शकपना है । पदार्थकी जानकारी हो गयी यही प्राप्तिका अर्थ है । प्रदर्शकत्वके सिवाय अन्य कुछ क्रिया हो, प्रवृत्ति हो, पानी पी लेवे, उस कार्यको कर लेवे ऐसी बात यहा प्रमाणमे नही कही जा रही है पानीको पी लेना प्रमाण नही है किन्तु पानीको यह पानी है ऐसा ज्ञान हो जाना प्रमाण है ।

प्रकृतज्ञानकी उसी ज्ञानसे हितप्रापकता—क्षणिकवाद फिर यह कह रहा है कि तुम घबडावो मत । हम ज्ञानकी प्रापकता सिद्ध किये देते है । उस ज्ञान के बाद जो नया ज्ञान पैदा होगा तो चूंकि पूर्वज्ञानका नवीन ज्ञानसे सम्बन्ध है, संतान है, उसका लगातारपना चल रहा है इस कारण वह ज्ञानान्तर अर्थकी प्राप्तिमे साधन बन जायगा, तो प्रापक भी बन गया । हम उस प्रापकतामे विरोध देखकर प्रदर्शकपने मात्रसे प्राप्ति न माने । प्रापक भी हो जायगा क्योकि ज्ञानके बाद ज्ञान अनेक उत्पन्न होते रहते है । तो अन्य ज्ञानने प्राप्ति करा दी, और वे सब ज्ञानके सिलसिलेसे ही आये हुए हैं, इसलिये ज्ञानान्तरसे अर्थप्राप्ति बन जायगी । आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी आशका और समाधानका भाव न रखिये । यद्यपि अनेक ज्ञान क्षणोंके व्यतीत होनेसे पदार्थकी प्राप्ति हो जायगी किन्तु पदार्थको छू लेना, पा लेना इसका प्रयोग कर लेना यहा यह प्राप्तिका अर्थ है ही नही । प्राप्तिका अर्थ तो पदार्थका प्रदर्शन हो जाना पहिले ही ज्ञानमे सम्भव है । अन्य अन्य ज्ञानोकी जरूरत नही है । हा उस ज्ञानके बाद जो नये नयें और ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे और विशेष विशेष अशोके जनाने वाले होते हैं ।

प्रवृत्ति और प्रमाणका जुदा जुदा स्वरूप—जिस चीजको हमे ग्रहण

करना है उसकी प्राप्ति तो हमारे क्रिया सध्य है, प्रमाणके आधीन नही है। वह तो पुरुषकी इच्छा हो और उसके प्राधीन प्रवृत्ति हो उससे पदार्थकी पाप्ति होती है। पदार्थको ग्रहण कर लेनेका नाम प्रमाण नही कह रहे किन्तु पदार्थका बोध हो जाने का नाम प्रमाण है। न भी प्रवृत्ति हो तो भी प्रमाणका काम तो पदार्थका यथार्थ प्रकाश करा देना है। वह तो है ही, सबके अनुभवमे आता है। यदि पदार्थकी प्राप्तिका ही नाम प्रमाण बन जाय तो यहीसे बैठे-बैठे हम चन्द्रमाको देखते है, चन्द्रमाका जो ज्ञान हुआ वह प्रमाण है या नही ? प्रवृत्ति तो हुई नही, हम चन्द्रमाको पकड तो नही सकते, फिर पदार्थोके अभावमे भी चन्द्रज्ञान प्रमाणरूप है या नही ? चन्द्रज्ञान प्रमाण है, सभीकी प्रतीतिमे ऐसी बात आती है, तो यथार्थ बोध हो जानेका नाम प्रमाण है, परिणतिका नाम प्रमाण नही है। पदार्थ मिल जाय, पदार्थका भोग कर लिया जाय, जिस उपयोगमे पदार्थको लगाते है उसका उपयोग बना लिया जाय तब प्रमाण कहलावे ऐसी बात नही है।

प्रवृत्तिकी नानासाधन प्रभावता और प्रमाणकी अर्थप्रदर्शकता—तुम प्रवृत्ति कर सको या न कर सको, उस पदार्थका उपयोग कर सको या न कर सको यह तुम्हारे प्रयत्न इच्छा शक्ति सबके आधीन बात है, किन्तु पदार्थ जिस स्वरूपसे है उस स्वरूपसे प्रकाश हो जाना और उसमे जो हम चाहते है उसका पथ मिल जाना, जो हम नही चाहते हैं उसके दूर होनेका मार्ग मिल जाना इसीके मायने हितकी प्राप्ति है। सूर्योदय होता है, प्रकाश हो गया, उस प्रकाशमे सबकी बुद्धि व्यवस्थित हो जाती है। जो जैसी चीज है उसका उस प्रकारसे देखना बन जाता है। अब सूर्यका काम तो मात्र दिखा देना है और उसका दृढतासे निर्णय करा देना है। निमित्त दृष्टिसे कह रहे है पर यह काम नही है कि आपको जिस जगह आज जाना है सूर्य आपको ढकेलकर उस जगह पहुचा दे यह तो आपकी इच्छा प्रवृत्ति, शक्ति, साधन इनके ताल्लुक बात है। प्रमाण कार्य केवल पदार्थका प्रकाश करा देने वाला है और वह होती है ज्ञानमे ही बात। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमे समर्थ केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्य अचेतन पदार्थ नही है इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञानकी हितप्राप्तिसमर्थताका समर्थन— प्रमाणका स्वरूप पहिले सूत्रमे कहा गया था। स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक जो ज्ञान है वह प्रमाण है। तो प्रमाण शब्दका तो खूब विवेचन किया गया था। इस सूत्रमे ज्ञानका विवेचन किया जा रहा है कि ज्ञान ही प्रमाण है। अज्ञान क्यो नही प्रमाण बनता ? अज्ञानमे हितकी प्राप्ति करा देना और अहितका परित्याग करा देना यह सामर्थ्य नही है। जानकर ही तो हम हितकार्यको करते है और अहितकार्यको छोडते है। और, एक दृष्टिसे देखो तो जाननेमे ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाता है। लौकिक बातोमे तो थोडा समयभेद मालूम होता है। जाना हमने अभी और हितकी

प्राप्ति करेंगे थोडी देरमे, लेकिन परमार्थसे, अध्यात्मदृष्टिसे ज्ञानके ही कालमे हितकी प्राप्ति होती है और अहितका परिहार होता है। जैसे अन्तर्ज्ञान होता है यह आत्मा मात्र ज्ञान ज्योतिस्वरूप है, ऐसा उपयोग गया, ऐसी ही मान्यता बनी, ऐसा ही अनुभव जगा तो उस कालमे हितरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी प्राप्ति हो गयी। कही आत्मतत्त्वको पानेके लिए दौड़ नही लगानी पडती, कोई क्रिया नही करनी पडती, क्रिया रच नही होती हलन चलन रच नही होती। उस ही क्षेत्रमे निश्चल होकर ज्ञान किया जाता है अन्तस्तत्त्वका। तो जिस क्षणमे जान लिया कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हूँ तो ज्ञान ही इसका स्वरूप है, ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, सो उस ज्ञानने जब जब कषायोको त्याग दिया अर्थात् कषायोका ग्रहण न किया, कषायको पररूप जानकर ज्ञानने त्याग दिया, यद्यपि आत्मक्षेत्रसे कषायें हटी भी नही हो, लेकिन ज्ञानने तो कषायको छोड दिया और अन्त आत्मस्वरूपका ज्ञानने ग्रहण किया तो उस ज्ञानमे तो तत्काल हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार बन गया।

ज्ञानका सत्वर व समर्थ उपकार—प्रश्न—जानना मानना, अनुभव करना ये तो क्रमसे ही हो पावेंगे? उत्तर—जिसका ज्ञान दृढ नही है उसे अपने ज्ञानको दृढ करनेके लिए उसकी अवस्थाएँ तो ये क्रमसे बन जायेंगी, किन्तु जो अभ्यस्त पुरुष है उसे जानना, मानना, प्रतीति करना, अनुभव करना ये सब एक साथ हो जाते है। भैया! शुद्ध तत्त्वके ज्ञानके सिवाय हमारा न कोई रक्षक है, न शरण है, न कोई प्रभु है। हमारा ही निर्मल उपयोग बने, विशुद्ध ज्ञान बने इससे ही हमारी रक्षा है, अन्य कोई हमारी रक्षा करनेमे समर्थ नही है। कुटुम्ब मित्र परिजन कितना ही कोई चाहे और हममे उस प्रकारका परिणमन बने तो कोई हमारा क्या कर सकता है। और जब हमारा उस रूप परिणमन बने तब भी कोई दूसरा हमारा कुछ नही कर रहा। शान्तिके लिए भरसक प्रयत्न लोग करते है, शरीरका श्रम करना, वचनका श्रम उठाना, मानसिक विकल्प चलाते रहना अनेक प्रकारके श्रम किए जाते हैं किन्तु श्रमरहित अन्त स्वरूपके ज्ञानका प्रयास यह जीव नही करता, मोहमे इस प्रकारकी बुद्धि नही जगती कि मैं अपने शान्त स्वरूप अकल्मष अन्तस्तत्त्वके निकट बसा रहूँ और सर्व सकटोको दूर करलूँ। मोहमे मोह करनेकी ही बुद्धि जगती है। तो जैसे खूनसे सने हुए कपडेको खूनसे ही धोये तो वह दाग धुलता नही है इसी प्रकार मोहसे उत्पन्न हुए दु खको मिटानेके लिये मोहका ही उपाय किया जाय तो वह दु ख मिटता नही है। एक अन्तर्ज्ञानमे ही ऐसी सामर्थ्य है कि एक साथ ही समस्त सकटोमे यह दूर कर सकता है।

आत्मविश्वासका अनुरोध—भैया! और अधिक नही तो जैसे जिस लकडहारेपर बोझ ज्यादा लदा है वह बोझ लादे भी जाता है और बीच बीचमे किसी वृक्ष के सहारे गट्ठेको टिकाकर कुछ विश्रामका भी अनुभव करता जाता है, विश्राम लेना

जाता है। तो बोझ भी ढोना पडे तो बीच बीचमे विश्राम लेते रहना चाहिए ना तभी हम अपने प्रयोजनका आसानीसे सिद्ध कर लेगे, तो इसी प्रकार विकल्पोके सकट बहुत लदे हैं और उनके भारसे मरे जा रहे है तो कभी कभी तो विकल्पोका सकट हटाकर विकल्पोका भार हठाकर बाह्यकी ओर टिकाकर कुछ अपनेको निर्विकल्प ज्ञान ज्योति स्वरूप मानकर विश्राम भी तो लेते रहना चाहिए। अनवरत विकल्प कर करके कौन सी सिद्धि पा लोगे ? विकल्प यदि नही मिटते हैं तो बीच बीच थोडा निर्विकल्प अपने स्वरूपका दर्शन अनुभव तो करते रहना चाहिए लगातार सारी जिन्दगी ही विकल्प विकल्पमे खोई जाय तो उससे कौनसी सिद्धि पा लोगे ? बहुत देर तक भी यदि अन्तर्दर्शनकी बात नही निभती तो अमृत विन्दु मात्र भी मिले तो वह भी सुखका साधन बनता है इसी प्रकार अन्तस्तत्त्वका यह दर्शन क्षणमात्रको भी मिले तो भी यह शान्तिका साधक है।

अर्थप्रदर्शकत्वसे ही प्रामाण्यका सम्बन्ध—ज्ञान ही हितकी प्राप्तिमे और अहितके परिहारमे समर्थ है। पदार्थको हाथसे पा लेना इसका नाम प्रापक नही बताया किन्तु पदार्थका सही ज्ञान हो जाय, जिसमे हितके मार्गकी दृष्टि और अहितके परिहार के उपायकी दृष्टि एकदम स्पष्ट हो जाय वही ज्ञान हितका प्रापक प्रमाण है। यदि प्रवृत्तिको ही प्रमाण कहते हो। क्षणिकवादीसे पूछा जा रहा है, तो क्षणिकवादके प्रभुका ज्ञान प्रमाण है या नही, बतावो ? प्रमाण तो तब माने जब हेय और उपादेय पदार्थमे प्रवृत्ति पहुचे। तो प्रभुका ज्ञान क्या प्रवृत्ति भी करता है ? यदि प्रवृत्ति करता है प्रभु तो वह कृतार्थ नही रहा। उसे कुछ काम करनेका पडा है। कृतकृत्य नही हुआ तो वह प्रभु कैसा ? तो क्षणिकवादियोंने सुगत ज्ञानको कृतार्थ माना है, प्रवृत्ति करने वाला नही माना फिर प्रवृत्तिके अभावमे प्रमाण कहाँ रहेगा। यदि प्रभुके ज्ञानको प्रवृत्ति करने वाला मानते हो तो जरा सोचो तो सही जैसे अन्य लोग आने जाने आदिकी प्रवृत्ति करते है वैसी ही प्रवृत्ति प्रभु करे तो फिर वह प्रभु कहाँ रहा ? तो इससे यह सिद्ध है कि पदार्थकी प्रवृत्ति प्रमाण नही है, किन्तु हितकारी वस्तुके अवगम का नाम प्रमाण है। जो अहितको छुडा सके और हितको ग्रहण करा सके वह प्रमाण है। अच्छा यह बतावो कि जब आत्माको सुख आदिकका सम्वोधन होता है तो उस समय कुछ प्रवृत्तिकी जाती है क्या ? जब आत्मा अपने आपमे आनन्दरूप अनुभव करता है उस समय उसका ज्ञान प्रमाण है या नही, प्रवृत्ति तो कुछ नही कर रहा ? प्रमाण है, इसलिये क्रिया होनेसे प्रमाण हुआ यह अर्थ न लगाना किन्तु पदार्थके यथार्थ ज्ञान होनेका नाम प्रमाण है।

ज्ञप्तिमे प्रवृत्तिका अभाव—प्रश्न ज्ञान ज्ञानमे मग्न होने जाता है तो वहाँ प्रवृत्ति तो हुई ? उत्तर प्रवृत्तिका अर्थ लिया गया है वाह्य क्रियावोका ग्रहण करना पकडना, निकट पहुँचना और जो भी हम काम करना चाहते हैं उस कामको कर ले।

ज्ञानमे मग्न होना यह जो ज्ञानकी बात है। ज्ञानमे ज्ञान मग्न हो गया तो क्या क्रिया प्रवृत्तिकी गई ? ज्ञान ही तो किया। एक यह भाषा है ऐसी कि ज्ञान ज्ञानमे चला गया। चला क्या गया ? प्रकाश ही हुआ। तो ज्ञानका नाम प्रमाण है। और भी देखिये जब हम किसी अनुमान ज्ञानको करते है तो व्याप्तिका ज्ञान करते है। तर्क उठाते हैं। जैसे जहा अग्नि न हो वहा धुवा नही होता इस प्रकारका जो ज्ञान किया वह प्रमाण है वहा कही प्रवृत्तिकी क्या ? प्रवृत्ति कुछ नहीकी। तो प्रवृत्तिके अभावमे भी प्रवृत्तिके विषयभूत पदार्थका प्रकाश कर लेना इसका नाम प्रमाण है। यही ज्ञान है, यही ज्ञानकी प्रमाणता है। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नही है।

अर्थप्रदर्शकत्वमे प्रामाण्य किसी भी पदार्थकी यथार्थ जानकारी हो जाना प्रमाण है, इस सम्बन्धमे यह चर्चा चल रही थी कि हितकी प्राप्तिमे समर्थ होता है प्रमाण। जब हितमे प्रवृत्ति लग जाय तो प्रमाण मानना चाहिए, केवल पदार्थके ज्ञानका नाम प्रमाण न मानना चाहिए, इस विषयमे यह उत्तर दिया है कि प्रमाण तो जानकारीका ही नाम है। रही आगेकी प्रवृत्ति, जैसे प्यास लगी है तो कही जल दिख गया और यह जान लिया कि यह जल है तो यह ज्ञान प्रमाण बन गया। अब उसके पास जायेगा और लोटेसे भरेगा पीवेगा यह बादकी चीज है। प्रवृत्तिका सम्बन्ध इच्छा साधन, प्रयत्न, इनसे है पर प्रमाणका सम्बन्ध तो यथार्थ जानकारीसे है। प्रवृत्ति जिस विषयमे करना है, जिस अर्थका प्रयोग करना है उस पदार्थका उपदर्शन हो जाना, जानकारी हो जाना इसीसे ही ज्ञानमे प्रमाणता मानी जाती है प्रवृत्तिमे नही।

प्रवृत्तिके विषयभूत पदार्थमे शङ्काकारके विकल्प—प्रवृत्ति प्रमाण नही, ज्ञान प्रमाण है, इस बातको सुनकर शङ्काकार अब यह कहता है कि चलो प्रवृत्ति प्रमाणका कारण न सही, प्रमाणका कारण ज्ञान सही, पर वह ज्ञान प्रवृत्तिके विषयभूत अर्थका ही तो है। जो पिया जायगा उसका ही तो ज्ञान किया जा रहा है। तो प्रवृत्तिका विषयभूत पदार्थ भावीकालका है या वर्तमानकालका ? अर्थात् प्रवृत्ति तो भावीकालमे होगी, आगे होगी। उसका विषयभूत जो पदार्थ है वह भी भावी है क्या ? अर्थात् भविष्यकालका है या वर्तमानकालका है ? यदि कहो कि प्रवृत्तिका विषयभूत पदार्थ भावीकालका है तो उसकी प्रत्यक्षसे जानकारी तो होनी न चाहिए, क्योकि वह भविष्यकी चीज है और भविष्यमे इस प्रत्यक्षकी गति नही है। यदि कहो कि प्रवृत्तिका विषयभूत पदार्थ भावी नही अर्थात् दृष्टान्तमे जैसे कि जो पिया जायगा ऐसा पानी भावी नही है, किन्तु वर्तमान है तो प्रवृत्तिका विषयभूत यदि वर्तमान पदार्थ है तो यह भी युक्त नही। वर्तमान पदार्थमे किसी भी अभिलाषीकी प्राप्तिकी प्रवृत्ति नही होती वह तो वर्तमान ही है, जब भावीकालमे होगा उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति है, वर्तमानकी क्या प्रवृत्ति ? जो भोजन करते समय कौर उठानेकी प्रवृत्ति की तो वह मुँहमे नही हैं तभी तो वर्तमान उपभोगमे आने योग्य पदार्थकी प्राप्तिकी

प्रवृत्ति की। उसका यदि अनुभव होता तो उस वर्तमानमे किसीकी प्रवृत्ति ही न होती। कोई भी पुरुष जो न अनुभवमे या रहा उसके ही लिये तो प्रवृत्ति करेगा, अनुभवमे आ रहेकी प्रवृत्ति क्या ?

ज्ञानकी प्रवृत्त्यर्थता व अर्थप्रदर्शकत्वके कारण प्रमाणता—शङ्काकारने प्रश्न रखा, प्रमाणका विषयभूत अर्थज्ञान सिद्ध नही हो सकता, इसके लिए ये दो प्रमाण रखे कि प्रवृत्तिका विषयभूत पदार्थ भावी है या वर्तमान ? भावी है तो उसका ज्ञान नही हो सकता। वर्तमान है तो उसमे प्रवृत्ति नही हो सकती। उत्तर दे रहे है कि अर्थक्रियामे समर्थ जो पदार्थ है वह और और अर्थक्रिया ये प्रवृत्तिके विषयभूत है। अर्थक्रिया प्रमाणका विषय नही है किन्तु अर्थक्रियाका जो विषयभूत पदार्थ है, जैसे पानी पीना है तो उसका विषयभूत है पानी, सो पानीका जो ज्ञान है वह प्रमाण है। पानी कोई पी सके चाहे न पी सके लेकिन अर्थज्ञान तो प्रमाण हो ही जाता है। अर्थक्रिया जरूर भविष्यमे है पर अर्थक्रियाका विषयभूत जो पदार्थ है वह तो वर्तमानमे स्पष्ट है इसलिए पदार्थका ज्ञान हो जाना ही प्रमाण है पदार्थ अगर प्रत्यक्षमे आ गया है, ज्ञान हो गया है तो वह ज्ञान तो प्रवृत्तिके लिये है। जिसमे हमारा हित है और जिसमे हमारा हित दूर होता है ऐसे पदार्थकी जानकारी हो जाना ही प्रमाण है।

ज्ञानकी प्राप्तिमे हित प्राप्ति व अहितका परिहार—मिथ्यादृष्टि भी किसी अहितकारी पदार्थसे भी रुचि रखता है, लेकिन उसकी दृष्टिमे वह अहितकारी नही है। जितने भी ज्ञान जिसके होते है जानने वालेके ज्ञानमे उस समय उसमे हित माना जा रहा है और अहितका परिहार माना जा रहा है। चाहे उसका फल कैसा ही हो। ज्ञानकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसमे हितप्राप्ति और अहितका परिहार होता है। कोई मिथ्यात्व आशयसे कलुषित हो और कुछसे कुछ माने तो ज्ञानियोकी दृष्टिमे तो अप्रमाण है, किन्तु उसकी दृष्टिमे तो प्रमाण ही है।

प्रमाणताकी व्यवस्था—इस सम्बन्धमे एक बात और समझनेकी है कि प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था बाह्य पदार्थोकी दृष्टिसे है, भीतरी ज्ञानकी दृष्टिमे नही है। अर्थात् अगर अन्तरङ्ग ज्ञेयाकारकी दृष्टिसे प्रमाणकी व्यवस्था की जाय तो अप्रमाण कुछ है ही नही। जो जान रहा है वह अपनी जानकारीमे अपने विकल्पसे सही जान रहा है। उसकी दृष्टिमे अप्रमाण कुछ नही है, पर जैसे यहा ज्ञेयाकार झलक रहा है इसी प्रकार पदार्थ भी है या नही है उसके अनुकूल पदार्थ भी मालूम पडे तो प्रमाण है और न मालूम पडे तो अप्रमाण है। जैसे सीपको चादी जिसने समझ लिया उसकी दृष्टिमे तो वह प्रमाण है। वह तो जान रहा है कि चादी है किन्तु जैसा जाना गया है वैसा वह पदार्थ नही है इस कारण वह अप्रमाण की व्यवस्था अन्तरङ्ग ज्ञेयाकारके कारण नही है किन्तु जैसा जाना है वैसा पदार्थ हो तो प्रमाण है और नही है तो अप्रमाण है। इस दृष्टिसे जरा प्रभुके केवल एक ज्ञानको तो देखिये केवल ज्ञानका

न प्रमाण कह पाते न अप्रमाण कह पाते। हां जब कहा प्रमाण और अप्रमाणकी चर्चा यह तो है इस कारण हम उसे प्रमाण कहते है, पर वहा कभी अप्रमाण कुछ होता ही नही है। जिस ज्ञानमे कभी अप्रमाणता होनेकी सम्भावना हो और फिर प्रमाण करना जाय तो प्रमाणकी बात सिद्धकी जाती है। जहा केवल एक अन्तरङ्ग ज्ञान-स्वरूप ही झलक रहा है और सदा एकसा है तो उसमे प्रमाण है उसमे प्रमाण और अप्रमाणकी क्या खोजकी जाय ?

प्रवृत्ति हुए बिना प्रवृत्तिमे समर्थ अर्थके अनागमपर प्रश्न — यथार्थ ज्ञानकारी है सो ही प्रमाण है और वह जानकारी प्रवृत्तिके लिए होती है इसलिये प्रवृत्ति चाहे कभी भी हो अथवा न भी हो किन्तु पदार्थका जो यथार्थ प्रकाश हो गया है, अर्थक्रियामे समर्थ जो पदार्थ प्रतिभास हुआ है उस ज्ञानका नाम प्रमाण है। यहा एक प्रश्न और रखा जा रहा है कि जब कार्य न देखा जा सका तो हम यह कैसे कह सकते है कि यह पदार्थ उस कार्यमे समर्थ है ? फिर हम प्रमाण कैसे माने और प्रवृत्ति कैसे करे ? जैसे जलका ज्ञान करके वह जल ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति करेगा तो शङ्काकार यह कहता है कि जल ग्रहणकी प्रवृत्ति करेगा यह तो आप कहते हो मगर वह कार्य अभी तो नही दिख रहा। तो जब कार्य नही दिख रहा तो तुम यह कैसे निर्णय कर लोगे कि यह जल प्यास बुझानेमे समर्थ है ? प्रश्नकार कुछ भी प्रश्न कर सकता है, उसको तो खण्डनकी दृष्टि है कि इसकी बात खण्डित न हो। इस प्रकरणमे यह कहा जा रहा है कि जैसे जलका ज्ञान हुआ तो जल ज्ञानमे यह सब ज्ञान बसा हुआ है, इससे प्यास बुझेगी मैं प्यास बुझाऊँगा यो प्रवृत्ति करूँगा। तो प्रवृत्तिका विषयभूत है वह पदार्थ। प्रश्नकार यह कह रहा है कि प्रवृत्ति तो वर्तमानमे तो है नही पीना जल ग्रहण करना यह वर्तमानमे तो है नही। तो जब वर्तमानमे कार्य नही देखा जा रहा है तो यह ज्ञान कैसे हो सके सही कि यह प्यास बुझानेमे समर्थ है ?

अर्थकी अर्थक्रियासमर्थताकी प्रतीति— उत्तरमे कहते है कि ऐसी बातका क्या प्रश्न करना, यह तो मनुष्यको क्या पशुवो तकको भी प्रत्यय है। जैसे ही उन्हे दीखा कि यह जल है तो उसी ओर पशु चल देते हैं। तो ज्ञान होनेके साथ ही उन्हें यह विश्वास है कि यह पानी है और यह प्यास बुझानेमे समर्थ है। फिर अनुभव से, स्मरणसे, युक्तियोसे अनेक ढङ्गसे सिद्ध होता है कि यह पदार्थ अमुक प्रयोगमे आया करता है। तो अर्थका परिज्ञान होनेपर पशुवोकी भी उसमे प्रवृत्ति चलती है। उन तकको भी स्पष्ट बोध है और फिर यह तो सब लोग जान ही रहे कि जबरदस्ती का प्रश्न किया जा रहा है समझते हुए भी।

ज्ञानकी हितप्रापकता — जो प्रवृत्तिका विषयभूत पदार्थ है उस पदार्थका ज्ञान हो जाना इसका नाम प्रमाण है और अर्थक्रिया करनेमे समर्थ जो पदार्थ है उस पदार्थका ज्ञान हो जाना ही हितका प्रापण है अर्थात् प्रमाण हितकी प्राप्तिमे समर्थ है,

उसका यह अर्थ है कि जिसमे हमारी प्रवृत्ति होनेसे हमारा हित होगा उस प्रकारका ज्ञान हो गया यह हितमे लगा देनेकी बात है और अहितका परिहार भी वही है जो हमारा इष्ट नही है, अनिष्ट प्रयोजन है उसका यह साधक पदार्थ है। ऐसा ज्ञान हो जानेका नाम अहितका परिहार है। इस कारण यह ज्ञानक प्रमाणका स्वरूप अबाधित है कि हितकी प्राप्तिमे और अहितके परिहारमे समर्थ और बिना व्यवधानके पदार्थके स्वरूपका प्रकाशक जो ज्ञान है वह ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नही है।

अज्ञानके प्रामाण्यका निराकरण—अनेक दार्शनिक तो अज्ञानको ही प्रमाण मानते है। कारकसाकल्य, सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, ज्ञातृव्यापार आदिक अनेक अज्ञानोंको ही प्रमाण मानते है। अज्ञान प्रमाण नही है क्योकि हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारकी सामर्थ्य अज्ञानमे नही बसी है। यदि अज्ञान ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करदे तो ज्ञानकी कल्पना व्यर्थ ही हो जायगी। फिर ज्ञान क्या चीज रही ? फिर तो जो पदार्थ चेतन नही है वह भी प्रमाण करता रहे, फिर जीव अजीवकी व्यवस्था ही क्या रहेगी ? अज्ञान प्रमाण नही है, इसमे मिथ्या ज्ञान की बात नही कही जा रही, किन्तु अचेतन स्वभाव वाला पदार्थ प्रमाण है ऐसा मानते है कुछ दार्शनिक। जैसे लोकव्यवहारमे कोई पूछता है कि इस घटनाको प्रमाण क्या है ? इस मकानके तुम अधिकारी हो इसका सबूत क्या है ? तो वह रुक्का, दस्तावेज या रजिस्टर्डपत्र दिखा देता है, कहता है लो यह है प्रमाण ! तो हम पूछते है कि ज्ञानरहित कागज, स्याही वगैरह प्रमाण है क्या ? उनका आश्रय करके जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण है, लेकिन लोग ज्ञानकी बात तो छुवेगे नही और कहेगे देखो यह है प्रमाण ! तो ऐसे ही कुछ दार्शनिक कारकोके समूहका नाम प्रमाण कहते इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्ध होनेका नाम प्रमाण कहते। इन्द्रियां टिमटिमा गयी, नेत्र खुल गए, ऐसी इन्द्रियकी चेष्टाको प्रमाण कहो तो इस प्रकार अज्ञान प्रमाण नही हो सकता। जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ है ऐसा ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रथम सूत्रमे इतने शब्द कहे गये थे कि स्व, अपूर्व अर्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान और प्रमाण, इनमे प्रमाण शब्दकी विवेचना तो प्रथम सूत्रमे ही कर दी और ज्ञानका समर्थन इस द्वितीय सूत्रमे किया। अब व्यवसायात्मक शब्दका निरूपण इस तृतीय सूत्रमे कर रहे है।

तन्निश्चयात्मक समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥ ३ ॥

व्यवसायात्मकज्ञानकी प्रमाणताका समर्थन—वह ज्ञान अथवा प्रमाण निश्चयात्मक है क्योकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका विरोधी होनेसे अनुमानकी तरह। जैसे हम साधनको निरखकर साध्यका ज्ञान करते है तो वह अनुमान हमारा

प्रमाण है क्योंकि उसमे सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय नही है । इसी प्रकार जितने-जितने ज्ञान और प्रमाण है वे निश्चयात्मक हैं क्योंकि उनमे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नही होते हैं जो जो सशय, विपर्यय, अनध्यवसायका विरोधी ज्ञान है वह सब प्रमाण है । ऐसी जानकारी जिसमे सशय विपर्यय व अनध्यवसाय नही है वह निश्चयात्मक है और प्रमाण है । अनेक कोटियोमे प्रवृत्ति करने वाला ज्ञान सशय कहलाता है । विपर्यय-पदार्थ है और भाति, मान लिया और भाति यह विपर्यय है । और, पदार्थके सम्बन्धमे कुछ भी निश्चय न होना, थोडा सा ज्ञान होनेके बाद उसके निर्णयकी आकाक्षा तक भी नही रहे वह है अनध्यवसाय ज्ञान। तो इन तीनो ज्ञानो का जो विरोधो है वह तो निश्चयात्मक ही होता है । ये तीन ज्ञान यथार्थ निश्चयात्मक नही है । तो ज्ञान प्रमाण है, निश्चयात्मक होनेसे, सम्यग्ज्ञान होनेसे, विसम्वादरहित होनेसे, निश्चयका कारण होनेसे ।

परनिरपेक्षज्ञानकी प्रमाणता—प्रमाण वह ज्ञान होता है जिसके लिये परकी अपेक्षा करना न पडे । मेरा ज्ञान सही है या नही है ऐसी जानकारीके लिये यदि हमे कुछ और ज्ञान ढूँढना पडे तो यह ज्ञान प्रमाण नही रहा ? वह ज्ञान प्रमाण होता है जो अपना कार्य करनेमे परसे निरपेक्ष है और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करने वाला है वही ज्ञान प्रमाण होता है । ऐसा कहनेमे क्षणिकवादियोके द्वारा माना गया निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणभूत नही है यह ध्वनित होता है ।

अव्यवसायात्मक ज्ञानकी प्रमाणताका पक्ष--पहिले ज्ञानको प्रमाण सिद्ध किया था । उसपर क्षणिकवादी खुश हो गये थे कि हम भी अज्ञानको प्रमाण नही मानते । ज्ञान ही प्रमाण है लेकिन वह ज्ञान निर्विकल्प हो, तब वह प्रमाण है, सविकल्प ज्ञान प्रमाण नही है । ज्ञान दो प्रकारके होते है क्षणिकवादमे । एक सविकल्प ज्ञान और एक निर्विकल्प ज्ञान । सविकल्प ज्ञानको मिथ्या माना और निर्विकल्प ज्ञानको उन्होने सही माना, पर निर्विकल्पका अर्थ क्या ? और सविकल्पका अर्थ क्या ? सो सुनो ! उनके सिद्धान्तमे सविकल्पका अर्थ तो यह है कि पदार्थका प्रतिभास हुआ तो वह विकल्प वन गया आकार वन गया । वह तो मिथ्या है क्योंकि ये पदार्थ ही सव क्षणिक हैं । जिस समय ये पदार्थ हैं असली उस समयमे ज्ञान नही जगा और जव वह पदार्थ मिट गया है तव ज्ञान वना तो ज्ञान पदार्थका आकार ग्रहण करेगा तो वह झूठा ही करेगा । जितनी भी जानकारिया हैं—यह अमुक साहव वैठे, यह चौकी है, यह जीव है, जो कुछ भी प्रतिभासमे आया वह सव सविकल्प ज्ञान है, ऐसा क्षणिकवादियोने कहा है । और उस ज्ञानसे पहिले जिसमे कि पदार्थोंका आकार प्रतिविम्वित हुआ है उससे पहिले तो निराकार ज्ञान हुआ वह प्रमाण है ।

निर्विकल्प ज्ञानका आलोचन- अव देखिये तथ्य, निराकार निर्विकल्प ज्ञानसे तो प्रमाणकी व्यवस्था नही वनती । कुछ जानकारीमे आया तव तो प्रमाण

प्रदेश मात्र क्षेत्र है। एक एक समयका ही अर्थ है व निरंश अंशमात्र भाव है। इस निरंशवाद सिद्धांतके अनुसार ज्ञान भी परमार्थसे निरंश, निर्विकल्प होता है, जिस ज्ञानमे निश्चय रहता है। उसमे निरंशता नही है। निर्विकल्पता नही है। वह सचयात्मक है इस कारण प्रमाण भी नही है। प्रथम व द्वितीय सूत्रमे ज्ञानको प्रमाण सिद्ध किया है वह तो ठीक ही है। ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, किन्तु जो ज्ञान निर्विकल्प है वह ही सत्य है प्रमाण है, सविकल्प ज्ञान तो सवृत्तिमन्य है। रूढिवश सत्य है। ऐसा सिद्धातपक्ष क्षणिकवादने रखा है। यह पक्ष निश्चयात्मक नही है तथा ज्ञान कोई भी स्वरूपत निर्विकल्प नही होता, ज्ञानमे अर्थप्रतिभास होता ही है। जो प्रतिभास व्यवसायात्मक नही है वह भी प्रमाण नही है। इससे यह ही प्रमाणित है कि स्व व अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।

परज्ञानापेक्ष ज्ञानकी अप्रमाणता —जो ज्ञान प्रमाण होता है वह ज्ञान स्वय प्रमाणपनेमे समर्थ है। जो ज्ञान स्वय प्रमाणपनेमे समर्थ नही होता, जिस ज्ञानकी प्रमाणताके लिये दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा हो वह ज्ञान प्रमाण नही है। यहा क्षणक्षय सिद्धातमे दो प्रकारके ज्ञान माने है—निर्विकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान तो वे सब है जिनमे जानकारी बनी है, पदार्थका प्रतिभास हुआ और निर्विकल्प ज्ञान ऐसा है कि जिसमे जानकारी कुछ नही, जिसमे कोई निश्चय ही नही हो सकता कि क्या जाना, ऐसा जो एक आनुमानिक प्रतिभास है वह निर्विकल्प ज्ञान है। तो वह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही हो सकता क्योंकि उस निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण सिद्ध करनेके लिये उस निर्विकल्प ज्ञानके बारेमे फिर और अनुमान करना पडता है तो जिस ज्ञानके साधनोमें और ज्ञानकी जरूरत पडे वह ज्ञान प्रमाण नही होता। जैसे हमने किसी पदार्थको जाना सशयज्ञान उठा तो सशयज्ञान प्रमाण क्यो नही है कि सशयज्ञानमे और निश्चय बनाने के लिये कि आखिर क्या है ? एक दूसरी जिज्ञासा पैदा करते है, दूसरा ज्ञान हम सोचते है कि आखिर यह सीप है या चाँदी है, क्या है ? उसके निर्णयके लिये हम एक नई आकाक्षा बनाते है इस कारण सशय प्रमाण नही है। तो जब निर्विकल्प ज्ञानके स्वरूपका निश्चय करनेके लिये अनुमान प्रमाण बनाना पडा तो निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही है।

निर्विकल्प ज्ञानकी सिद्धिमे परापेक्षता—यह नीला है, यह पीला है आदिक पदार्थोंमे जो कुछ भी विकल्प हुआ वह तो क्षण भरमे नष्ट हो जाता है क्षणिक सिद्धात मे। तो क्षण भरमे जिसका क्षय हो जाता है तो उसको सिद्ध काहेसे करेंगे ? अनुमान प्रमाणसे। तो अनुमानकी उपेक्षा होनेसे ये निर्विकल्प ज्ञान अप्रमाण हो गए। किसी भी पदार्थको जाननेके लिये उनका अनुमान ही समर्थ है। एक एक समयमे पदार्थ उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता तो उस पदार्थका प्रत्यक्ष भी न की तरह है। फिर उसको सिद्ध करनेके लिये अनुमान बनाया जाता है। प्रत्यक्ष तो प्रमाण नही रहा। अनुमान

भी यो बनाते हैं कि जगतके समस्त पदार्थ क्षणिक है सत् हंनेसे। जो जो सत् होते है वे सब क्षणिक हंते है ऐमा उनका अनुमान है और इस अनुमानसे निर्विकल्प ज्ञान और उसके विषयकी सिद्धि करते है तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण नही रहा यह सिद्ध करते है। जिस ज्ञानमे निश्चय न हो तो निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण नही है। प्रथम सूत्रमे ये ही तो शब्द दिये थे स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। तो क्षणिक वादियोका निर्विकल्प ज्ञान निश्चयात्मक तो होता नही। उस ज्ञानमे कुछ अर्थका प्रतिभास भी नही होता, कुछ जानकारी ही नही फिर प्रमाण कैसा ?

निर्विकल्प ज्ञानकी प्रतीतिका अभाव– स्याद्वादमे जिसे दर्शन कहा है करीब उस प्रकारसे क्षणवादमे निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणभूत माना गया है। तो उस ज्ञानकी सिद्धिमे उस विषयकी सिद्धिमे अनुमानकी अपेक्षा पडी है। तो जहाँ दूसरे व्यापारकी अपेक्षा रहे वह अप्रमाण है। जैसे सन्निकर्ष अप्रमाण है, क्योंकि सन्निकर्ष की प्रमाणताके लिए दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा रहती है इसी प्रकार इस निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणताके लिये अनुमानकी अपेक्षा रही। और, दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प ज्ञानका तो किसीको अनुभव भी नही होता। उसमे प्रमाण और अप्रमाणकी चर्चा क्या करे ? इन्द्रिय व्यापारके बाद आपको क्या मालूम पडता है ? स्व और पदार्थ का व्यवसायात्मक यह नीला है यह पीला है यह ज्ञान तो स्पष्ट मालूम होता है। आंखे खोलकर जो हमने जाना उस जाननेमे आपको स्पष्ट क्या आया ? यह नीला पीला यह ही तो अनुभवमे आया, ज्ञानमे आया। निर्विकल्प ज्ञानकी तो प्रतीति ही नही होती।

दार्शनिक क्षेत्रमे अलौकिक तत्त्वके ज्ञानका प्रयास– भैया ! दार्शनिक क्षेत्रमे कुछ ऐसे ढङ्गके मतव्य हैं कि ऐसे अलौकिक तत्त्वकी ओर ज्ञान ले जावो कि जिसमे यहाकी सब सिट्टी भूल जाये, तो अलौकिककी ओर सब गये। जैन सिद्धान्तने भी तो परम शुद्ध निश्चयनयका जो विषय बताया है वह लौकिकतासे तो बहुत दूर है, अलौकिक विलक्षण है और उस परम शुद्ध निश्चयके विषयमे उपयोग जाय, शाश्वत शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे उपयोग जाय तो कुछ समय बाद ऐसा लगेगा कि कुछ भी हमने नही जाना, मात्र आनन्दको अनुभवा, ऐसा निर्भार शून्यका अनुभव बनेगा। तो इस हीकी नकल दार्शनिकोने की है कि इस ओर अपने ज्ञानको ले जावो कि फिर न कुछ रहे, शून्यसा रहे, कुछ भी हाथ न आये। इस प्रकारका उपयोग रहे। तो अब क्षणिकवादमे भी देखिये ! परमार्थभूत तत्त्व एक समय रहने वाला पदार्थ है। वह पदार्थ दूसरे समय ठहरता नही, क्षणिक सिद्धान्त है ना। और, दूसरे समय जब ठहरा नही और दूसरे समयमे हुआ हुये बोध और विकल्पका आकारका जो ज्ञान हुआ वह पदार्थोंकी उत्पत्तिके समयमे तो हुआ नही। तो इस बोधसे उस विकल्पका छूट जाना हुआ सो सत्य नही जाना। वह तो पहिले हुआ था और अब ज्ञान रहे तो वह काल्प-

निक बन गया, तो जितनी भी जानकारियाँ हैं सब क्षणिकवाद सिद्धान्तमे काल्पनिक हैं। जानकारी तो एक समयमें बनती नही। जिस समयमे पदार्थ उत्पन्न है उस ही समयमे पदार्थकी जानकारी आकाररूप आदिक बनते नही, उसमे असख्याते समय लग जाते है। तो एक समयकी बात जाने वह निर्विकल्प ज्ञान है। जाना क्या ? जो भी होना हो वह प्रमाण है बाकी सब झूठ है। तो इस ओर उपयोग ले गए कि जहा न कुछ सा रह जाय।

अव्यवसायात्मक ज्ञानके प्रमाणत्वका प्रयास—भैया ! निर्विकल्प ज्ञान का अनुभाव तो किया, लेकिन निर्विकल्प ज्ञान किसी भी समय किसीको अनुभवमे नही आता। जब भी आखे खुली तो यह नीला है यह पीला है इस प्रकारका आकार यही स्पष्टरूपसे अनुभवमे आता है। चर्चा यह चल रही है कि क्षणक्षयसिद्धान्तमे यह मानते है कि ज्ञान जो होता है वह दो ढङ्गसे होता है। सर्वप्रथम तो निर्विकल्प ज्ञान जिसके विषयका ग्रहण ही नही होता, एक समयवर्ती ज्ञान जिस समय निर्विकल्प ज्ञान हुआ उस समयमे जो पदार्थ है केवल उस समयका ज्ञान होता है। उसका न आकार है, न रङ्ग है, न रूप है न प्रकार है। और, उसके बाद जो आकार प्रकार, रङ्गरूप जाना वह विकल्प ज्ञान है। विकल्पज्ञान अप्रमाण है और निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है। जिसमे जानकारी नही, प्रतिभास नही, व्यवहार नही वह तो प्रमाण है, लेकिन जिसमे व्यवहार है, आकार है, समझ है वह अप्रमाण है। तो ऐसा निर्विकल्प ज्ञान तो किसी भी जीवके अनुभवमे नही आता। जिस ज्ञानकी प्रतीति होती है, विकल्प ज्ञानमे होते हैं, आकारके रूपरङ्ग वस्तुकी प्रतीति होती है, वह ज्ञान प्रमाण माना जाता है। तो निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही किन्तु निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। इस प्रसङ्गमे विकल्पका तो अर्थ करे निश्चय और निर्विकल्पका अर्थ करे निश्चय नही। जिस ज्ञान मे निश्चय नही बना वह प्रमाण है। जिस ज्ञानमे निश्चय है वह झूठा है, ऐसा क्षणक्षय सिद्धान्त है।

निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे एकत्वके अध्यवसायका अनवकाश—यहाँ क्षणिकवादीका कहना है कि मूलमे तो हुआ निर्विकल्प ज्ञान, फिर हुआ सविकल्प ज्ञान। तो निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे जीवको एकत्वका अध्यवसाय हो गया। इस कारण अज्ञानी जीव दोनोको एकरूपमे मानते हैं क्योकि ये दोनो ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं या बडी जल्दी क्रमसे हो जाते है, इस कारणसे इसमे एकत्वका भ्रम हो गया जीवका। और इसी कारणसे निश्चयात्मक ज्ञानमे तो स्पष्टता लगती है जीवको और अनिश्चयात्मक ज्ञानमे जीवको स्पष्टता नही लगती। इसपर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि कभी भी तो विकल्पको छोडकर, निश्चयको छोड कर निर्विकल्प ज्ञानकी किसी भी रूपमे प्रतीति हो, किसीके भी हो तो ऐसा कह सकते हो कि अज्ञानी जनोको निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे एकत्वका भ्रम हो गया,

पर कभी भी प्रतीति नही होती इन दानो ज्ञानो की भेदसे तो फिर एकका दूसरेमे आरोप कैसे कर सकोगे ? क्या भिन्न भिन्न पुरुषोमे भी किसीमे किसीका आरोप कर मकते कि इसका इस आत्मामे एकत्व है ।

निर्विकल्प ज्ञानमे स्पष्टाभता कैसे ?—दूसरी बात यह है कि जिसमे स्पष्टता नही है वह प्रमाण कैसे ? क्षणिकवादी निर्विकल्प ज्ञानको तो स्पष्ट मानते है और सविकल्प ज्ञानको अस्पष्ट मानते है । निश्चयात्मक है उसे तो अस्पष्ट आभा वाला मानते और जिसमे निश्चय नही उसको स्पष्ट आभा वाला मानते । तो जिसका अनुभव आ रहा है उसमे तो स्पष्टता मानते नही और जिसका कभी अनुभव नही आता उस मे स्पष्टता माने तो यह तो परीक्षकपनेकी बात नही रही । जैसा मन आये वैसा कह देनेकी बात हुई ! और, इस तरह यदि माने कि निर्विकल्प ज्ञानमे दूसरे ज्ञानसे स्पष्टता जानी जाती तो अनेक ज्ञान इस हीमे लग बैठेंगे । पदार्थका ज्ञान ही कब होगा ? तो यह भी बात नही बनती कि वे निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान एक साथ होते है इस कारण एकत्वका अध्यवसान है । एक साथ होनेसे यदि उनमे अभेद मान लिया जाय तो कोई बडी लम्बी चौडी कडो पपडिया तेलकी खाये तो उसमे पांचो इन्द्रियोका ज्ञान एक साथ चल रहा है, फिर उनका विषय एक क्यो नही मान लेते ? वहा भिन्न विषय क्यो माना ? तो जैसे वहाँ भिन्न विषय मानते है ऐसे ही यहा भी भिन्न विषय माना । सविकल्प ज्ञान तो सतानको जानता है और निर्विकल्प ज्ञान कुछ क्षणको ही जानता है जहा विषय भिन्न भिन्न है वहाँ एकत्वाध्यवसाय कैसा ?

निर्विकल्प ज्ञानमे परमार्थता व परमार्थ हेतुताके कारणकी खोज—भैया ! यह सब सतान क्षणिक सिद्धान्तमे झूठ है और एक समयमे जो है वही उनका परमार्थ है या यो सीधे रूपमे कह लीजिये कि यदि कोई पुरुष आत्माको अमर मानता होगा तो ससारमे रुलेगा और वह आत्मा एक क्षण रहता है दूसरे क्षणमे नहीं रहता ऐसा निश्चय करेगा तो उसका मोक्ष होगा । इस क्षणिक सिद्धान्तमे इस कल्पनाका कारण भी यह माना जा सकता है कि सतानको यदि कोई सत्य मान ले, जो कल था वही फिर । इसको यदि सत्य मान ले तो उसके विकल्प बैठेंगे और उसको सुख दु खका अनुभव होगा तो ससारमे रुलेगा और केवल यह बात मान ले कि मैं आत्मा अब नही वह रहा यह तो सब नया नया हो रहा तो जैसे आपके किये हुए कामका तो हम फल न भोगेगे न्यारे है हम जरूर कुछ । इसी तरह एक ही देहमे न्यारे न्यारे आत्माका बोध हो जाय तो फिर दु ख न होगा । क्षणिक सिद्धातके समर्थनमे हम अभी कह रहे है । क्या किसीने भोगा यह बात भी उनके लगती है जिनकी सतान पर दृष्टि है ? जो क्षण क्षणका ही दिमाग बनाये उसके भोगना कहा । जो एक क्षण धर्मी आत्मा मानते, दूसरे समयमे वह रहा ही नही ऐसा जिसका दृढ निर्णय है उसमे तो भोगता है ही नही एक समयका भोगना क्या ? भोगना होता है अनेक समयोमे ।

और प्रत्येक समयमें कोई एक चीज होगी नही।

क्षण और सन्तान—क्षण तो परमार्थ है और क्षण क्षणका जो समूह है उसे सन्तान माना गया है। तो जैसे दीपक जल रहा है और उस दीपकके जलते समय उस दीपकमें नवीन नवीन तेलकी बूँदें नवीन नवीन आती है तो वे दीपक तो हजार होगए १ मिनटमे पर वे हजार दीपक सिलसिलेसे बिना व्यवधानके हुएना, हजार बूँदके हजार दीपक। तो बिना व्यवधान उत्पन्न होनेको उनको सतान मानते हैं। परमार्थसे तो एक बूँदका जो उजेला है वह परमार्थ है दृष्टान्तमें बिजलीमें भी जो बिजलीका कमसे कम समय मानते हो बिजलीके जघन्य अंशके जलनेमे। आप चाहे उसे एक सेकेण्डका १००वा भाग रख लीजिये। तो एक बिजली तो सेकेण्डके १००वें भाग वाली है। उसके बाद दूसरे भागमे दूसरी बिजली आयी। अब लगातार वह उजेला जलता रहे तो लोगोको यह भ्रम हो गया कि यह बिजली नही है। बिजली तो १ सेकेण्डमे १०८ यूनिट हो चुकी, अविभागी अंशोकी अविभागी अंशसे ही माप बनती है। तो मापज्ञानका आधार अविभागी पदार्थ होता है। तो अविभागी है एक समयका पदार्थ, वही वास्तविक है, सतान अवास्तविक है। ऐसा क्षणिक सिद्धातका कथन है।

वस्तुमे तात्त्विकता—तात्त्विक बात यह है कि कोई भी सत् हो वह द्रव्य-पर्यायात्मक होता है अर्थात् वह शाश्वत रहता है और उसका प्रति समय कुछ न कुछ परिणमन रहता है। अब इसमे हम परिणमनकी दृष्टि देते है तो प्रत्येक समयके परिणमन एक दूसरेसे भिन्न हैं, किन्तु वे सारे परिणमन एक ही पदार्थके परिणमन है। यदि द्रव्यदृष्टि देते है तो उस दृष्टिमे पदार्थ शाश्वत रह गया। स्याद्वादकी शैलीसे तो आत्माका निर्वाण बुझनेका नाम नही है, किन्तु द्रव्यदृष्टिका विषयभूत जो चैतन्य स्वभावका शुद्ध विकास रह जाना सो निर्वाण है, और क्षणिक सिद्धातमे सतानका खात्मा हो जाना निर्वाण है। जबतक सतान रहती है तब तक ससरण है, ससारमे रुलना है। यदि वह सतान समाप्त हो गया, उस सिलसिलेमे आत्मा उत्पन्न नही हो, बस वही निर्वाण है।

युगपद्वृत्तिसे दोनो ज्ञानोमे एकत्वके भ्रमका निराकरण—प्रकरण यह चल रहा है कि सिद्धान्त तो यह है कि स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, किन्तु इसके विरोधमे क्षणिकवाद यह कह रहा है कि ज्ञान तो प्रमाण है, पर व्यवसायात्मक ज्ञान तो काल्पनिक है वह प्रमाण नही है किन्तु निर्विकल्प, अनिश्चयात्मक, अव्यवसायात्मक सत् मात्र जो निर्विकल्प ज्ञान है वह प्रमाण है। लेकिन निर्विकल्प ज्ञानकी तो किसीको प्रतीति ही नही होती। इस सम्बन्धमे यह कहा जारहा था कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान ये एक साथ हो जाते है इस कारणसे लोगोको एकत्वका भ्रम हो गया और इस कारण निर्विकल्प ज्ञानकी प्रतीति नही चल रही है इसका त निराकरण किया है।

लघुवृत्तिसे दोनो ज्ञानोमे एकत्वका निराकरण अब दूसरी बात यदि

रखी जाय कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान एक साथ तो नही होते, होते तो क्रमसे है किन्तु बहुत जल्दी हो जाते है इस कारण सविकल्प ज्ञानमे और निर्विकल्प ज्ञानमें एकत्वका अध्यवसाय हो गया अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानके बाद सविकल्प ज्ञान होनेके बीच कोई व्यवधान अब नही रहा, समयभेद नही रहा इस कारण एकत्वका भ्रम हो गया। तो इस पर उत्तर देते है कि गधेका शब्द सुना होगा किन्ही लोगोने। गधा जो बोलता है वह श्वास बाहर करते हुएमे भी बोलता है और जब श्वास लेता है उसमे भी वोलता है। जैसे मनुष्य बोलते है तो स्वास जब बाहर होती है तब बोलते है, श्वास लेते हुएमे मनुष्य नही बोल सकते। मनुष्य श्वास बहुत शीघ्र ले लेते है। व्याख्यान देते हुएमे यह पता नही पडता कि बोला तो यह आधा मिनट लगातार तो आधा मिनट तक तो श्वास बाहर चलती रही और केवल रोकते हुए एक सेकेण्ड का आठवा भाग मान लो इतनेमे यह मनुष्य श्वास ले लेता है। और फिर आधा मिनट तक बोलते रहनेमे वह श्वास बाहर निकलता जाता है। तो जब मनुष्य श्वांस लेता है तब बोल नही पाता पर ये गधे तो श्वासको बाहर निकालनेमे भी बोलते है। तो उनकी अब दो आवाजे हो गयी। उन दो आवाजोमे तो अभेद अध्यवसान नही होता। वहा तो निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्पज्ञान होता इसलिये एकत्वका भ्रम बता रहे। वहा भी तो दोनो आवाजे लगातार हुई, उसमे एकत्वका भ्रम क्यो नही हो जाता। भैया ! ज्ञान सब साकार होते निर्विकल्प ज्ञानप्रमाण है, नही, व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है।

ज्ञानकी प्रमाणताका पोषण—यह परीक्षामुखसूत्र नामका ग्रन्थ है। इसकी टीका प्रभाचन्द्र आचार्यने की है, जिसका नाम है प्रमेय कमल मार्तण्ड। उसीके आधार पर यह प्रवचन चल रहा है। चूंकि किसी भी चीजका निर्णय करनेके लिये निर्णय करने वाला ज्ञान भी सही है या नही इसका निश्चय करना आवश्यक है। तो इस ग्रन्थमे ज्ञानकी परीक्षा की है कि कैसा ज्ञान सही होता और कौनसा ज्ञान मिथ्या होता है ? सर्वप्रथम प्रमाणका स्वरूप प्रथम सूत्रमे कहा है कि जो निज और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है। इसपर ज्ञानको प्रमाण न मानने वाले कई सिद्धातोने अपनी बात रखी। किसीने रखी कि पदार्थोका इकट्ठा जुड जाना यह प्रमाण है। किसीने रखा कि इन्द्रियका पदार्थसे भिड जाना यह प्रमाण है। किसीने रक्खा कि इन्द्रियमे हलन चलन व्यापार होना यह प्रमाण है। क्योकि इन्द्रियके हिले डुले विना ज्ञान नही होता। और, किसीने कहा है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है, लेकिन वह आत्मा अचेतन है, वह व्यापार भी अचेतन है। यो अज्ञानको प्रमाण मानने वाले मतव्योको तो निराकृत किया, इसके बाद फिर ज्ञानके प्रामाण्यकी पुष्टि की कि ज्ञान ही वास्तवमे प्रमाण है क्योकि ज्ञानसे ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार होता है। इसपर क्षणक्षय सिद्धान्त यह कह रहा है कि ज्ञान तो प्रमाण है परन्तु निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है सविकल्प ज्ञान प्रमाण नही है।

निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानकी भेदसे उपलब्धि न होनेके कारणके विकल्प—निर्विकल्प ज्ञानका तात्पर्य यह है कि पदार्थ जो है एकक्षणस्थायी तत्त्व या बहुत छोटा समय है, जो जिस क्षणका पदार्थ है उस ही क्षणका प्रतिभास हो जाय उतना ही मात्र निर्विकल्प ज्ञान है और वह प्रमाण है। सविकल्पज्ञानका अर्थ है कि यह नीला है, पीला है, बडा है छोटा है एवं प्रकारकी जानकारी होना इसका नाम है सविकल्प ज्ञान। तो लोकमे प्रमाणकी व्यवस्था तो सविकल्प ज्ञानसे होती है। तो लोकमे प्रमाणकी व्यवस्था तो सविकल्प ज्ञानसे होती है निर्विकल्पमे नही होती, किन्तु यह सिद्धान्त कह रहा है कि निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है सविकल्प ज्ञान अप्रमाण है तो कुछ चर्चायें चलनेके बाद यह पूछा गया कि लोगोंको निर्विकल्पज्ञानकी तो उपलब्धि होती नही। जो कोई भी समझता है पदार्थको समझता है जानकारी होती है। एक क्षणस्थायी ज्ञान और वह भी पदार्थके वर्तमानमे ही ज्ञान बन गया, दूसरे समय ज्ञान न रहे ऐसा ज्ञान प्रमाण है, वह तो किसीको भी प्रतीतिमे नही आता। इसपर क्षणक्षयसिद्धान्तने बताया कि निर्विकल्पज्ञान और विकल्प ज्ञानमे सदृशता है इसलिए उनकी भेदसे उपलब्धि नही होती है कि यह निर्विकल्प ज्ञान है व यह सविकल्प ज्ञान है। तो भेदसे जो उपलब्धि नही होती वह सदृशताके कारण नही होती अर्थात् दोनो ज्ञानोमे सादृश्य होनेसे एक ज्ञानने दूसरे ज्ञानको दबा दिया इस कारण उनकी उपलब्धि नही होती। यदि सदृशताकी वजहसे एकत्वाध्यवसायकी बात कहोगे तो भला निर्विकल्प ज्ञानमे और सविकल्प ज्ञानमे सदृशता है काहे की? क्या एक ही विषय है? इसमे सदृशता है या ज्ञान ही तो निर्विकल्प ज्ञान है और ज्ञान ही सविकल्प ज्ञान है यो ज्ञानरूपता दोनोमे है इस कारण सदृशता है।

निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञानमे एकविषयत्व और ज्ञानरूपत्वके कारण अभेदाध्यवसायका अभाव – निर्विकल्पज्ञान व सविकल्पज्ञानका विषय एक नही, सविकल्पका सामान्य और निर्विकल्पका विषय है क्षण इतना महान विषयभेद है, तो सदृशता कैसे बने? तथ्यकी बात यहां यह है कि ज्ञान जिस क्षण भी होता है कुछ न कुछ आकार, विकल्प जानकारी लेकर ही होता है। और, आकार विकल्प, जानकारी जब बनती है तब कुछ क्षणोका बोध हो? पदार्थ एक ही क्षणमे होता है और उस ही क्षणमे ज्ञान बन जाय, आकार ग्रहण बन जाय यह तो नही हो सकता, क्योकि क्षणवाद यह कहता है कि जितनी जानकारियाँ होती हैं वे सब मिथ्या है, अप्रमाण है, सही विषय हैं ही नही। किसको जानते, किसको जान रहे, वह तो इस जाननेमे पहिले ही नष्ट हो गया। तो सविकल्प ज्ञानने अवस्तुको जाना। जो कोई भी जानता है वह अवस्तुको जानता है। वस्तु तो एक क्षण रहता है उस क्षणमे निर्विकल्प ज्ञान होता है। निर्विकल्प ज्ञानमे आकार नही, विकल्प नही, तरङ्ग नही, बोध नही जानकारी नही। इसपर यह कहा जा रहा कि निर्विकल्प ज्ञानकी तो किसीको भी प्रतीति नही होती है और उसे तुम बताते परमार्थ! सारी जानकारियोको बताते

हो सतान अवास्तविक, काल्पनिक। तो जो निर्विकल्प ज्ञान है उससे हितकी प्राप्ति नही होती, न अहितका परिहार होता। वह तो एक सोचने भरका काल्पनिक ज्ञान मान लिया। जो ज्ञान हितकी प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कराये वह प्रमाण है और वह सविकल्प ज्ञान ही हो सकता है विषय तो एक रहा नही जिससे कि निर्विकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान समान बन जाय। यदि कहो कि ज्ञान वह है, ज्ञान ही यह है इस कारण सादृश्य है तो विकल्पोमे जितनी विविध जानकारिया है, यह नीला है, पीला है तो ये सब भी ज्ञान है फिर ये जुदे-जुदे विषय क्यो है ? तो ज्ञानरूपताके कारण भी वह सदृशता नही पायी जाती है निर्विकल्पज्ञानमे और सविकल्प ज्ञानमे जिससे यह माना जाय कि सविकल्प ज्ञान बलवान है सो उसकी तो प्रतीति है निर्विकल्प ज्ञानकी प्रतीति नही है।

बलवत्ताके कारण एक ज्ञानसे ज्ञानान्तरके अभिभवके हेतु दोनो ज्ञानोमे एकत्वाध्यवसायपर विकल्प—यदि कहो कि एकने दूसरेको दबा दिया इस कारण से निर्विकल्प ज्ञानका अलगसे कुछ बोध नही होता ? तो किसने किसे दबाया ? विकल्प ने अविकल्पको दबाया। सविकल्प ज्ञानने जिसमे जानकारी चल रही है उस ज्ञान ने क्षणिक निर्विकल्प ज्ञानको दबाया ? जैसे सूर्य तारागणोको दबा देता है, यदि ऐसा कहते हो तो हम यदि इससे उल्टा कहने लगें तो इसका उत्तर क्या ? हम कहेगे कि निर्विकल्प ज्ञानने सविकल्पको दबा दिया। यदि यह कहे कि सविकल्पज्ञान बलवान है इस कारण सविकल्प ज्ञान निर्विकल्पको दबा देता है। और लोगोको एक सविकल्प ज्ञानकी प्रतीति रहती व निर्विकल्प ज्ञानकी प्रतीति नही रहती तो भला विकल्प ज्ञान मे बलवत्ता किस बातकी है ? क्या बहुत विषय है विकल्प ज्ञानका इसलिये सविकल्प बलवान है या विकल्प ज्ञान निश्चयात्मक है इसलिये बलवान है ? इस प्रसगमे इतनी बात सुगम शब्दोमे स्पष्ट समझ लो कि सविकल्प ज्ञानका मतलब है जिसकी जानकारी हो रही है और निर्विकल्प ज्ञानसे मतलब क्या है ? जानकारीसे पहिलेका ज्ञान। उसका कुछ अर्थ रहा क्या ? तो सविकल्प ज्ञानको बलवान क्यो बताया ? बहुत विषय होनेसे या निश्चयात्मक होनेसे।

सविकल्पज्ञानकी स्वसिद्धान्तसे ही बहुविषयताका विरोध—यदि बहु विषय होनेसे सविकल्प ज्ञानको बलवान कहते हो तो ज्ञानके तो बहुत विषय है ही नही। सविकल्पज्ञान निर्विकल्पविषयको ही जानता है ऐसा इनका कहना है। जैसे जैन सिद्धान्तमे पहिले तो दर्शन होता, पीछे ज्ञान होता। तो दर्शनके मानिन्द इन्होने माना है निर्विकल्प ज्ञान और ज्ञानके मानिन्द माना है सविकल्प ज्ञान। निर्विकल्प दर्शन होता, सविकल्प ज्ञान होता और इस सिद्धान्तमे ज्ञान ही दो किस्मके है निर्विकल्प सविकल्प, और साथ ही यह मानते कि सविकल्प ज्ञान नई चीजको नही जानता किन्तु निर्विकल्पने जो जाना उसे ही जानता है। निर्विकल्पने जिस पदार्थके सम्बन्धमे जाना

उसे स्पष्ट करने वाला है सविकल्प ज्ञान। जरा क्षणक्षयाभित ज्ञानोका स्वरूप समझने के लिये तुलना करते जाइये। जैन सिद्धान्तमे दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और जिस पदार्थके ज्ञानके लिये दर्शन हुआ है उस ही पदार्थका ज्ञान होता है। तो उनकी तरह कुछ-कुछ यो कह लो कि दर्शनमा जिसने दर्शन किया ज्ञान उसका ज्ञान करता है। इस ही तरहसे निर्विकल्प ज्ञानने जिस क्षणको जाना उस ही के सम्बन्धमे सविकल्प ज्ञान अपनी स्पष्ट जानकारी करता है। तो सविकल्प ज्ञानका वह विषय कहा रहा बल्कि निर्विकल्प ज्ञानके बहुत विषय हो गए। और, सविकल्प ज्ञानका तो एक ही विषय रहा। निर्विकल्प ज्ञान ने जिसे जाना उसका ही बढावा करना विकल्प ज्ञानका काम हुआ। यदि निर्विकल्प ज्ञानके विषयको छोडकर अन्य कुछ विषय है सविकल्प ज्ञानका तो अगृहीत अर्थका ग्राही बन गया विकल्प ज्ञान। तो वह सविकल्प ज्ञान एक प्रमाण ही बन गया। तो बजवान तो कुछ रहा नहीं निर्विकल्प ज्ञान तुम्हारे मत से एक स्वतंत्र हुआ, सविकल्प ज्ञान स्वतंत्र हुआ, पर निर्विकल्प ज्ञानकी लोगोको क्यो प्रतीति नही होती ?

क्षणवादमे निर्विकल्प ज्ञानका मन्तव्य—देखिये क्षणवादका भी निराकरण यो ही जल्दी नही हो जाता, इतनी बडी दृष्टि लगाकर सिद्धान्त दिखाया है उनका मतव्य है कि समस्त वस्तुओका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब कुछ अखण्ड भिन्न है अर्थात् भेदकर करके जो आखिरी परभाव है वही वास्तविक तत्त्व है। समयमे घटेमे ६० मिनट होते है, १ मिनटमे ६० सेकेण्ड होते, यो अनेक निरश अश होगे वहा निरश समय परमार्थ पदार्थमे है ?जो भी दिखता है इसके टुकडे और टुकडे होते। यो अश होते होते जो आखिरी अश होगा अणु मात्र वह परमार्थ है, बाकी सब झूठे है। आत्मा नाम है ज्ञानका। जैसे उस द्रव्यमे यह पिण्ड है ऐसे ही ज्ञानके पिण्ड हैं। हमने समझा कि यह भीट है तो भीट एक अखण्ड परमार्थ नही, भीट तो परमार्थभूत अणुवोका पिण्ड है। यो भीटका ज्ञान हुआ, इस ज्ञानमे अनगिनते ज्ञानोका पिण्ड बना तब जाननेमे आया कि भीट है। जैन सिद्धान्त भी कहता है कि उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक प्रवर्तता है, उससे छद्मस्थोकी जानकारी होती है एक समयके उपयोगकी प्रवृत्तिसे तो सर्वज्ञता का ही ज्ञान होता है और छद्मस्थ जीव अन्तर्मुहूर्तके ज्ञानक्षणोसे उपयोग बनता है। तो जितनी हम लोगोकी जानकारिया हैं वे सब ज्ञान पिण्ड हैं। क्षणिकवाद यह कहता कि वह ज्ञान पिण्ड भी तो काल्पनिक है, मिथ्या है, उन ज्ञान पिण्डोका विभाग करते जावो, आधा ज्ञान छोडा, फिर आधा ज्ञान छोडा, फिर जहा अविभागी ज्ञान होगा, वही वास्तविक ज्ञान है, वही प्रमाण है। और यह सविकल्प ज्ञान तो जैसे इन भौतिक पदार्थोका पिण्ड बन गया है यह वास्तविक नही है, उनमे रहने वाले अणु वास्तविक है, इसी प्रकार जो जानकारी बनती हैं उनमे एक ज्ञानक्षण जो है वह प्रमाण है। सविकल्प ज्ञान क्षणोका पिण्ड तो ज्ञान है तो सविकल्प ज्ञान अवास्तविक है।

सविकल्प ज्ञानका आलोचन - इस प्रसङ्गमे कहा जा रहा कि जो एक

क्षणका ज्ञान है उसमे प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था हो नही सकती है। प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था तो जहाँ पदार्थका स्पष्ट बोध होता वहाँ चलती है। तुम्हारा निर्विकल्प ज्ञान रहे तो रहे हम उसे प्रमाण नही कह सकते। यो तो प्रत्येक पदार्थमे जितने परिणमन होते है जो स्पष्ट परिणमन है वे अनगिनते पदार्थोके पिण्ड हैं एकसमयवर्ती परिणमनको कौन जानता है ? ऐसे ही एक समयके ज्ञानसे प्रमाण व्यवस्था नही होती यह ज्ञान हितप्राप्तिमे अहितपरिहारमे समर्थ नही है इस कारण व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणभूत है। तो यह जो कहा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञानने निर्विकल्प ज्ञानको दबा दिया इसलिए सविकल्प ज्ञान प्रतीतिमे नही आता है निर्विकल्प ज्ञान प्रतीतिमे नही आता। तो बतावो क्यो दबा दिया ? क्यो बलवान है ? यह सविकल्प ज्ञान बहुतविषय वाला तो रहा नही वह।

निश्चयात्मकताके कारण सविकल्प ज्ञान द्वारा निर्विकल्प ज्ञानके अभिभवका अभाव—यदि कहो कि सविकल्प ज्ञान निश्चयात्मक है इस कारण इस ज्ञानने निर्विकल्प ज्ञानको दबा दिया। निश्चय तो सविकल्प ज्ञानसे होता है निर्विकल्प मे तो नही होता। तो यह बतलावो कि सविकल्प ज्ञान स्वरूपमे निश्चयात्मक है या पदार्थमे निश्चयात्मक है ? अर्थात् सविकल्पज्ञान स्वरूपका निश्चय कराता है या पदार्थ का निश्चय कराता है ? सविकल्प ज्ञान यदि अपने स्वरूपका निश्चय करता है तो क्षणक्षयसिद्धान्तमे ही यह भी माना है कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूपमे निर्विकल्प रहता है अर्थात् स्वरूपमे निश्चयात्मक होता नही है। कोई भी ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चय नही करता ऐसा भी इसी सिद्धान्तमे कथन है। तो स्वरूपमे निश्चयात्मक तो रहा नही। अगर सविकल्प ज्ञान किसी पदार्थका निश्चय कराता है तो अब सविकल्प ज्ञानमे दो स्वभाव जुड गए। स्वरूपका तो निश्चय कराता नही और पदार्थका निश्चय कराता है सविकल्प ज्ञानमे दो स्वभाव आ गए। देखो यह चर्चा चल रही है अपने आपकी खुद की। हम आप जो जानते हैं वह जानन किस ढङ्गका होता है उस सम्बन्धमे कुछ लोग क्या मानते है इस अपने ज्ञानकी चर्चा चल रही है। और उपयोग विशुद्ध करके सुनो तो क्षयोपशम तो सबके ही है कुछ न कुछ अवश्य समझ मे आयगा कि इस ज्ञानके बारेमे लोग क्या-क्या धारणा रखते हैं। एक बात और है विरोधकी धारणाका पता होनेसे विषय मँज जाता है। किसी चीजमे क्या-क्या खराबी हो सकती हैं इसका पता होनेसे चीजका पूरा ज्ञान होता है। प्रमाणके स्वरूपमे कौन दार्शनिक कैसा स्वरूप मानता है ? यह जानकारी बन जानेसे अपने आप मे ज्ञानका स्पष्ट निर्णय हो जाता है।

सविकल्प ज्ञानके निश्चयात्मकत्वके विकल्प व प्रतिविकल्प- अब यह कहा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञान अर्थका निश्चय करता है स्वरूपका निश्चय नही करता। तो ज्ञानमे दो स्वभाव हो गए स्वरूपका निश्चय न करना और पदार्थका

निश्चय करना। साथ ही गुरा करने जाइये —जब कि स्याद्वादने ज्ञानको स्वपर-निश्चयात्मक बताया। ज्ञान अपने स्वरूपका भी निश्चय करता है और पदार्थका भी निश्चय करता है। जैसे दीपक अपना भी प्रकाश करता और पदार्थका भी प्रकाश करता। पर, कोई सिद्धान्त तो ऐसा मानते है कि पदार्थका निश्चय करता है, स्वरूप का निश्चय नही करता। लेकिन जो पदार्थका निश्चय करता वह स्वरूपका निश्चय किये बिना पदार्थका निश्चय कर नही सकता है। जो स्वरूपका निश्चय करे वह पदार्थके ज्ञेयाकारके ग्रहण बिना स्वरूपका निश्चय नही करता। यह ज्ञानकी सामान्य विशेषात्मक प्रकृति है। सो अब सविकल्प ज्ञानमे दो स्वभाव पड गए। स्वरूपका निश्चय न करना, पदार्थका निश्चय करना इस तरह ये दो स्वभाव हुए और एक स्वभाववान हुआ, तो ये तीनो परस्पर भिन्न हैं कि अभिन्न है।

क्षणक्षयके मन्तव्यमे सविकल्प ज्ञानके निश्चयात्मकत्वकी भी असिद्धि —अब यहा तीन चीजे आ गयी स्वरूपका निश्चय पदार्थका निश्चय और सविकल्प ज्ञान। इन तीनोमे परस्पर भेद है या एक बात है ? यदि भेद है तो सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता। क्षणिकवादने तो समवाय आदि कोई सम्बन्ध नही माना, क्षणिकवाद प्रत्येक चीजको बिखरा बिखरा ही मानता है। वहा सयोग माना सो सयोग भिन्न पदार्थोंका ही होता, सो सम्बन्ध भी गया। सम्बन्ध न बना तो फिर यह कहना असिद्ध है कि विकल्प बलवान है निश्चयात्मक होनेसे। यदि कहे कि वे दोनो स्वभाव माने स्वरूपका निश्चय नही करना, पदार्थका निश्चय करना और सम्यग्ज्ञान ये तीनो अभिन्न हैं तो एक ही बात रही। या स्वभाव रहा या स्वभाववान रहा। कथञ्चित तादात्म्य मानते हो अर्थात् स्वरूप और पदार्थ इनका व ज्ञानका तादात्म्य है तो अर्थके सम्बन्धमे तो विकल्प बन गया, ज्ञान निश्चयात्मक बन गया। ज्ञानका जब तादात्म्य है तो स्वरूपका निश्चयात्मक क्यो न बन जाय ? पदार्थका ही निश्चयात्मक क्यो रहा, अन्यथा तादात्मय नही रहा।

ज्ञानमे स्वरूपनिश्चयके बिना अर्थ निश्चयकी असभवता—भैया ! सीधीसी बात है स्वरूपका जो निश्चय नही कर सकता ऐसा ज्ञान पदार्थका भी निश्चय करने वाला नही बन सकता। यदि स्वरूपके निश्चय बिना, स्वरूपका ग्रहण किये बिना पदार्थका निश्चय करले ज्ञान हो तो स्वरूप तो ग्रहण किया नही, तो यह भेद कैसे रहा कि अमुक पदार्थको ही जाना, अमुकको नही जाना ? सारे ज्ञान एक साथ हो जायेंगे। अग्रहीत स्वरूप वाले भी ज्ञान अर्थका ग्रहण करने वाले हो जायें, किन्तु ऐसा है नही, उन्होने भी माना, सबने माना कि ग्राहकका अनुभव हुए बिना ग्राह्य अर्थात् पदार्थका सवेदन नही होता ग्राहक अर्थात् ज्ञान ग्राह्य—पदार्थ, क्या ऐसा दीपक देखा जो खुद प्रकाशरूप न हो और दूसरे पदार्थोंको प्रकाश किया करे। जलते हुए दीपकको लानेके लिये क्या कोई यह कहता है कि हमे दूसरा दीपक जलाकर देदे तब वह दीपक

ढूढ लाये ? अरे उस दीपकको खोजनेके लिये अन्य दीपककी क्या आवश्यकता है। इसी प्रकार जो भी ज्ञान होता हे वह ज्ञान स्वय ज्ञान स्वरूप है, पदार्थका ग्रहण करनेके साथ ही साथ अपनेको ग्रहण करता रहता है। स्वरूपके निश्चय बिना पदार्थका निश्चय हो नही सकता। तो यदि स्वरूपका निश्चय उस ही ज्ञानसे नही मानते तो क्या अन्य ज्ञानोसे मानते हो ? तो उस ज्ञानके स्वरूपका निश्चय अन्य ज्ञानोसे हुआ। यो तो अनवस्था दोष हो गया। ज्ञान स्वय स्वका प्रकाशक है और पदार्थका प्रकाशक है और जो स्वपर पदार्थका प्रकाशक है, निश्चयात्मक है वही ज्ञान प्रमाण हे। अव्यवसायात्मक निर्विकल्पज्ञान प्रमाण नही है।

पदार्थकी गुणपर्यायात्मकताके मन्तव्य बिना विसवाद—भैया ! द्रव्य गुणपर्यायात्मक होते हैं या यो कहिये कि पदार्थ द्रव्य गुणपर्यायात्मक होते हैं। उसमे से केवल पर्यायको ही सर्वस्व अर्थ मान लेनेपर क्षणिकवादकी उत्पत्ति हुई है और तब कुछ आपत्ति आयी कि जब आत्मा सब भिन्न भिन्न नये-नये, अलग-अलग ही है तो कलका स्मरण बना रहता है इसका क्या कारण है ? तो उसका कारण बताया है सतान। एक सतानमे जितने आत्मा हुए है उन आत्मावोको अपने पूर्ववर्ती आत्माके किए हुए ज्ञानका पता रहता है। तथ्य तो यह है कि आत्मा तो वही एक है और उस के परिणमन नाना है तो अपने आत्माको अपने पूर्व परिणमनोका स्मरण रहता है, किन्तु शाश्वतस्वरूप कुछ भी न मानकर भेदवादमे क्षणक्षणवर्ती पदार्थ मानते है तो क्षणिकज्ञान तथ्यभूत मानना पडेगा, यो निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण कहते है और सविकल्प ज्ञानको क्षणिकवादी अप्रमाण कहते हैं, किन्तु जो ज्ञान व्यवसायात्मक नही है वह प्रमाण नही होता, इस बातको तृतीय सूत्रमे कहा जा रहा है।

निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञानमे कल्पित एकत्वाध्यवसायके लक्षणके विकल्प—क्षणक्षयसिद्धान्तमे प्रत्येक तत्त्वको चाहे वह द्रव्यरूपमे हो, चाहे क्षेत्ररूप मे हो, चाहे कालरूपमे हो अथवा भावरूपमे हो, केवल एक-एक अशरूपमे माना गया है। तो भावरूपमे यहाँ ज्ञानका प्रकरण चल रहा है। ज्ञान भी जो एक समयवर्ती पदार्थका एक समयवर्ती ज्ञान है वह प्रमाण है, ऐसा क्षणिकसिद्धान्त है, उस ज्ञानका नाम है निर्विकल्प ज्ञान, और फिर जो ये जानकारियाँ चलती है जिनमे रूप रङ्ग आकार प्रकार सभी ज्ञात होते है ये सब है सविकल्प ज्ञान। यह पूछा गया था कि निर्विकल्प ज्ञानकी तो किसीको भी प्रतीति नही होती और सविकल्प ज्ञान ही लोगोको प्रतीत होता है, फिर आप काल्पनिक निर्विकल्प ज्ञान सिद्ध क्यो कर रहे है ? तो उत्तर यह दिया था क्षणिकसिद्धान्तसे कि निर्विकल्प ज्ञानमें और सविकल्प ज्ञानमे एकत्वका अध्यवसाय हो गया है। अज्ञानी जनोको ऐसा सब कुछ विकल्पात्मक ही,जचता है. इसपर यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि निर्विकल्प ज्ञानमे और सविकल्प ज्ञानमे जो एकत्वका अध्यवसाय होता है उसका अर्थ क्या है ? क्या दोनो

ज्ञानोका एक विषय हो जाना ही अध्यवसाय है या किसीके द्वारा किसी दूसरेका विषय रच जानेका नाम एकत्व अध्यवसाय है या दूसरेमें दूसरेका आरोप कर दिया इसका नाम एकत्व अध्यवसाय है ? इसमे तीन विकल्प रखे गये।

एकविषयित्व व विषयके एकत्वसे अभेदाध्यवसायकी असिद्धि— एक विषयपन तो कह नही सकते क्योंकि निर्विकल्प ज्ञानका तो सामान्य विषय है और विकल्प ज्ञानका विशेष विषय है। जिसमें पदार्थका आकार अवस्था आदिक कुछ भी ज्ञात न हो उसका नाम सामान्य है, जहाँ पदार्थका आकार आदिक ज्ञात हो वह विशेष है। तो निर्विकल्प ज्ञानमें केवल स्वरूप ही स्वरूप है, पदार्थ प्रतिभास नही है इस कारण वह सामान्यका विषय करता है और विकल्प ज्ञानमें चूँकि निर्णय है, आकार प्रकारका प्रतिभास है अतएव उसका विषय विशेष है। तो भिन्न विषय होने से एकविषयत्वकी बात रही नही इन दोनो ज्ञानो में। यदि यह कहो कि निर्विकल्प का तो विषय है दृश्य और विकल्प ज्ञानका विषय है विकल्प्य। यहाँ दृश्यका अर्थ आँखने देखनेका नाम नही है। जिसे आकार प्रतिभासके बिना जाना तुमने उसे दृश्य कहते है। और, विकल्प पदार्थोंमे एकत्वका अध्यवसाय हो गया इस कारणसे ज्ञान मे भी एकत्वका अध्यवसाय है, यदि ऐसा कहते हो तो वह भी युक्त नही है। दृश्यमें विकल्पका अध्यारोप किया या यो कहिये सामान्यमे विशेषका अध्यारोप किया, तो किसीका किसीमे अध्यारोप करना ग्रहण किए हुएमें बनेगा या अगृहीतमे बनेगा ? जिन दो पदार्थोंका ग्रहण हो गया हो, जानकारी हो गयी हो उसमें एक मुख्य बने, एक गौण बने यह बात बनेगी या बिना ग्रहण किये हुएमे बन जायगी ?

अभेदाध्यवसायके लिये दोनोके ग्रहणकी असिद्धि— यदि यह कहो कि ग्रहण किए हुए ही दो में बनेगी तो क्या ये निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान ग्रहण किए हुए है ? ग्रहण किए गये हो, भिन्न स्वरूप जान लिया गया हो उसका नाम ग्रहण करना कहलाता है। जैसे घट और पट, चौकी और पुस्तक, इन दोनोंको भिन्न-भिन्न स्वरूपसे ग्रहण किया गया है तो ये ग्रहण किये हुए कहलाते हैं। तो जो भिन्न स्वरूपसे ग्रहण किये गये है फिर उनमे एकत्वका आरोप क्या ? वे तो भिन्न ही है और फिर एक दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प ज्ञानका और सविकल्प ज्ञानका दर्शनसे तो ग्रहण होता नही या यो कहो कि दृश्य तत्त्वका (सामान्य तत्त्वका) और विकल्प्यका तो प्रत्यक्षसे ग्रहण होता नही क्योंकि तुम्हारे क्षणक्षय सिद्धान्तमे प्रत्यक्ष का विषय बताते हो केवल दृश्य और सामान्यको। निर्विकल्प ज्ञान तो प्रत्यक्ष माना है और सविकल्प ज्ञान नहीं मानते। तो सविकल्प ज्ञानका तो प्रत्यक्ष हो नही पाया फिर ग्रहण क्या हो ? कहो कि सविकल्प ज्ञानसे ग्रहण हुआ तो विकल्पने दृश्य का ग्रहण नहीं किया। कहो कि भिन्न-भिन्न ज्ञानोंसे हो रहे तो वह ज्ञान भी विकल्प है या अविकल्प ? यदि निर्विकल्प है तो विकल्प जैसे दोष आयेंगे। तो निर्विकल्प

ज्ञानमे सविकल्प ज्ञानका आरोप जो कर रहे हो वह ग्रहण किये हुएके कारण तो होगा नही।

अग्रहीतमे अध्यारोपकी असभवता—यदि यह कहो कि न तो निर्विकल्प ज्ञानका ग्रहण हुआ न सविकल्पका फिर भी दूसरेका आरोप होगया तो अतिप्रसग हो जायगा विना ग्रहणकी हुई वस्तुका भी कही अध्यारोप करदो। आरोप किया जाता है तो किसी सादृश्यके कारण किया जाता है। जैसे पुराने समयमे एक परिपाटी ऐसी थी कि कोई विवाहके बहुत पहिले ने चारोमेया विवाहके कई महीने बादके नेगाचारोके दिन यदि दुल्हा उपस्थित नही है तो उसके छोटे भाईसे नेगचार करा देते थे। जैसे एक दस्तूर है मौर सिरानेका। मौर सिराते हुएमे यदि दुल्हा मौजूद न हो तो भाईसे सिरवा देते है। तो वहा सादृश्य माना कि आखिर उसका ही तो भाई है। कुछ सदृश्यता आयी तब तो अध्यारोप हुआ। पर जिसका ग्रहण ही नही है उसमे सदृशता क्या मानी जाय? सविकल्प ज्ञानका तो ग्रहण है और निर्विकल्प ज्ञानका ग्रहण नही है तो अब सदृश्यता क्या समझी जाय जिससे निर्विकल्पमे विकल्पका आरोप किया जाता। क्या वस्तु और अवस्तुका भी आरोप होता है? तो जो अवस्तु है इस का भी आरोप या अभेदरूप अध्यवसाय कर दो।

दोनो ज्ञानोमे एक विषयत्वके अभावका उपसहरण--क्षणक्षय सिद्धान्त पदार्थका नाम लेकर कोई बात नही चलती। उनका आत्मा है तो ज्ञान क्षण है और पदार्थ है तो नीला पीला ये पदार्थ है। नीले पीलेका आधारभूत कोई पदार्थ माना ही नही जा सकता क्योकि उसमे क्षणक्षयका सिद्धान्त नही रह सकता। इसी तरह ज्ञान का आधारभूत गुण माना ही नही जा सकता, क्योकि क्षणक्षयका सिद्धान्त फिर नही रहता। धर्मी और धर्म यह बात नही है वहा। धर्म धर्म ही उनका पूर्णतत्त्व है। धर्म मायने है अशका। अशी कोई नही है। अशी अगी पदार्थ ये सब कल्पनासे है। व्यवहारमे चू कि लोग कहते आये है और हमारा व्यवहार चल रहा है इस कारण सत्य है परमार्थसे तो ज्ञान क्षणज्ञान नीला पीला आदिक ये ही सत्य है। तो एक विषय तो रहा नही निर्विकल्प ज्ञानका और सविकल्प ज्ञानका फिर अध्यवसाय कैसा?

अन्यके द्वारा अन्यके विषयीकरणरूप एकत्वाध्यवसायकी असिद्धि—यदि यह कहे कि किसी अन्यके द्वारा किसी अन्यका विषय कर लेनेका नाम एकत्व अध्यवसाय है, निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्प ज्ञानका विषय हो जाय, सविकल्प ज्ञानके द्वारा निर्विकल्प ज्ञानका विषय हो जाय इसके कारण अध्यारोप है। तो यह बात यो नही बन सकती कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते माने गए, देखिये पदार्थमे वर्तमान एक समयमे जो ज्ञान हुआ वह निर्विकल्प ज्ञान है और उस ही समयमे सविकल्प ज्ञान भी तो चल रहा है उस ही समय वाले पदार्थ का सविकल्प ज्ञान नही चल रहा है पर सभी समयोमे सविकल्प ज्ञान भी चल रहा

है और सभी समयोमे प्रतिक्षण प्रतिक्षण निर्विकल्प ज्ञान भी चल रहा है, ऐसा नही होता कि पहिले निर्विकल्प ज्ञान हो और उसके अनन्तर सविकल्प ज्ञान हो।

निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानकी एक समयभविताकी आलोचना जैसे स्याद्वादमे छद्मस्थ जीवोके दर्शन पहिले माना है ज्ञान पश्चात् होना माना है। उसमे समयभेद है। जिस समयमे दर्शनका उपयोग चल रहा है उस समय में ज्ञानका उपयोग नही है। और, एक बात यह भी समझें कि छद्मस्थ जीवोके भी ऐसा नही है कि दर्शन गुणका जिस समय परिणमन चल रहा है उस समय ज्ञानका परिणमन चल रहा है। तो जैसे दर्शन गुणका परिणमन और ज्ञान गुणका परिणमन दोनो एक साथ है किन्तु उपयोगमे फर्क है, दर्शनका उपयोग जिस समयमें है उस समय ज्ञानका उपयोग नही होता, क्योकि दर्शन और ज्ञान गुणके परिणमन को भी क्रमसे मान लें तो वह गुण न रहेगा। तो जैसे स्याद्वादमें दर्शन और ज्ञान गुणका परिणमन एक साथ है इस तरहसे इस सिद्धान्तमे भी यह मान लिया गया कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान एक साथ हैं लेकिन जैसे एक साथ दर्शन और ज्ञान परिणमन है तो वहाँ दर्शन परिणमनने ज्ञानका विषय नही किया, ज्ञान परिणमनने दर्शनका विषय नही किया, क्योकि समान कालमें होने वाले उस एकके द्वारा दूसरा विषय नही होता तो ये भी निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान एक साथ होते रहते है तो वे स्वतन्त्र होगे। कोई किसीको विषय करले यह बात न बन सकी और जब किसीने किसी दूसरेका विषय नही किया तो एक दूसरेमें अध्यारोप भी करना सम्भव है क्या ?

दोनो ज्ञानोमे परस्पर अध्यारोपकी असिद्धि—यहाँ इस प्रकरणकी चर्चा यो आ गयी कि आचार्यदेवने इस सिद्धान्तमे यह बात रखी है कि प्रमाण वही ज्ञान होता है जो स्व एव अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक हो अर्थात् जो निजका और पदार्थका निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है। इसपर क्षणिकवादीने यह बात कही कि निश्चय करने वाले ज्ञान तो सभी अप्रमाण होते है। क्योकि जिसका निश्चय कर रहे हो वे सब मिथ्या है और जो वास्तविक है उसका प्रत्यक्ष तो होता है पर निश्चय नही होता। यह क्षणिकवादका सिद्धान्त है। इसपर निर्विकल्प ज्ञानमे प्रमाणता नही है यह बात अनेक विकल्प उठाकर कही जा रही है। तो पूर्वपक्षमे यह बताया कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे एकत्वका भ्रम हो गया है इस कारण निर्विकल्प ज्ञानकी लोगोंको प्रतीति नही है, एकका दूसरेमे अध्यारोप हो गया। तो यह बतलाओ विकल्प ज्ञानमे निर्विकल्पका आरोप किया जा रहा है या निर्विकल्प ज्ञानमे विकल्प ज्ञानका आरोप किया जा रहा है ? अर्थात् विकल्प ज्ञानको निर्विकल्प रूपमे बनाना यही है विकल्पमे निर्विकल्पका आरोप, और निर्विकल्प ज्ञानको विकल्पात्मक रूप डालना यही है निर्विकल्पमे विकल्पका आरोप। यदि विकल्प ज्ञानमे निर्विकल्प

का आरोप करते हो तो विकल्प तो सब खतम हो गए, फिर व्यवहार कुछ रहना ही न चाहिए। सारेके सारे ज्ञान निर्विकल्प हो जाना चाहिए। सो निर्विकल्प ज्ञानसे कुछ लोगोमे भी व्याख्या चलती है क्या ? और, यदि निर्विकल्पमे विकल्प डाल दिया तो निर्विकल्पकी बात ही मत करो। सब ज्ञान सविकल्प हो जायेंगे।

क्षणक्षयमे ज्ञानस्वरूपकी व अध्यारोपकी असिद्धि— ज्ञानमात्र आत्मा है और वह क्षणज्ञानमात्र है। न तो क्षणज्ञानसे अन्यसमयमे रहने वाला कोई आत्मा है और न उस ज्ञानका आधारभूत धर्मी आत्मा है, इस सिद्धान्तमे अन्य गुण तो माने नही जा सकते और सामान्य, विशेष ये दो तत्त्व है ही। उनसे मुकरा नही जा सकता, तब सामान्य अशको विषय करने वाला निर्विकल्पज्ञान और विशेष अशको विषय करने वाला सविकल्प ज्ञान मानना पडा। स्याद्वाद दर्शनमे आत्मा एक धर्मी है, पदार्थ है और इसमे ज्ञान दर्शन आदिक अनेक धर्म है। निज सामान्यका विषय करने वाला दर्शन है और विशेषको विषय करने वाला ज्ञान है। अथवा यो कहो कि सामान्यविशेषात्मक पदार्थको सामान्य पद्धतिसे ग्रहण करने वाला दर्शन और विशेष पद्धतिसे ग्रहण करने वाला ज्ञान है, यह व्यवस्था भिन्न–भिन्न गुणोके द्वारा बनती है, पर एक ही ज्ञान सामान्य विशेषकी व्यवस्था करे और वह भी क्षणिक और सतान-रूपसे करे तो उसमे ये सब विकल्प उठ रहे है। चाहे दो मे से एककी प्रतीति तो हो रही है चाहे निर्विकल्प ज्ञानकी कह डालो, चाहे विकल्पज्ञानकी कह डालो मगर प्रतीति हो रही है स्पष्टरूपमे तो अब किसका अध्यारोप कहे ?

निर्विकल्प और विकल्पज्ञानके मन्तव्यका विधान निर्विकल्प ज्ञान तो जिसमे कुछ निश्चय ही नही पडा उसे तो माना जा रहा है स्पष्टज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान और विकल्पज्ञान जिसमे अवस्था, आकार सब कुछ ग्रहणमे आ रहा है और हम आप पक्की तरहसे जान रहे है ऐसा कहते है उसे माना है अविशद, अस्पष्ट। यह बात क्यो हुई ? विकल्पज्ञान इतना स्पष्ट क्यो लग रहा है ? तो इसके उत्तरमे क्षणवादने यह बताया है कि विकल्पज्ञानमे निर्विकल्प ज्ञानका आरोप है, निर्विकल्प धर्मकी छाप है इसलिए विकल्पज्ञान स्पष्ट लग रहा है। तो भाई निर्विकल्पज्ञानमे विकल्प-धर्मका अध्यारोप कर दे और यदि यह बतावें कि निर्विकल्प धर्मके द्वारा विकल्प धर्मका अभिभव हो गया इसलिए विकल्प तो विशद मालूम पडता है और निर्विकलप की प्रतीति ही नही होती तो यह बात तो हम उल्टा भी कह सकते कि भाई ! विकल्पके द्वारा निर्विकल्पका अभिभव होता है। तो सब जगह फिर अविशदपना ही रहना चाहिए।

निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्पज्ञानके अभिभवकी अप्रतीति— देखिये भैया ! बात यह बहुत अशोमे सिद्ध भी कर सकते कि विकल्पज्ञानके द्वारा

निर्विकल्प ज्ञान दब गया, पर यह दृष्टि न कर पायेंगे कि निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा विकल्पज्ञान दब गया, सो जब विकल्पज्ञानके द्वारा निर्विकल्प दब गया तो विकल्पक ज्ञान जैसे अस्पष्ट है इसी प्रकार निर्विकल्प ज्ञान भी अस्पष्ट हो जायगा, फिर तो कोई प्रत्यक्ष नही रहा तुम्हारे सिद्धान्तमे। तो निर्विकल्प और विकल्पज्ञान ये दो ज्ञान जुदे नही हैं। ज्ञान एक ही प्रकारका होता है जिसमे विशेषका प्रतिभास है, वह ज्ञान है। व्यवसायात्मक ज्ञान ही ज्ञान है। जो अव्यवसायात्मक है वह ज्ञान नही।

विरुद्ध कल्पनाका व्यर्थ प्रयास—भैया! इसके विरुद्ध कल्पनाएँ क्यो करते हो कि निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है और वह निर्विकल्पज्ञान अनिश्चयात्मक है तथा स्पष्ट है। अनिश्चयात्मक होकर भी स्पष्ट है और वही प्रमाण है। देखिये उन दोनो बातोमे एक भी बात प्रतीतिमे नही आती। जो निश्चयात्मक है उसकी हम चर्चा क्या करें और जो अनिश्चयात्मक है वह स्पष्ट कैसे? तो निर्विकल्पज्ञानके द्वारा विकल्पका अभिभव होता न तो यह कह सकते और विकल्पके द्वारा निर्विकल्प अभिभव होता न यह कह सकते।

सहभाविताके कारण ज्ञानके द्वारा ज्ञानके अभिभवका अभाव—अथवा मान लो अभिभव हो गया दब गया तो क्यो ऐसा हो गया? ये दोनो एक साथ उत्पन्न हुए इस कारण हो गया या इन दोनोका विषय एक है इसलिए हो गया या ये दोनो अभिन्न एक सामग्रीसे उत्पन्न होते है इसलिए अभिभव हो गया। यदि कहो कि विकल्पज्ञान और निर्विकल्पज्ञान दोनो एक साथ होते है इसलिए एकके द्वारा एकका अभिभव हो गया। तो देखिये जिस समय हम किसी घोडेका चिन्तन कर रहे है, किसी घोडेके सम्बन्धमे कुछ विचार कर रहे हैं और उसी समय निकल जाय सामनेसे गाय तो हमारे दो ज्ञान एक साथ हो गए। गायका दर्शन और घोडेका विकल्प। तो एक साथ होनेसे यदि स्पष्टज्ञानके द्वारा अस्पष्ट ज्ञानका अभिभव हो जाता है तो जैसे गौदर्शन हमारा स्पष्ट हो गया, प्रत्यक्ष हो गया इसीप्रकार अश्व विकल्प भी प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए, किन्तु अश्वविकल्प प्रत्यक्ष माना नही तो सहभाविताके कारण अभिभव हो जाना यह बात बनती नही।

अभिन्नविषयताके कारण ज्ञानके द्वारा ज्ञानके अभिभवका अभाव—यदि भिन्न विषयके कारण यह बतावेंगे कि गौदर्शनसे अश्वविकल्पका स्पष्ट प्रतिभास नही होता क्योकि उसका भिन्न विषय है तब देखिये दूसरी आपत्ति। शब्दका जो स्व लक्षण है उसका प्रत्यक्षसे अनुभव करने वाले आप लोगोको शब्दके क्षणक्षयित्वके अनुमानका स्पष्ट प्रतिभास कर लेना चाहिये। जैसे यह नीला है, यह पीला है इस प्रकारका ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है तो यह तो रूप गुणकी बात है, नेत्र इन्द्रियसे ज्ञानकी बात है। ऐसे ही समस्त इन्द्रियका जो तत्काल ज्ञान होता है वह सब प्रत्यक्ष

माना है। तो शब्द सुलक्षणको प्रत्यक्षसे अनुभव करने वाले आप शब्दके ही विषयमे ये शब्द क्षणिक है ऐसा जो अनुमान करते हो वह भी तो एक विषयका हुआ ना, फिर उसे क्यो नही तुम अभिभव याने विशद मान लेते हो ? इस। ऐसे ही यह कहना भी युक्त नही है कि अभिन्न विषयत्व होनेसे निर्विकल्प ज्ञानने विकल्पका अभिभव किया या सविकल्प ज्ञानने निर्विकल्पका अभिभव किया। सीधा मान लो जो होता है क्या कि पदार्थका आकार प्रकार सब जानते है और वही विकल्पात्मक ज्ञान है, वही प्रमाण है। निर्विकल्प ज्ञानका जिसमे निश्चय नही बसा, फिर स्पष्ट विशद प्रत्यक्ष सिद्ध करनेका क्यो व्यर्थ प्रयत्न करते हो। सीधी बात जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करादे वह ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञानके द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जायगा, वह ज्ञान कैसा है ? उसका स्वरूप कहा जा रहा है और उस ज्ञानकी यहाँ परीक्षा की जा रही है।

अभिन्न विषय होनेसे निर्विकल्प ज्ञान द्वारा सविकल्प ज्ञानके अभिभव के पक्षका उत्थान क्षणक्षय सिद्धान्तमे जो परमार्थ ज्ञान है वह तो निर्विकल्प ज्ञान माना है और जो काल्पनिक निष्ठा मक सतानरूप ज्ञान है उसे सविकल्प ज्ञान माना है तथा सविकल्प ज्ञानको तो अस्पष्ट माना है और निर्विकल्प ज्ञानको स्पष्ट माना है। इस प्रसङ्गमे जब यह देखा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञान तो स्पष्ट रहता है और निर्विकल्प ज्ञानमे स्पष्टता है नही तो यह पूछा गया उनसे कि यह क्या मामला है कि स्पष्टता तो प्रतीत होती है सविकल्प ज्ञानमे और निर्विकल्प ज्ञानका कुछ पता ही नही रहता तो इसपर बौद्धसिद्धान्तने यह उत्तर दिया था कि स्पष्टता, विशदता तो निर्विकल्प ज्ञानमे ही है सविकल्प ज्ञानमे स्पष्टता नही है, लेकिन निर्विकल्प ज्ञानने सविकल्प ज्ञानको दबा दिया तो विकल्प ज्ञानकी अविशदता तो दब गयी और निर्विकल्प ज्ञानकी विशदता विकल्प ज्ञानमे मालूम पडने लगी। इसपर यह पूछा गया है निर्विकल्प ज्ञानने सविकल्प ज्ञानको इस तरह दबा क्यो दिया ? क्या दोनोका अभिन्न विषय है इसलिए निर्विकल्प ज्ञानने विकल्प ज्ञानको दबा दिया ?

अभिन्न विषयत्वके कारण निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्प ज्ञानके अभिभव सोनेका प्रतिषेध—यदि अभिन्न विषयके कारण निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प ज्ञानको दबा दे तो देखिये - शब्दका प्रत्यक्ष निर्विकल्प ज्ञान हुआ और फिर शब्दका ही यह क्षणिक है ऐसा अनुमान किया तो अनुमान हो गया सविकल्प ज्ञान। तो इन दोनो ज्ञानोका विषय तो शब्द ही रहा ना, एक विषय रहा ना, तो यहाँ शब्दके निर्विकल्प ज्ञानने शब्दके अनुमान विकल्पको क्यो न दबा दिया और शब्दके अनुमान विकल्पमे स्पष्टता क्यो न आगई ? यदि यह कहो कि शब्दके प्रत्यक्ष ज्ञानका और शब्दके क्षणक्षयके अनुमानका कारण अलग-अलग है। भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न हुए है अर्थात् अनुमानरूप विकल्प ज्ञान तो साधन लिंगसे होता है इस कारण शब्दके प्रत्यक्ष ने शब्दके अनुमानका अभिभव नही किया। तो यहा भी ऐसा मान लो।

अभिन्न सामग्रीप्रभवत्वके कारण निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्प ज्ञानके अभिभव होनेका प्रतिषेध—जितने भी सविकल्प ज्ञान होते हैं उनकी सामग्री वासना आदिक भिन्न होते हैं और निर्विकल्प ज्ञानकी सामग्रीतो स्वलक्षण है ही। तब किसी भी विकल्प ज्ञानका निर्विकल्प ज्ञान द्वारा अभिभव नहीं हो सकता और तिसपर भी एक साधारणस्वरूपसे अभिन्न विषय मानकर निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्प ज्ञानका अभिभव मानते हो तो सारे विकल्पोंका स्वसम्वेदन ज्ञानसे अभिभव हो जाना चाहिए। किसी ही विकल्पका अभिभव क्यों होता है ? यहाँ यह कहा है कि सारे विकल्प ज्ञान तो वासनामे उत्पन्न होते है और निर्विकल्प ज्ञान स्वसम्वेदन मात्रसे होता है इस कारण भिन्न सामग्री है, तो फिर यहाँ भी अभिभव न हो सकेगा। जो हमे सारे सविकल्प ज्ञान प्राय स्पष्ट नजर आते फिर यह स्पष्टता न नजर आना चाहिए क्योंकि यहाँ भी भिन्न सामग्री है।

निर्विकल्प ज्ञान व सविकल्प ज्ञानमे एकत्वके अध्यवसायक ज्ञानके विकल्प—प्रकरणमे यह बात कही जा रही है कि जो निर्विकल्प प्रतिभास है वह तो माना क्षणिकवादमे प्रमाण और आकार रूप रज्जु आदिकका जो प्रतिभास होता है उसे माना है मिथ्या, अप्रमाण, भ्रम। लेकिन जो व्यवसायात्मक ज्ञान है सविकल्प ज्ञान, जिसमे सारे निश्चय पडे हुए है वह अप्रमाण नहीं हो सकता प्रमाण ही है और निर्विकल्प ज्ञान जिसकी प्रतीति नहीं, जिसकी न चर्चा है, उसके प्रमाणकी बात कैसे कही जाय ? स्पष्ट तो यह समझमे आ रहा है कि सविकल्प ज्ञान तो विशद है, व्यवसायात्मक है, प्रमाण है। इससे ही व्यवहार चलता, मोक्षका उपाय भी सविकल्प ज्ञानसे निर्णीत होता और निर्विकल्प ज्ञानकी किसीको भी सुध नहीं केवल कथनमात्र है। यहाँ निर्विकल्पसे मतलब है अर्थप्रतिभासरहित ज्ञान, न कि राग-द्वेषरहित ज्ञान। अर्थप्रतिभासरहित ज्ञान और अर्थप्रतिभास वाला ज्ञान, इनमे क्षणिकवादी एकता सिद्ध कर रहे है जिससे कि यह सिद्ध कर सके कि इस एकता के कारण सविकल्प ज्ञानमे स्पष्टता समझमे आती है। तो अच्छा सुनो ! निर्विकल्प ज्ञानमे और सविकल्प ज्ञानमे प्रथम तो एकता बनती नहीं और जबरदस्ती मान भी ले तो यह बताओ कि इन दोनोंके एकत्वका निर्विकल्प ज्ञान निश्चय करता है या सविकल्प ज्ञान निश्चय करता है या दोनोसे कोई अलग ज्ञान है जो निश्चय करता है ?

निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान द्वारा दोनो ज्ञानोके एकत्वाध्यवसायका अनिर्णय—यदि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानकी एकताका कोई निर्विकल्प ज्ञान निश्चय करता है तो यह बात अशक्य है। निश्चय करनेका माद्दा निर्विकल्प ज्ञान मे है ही नहीं। और, यदि निश्चय करनेकी प्रकृति निर्विकल्प ज्ञानको मान लेते हो तो जिस जिसमे निश्चयकी प्रकृति है वह वह तुम्हारे सिद्धान्तमे भ्रान्त है तो यह निर्विकल्प ज्ञान भी भ्रान्त हो जायगा। विकल्प ज्ञान भी उन दोनो ज्ञानोमे एकताका निश्चय

नही कर सकता, क्योकि विकल्पका विषय निर्विकल्प है ही नही । यदि विकल्पका विषय निर्विकल्प बन जाय तो विकल्प भी स्वलक्षणगोचर हो जायगा अर्थात् मात्र अपने उस अनिर्वचनीय स्वरूपका प्रतिभास हो जायगा तो वह भी प्रमाण बन बैठेगा, तब यह जो तुमने कहा है कि अवस्तुका प्रतिभास करना विकल्प ज्ञान कहलाता है इसका विरोध हो जायगा, और विषय करे नही और आरोप मान लिया जाय यह बनता नही । किसी एकका किसी दूसरे गौणमे यदि आरोप करते है तो दोनोका ज्ञान होगा तभी तो आरोप बनता । जैसे जिसने चाँदीको कभी जाना ही नही वह उस चाँदी का आरोप सीप आदिमे कैसे कर सकता है ? आरोप भी गृहीत पदार्थमे होता है अगृहीतमे नही होता ।

ज्ञानान्तर द्वारा दोनो ज्ञानोके एकत्वके अध्यवसायका अनिर्णय—यदि कहो कि दोनो ज्ञानोकी एकताको कोई ज्ञानान्तर निर्णीत करता है तो वह निर्विकल्प है या सविकल्प, उसमे भी दोनो तरहके दोष आते हैं और देखिये निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान दोनो ही ज्ञानकी एकताका निश्चय करा रहे हैं किसी ज्ञानान्तरसे जो किन निर्विकल्प है न सविकल्प है तो ऐसे विजातीय ज्ञानसे निर्णय करानेपर तो बहुत बडे अनिष्ट प्रसग उपस्थित हो जायेगे । इन्द्रिज्ञानसे ही जो देशकाल स्वभावसे विप्रकृष्ट[दूर] है उनका और जो देशकाल,स्वभावसे निकट है ऐसे घट आदि-कका इनका भी एकत्व कर दो । जैसे कहा है ना कि ऊट और गधेको जोड दो । इस प्रकार जिस चाहेकी एकता कर डालो । कोई व्यवस्था ही न रहेगी । इस कारण तुम्हारा यह कहना अयुक्त है कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञानमे एकत्वका भ्रम हो गया इस कारण सविकल्प ज्ञानमे स्पष्टता नजर आती है । अविकल्प ज्ञान सिद्ध होता नही है, व्यवसायात्मक नही है अतएव ये सब अभिभव आदिक मानना कल्पित है ।

प्रमाणस्वरूपका सभूमिक सिद्धान्त स्थापन— बात तथ्यकी यह है कि हम आप सब ज्ञानात्मक हैं, ज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञानके सिवाय और हम आपका स्वरूप क्या बताया जाय ? एक कल्पना कर लो कि इस आत्मामे सिर्फ ज्ञान भर तो मानें नही और सारे गुण मानते जावे इसमे आनन्द भी है, इसमे सूक्ष्मत्व भी है, इसमे अमू-र्तत्व है । सारी बाते मानते जावें उसका अर्थ क्या निकला ? जब आत्माका असाधारण स्वलक्षण ही नही माना गया तो वह तो अवस्तु है । अवस्तुमे अनेक गुणोको लादने का मतलब क्या ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका लक्षण है स्वपर प्रकाशकता सो जो स्वका भी प्रकाशक हो और परका भी प्रकाशक हो वह ज्ञान प्रमाण है ।

ज्ञानकी स्वपर प्रकाशकताका अर्थ—स्वपर प्रकाशकताका भी अर्थ ध्यान से सुनिये । इसमे स्वका अर्थ आत्मा न करिये कि ज्ञानका काम आत्माका भी प्रकाश करना है प्र र पर पदार्थका भी प्रकाश करना है, किन्तु ज्ञानके ही स्वरूपका नाम

यहाँ स्व है, जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इस ज्ञानका और पदार्थका भी निर्णायक है, जैसे बोध हुआ कि यह चौकी है तो इस ज्ञानके अपने आपका भी निश्चक निर्णय किया कि मैं ठीक हूं। यह ज्ञान ठीक है और चौकीका भी निर्णय हुआ कि यह चौकी है यह बात ठीक है। इस ज्ञानमे दो पद्धतियाँ एक साथ पडी हुई हैं। जो ज्ञान समझता है कि यह अमुक पदार्थ है तो अमुक पदार्थ ही है इस निश्चयके साथ यह भी निश्चय बना है कि यह ज्ञान सही ही है। यह पदार्थ ऐसा ही है यह निर्णय भी पडा है और ऐसा जाननेवाला यह ज्ञान सही ही है यह भी निर्णय पडा है, यह है स्वपरप्रकाशकताका अर्थ।

स्वपरप्रकाशकतामे अविनाभाव - यदि स्वपरप्रकाशकतामेसे एक चीज निकाल दो दूसरी चीज भी नही बनती। ज्ञान स्वनिर्णायक नही है केवल अर्थनिर्णायक है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिस ज्ञानने पदार्थका निर्णय किया है वह ज्ञान असमजसमे है वह ज्ञान निर्णायक नही है कि यह ज्ञान सही है, तो जिस ज्ञानमे सहीपन का विश्वास नही है वह ज्ञान पदार्थका क्या निर्णय करेगा ? यदि अर्थ प्रकाशकता निकाल दो, केवल स्वप्रकाशकताका ही रखो तो वह स्व क्या चीज जिसकाकि ज्ञानने प्रकाश किया ? ज्ञानका स्वरूप ही नही बना ? ज्ञानका स्वरूप तो ज्ञेयाकार परिणमन से बनता है। अब अर्थप्रकाश न होनेका अर्थ ही यह है कि यहाँ ज्ञेयाकार ग्रहण नही है, आकार नही बनता ज्योतिका। तो ज्ञानका स्वरूप ही नही रहा फिर वह स्वप्रकाशन कैसे ? ज्ञानमे ये दो पद्धति पडी हैं चाहे कोई समझ पाये या न समझ पाये, पर ज्ञान तो अपने ढङ्गसे प्रत्येक जीवमे काम करता ही है। मिथ्यादृष्टि जीव भी चाहे मोक्ष मार्गके विरुद्ध ज्ञान होनेसे अप्रमाण है लेकिन मिथ्यादृष्टि भी जिस जिस पदार्थ को जानता है पदार्थके जाननेके साथ उसके ज्ञानमे भी स्व प्रकाशकता पडी हुई है। तो यहाँ स्वका अर्थ आत्मा नही है। जो ज्ञान जान रहा है उस ज्ञानमे यह ज्ञान सही है ऐसा निर्णय होनेका नाम स्वप्रकाशकता है। सो ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक है वह प्रमाण है।

प्रमाणस्वरूपके विरुद्ध पक्ष - स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण न कहकर जो इस मर्मसे अपरिचित है वे अन्य अन्य प्रकारसे पदार्थोको प्रमाण कहा करते हैं। कोई कहता है वाह, हमारा प्रमाण यह दस्तावेज है। किसीने पूछा कि तुम्हारा मकान है इसका प्रमाण क्या है ? तो वह रजिस्टर्ड पेपर निकालकर रख देता है लो साहब, हमारा यह प्रमाण है। अरे, क्या वह कागज या वे अक्षर प्रमाण है ? जो उन अक्षरो द्वारा ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण है। लेकिन दुनिया तो उस दस्तावेजको प्रमाण मानती है। तो लोकरूढिसे कही परमार्थका निर्णय तो नही बनता, ऐसे ही दार्शनिक क्षेत्रमे किसीने किसीको प्रमाण कह दिया सर्व पदार्थ जुड गये वह प्रमाण है, इन्द्रिय पदार्थोकी भिडन्त हुई वह प्रमाण है, इन्द्रियोका व्यापार हुआ वह प्रमाण है, तो किसीने कहा कि आत्माका व्यापार प्रमाण है, किन्तु आत्मा

अचेतन होता है। चेतनका समवाय होनेसे चेतन है, ऐसे अचेतन आत्माका अचेतन व्यापार प्रमाण है। ज्ञानको प्रमाण इस दार्शनिकने स्वीकार नहीं किया। थोडा बौद्ध दार्शनिक ज्ञानका समर्थन कर रहे है। सो वहाँ निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण कह दिया। वस्तुत: तो स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाणस्वरूपकी सर्व प्रमाणभेदोमे घटितता—यह प्रमाण नाना भेदरूप है और उन सब भेदोमे प्रमाणका लक्षण घटित होते रहना चाहिए, तब तो प्रमाण सही रूप बनेगा। जैसे जीवका लक्षण है चैतन्यस्वरूप, तो जीवके जितने भी भेद किये जायें उन सब भेदोंमे जीवका स्वरूप मिलना ही चाहिए तब तो जीव कहा जाय, चाहे वह मुक्त जीव हो, चाहे निगोद जीव हो, चाहे कोई ससारी हो। ऐसे ही प्रमाणताका जो यह लक्षण है वह सब प्रमाणोंमे घटित होगा। चाहे सव्यवहार प्रत्यक्ष हो, चाहे स्मरण हो, तर्क हो, अनुमान हो, कोई सा भी ज्ञान हो सब ज्ञान, सब प्रमाण स्व और अपूर्व अर्थके व्यवसायात्मक होते है यह पूर्णतया घटित होगा। आगम ज्ञान के सम्बन्धमे भी यह समझना कि आगमके पोथी पत्रा इनको प्रमाण नही कहा। यह तो हमारा प्रमाणभूत आगम ज्ञानकी मूर्ति है। जो हम आगमज्ञान करते हैं या जिस आगम ज्ञानको गणधरोंने करानेका यत्न किया है, उसकी मूर्ति बना दी है यह। जैसे तीर्थङ्कर भगवानकी मूर्ति है इसी प्रकार आगम अक्षरविन्यासोंकी मूर्तिमे विराजमान है। आगमज्ञान भी ज्ञाता आत्माका परिणमन है। समस्त प्रमाण स्व और अपूर्व अर्थके व्यवसायात्मक ही होते है। कोई ज्ञान अर्थप्रतिभासरहित नही होता।

यद्यपि नाम, विशिष्ट रग इनका स्मरण नही होता, लेकिन कुछ भी स्मरण होना यह विकल्प, प्रतीति, समस्त ज्ञान सविकल्प होता है, साकार होता है, व्यवसायात्मक होता है। निश्चयके कारण ही यह विकल्प कहा जा रहा है, प्रत्येक ज्ञान निश्चयात्मक होते हैं, अनिश्चयात्मक ज्ञान नही होते। तो यह मानना चाहिए कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रामाण्यपरीक्षाका महत्त्व—यह दर्शनका, न्यायका ग्रन्थ है। इस ग्रथमे कोई निर्णय करनेकी अनुपम कुञ्जी बतायी जायगी, उसके लिए यह एक भूमिका मात्र सी कही जा रही है। तो आप इतना ही निर्णय करे कि जिसकी भूमिकामे इतना दुर्गम तत्त्व कहा जा रहा है तो वह कुञ्जीरूप ज्ञान कितना अनुपम और विशाल होता होगा, जिस ज्ञानसे हम अपने पक्षका दृढीकरण कर सकें और असत्य पक्षका खण्डन कर सकें उस ज्ञानकी परीक्षा ही न हो तो उसका दार्शनिक जीवन क्या है? निर्णायकज्ञानका निर्णय भी तो होना चाहिए कि कैसा होता है? उस ज्ञानकी इस सूत्रमे परीक्षा की जा रही है कि ज्ञान निश्चयात्मक ही होता है क्योकि वह सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका विरोधी है। जिसमे सशय नही, विपरीतता नही, अनध्यवसाय नही वह ज्ञान निश्चयात्मक होता है।

क्षणक्षयसिद्धान्तमे व स्याद्वादसिद्धान्तमे प्रमाणव्यवस्था-- क्षणक्षय सिद्धान्तमे ऐसा माना गया है कि जितना यह सब जानना हो रहा है, जिसमे पदार्थों का ज्ञान होता है यह चौकी है, दरी है, पुस्तक है, नीला है, पीला है, यह जो ज्ञान होता है वह मिथ्या ज्ञान है, अप्रमाण है, किन्तु एक ही समयमे जो कि पदार्थ उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है तो जिस कालमे पदार्थ उत्पन्न हुआ उस ही काल मे पदार्थका जो ज्ञान होता है वह निर्विकल्प है, अर्थप्रतिभासरहित है, केवल अपने स्वरूपमात्र है। ऐसा जो निर्विकल्पज्ञान है वह सत्य है, प्रमाण है। जिसमे कुछ भी जाना तो वह ज्ञान है मिथ्या और जिसमे कुछ जानना नही आया किन्तु ज्ञान ही मात्र है वह है सच्चा। ऐसा क्षणिकवाद सिद्धान्तने कहा है, और स्याद्वादसिद्धान्तमे जितना भी जो कुछ ज्ञान है, पदार्थका जिसमे प्रतिभास है वह तो है प्रमाण और जहाँ पदार्थ का प्रतिभास नही है और सिर्फ एक ज्योति दर्शन है, वह है दर्शन। दर्शन न प्रमाण होता है न अप्रमाण होता है। ज्ञान, जो सम्यक् है वह प्रमाण है, जो मिथ्या है वह अप्रमाण है। तो क्षणिकवादियोके इस मतव्यपर कि अर्थप्रतिभासरहित ज्ञान प्रमाण है और अर्थप्रतिभासवाला ज्ञान अप्रमाण है, कुछ चर्चाये चल रही हैं।

प्रमाणभूत ज्ञानमे निराकारताके समर्थनका यत्न—चर्चा मुख्य यह है कि क्षणक्षयसिद्धान्तका यह निर्विकल्प ज्ञान जिसमे अर्थप्रतिभास नही होता वह तो किसी को प्रतीत ही नही होता। कौन जानता है ऐसे ज्ञानको कि उसमे ज्ञान हुआ है या यह

ज्ञान है ? तो निर्विकल्प ज्ञानकी तो प्रतीति ही नहीं होती। इस समाधानपर क्षणिकवादी यह बात रख रहे हैं कि जिस किसी समय कोई विकल्प न हो रहा हो ऐसी स्थितिमें कोई बैठा है और सामनेसे गाय आदिक कोई पदार्थ गुजरे तो उसके रूपादिकका दर्शन तो हो गया, पर कुछ विकल्प नहीं उत्पन्न हुआ। तो निर्विकल्प रूपादिकका दर्शन तो प्रत्यक्षसे भी अनुभवमे आता है। जिस समय सारी चिन्ताएँ खतम हो जाती है और यह अन्तरात्मा विश्राममे रहता है तो चक्षुके द्वारा रूपादिक दिखते ही है। तो जैसे वहाँ कोई विकल्प नहीं है ऐसे ही निर्विकल्प ज्ञान हुआ करता है। कुछ भी पदार्थ अनुभवमे नहीं आता और फिर भी पदार्थका प्रतिभास होता है इस कारण यह कहा कि निर्विकल्पज्ञानका तो किसीको प्रत्यय ही नहीं समझमे ही नहीं आता, यह बात ठीक नहीं है, आता है समझमे ऐसी क्षणिकवादने बात रखी है, उसके उत्तरमे यह कहा जा रहा है कि जैसे कोई मनुष्य बैठा है किसी दूसरी तरफ ख्याल है, मानो उदाहरणमे वह घोड़ेका विकल्प कर रहा है, घोडा यों होता है, मेरा घोडा कहाँ गया, कुछ ख्याल कर रहा और सामनेसे निकली गाय तब गाय दिख तो गई पर उस अश्वके विकल्पमे रहनेके कारण ज्यादा ध्यानसे गायको नहीं देखा। यद्यपि गौके दर्शनमे विशेष विकल्प नहीं हुआ, लेकिन आकार प्रकार जो देखा वह भी सविकल्प है। विकल्परहित ज्ञान होता ही नहीं है। ज्ञान तो हो जाय और चीज न आये ज्ञानमे ऐसा भी कोई ज्ञान होता है क्या ? पर क्षणिकवादी मानते हैं कि समझमे कुछ चीज न आये और ज्ञान हो जाय, असली ज्ञान तो वही है और जहाँ कोई चीज समझमे आयी वह ज्ञान झूठा है, अप्रमाण है, किन्तु जैन सिद्धान्त यह कहता है कि ज्ञान ही वही कहलाता है कि जिसमे कुछ समझ तो आये वस्तुका ग्रहण तो हो।

प्रत्येक ज्ञानमे ज्ञेयाकारका प्रतिभास क्षणिकवादियोंके वैसा माननेका कारण यही है कि इनका कहना है कि पदार्थ क्षण-क्षणमे नष्ट होता है। तो जिस समयमे पदार्थ है, उस समयमे तो पदार्थका ज्ञान हो नहीं सकता। वह तो क्षणभरको उत्पन्न हुआ, नष्ट हो गया, ज्ञान होगा उसके दूसरे समयमे जब उसका संस्कार बनेगा, उसका ख्याल होगा इतनेमे तो कितना ही समय गुजर जाता है। तो जब समझ बनी तब पदार्थ नहीं रहा, जब पदार्थ है तब पदार्थमे समझ नहीं बन पाती इसकारण जितनी भी समझ है वह सब मिथ्या है क्योंकि वहाँ पदार्थ ही नहीं। ऐसे सिद्धान्त वालोंको कहा जा रहा है कि भले ही अश्वके विकल्पमे रहने वाले पुरुषको सामने गौ का दर्शन हुआ था, वह यद्यपि ज्यादा समझ नहीं पाया, कौन गौ है, किस रंगकी है किसकी है, कुछ विकल्प नहीं हुआ लेकिन जिस समय अश्वचिन्ता खतम हुई, विकल्प दूर हुआ तो फिर स्मरण आने लगता है कि कुछ निकला था। कुछ निकला था ऐसा प्रतिभास होना ही विकल्प है। तो जिस ज्ञानमे पदार्थका कुछ भी प्रतिभास हुआ, सामान्यसे हुआ, विशेषसे हुआ वह सब ज्ञान है। हाँ उस समय नाम रंग आदिक रूप

से गाय नही देखा इसको तो स्याद्वाद भी मान रहा है कि ऐसा हो भी सकता है और फिर भी वह ज्ञान है। सारे ज्ञान किसी न किसी नामको सोच कर होते ही हो ऐसा नियम नही है। प्रमाण तो वह ज्ञान है जिसमे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न आये।

समारोपविरोधी ज्ञानमे प्रमाणता यह दर्शनशास्त्रका ग्रन्थ है, इसमे सर्वप्रथम यह बात बतायी है कि पहिले ज्ञानको तो समझ लो कि कौनसा ज्ञान सत्य होता है और कौनसा ज्ञान झूठा होता है। ज्ञानकी परख करायी है इस ग्रन्थमे। जिस ज्ञानमे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय न हो वह ज्ञान प्रमाण है। जहाँ सशय उठ गया कि अमुक पदार्थ ऐसा है या ऐसा है वह ज्ञान निश्चयात्मक तो रहा नही ना, स्व और अपूर्व अर्थका ज्ञान करने वाला तो रहा नही। वहाँ तो सशय उठ रहा है। तो सशय ज्ञान अज्ञानतुल्य है और वह सत्य नही है। प्राय आत्माके बारेमे विपर्यय ज्ञान रहता है सो तो कुछ और, जान रहे हैं कुछ, इसीके मायने तो उल्टा ज्ञान है। उल्टे ज्ञानमे यद्यपि उल्टा निश्चय बसा हुआ है मगर सही अर्थका निश्चय तो नही बसा इसकारण वह अप्रमाण है। है तो यह शरीर पुद्गल, अजीव और मानते है लोग जीव। जैसे किसी भी मनुष्यको अथवा कीडा मकोडाको देखकर यो कहते कि यह जीव है तो यही तो विरुद्ध ज्ञान है, जगतके जितने भी जीव हैं सब अत्यन्त जुदे हैं। किसीका किसीके साथ कोई सम्बन्ध नही है और फिर मानते हैं कि यह मेरा है, यह विपरीत ज्ञान ही तो हुआ। यह अप्रमाण है।

सशय विपर्यय अनध्यवसायमे अप्रामाण्य व अहित विपरीत ज्ञानसे जीवको जन्म मरणका क्लेश बढता है। शरीर मेरा है, शरीर मैं हूँ, धन मेरा है, परिजन मेरे हैं। अरे है क्या मेरा। मेरा तो मात्र मेरा ज्ञानस्वरूप है, अन्य कुछ मेरा नही है। शरीरसे आत्मा जब निकल जाता है तो उस आत्माके साथ रहता क्या है ? जो कुछ रहे आत्माके साथ वह तो आत्माका है और जो कुछ नही रहता वह आत्मा का नही है। सीधी सी बात है। सबको ही देखते है अनेक लोग मर जाते है, मरते ही हैं, मरना ही पडता है, ऐसा कोई मनुष्य नही जिसकी मृत्यु न आये। तो मरनेके बाद उसके साथ जाता क्या है सो बताओ। न शरीर जाय, न धन जाय, न कुटुम्ब जाय, उसके साथ जाता है उसका ज्ञान। और, रागद्वेषादिक विभाव भी जाते हैं। वासना सस्कार भी जाते हैं, लेकिन कोई सा भी रागद्वेष, कोई सी भी वासना इस जीवमे सदा काल नही रहती, अतएव रागद्वेष कषाय तक भी जीवके नही है। जीव का तो मात्र ज्ञानस्वरूप है तो जो जीव नही है उसे माना कि यह जीव है, यह विपरीत ज्ञान है। इसमे यद्यपि निश्चय पडा हुआ है, शका नही है। मिथ्यादृष्टिको भी अपने ज्ञानमे शका नही रहती लेकिन जो जान रहे हैं वह पदार्थ तो नही है इसकारण झूठ है। तो सशयज्ञान अप्रमाण है, विपरीत ज्ञान अप्रमाण है। और, अनध्यवसाय

भी कैसा अनिर्णयिक है कि जिसके सम्बन्धमे कुछ तो प्रतिभास हो मगर उसका निश्चय करनेकी आकाक्षा तक भी न उत्पन्न हो। ऐसा जो अनिर्णयात्मक और कुछ भी निर्णयके क्षेत्रमे न चलने वाला ज्ञान है वह अनध्यवसाय है।

जगतके जीवोमे अनध्यवसायकी प्रचुरता—जगतके जीव आत्माके स्वरूपके बारेमे अनध्यवसाय वाले अधिक है। इनसे कम विपरीत ज्ञान वाले हैं और उससे कम सशय ज्ञान वाले है और यथार्थ ज्ञान वाले तो अत्यन्त बिरले है। कीडा मकोडा निगोदिया अनेक जीव अनध्यवसायमे हैं। उन्हे आत्माके बारेमे कुछ भी पता नही, और शरीर तकमे भी यह मैं हू ऐसा भी ज्ञान करनेकी बुद्धि नही है। कीडा मकोडामे और जिन्हे कुछ मन मिला ऐसे जीव विपर्ययज्ञानमे बढे चढे है। जो शरीर मिला उसे ही माना कि यह मै जीव हू और इन सज्ञी जीवोमे कोई समझदार जीव हो, जो आत्माके बारेमे कुछ निर्णय करनेका भी ख्याल रखता है तो वह सशयज्ञानमे पड जाता है। जीव ऐसा है या ऐसा जीव भौतिक है या वास्तविक। तो सशयज्ञान वाले और कम है। वस्तुका यथार्थस्वरूप समझमे लाये ऐसे जीव तो अत्यन्त बिरले हैं

दार्शनिकोका आत्महितके लिये प्रयत्न जितने भी ये दर्शन है इन सब दर्शनोने आत्मकल्याणके लिए अपना उपाय बनाया है। किसीने ऐसा ही दर्शन बना लिया कि आत्मा कोई चीज नही है। जब तक आत्मा, आत्माकी धुन बनेगी तब तक ससारमे रुलते रहेगे और जिस दिन सही समझमे आ जायगा कि आत्मा तो एक भ्रम हैं, भ्रम है, आत्मा कुछ भी नही है ऐसा समझमे आयगा उस दिन सम्यग्ज्ञान होगा और निर्वाण होगा। उन्होने यही आत्माके निर्णयमे सही उपाय बताया। तो किसीने यह उपाय बताया कि आत्मा तो वास्तवमे है किन्तु वह एक क्षणको ही उत्पन्न होता है, बादमे नही रहता। तो एक देहमे जो मैं वही हू। मैं वही हूँ ऐसा आत्माका जो भ्रम बना रहता है यह ससारमे रुलनेका कारण है। और, जिस क्षण यह विदित हो जायगा कि प्रत्येक आत्मा एक क्षणको ही रहता है और इस देहमे आत्माके बाद आत्मा आत्मा ऐसे निरन्तर प्रतिसमय उत्पन्न होते रहते है, तो भिन्न सतानके लगारमे आत्मा-आत्मा उत्पन्न होते चले गए वहाँ जो आत्मा यह मानता है मैं वही हू, मैं वही हू वह मिथ्याज्ञानी है और इस कारणसे उसे सुख दुख और-और मूर्छा पाप आदिक लग जाया करते है और ससारमे रुलते है जब यह समझमे आयगा कि मैं नही हू यह, मैं का भाव ही न रहेगा जब मैं हुआ था तब मै के विकल्पका समय ही न था। वह तो मेरी उत्पत्तिका टाइम था। जब मैं का विकल्प होता है, जब वह मैं रहता नही तो मैं-मैं कहना सब झूठ है। मै नामकी कोई वस्तु नही है। इस ढगसे जो एक क्षणमे उत्पन्न होने वाले आत्माका ग्रहण होता है वह निर्विकल्प ज्ञान है और वह निर्विकल्पज्ञान प्रमाण है। ऐसा क्षणक्षय सिद्धान्तमे प्रमाणके सम्बन्धमे अपना सिद्धान्त रखा आ रहा है।

अनिश्चयात्मक ज्ञानमें प्रमाणताका प्रतिषेध—आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि प्रमाणता आती है संशय विपर्यय, अनध्यवसायज्ञान न होनेसे। कुछ न कुछ निश्चय हो उसकी प्रमाणता आती है। जो अनिश्चयात्मक ज्ञान है उसमें प्रमाणता नहीं आ सकती। क्षणक्षयसिद्धान्तमें जो परमार्थभूत ज्ञान बताया है वह अनिश्चयात्मक है। जैसे चलते जा रहे हैं और पैरमें तृण आदिक छू जायें, छूते रहते हैं, चलते जा रहे हैं, पैरके नीचे कोई कंकड पत्ता कुछ न कुछ आते रहते हैं पर उनका कौन निश्चय करता है। चलते जाते हैं, उसकी ओर निश्चय करनेकी बुद्धि नहीं लगाते हैं। पैरके नीचे क्या चीज आयी थी उसे कौन सोचता है ? तो जैसे चलते हुए पुरुषके पैरमें तृणस्पर्श हो जाता है किन्तु वह पदार्थ है क्या ? उसके बारेमें कुछ निश्चय ही नहीं हो रहा। ऐसे ही जो निर्विकल्पज्ञान है, जिसमें पदार्थका कुछ भी प्रतिभास नहीं है वह ज्ञान क्या प्रमाणके लायक है ? प्रमाण तो वह होता है जिसमें निश्चय पडा हुआ है।

निश्चयहेतुताके कारण निर्विकल्प ज्ञानके प्रमाण होनेका पक्ष—इसपर क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि यद्यपि निर्विकल्पज्ञानमें निश्चय तो नहीं पडा है किन्तु निश्चयका कारण है। उसके बाद जो सविकल्प ज्ञान होता है, जिसमें पदार्थ प्रतिभास है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो गया उस पदार्थका इसमें प्रतिभास हो रहा है। तो उस पदार्थका कारण तो निर्विकल्प ज्ञान हुआ। न निर्विकल्प ज्ञान होता तो प्रतिभास कैसे बनता ? इसको स्पष्ट समझना हो तो जैन सिद्धान्तकी एक घटना ले लो। सबसे पहिले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है छद्मस्थ अवस्थामें, यह बात अनेक सूत्रोंमें बतायी गई है कि दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है पहिले हुआ पदार्थका आकार प्रकार रंग रूप न ग्रहण करके पदार्थका सामान्य रूप से प्रतिभास, वह तो है दर्शन, और उसके बाद जो पदार्थका आकार समझमें आया वह है ज्ञान। तो यद्यपि दर्शन प्रमाण नहीं है, न प्रमाण है अप्रमाण। प्रमाणभूत जो ज्ञान बनेगा उस ज्ञान बननेका कारण तो है दर्शन। दर्शन न होता तो ज्ञान कैसे बनता। तो दर्शन यद्यपि निश्चयात्मक नहीं है लेकिन निश्चयात्मक ज्ञानका कारण तो होता है। इस ही तरह क्षणिकवादी कह रहे हैं कि यद्यपि निर्विकल्प ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है लेकिन निश्चयात्मक सविकल्प ज्ञानका कारण तो है इस कारणसे निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण मानना चाहिये।

निश्चय हेतुताके कारण निर्विकल्प ज्ञानमें प्रमाणताका प्रतिषेध—आचार्यदेव कहते हैं कि यों निर्विकल्प ज्ञानके प्रमाणकी बात ठीक नहीं है। यदि ऐसी बात रखेंगे कि जो निश्चयका कारणभूत ज्ञान है वह प्रमाण होता है तो संशय ज्ञान भी प्रमाण हो जाना चाहिए। कभी-कभी किसी-किसी निश्चयके पहिले संशयज्ञान रहता है। यह सीप है या चांदी ? इस प्रकारका संशयज्ञान हो रहा हो उस ही सिलसिलेमें यह ज्ञान हो जाता है कि यह सीप है, चाँदी नहीं है। तो यह जो यथार्थ ज्ञान हुआ है इस ज्ञानका कारण किसी न किसी रूपमें संशयज्ञान तो हुआ। उस संशय

की ममताका त्याग हो। मैं अपने आपमे गुप्त होऊगा तभी मेरा कल्याण है।

निराकार ज्ञानमे प्रमाणत्वका अनवकाश क्षणिकवाद सिद्धान्तमे स्व लक्षणके अध्यवसायी निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण कहते है, और जहाँ पदार्थका प्रतिभास होता है, आकार प्रतिबिम्बित होता है उसको विकल्प ज्ञान कहते है और अप्रमाण कहते हैं। इसपर उनसे पूछा गया कि निर्विकल्प ज्ञान तो अनिश्चयात्मक है निश्चयात्मक तो सविकल्प ज्ञान है, जिसमे आकार प्रकार विशेषता सभी ज्ञात होते हैं। तो अनिश्चयात्मक ज्ञानमे प्रमाणता नही आ सकती। यदि अनिश्चयात्मक ज्ञानमे प्रमाणता आ जाय तो अनध्यवसाय ज्ञान जिसमे कुछ भी निर्णय न हो वह भी प्रमाण हो जायगा इसपर तर्क रखा कि निर्विकल्प ज्ञान स्वय निश्चयरूप नही है, पर निश्चयात्मक विकल्प ज्ञानका कारण तो है। पहिले दर्शन होगा तब तो विकल्प बनेगा। पहिले निर्विकल्प ज्ञान होगा तब आकार प्रकार प्रतिभासमे आयगा। यों सविकल्प ज्ञानका निश्चयात्मक ज्ञानका कारण होनेसे निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण हो जायगा। तो इसके उत्तरमे कहा गया है कि इस तरह तो सशय आदिक विकल्पोको उत्पन्न करने वाला दर्शन भी प्रमाण बन जायगा, अथवा सशय आदिक ज्ञान प्रमाण बन जायेंगे। सशय आदिक ज्ञानके सिलसिलेमे भी तो धीरे धीरे पदार्थका निश्चय हो जाता है। तो जो निश्चयका कारण है वह प्रमाण मानोगे तो सशयको उत्पन्न करने वाला दर्शन भी प्रमाण बनेगा। यदि यह कहो कि सशय आदिक विकल्पोमे स्व लक्षणका अध्यवसाय नही है अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान तो किसी पदार्थको जानता नही तब किसका प्रतिभास करता है ऐसा प्रश्न होनेपर यही कह सकते कि वह अपने लक्षणका प्रतिभास करता है। तो जो अपने लक्षणका प्रतिभास करे वह प्रमाण है, पर विकल्प ज्ञानमे स्व लक्षणका प्रतिभास नही है इसलिये प्रमाण न होगा। तो कहते हैं कि यही बात अन्य ज्ञानोमे भी है। वे भी अपने लक्षणका प्रतिभास नही करते तो वे भी प्रमाण न होगे।

क्षणक्षय सिद्धान्तमे निर्विकल्प ज्ञानसे वस्तुका अनिर्भास व सविकल्प ज्ञानसे अवस्तुका निर्भास यहाँ ज्ञानकी चर्चा चल रही है कि ज्ञानोमे वास्तविक कौनसा ज्ञान है। इस प्रसङ्गमे क्षणक्षय सिद्धान्तमे बतलाते हैं कि चू कि पदार्थ क्षण क्षणमे नष्ट होते हैं तो जिस क्षणमे पदार्थ हुआ उस ही क्षणमे उसका ज्ञान हो तो वह सही है और ऐसा ज्ञान निर्विकल्प होता है। और, जब पदार्थका आकार समझमे आता उस समय पदार्थ रहता नही अतएव अवस्तुको जाना, सविकल्प ज्ञानने। इस कारण प्रमाण नही है। जैन सिद्धान्तके अनुसार तो तत्त्व यह है कि लोकमें प्रत्येक अखण्ड आत्मा है और वह प्रतिभास स्वरूप है। और चूँकि सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होते हैं तो यह प्रतिभास सामान्य रूप है, विशेषरूप है। जो सामान्यरूप प्रतिभास है वह तो दर्शन है और जो विशेषरूप प्रतिभास है वह ज्ञान है। आत्मा दर्शन ज्ञान स्वरूप है। दर्शनमे प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था नही है। ज्ञानमे जो

समीचीन है वह प्रमाण है और जो असमीचीन है वह अप्रमाण है। इसके विपक्षमे क्षणिकवादी यह बताते है कि आत्मा ही कुछ चीज नही हे। जो एक एक समयका ज्ञान है वही एक एक आत्मा है। आत्मा कोई स्थायी तत्त्व हो जिसमे ज्ञान उत्पन्न होता रहता है, ऐसा कुछ नही है। सभी पदार्थ क्षणिक होते है क्योकि उनकी सत्ता है और वह सत् भी एक समयमात्र है। तो एक क्षणका जो ज्ञान होता है वह आत्मा है और वही प्रमाण है। अब एक क्षणका जो ज्ञान होगा उस ज्ञानमे पदार्थ नही आते समझमे, किन्तु ज्ञानका लक्षण ही रहता है। ऐसे निर्विकल्प ज्ञानको ही प्रमाण कहते है, किन्तु प्रमाण वह ज्ञान होता है जो ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थका प्रकाश करता है। अपने स्वरूपको जाने और पदार्थ को जाने वही वास्तविक ज्ञान है । निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही है। यहा निर्विकल्पका अर्थ है जहाँ कुछ समझमे नही आया, किसी पदार्थ का रूप अवस्था आकार कुछ भी बात प्रतिभासमे न हो और केवल एक ज्ञान रहे उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते है। तो ऐसा निर्विकल्प ज्ञान जब कुछ जानकारी ही नही करता है तो वह प्रमाण कैसे ? जानकारीका नाम है प्रमाण। जब कुछ प्रतिभास भी नही होता पदार्थका तो प्रमाण कैसे ?

निर्विकल्प ज्ञानमे विकल्पोत्पादकताका अभाव—यह निर्विकल्प ज्ञान विकल्पको उत्पन्न करदे अर्थात् जानकारीके ज्ञानको बनादे यह भी सम्भव नही, क्योकि खुद अविकल्प है। जो स्वय निर्विकल्प है वह विकल्पको कैसे उत्पन्न करे ? अर्थात् जो स्वय पदार्थकी जानकारीसे रहित है, केवल स्वलक्षणमात्र है वह पदार्थकी जानकारी को कैसे उत्पन्न करे। विकल्प उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य होना और स्वय निर्विकल्प होना इन दोका तो परस्पर विरोध है। यदि यह कहो कि विकल्पकी वासनाकी अपेक्षा रखकर वह निर्विकल्प ज्ञान विकल्पको उत्पन्न करता है अर्थात् अर्थप्रतिभास-रहित ज्ञान विकल्पकी वासनाके सहारेसे अर्थप्रतिभासको उत्पन्न करता है सो कहते है कि स्वरूपत तो वह निर्विकल्प ज्ञान भी अर्थ प्रतिभास नही कर रहा और ये पदार्थ भी प्रतिभास नही करते तो सीधा इन पदार्थोंको ही क्यो न मान लीजिये कि ये जानकारी पैदा कर देते है। यदि यह कहो कि आत्मामे पहिले एकनाममात्रका ज्ञान हुआ, और फिर वह असली जानकारीको उत्पन्न करता तो सीधा ही यही कहदो ना कि ये पदार्थ ही जानकारीको उत्पन्न कर रहे है। यदि ऐसा यह कहो कि जो पदार्थ स्वय अज्ञात है वह कैसे जानकारी पैदा करे ? तो तुम्हारा निर्विकल्प ज्ञान भी तो अज्ञात है, वह कैसे विकल्प उत्पन्न कर देगा ? यदि यह कहो कि निर्विकल्प ज्ञानमे नाम तो ज्ञान पडा हुआ है, अनुभूति तो उसका स्वरूप है इस कारण विकल्प पैदा कर देगा। और, ये पदार्थ अनुभव कुछ नही करते इसलिये ये जानकारी पैदा नही करते। यो अनुभवमात्रसे यदि विकल्प पैदा हो जाये तो क्षणक्षय आदिक जो ज्ञान होते है उनमे भी जानकारी सीधी बन जाना चाहिए। तो ऐसा निर्विकल्प ज्ञान जो केवल कल्पनाकी चीज है, जिसमे जानकारी कुछ नही बसी हुई है वह प्रमाण नही है

किन्तु जिसमे पदार्थ प्रतिभासमे आते हैं स्वय भी समझमे आते हैं ऐसा ज्ञान यह प्रमाणभूत होता है।

समस्त ज्ञानोमे स्वपरप्रकाशकता—ज्ञान ५ प्रकारके माने गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उनमेसे मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान तो परोक्ष है अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष है वे तो प्रमाणभूत है ही। उनकी चर्चा न करके परोक्ष जो मतिश्रुत है उसमे प्रमाणपने की बात इस समय कीजियेगा। कौन सा मतिज्ञान प्रमाण है और कौन सा अप्रमाण, कौन सा श्रुतज्ञान प्रमाण है और कौन सा अप्रमाण ? इसकी चर्चा बनाइये। कोई भी मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान हो, उसमें यह बात पडी हुई है कि वह ज्ञान अपनेको भी जानता है और परपदार्थको भी जानता है। चाहे वह इन्द्रियकी आधीनतामे उत्पन्न हुआ हो और चाहे स्वतन्त्रतासे उत्पन्न हुआ हो, पर ज्ञानकी यह प्रकृति है कि वह खुदका भी ज्ञान करे और अन्य पदार्थका भी ज्ञान करे। इसी कारण ज्ञानसे समस्त जगतकी व्यवस्था रहती है। सब द्रव्योमे आत्माको श्रेष्ठ माना है, उसका कारण यह है कि सर्व पदार्थोंको जानने वाला एक आत्मा है। कल्पना करो कि सब कुछ तो होता, पुद्गल भी सब होते, धर्म अधर्म, आकाश, काल भी होते, एक जीव द्रव्य भर न होता तो यह है, यह कैसे सिद्ध होता ? कोई ज्ञाता पदार्थ है उसके कारण ही तो सारी व्यवस्था है। जीव द्रव्य न होता तो फिर कोई व्यवस्था न हो सकती थी और उस जीव द्रव्यमे भी सारभूत तत्त्व है अपना स्वरूप।

जीवकी बरबादीके साधन मोह और कषाय—इस जीवमे कर्मोदयसे, उपाधिके वशसे जो एक विकार आया है, मोह जगना, कषाय जगना, यह तो जीवकी बरबादीके लिए है। मोही जीव तो मोह कर करके ही दुखी होते रहते है और उसमे ही अपनी चतुराई समझते रहते है। इस जीवके क्लेशका कारण मोह है यह खूब निर्णय करके निरख लो। जिन सचेतन जीवोंसे मोह करते हैं वे भी तो इस ससारमे यत्र तत्र भटकने वाले मोही प्राणी है। वे जीव क्या लगते हैं तुम्हारे ? उन जीवो के मोह करनेसे कौनसा आत्मा का सुधार शान्ति उत्पन्न हो जाती है ? मोहमे मनुष्य शान्ति समझता है, तृष्णामे परिग्रहमे, धनसचयकी धुनमे मनुष्य शान्ति समझता है मगर सब अशान्ति इसी धुनमे बसी हुई है। देख यह आत्मा अकेला ही उत्पन्न होता और अकेला ही मरता है, साथमे कुछ भी नही लाता जाता। तो जरा सी जिन्दगीमे एक परिग्रह सचयकी धुन बनाकर अपने आपको एक वेदना ज्वालामे जलाते–भुनाते रहना यह कौन सी बुद्धिमानी है ?

जैनशासनका परम शरण सबसे बडा शरण तो जिनेन्द्रदेवका शासन है जिसकी शरणमे रहकर जिसकी चर्चा सुनकर हम आप अपनी आकुलतायें दूर किया करते हैं। उस शासनसे लाभ लेना चाहिए। मनुष्य जीवन पानेका लाभ यही है कि

सर्वोत्कृष्ट दुर्लभ अहिंसामय रत्नके आधारपर निर्भर यह जैन शासन मिला है तो इस का अधिकसे अधिक उपयोग करे अपनी तृष्णा लगाये तो जैन शासनमे लगायें, गर्व उत्पन्न होना हे तो गर्वके बजाय गौरव इस शासनमे उत्पन्न हो, यह मैं आत्मा आकाशवत् निर्लेप ज्ञानस्वरूपके कारण समस्त लोकालोकको जाननेकी सामर्थ्य रखने वाला हू स्वय शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ। इस मुझ ऐसे महाप्रभुके लिए ,इन तुच्छ भोग उपभोग विकल्प रागद्वेषकी कलुपतासे क्या प्रयोजन । मैं अपने आपमे वसूँ और अपने स्वरूपका अनुभव करके अपनेको अलौकिक अनुपम अनुभवसम्पन्न बनाऊँ ऐसा गौरव होना चाहिए । क्रोध जगता है तो अपने रागद्वेष मोहपर क्रोध करो । मै विकल्प ये व्यर्थकी ममता, ये व्यर्थकी तृष्णाके भाव जिनसे मेरा कुछ भी लाभ नही है, जिनकी ज्वालामे मै निरन्तर जलता भुनता रहता हू, ये विकार ही मेरे शत्रु है, ये विकार दूर हो, ऐसा क्रोध कीजिए अपने आपके विकारभावोमे ।

ज्ञानसे ही अपना पूरा पडनेके निर्णयका अनुरोध ये मोह ममता भाव भैया इनको क्या उपमा दी जाय । जगतमे सबसे अधिक अनर्थ करने वाला यह मोहभाव है । दुनियामे अनेक आये, और चले गए, उनका कुछ नाम निशान भी नही है । जिन पुरुषोकी चर्चायें सुननेमे आती है उन चर्चावोमे भी उनके आत्माको क्या लाभ ? उनके आत्माको तो वही लाभ है जो उन्होने धर्मपालन किया था । यह ससार असार हे, इनमेसे कुछ भी समागमोमे मोह रहेगा तो उसका फल केवल क्लेश ही रहेगा । ऐसा उपाय बनाओ जिससे उपयोग विशुद्ध रहा करे । हमारा आपका और कोई साथी नही है । सच्चा साथी है अपना उपयोग निर्मल रहे बस यह भाव । वह उपाय कीजिए । अपने जीवनमे जब तक आप यह दृढ निर्णय न कर लेंगे कि हमारा धनसे कुछ पूरा नही पडता हमारा पूरा तो हमारे ज्ञानसे ही पडेगा, जब तक आप यह पूर्ण निर्णय नही बना लेते तब तक शान्तिकी झलक आ नही सकती । हमारा ज्ञान अविकारी बनना चाहिए जिसमे पर पदार्थोकी उपेक्षा जगे, अन्यथा सोचिये फिर किसी भी पर पदार्थका ध्यान कर-करके उमसे लाभ क्या मिलता ? वैभव तो पूर्वकृत धर्मके प्रसादमे आ जाते हैं । तो धर्मकी रक्षा करना चाहिए । सर्व अभीष्ट चीजोकी सिद्धिके लिए धर्मका पालन करना चाहिए, न कि धर्मको भूलकर तृष्णामे बहना चाहिए । जब तक सम्यग्ज्ञान नही जगता तब तक सतोष नही आता, तब तक जीवन जीवन नही कहलाता । तो ये सब बातें सम्यग्ज्ञानके प्रसादसे उत्पन्न होती हैं । अत अधिकसे अधिक शरीरका श्रम, अधिकसे अधिक वचनोका प्रयोग और अधिकसे अधिक धनका व्यय जिसमे हमे ज्ञान मिले, ज्ञानमे उपयोग रहे उसमे होना चाहिए । ज्ञान ही वास्तविक शरण है, अन्य कुछ शरण है ही नही ।

मोहकी मोहिनी धूल —कैसा मोहका माहात्म्य है कि जिस मोहभावके कारण दुखी होते है, बडे-बडे सकट आते है, चित्त बेचैन हो जाता है उस ही मोहमे

यह जीव राजी रहता है। यो समझिये जैसे विष्ठाका कीडा विष्ठामे ही राजी रहता है इसी तरह मोहका कीडा मोहमे राजी रहता है। मोह करके दुःख उठाते रहते हैं फिर भी वैराग्य नही उत्पन्न किया जाता तो इसका कुफल भोगेगा कौन ? कभी कुछ समयको सासारिक वातावरणके कारण कोई बडी चोट लग जाय तो अल्प कालके लिए विचार बन जाता है कि अब मुझे किसीसे कुछ प्रयोजन नही, मैं तो सबसे न्यारा ही रहूगा। लेकिन कुछ समय बाद फिर वहीकी वही धुन बन जाती है। मोहसे बढकर जीवका कोई दुश्मन नही है। यदि अज्ञान है, मोह है तो कही चले जावो वहाँ ही क्लेश है। अज्ञानी जीव चाहे घरमे हो, चाहे दूकानमे हो, चाहे मन्दिरमे हो, चाहे किसी भी जगह हो सर्वत्र दुःखी रहता है, क्योकि उपादान तो मोहका पडा हुआ है। तो मोहभावके अनुसार ही तो वह अपनी परिणति बनायेगा। कही भी रहे, मोह है अतएव सर्वत्र दुःखी है यह जीव। कैसी भी परिस्थिति मिले, करोडोका भी धन मिले लेकिन मोह है तो वहाँ भी दुःखी रहता है, चैन नही मिलती। अतएव ऐसा निर्णय बनायें कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न करके मोहका विनाश करना है। यही एक कार्य है शान्ति पानेके लिए। शान्ति प्राप्त करनेका और कोई दूसरा उपाय नही है।

आत्महितकी शक्यता भैया ! आत्महितकी अभीष्ट बातें चाहे तो सब बन सकती हैं। किसी भी प्रकारका कष्ट न हो ऐसा भी आप उपयोग बना सकते हैं, गृहस्थीमे भी रहकर अथवा गृहस्थी त्यागकर साधु पदवीमे भी कष्टरहित अपना प्रोग्राम जहाँ चाहे बना सकते हो। कौनसा कष्ट है बतलावो ? गृहस्थावस्थामे भी रहकर कष्ट सब मान रहे है पर कष्ट कुछ भी नही है। केवल एक मोह बढाया, अज्ञान बढाया, लालसा रखी, तृष्णा बसी उसका दुःख है। कोई प्रश्न कर सकता है कि किसीकी तृष्णा न करें तो काम कैसे चले ? तो पहिले तो यह बतावो कि धन क्या तृष्णा करनेसे आया करता है ? ज्ञान नही है इसलिए तृष्णा जगती है, और फिर कितना धन होनेपर गृहस्थी अच्छी तरह चलती है इसका किसीने कुछ प्रमाण बताया है क्या आज तक ? यह तो सब अपने भावोकी बात है। जिस किसी भी परिस्थितिमे अपना काम निभा सकते है। तृष्णा करें केवल धर्मपालनके लिए ही तब जीवन वास्तविक जीवन है। ऐसा भाव हम सब अपना बना सकते है और ऐसा प्रयोग कर भी सकते है मोह और कषाय ये ही जीवको दुःखके देने वाले हैं अन्य कोई वैरी नही है। वह मिटेगा सम्यग्ज्ञानसे। उस सम्यग्ज्ञानकी ही दर्शनशास्त्रमे चर्चा की जा रही है कि ज्ञानका असली स्वरूप क्या है और वह ज्ञान किमात्मक हो तो हितकी प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये। यो हितके अर्थ अपने आपके भीतरकी बातको जानना अत्यन्त आवश्यक है। मै क्या हू, किस स्वरूप हूँ, मेरेमे क्या परिणमन होता है। अपने अस्तित्वका पूरा भान करे तो उसे हितकी प्राप्ति होती है। सबसे न्यारा ज्ञानमात्र यह मैं अन्तस्तत्त्व हूँ, उसका दर्शन हो जाय उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। और जिसे सम्यग्दर्शन हो वह नियमसे ससारके सकटोको समाप्त कर देगा। अत

उद्यम करना चाहिए सम्यग्ज्ञानके उपार्जनका।

प्रमाणभूत ज्ञानकी परिस्थिति- वस्तुके स्वरूपका जिस ज्ञानसे निर्णय होता है उस ज्ञानमे यह निर्णय बना लेना कि ऐसा ज्ञान तो ठीक होता है और ऐसा ज्ञान असत्य होता है, तब फिर दर्शन शास्त्रमे वस्तुके स्वरूप जाननेका अवसर मिलता है। इस कारणसे सबसे पहिले अपने ज्ञानको ठीक करे कि कौनसा ज्ञान प्रमाण होता है। जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला हो, जो ज्ञान खुदको भी जानता हो कि मै बिल्कुल सही हू और अन्य पदार्थोंका भी ज्ञान कराये, यह बात ऐसी ही है वह ज्ञान प्रमाण होता है।

अव्यवसायमे प्रमाणत्वकी अयुक्ति व्यवसायी ज्ञानकी प्रमाणताके विरुद्ध क्षणक्षयवादी यह कह रहे है कि जब पदार्थ सब क्षण-क्षणमे नष्ट होते है तो जिस समयमे जो पदार्थ हुआ उस समयमे उसका निश्चय हो नही सकता। ज्ञान तो हो जायगा, पर निर्विकल्प होगा, अतएव निर्विकल्प ज्ञान ही प्रमाण है। और जिस ज्ञान मे निश्चय बसा हुआ है कि यह पदार्थ ऐसा है वह ज्ञान अप्रमाण है। जब उनसे पूछा जाय कि जिसमे निश्चय ही कुछ नही है ऐसा निर्विकल्पज्ञान कैसे प्रमाण हो गया, उससे निश्चय कैसे बनेगा ? तो बताते है वे कि निर्विकल्पज्ञान सविकल्प ज्ञानको उत्पन्न करता है इसलिए वह प्रमाण है। नो जो निर्विकल्प ज्ञान (दर्शन) स्वय केछ समझा नही गया वह निश्चयका ज्ञान कराने वाला कैसे बनेगा ? अनुभूतिमात्रसे दर्शनको विकल्पजनक कहोगे तो क्षणिकताका विकल्प क्यो नही हो। इसके उत्तरमे क्षणिक-वादी यह कह रहे है कि जिस पदार्थमे निर्विकल्प ज्ञान विकल्प वासना जगाये वह उस पदार्थमे प्रमाण उत्पन्न करता है प्रबोध करता है यह भी युक्तिसगत प्रतीत नही होती। यदि दर्शन (निर्विकल्प ज्ञान) अनुभवन मात्रसे प्रबोध करने लगे तो जैसे सीधा यह ज्ञान करनेमे प्रबोध माना है कि यह पट नीला है, पीला है इस तरह सब क्षणिक है क्योकि सत्त्व होनेसे इन अनुमानमे भी विकल्पवासनाका प्रबोध बन जाना चाहिए। प्रयोजन यह है कि ऋजुसूत्रनयके एकान्ती ऐसे ज्ञानको प्रमाण मानते है जिसमे न आकार ज्ञानमे आया न उसकी शकल ज्ञानमे आयी, किन्तु स्वलक्षणमात्र हो गया ज्ञान तो भला बतावो कि यह निर्णयके बिना ज्ञान किसका नाम है ? वास्तवमे जो ज्ञान अपना भी निश्चय कराये और परका भी निश्चय कराये उसे प्रमाण कहते हैं।

दर्शनकी नियतप्रबोधकतापर क्षणक्षयका सिद्धान्त यह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसमे वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमे कौन दार्शनिक क्या कहता है उसका विवेचन है और जैन सिद्धान्त क्या कहता है उसका इसमे प्रतिपादन है। इसमे सबसे शुरूमे ही इसी बातपर चर्चा चलायी गई कि प्रमाण कौन होता है। जब तक प्रमाणका पता न पडे तब तक आगे सिद्ध क्या किया जाय। जैन सिद्धान्तका तो यह मतव्य है कि जो ज्ञान अपना भी निश्चय रखे, पर पदार्थका भी निश्चय रखे वह प्रमाण है। और

क्षणिकवादी यह कहते है कि निश्चय कराने वाले सारे ज्ञान झूठे है, किन्तु जिसमे निश्चय तो नही किन्तु कुछ ज्ञान है वह प्रमाण है। और वह निर्विकल्प ज्ञान विकल्प वासना बनाता है, उससे फिर जीवोका निश्चय बनता है। तो पूछा गया यहा कि जो चीज सामने दिखती है उसमे तो निश्चय बन जाता है और जो अनुमानकी चीज है उसमे विकल्प वासनाका प्रबोध नही माना तो क्या कारण है ? तो उनका कहना है कि भाई उनमें अभ्यास नही है, उसका प्रकरण नही है। उसमे दर्शन नही होता, उसमे चतुराई नही है, उसकी इच्छा नही है इस कारणसे अनुमानका तो प्रबोधक नही होता और जो आखो दिखता है उस पदार्थके सम्बन्धमे विकल्प वासनाका प्रबोध हो जाता है।

अभ्यासके अभावकी युक्तिकी असगतता—यदि अभ्यासके अभावसे दर्शन क्षणक्षयमे विकल्प वासनाका प्रबोधक नही है यो वह अभ्यास नाम किसका है ? किसी चीजको बार बार देखनेका नाम अभ्यास है या उसमे विकल्प पैदा करनेका नाम अभ्यास है। यदि बारबार देखनेका नाम अभ्यास कहे तो जैसे हम बारबार नीला पीला पर देखते है इसी प्रकार उन क्षणक्षयके अनुमानका भी हम बारबार विचार करते हैं, तथा यही विकल्पोकी उत्पत्तिकी भी है। विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासका क्षणक्षयादिके दर्शनमे कैसे अभाव माना जाय। यदि यह कहो कि क्षणक्षयादि दर्शनमे विकल्पवासना की प्रबोधकता नही है इससे विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासका वहा अभाव है तो इस कथन मे अन्योन्याश्रय दोष हो गया। क्षणक्षयादिमे दर्शनकी विकल्पवासना प्रबोधकताका अभाव सिद्ध हो तब तो विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासके अभावकी सिद्धि होगी और जब विकल्पोत्पत्तिरूप अभ्यासके अभावकी सिद्धि हो, तब क्षणक्षयादिमे दर्शनकी विकल्प-वासना प्रतिबोधकताका अभाव सिद्ध होगा। इस कारण अभ्यासके सद्भाव व अभाव की युक्ति असगत है।

प्रकरणके अभाव युक्तिकी असगतता—प्रकरण तो जैसे नीलादी अर्थकी विचारणामे हुआ करता है, ऐसे ही क्षणिक और अक्षणिककी विचारणाका भी प्रकरण बना हुआ है। दर्शन विकल्पवासनाका प्रबोधक है तो क्षणक्षय ज्ञानमे साकारताका रूप आना चाहिये। जो निर्विकल्प ज्ञान सन्निकर्षवादी है और व्यवसायका कारणभूत भी नही हो सकता तो वह प्रमाण नही बन सकता। अब आप यह देखिये कि हमारे ज्ञानमे यह चौकी है तो ऐसा ज्ञान करनेमे दो बाते बनती है। एक तो यह कि चौकी ही है अन्य कुछ नही है। यह निर्णय है कि नही ? और एक यह निर्णय है कि मेरा ज्ञान बिल्कुल पक्का है। यह चौकी ही है तो ज्ञानको प्रकाशन करना और पदार्थका ग्रहण करना ज्ञानमे ये दो निर्णय पडे हुए है। जैसे दीपक है तो दीपकका ही स्वभाव है—खुदका भी प्रकाश करे और दूसरे पदार्थका भी प्रकाश करे। क्या कोई दीपक ऐसा भी है कि जिसको ढूढनेके लिये अन्य दीपककी जरूरत पडती हो ? दीपक खुदको बताता

हुआ। कोई कहे कि उस कमरेसे दीपक उठा लावो, जलती हुई लालटेन उठा लावो तो क्या कोई यह कह सकता है कि हमको एक और लालटेन न दो तो हम उसे ढूढ कर उठा लायें ? अरे वह तो स्वपर प्रकाशक है। ऐसे ही ज्ञानका माहात्म्य है कि सारे अर्थोको भी जाने और अपने आपको भी जाने।

पाटवके अभावकी असगतता—चतुराईकी बात कहो तो चतुराई नाम किसका है ? जो कुछ ये पदार्थ दिखते है इन पदार्थोंमे जो पहिले दर्शन हुआ वह विकल्प उत्पन्न करदे इसका नाम चतुराई है या स्पष्ट अनुभव हो उसका नाम चतुराई है, या अज्ञानका नास होनेसे आत्म लाभ होनेका नाम चतुराई है ? यदि विकल्पो त्पादकता का नाम चतुराई है तो उसमे अन्योन्याश्रत दोष है क्षणक्षयादिके सम्बन्धमे दर्शनकी विकल्पवासना प्रतिबोधकताका अभाव सिद्ध हो तब विकल्पोत्पादकत्वरूप पाटवका अभाव सिद्ध हो और जब ऐसे पाटवका अभाव सिद्ध हो तब क्षणक्षयादिमे दर्शनकी विकल्पवासना प्रतिबोधकताका अभाव सिद्ध हो। और, यदि स्फुटतर [अतिस्पष्ट] अनुभवका नाम पाटव (चतुराई) है है तो स्फुटतर अनुभव अनुमानमे भी होता है। तथा अविद्यावासनाविनाशकी बात यो युक्त नही है कि तुच्छ स्वभावरूप अभाव सम्मत नही है। जैसे किसीसे कहे कि अमुक कमरेमे थाली चौकीपर रखी है उसे उठा लावो और वहा थाली है नही तो वह जाकर, देखकर यही तो कहेगा कि यहा थाली नही है। तुमने आखो देखा कि वहा चौकीपर थाली नही है ? हाँ हाँ हमने देखा कि वहाँ चौकी पर थाली नही है। अरे वहा चौकीपर थालीका अभाव भी कही दिखता है। केवल चौकी ही दिखी इसीके मायने है आखो देखा कि चौकीपर थाली नही है। नोनएक्जिस्टेन्स क्या आखोसे दिखता है ? जो चीज है नही वह दिखे कैसे। खाली चौकीका दिखना ही थालीके न होनेकी बात है। थालीसे रहित चौकीका दिख जाना ही थाली के अभावका द्योतक है। किसी भी चीजको देख लो अभाव किसी वस्तुका नाम नही है। जैसे चौकी यह है, चस्मा यह है इसी प्रकार अभावको कोई बता सकता कि क्या है ? अभाव कोई चीज नही होती। अभाव किसीके सद्भावरूप होता है। जैसे घडा फोड दिया, खपरिया बन गई, घडेका अभाव हो गया तो घडेका नाम क्या चीज है ? उन खपरियोका ही नाम घड़ेका नाश है, कोई अलग चीज नही है आज यह जीव है मनुष्य और मनुष्य पर्यायसे हटकर देव पर्यायमे आ गया तो कहा कि मनुष्यका नाश हो गया। वहाँ देव होनेका ही नाम मनुष्यका नाश है। तो किसी पर्यायका नाम ही पूर्व पर्यायका अभाव है।

व्यवसायात्मक ज्ञानसे परमार्थलाभ—भैया किसी भी तरहसे यह बात नही सिद्ध हो सकती है कि निर्विकल्पज्ञान प्रमाण है। किन्तु जिस ज्ञानमे पदार्थका आकार आता है। निश्चय होता है वह ज्ञान प्रमाण होता है जिसे इन दृश्यमान पदार्थो के जाननेकी इच्छा होती है ऐसे ही पदार्थोमे जो गुप्त तत्त्व पडे हुए हैं उन्हे भी जानने

की इच्छा होती है। तो जब ज्ञानका एक आकार आ जाता है वस्तुका तो वह ज्ञान प्रमाण होता है। यो ही काल्पनिक निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही है। देखो आत्मामे आत्माकी प्राप्ति सम्यग्ज्ञानसे ही होती है। बाह्य तत्त्वोंका कितना भी सचय करलें, कितनी भी विभूति हो जाय, चक्रवर्ति जैसा वैभव मिल जाय लेकिन बाह्य विभूतिसे किसी को भी आत्मलाभ नही होता है, शान्ति नही मिलती।

बाह्य वैभवोसे शान्तिका अलाभ—आप अनेक घटनाएँ सुनेंगे कि अमुक आदमी डाकुवोंके द्वारा मारा गया किस कारण कि वैभव साथमे था। जिनके पास वैभव अधिक है उनकी दशायें तो देखो, अनेक चिन्ताएँ हैं, अनेक शत्रु सतायें, राजा भी सताये, सब ओरसे वे विपत्तियोंका अनुभव करते हैं। विपत्ति उनपर भी नही हैं किन्तु धनके सम्बन्धमे इतनी तीव्र आसक्ति है कि न्याय अथवा अन्याय किसी तरहसे यह धन जुड़े ऐसा परिणाम है, ऐसी उनकी कोशिश है इस कारण आकुलता है। यह धन वैभव कितना भी आये वह पुण्यका फल है। धनको कोई मनुष्य चाहे कि हम कमा लें तो उसके हाथ पैर धन कमाते हैं या बुद्धि कमाती है? आपसे अधिक बुद्धि इन अनेकोंमे है, आपसे अधिक श्रम अनेक करते हैं। यह तो पुण्यका फल है, आता है तो आये, जाता है तो जाये, पुण्यसे भी महत्त्वकी चीज है धर्म क्योंकि धर्म तो शान्तिका कारण है और पुण्य आकुलताका कारण है। कभी पुण्यवानोंको भी शान्ति होती हुई नजर आती हो तो पुण्यके साथ-साथ जो धर्म लगा चलता है उससे शान्ति मिलती है, पुण्यसे शान्ति नही मिलती।

शान्तिका स्वरूप एकत्व उपाय एक—पापका फल विपदा है तो पुण्यका फल सम्पदा है। शान्तिका कहाँ सम्बन्ध रहा? शान्ति तो यथार्थज्ञानमें ही हो सकती है। वह यथार्थज्ञान क्या है यह निर्णय करनेसे पहिले ज्ञानका ही स्वरूप बताया जा रहा है कि ज्ञान कौन सा सही होता है? कहा है ना—"ज्ञान समान न आन जगतमे सुखका कारण"। ज्ञानके समान दुनियामे शान्तिका कारण और कुछ है ही नही। वैभव रहते हुए भी यदि ज्ञान सही जागृत है तो वहाँ भी शान्ति है, वैभवके न होते हुए भी सही ज्ञान है तो वहाँ भी शान्ति है। और, फिर वैभवका ठिकाना क्या? कितना वैभव हो तो शान्ति मिले यह आज तक किसीने निर्णय किया है क्या? कितनी सम्पदामे सुख मिलता है यह कही लिखा हुआ देखा है क्या, या किसीने तय किया है क्या? हजारपती लखपतीको निरखकर सोचता है कि मेरे पास कुछ नहीं है। तो इस धन आदिक वैभवमे तो अपेक्षाएँ हैं पर ज्ञानधनमे अपेक्षायें नही हैं। अनन्त ज्ञानी हुए, सबको शान्ति मिली उन सबको एक ही उपायसे मिली। आत्माका ज्ञान आत्मामे समाता वह उपाय सबका एक ही किस्मका था और निर्वाण और शान्ति भी सबकी एक ही किस्मकी है। यहाँ तो सुख भी अनेक तरहके हैं दुःख भी अनेक तरहके हैं। किसीका सुख किसीसे मिलता जुलता नही है। कोई किसी बातमे

सुख मानता कोई किस बातमे, उनके सुख बदलते भी रहते है, दु ख भी अनेक तरहके है और दु ख भी बदलते रहते है।

धर्मका अन्तर्वास - भैया ! लोकमे ये ६ बाते है, जीवके सुख और दु ख व उनके कारण है पुण्य और पाप पुण्य और पापके कारण हैं शुभ और अशुभ परिणाम। ये ६ बातें समारके साधक है। इनसे भिन्न जो आत्माका शुद्ध ज्ञान ज्योति प्रकाश है वह धर्म है। धर्मपालन करनेके लिए यत्न करना चाहिए ज्ञानार्जनका। ज्ञानदृष्टि बनाये, बाह्य तो एक अवलम्बन मात्र है। जैसे जब पूजा करते है तो अष्टद्रव्य जो बनाया है और अष्टद्रव्य जो चढाया है वही पूजा नही है, वह तो एक अवलम्बन है कि जिसके सहारे हमारा कुछ समय भगवानके गुणोमे स्तवनमे व्यतीत हुआ। वह अवलम्बन है। उस समय दृष्टि ले जाना चाहिए प्रभुके अन्त स्वरूपकी ओर और अपने अन्तरङ्ग स्वरूपकी ओर, तब वहाँ वास्तविक पूजा कहलाती है। ऐसे ही धर्म पालनके लिए हमे यत्न करना चाहिए कि समस्त बाह्य पदार्थोंसे हमारे विकल्प हटे और सत्यज्ञानकी दृष्टि बने।

अन्त पौरुषसे अन्त धर्मकी उपलब्धि--अन्त स्वरूपकी दृष्टिकी बात कभी दूकानपर बैठकर भी आप पा सकें तो वहा भी धर्मपालन किया। यह दृष्टि कही मदिरमे या कही चलते हुए पा सके, वहाँ भी धर्म पालन किया और यह दृष्टि मदिर मे बैठकर भी न पा सके तो यहाँ भी अभी धर्मपालन नही किया। मन्दिर हमारे लिए एक निराकुलताका निमित्त है, पर मन्दिर ही स्वय धर्म नही होता। मदिरमे आकर हम अन्तरङ्गमे धर्म करे तो धर्म होता है। घर गृहस्थीका निवास आकुलताका साधन है क्योकि वहाँ नाना प्रकारके परपदार्थोका सम्बन्ध है। मन्दिरमे देव, शास्त्र, गुरुका सम्बन्ध है। तो यहाँ हमे आत्मदृष्टि और धर्मपालनकी बात सुगमतासे हो सकती है इसलिए हम मन्दिर आते है और धर्मपालन करते हैं, पर मन्दिरमे आना ही धर्मपालन नही हुआ, धर्मपालन है आत्माकी अन्त स्वच्छता। यहाँ भी यदि कोई मोहकी बात सोचता रहे या किसी पुरुष स्त्रीको देखकर कोई विकारकी बात मनमे लाता रहे तो धर्मपालन नही हुआ धर्म नाम है रागद्वेष रहित निर्विकल्प अपना परिणाम बनानेका।

स्वरूपप्रतिपादनका प्रयोजन सकटमुक्ति---दार्शनिकोने जो वस्तुका स्वरूप बताया है उस स्वरूपकी समझसे यही कोशिश की है कि हमारे रागद्वेष मोह मिटें। जो-जो कुछ भी परिभाषायें बनी हैं दार्शनिकोकी मूलमे उन सबका प्रयोजन यही है कि मोह रागद्वेष मिटे। अब उसका सच्चा उपाय बन पाये या न बन पाये यह उनकी प्रतिभाकी बात है, पर सभी लोग चाहते हैं कि ये रागद्वेष मोह दूर हो। आपको चाहिए क्या ? शान्ति। शान्ति मोह दूर होनेसे मिलती है। तो निर्मोहताका प्रोग्राम क्यो नही मनमे सोचते ? मोहका उदय ऐसा है कि मोहसे ही तो दु खी होते

अप ो–बात रख रहे है ।

निर्विकल्प स्वरूपकी ओर गतिका प्रयास—कोई लोग मानते हैं कि आत्मा अपरिणामी है सदा एक रूप है और वह एक है। ज्ञान होता है वह प्रकृतिका धर्म है। ज्ञान तरग भी आत्मामे नही है। तो यहाँ क्षणक्षयवादी यह कह रहे है कि आत्मा तो क्षणिक है। आत्मा है ज्ञानस्वरूप, पर वह ज्ञान भी क्षणिक है और निर्विकल्पज्ञान मात्र ही क्षणिक आत्मा है। फिर तो जैसे एक दिया जलता है और उस दियामे जल तो रहा तेलका एक–एक बूंद। एक–एक बूंद जितने–जितने क्षण जला वह है दीपक, पर निरन्तर जलते रहनेसे ऐसा लगता है कि यह वही दीपक है जो आधा घटासे जल रहा है। ऐसे ही क्षणक्षयवादमे मतव्य है कि आत्मा तो है क्षण–क्षणमे नष्ट होने वाला पर एक देहमे अनेक आत्मायें लगातार होती रहती है तो उन सब आत्मावोको यह भ्रम हो गया कि मैं वह आत्मा हूँ जो पहिले भी था। उनका भी प्रयोजन यह है कि हम क्षणमात्र आत्माको जाने और रागद्वेषमोहको हटावें। यह उपाय बताया है, पर जैन सिद्धान्त यह कहता है कि आत्मा अविनाशी है, उसकी पर्यायें क्षणिक हैं उसका ज्ञान क्षणिक है। क्षणिकपर दृष्टि मत डालें और आत्माके अविनाशी स्वभावपर दृष्टि दे तो रागद्वेष मोह दूर होगे और आत्माका निर्वाण होगा, आनन्दमय सत् बन जायगा। प्रभुको हम क्यो पूजते है? उन्होने पूर्ण आनन्दमय स्थिति पायी, हम भी प्रभुकी तरह शुद्ध मार्गपर चलकर ऐसे ही परम निर्वाणकी स्थिति पायें, यही जीवनमे प्रोग्राम रखे, मोह ममतासे इस जीवनका कुछ लाभ नही है।

क्षणक्षयादिमे विकल्पवासनाका प्रबोध असिद्ध करनेके लिये दी गई अर्थित्वके अभावकी युक्तिकी असगतता—स्पष्ट बात तो यह है कि आत्मा ज्ञानमात्र है, ज्ञानवृत्ति ही इसका व्यवसाय है। जब ज्ञान ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करता है तब आत्माको निरापद पद प्राप्त होता है। वह ज्ञान क्रियात्मक है इस पर विचार चल रहा है। ज्ञानसे ही निर्णय करके ज्ञानी सत परम हितकी प्राप्ति करते है। अत प्रमाणभूत वह ज्ञान व्यवसायात्मक ही होता है। इसके प्रतिपक्षमे क्षणक्षयसिद्धान्तने अव्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण माना है। उस प्रसगमे प्रश्नोत्तर हो–हो कर एक यह प्रश्न अभी शेष रहा है कि अव्यवसायी ज्ञान प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थोमे विकल्प (व्यवसाय) उत्पन्न करता है तो यह निर्विकल्प ज्ञान क्षणक्षयादि अनुमित तत्त्वमे क्यो विकल्पवासनाका प्रबोधक नही बनता। इसके उत्तरमे एक यह पक्ष उसका शेष रहा है कि क्षणक्षयादिमे अर्थित्वका अभाव है इससे विकल्पवासना नही जगती। तो यहाँ अर्थित्वका क्या तात्पर्य है? क्या चाहे जानेका नाम अर्थित्व है या जानना इष्ट होनेका नाम अर्थित्व है। चाहे जानेकी बात तो यो अयुक्त है कि कही सर्प, कण्टक आदि अनभिलषित पदार्थमे भी विकल्पवासनाका प्रबोध देखा जाता है। तथा इसमे तो एक यह चक्कर ही बन गया कि अभिलापासे विकल्पवासनासे प्रबोध हो, उससे

विकल्प (व्यवसाय) बने व उससे अभिलापा बने। यदि अर्थित्वका तात्पर्य "जाननेकी इच्छा" तो नीलादिककी तरह क्षणक्षयादिको भी जाननेकी इच्छा पाई जाती है सो क्षणक्षयादिमे भी विकल्पवासनाका प्रबोध होना चाहिये। फलित यह है कि निर्विकल्प ज्ञानकी सिद्धि ही नही है, उसकी प्रमाणताका विचार तो दूर ही है।

निर्णयोत्पादकताके कथनसे निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण सिद्ध करनेके यत्नकी सूचना—जो बात हितमे लगा दे और अहितसे दूर कर दे उसको प्रमाण कहते है। हितमे लगानेमे समर्थ और अहितसे दूर करनेमे समर्थ सच्चा ज्ञान ही है, अतएव ज्ञान ही प्रमाण है। इसपर क्षणिकवादका यह मत है कि ज्ञान प्रमाण अवश्य है, परन्तु ज्ञानकी होती है दो धारायें। एक वस्तुको निरखते ही तुरन्त जो बोध हुआ वह तो है निराकार और उसके बाद जो वस्तुके निरखनेके बाद अनेक प्रकारके विकल्प बनते है, अमुक वस्तु ऐसी है अमुक रगकी है यह कहलाता है सविकल्प अर्थात् साकार उसमेसे निर्विकल्प ज्ञान तो प्रमाण है और सविकल्प ज्ञान अप्रमाण है। बस प्रसगमे अनेक चर्चायें चलनेके बाद यह बात पूछी गई कि जिस ज्ञानसे कुछ तत्त्व भी नही आता, कुछ निश्चय भी नहीं होता वह अज्ञात याने अव्यवसायी ज्ञान कैसे प्रमाण है। तो उनका कहना था कि यही ज्ञान तो सविकल्प ज्ञानको उत्पन्न करता है अत प्रमाण है।

एकस्वभावी निर्विकल्प ज्ञानमे भेद आनेका प्रसग—तो इसपर यह दोष दिया जा रहा है कि यदि तुम्हारा निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प वासना बनाता है तो दृश्यमान पदार्थोमे तो विकल्प बना देता है और जो क्षणिक आदिक अनुमान ज्ञान किए जाते हैं उनमे क्यो नहीं बनाता ? इस कारण निर्विकल्प ज्ञान विकल्पका जनक भी नही है। इसपर यह आपत्ति क्षणिकवादी लोग दे रहे हैं कि जैनियोके यहाँ भी जो सविकल्प प्रत्यक्ष माना है उनके भी तो पूरा-पूरा निश्चय नही होता। किसीने कोई बात कही तो सुनने वाला क्या यह भी जानता है कि इसके बोलनेमे इतने अक्षर आये, इतने पद आये, इतने श्वास निकले ? क्या इन बातोका भी कोई ज्ञान करता है ? हम बोलते है और आप सुनते जा रहे है और अर्थ भी सोचते जा रहे हैं किन्तु ऐसा-ऐसा भी कोई सोच रहा है क्या कि इतने शब्द निकले, इतने अक्षर निकले, इतने पद कहे, इतने श्वास निकले ? तो जैनोका ज्ञान भी समस्त विकल्पोका निर्णय नही करता। इसपर उत्तर दिया जा रहा है कि भाई निर्विकल्प ज्ञान तो एक स्वभावी है किन्तु यहाँ ज्ञान एक स्वभावी नही है। मनुष्योके सस्कार हैं, उन सस्कारोके माफिक कोई ज्ञान दृढता रखता है, अनेकोकी धारणा रखता है, कोई ज्ञान अनभ्यासी है उसमे विविध प्रतिबोध नही है, अत कोई दोष नही है।

ज्ञानकी उत्तरोत्तर परिस्थितिया—जैन सिद्धान्तमे ४ प्रकारके मतिज्ञान

बताये है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। तत्वार्थसूत्रमे सब लोग पढते है। सर्व प्रथम पदार्थको निरखनेके बाद जो ज्ञान होता है वह अवग्रह है, फिर उससे जो विशेष जाननेका यत्न होता है वह ईहा है, और उसका जो निर्णय हो जाय वह अवाय है और फिर उसमे संस्कार बनें, बराबर अभ्यास बने वह धारणा है। तो इन चार ज्ञानो मे तीन तो अनभ्यस्त है अवग्रह ईहा अवाय किन्तु धारणा अभ्यासात्मक है। अनभ्यासी ज्ञानसे अभ्यासात्मक धारणा अलग चीज है। तो ज्ञानकी अनेक डिग्रियाँ है— कोई किसी प्रकारका ज्ञान है कोई किसी प्रकारका ज्ञान है। किसीकी ऐसी बुद्धि होती कि बोलने वालेके वाक्य तुरन्त गिन लेते है कोई इसपर ध्यान नही देते। तो यह ज्ञानके भेदका भेद है, पर क्षणिकवादियोके जो उन्होने प्रमाणभूत ज्ञान माना है उसमे तो कोई भेद ही नही है। यहाँ तो भेद है। जब धारणा ज्ञान नही है तो अवग्रह, ईहा, अवाय होनेपर विशेष और विविध ख्याल नही बनता, और जब धारणा हो जाती है तो ख्याल बनते ही है। तो जैसा संस्कार है वैसा स्मरण होने लगता है। पर क्षणक्षय सिद्धान्तमे यह बात युक्त नही है क्योकि उनका प्रमाण है दर्शन और उससे भेद नही है। अगर भेद हो जाय तो उनके ही मतमे विरोध आ जायगा।

अपने आपके जाननेमे दृष्टिप्रयोगका औचित्य—प्रयोजन यह है कि हम आप ज्ञानस्वरूप है हम अपने ही ज्ञानका जब सही निर्णय नही कर सकते तो हमने जगतमे क्या निर्णय किया। हम बाहरी पदार्थोकी तो व्यवस्था अच्छी बनाये, बढिया दूकान बनायें, परिवारकी व्यवस्था करे, यद्यपि जगतके जीव सब न्यारे है तो भी उन मे यह कल्पना करे कि ये दो तीन प्राणी तो मेरे है, इनके लिये ही मेरा तन मन, धन सब कुछ है, बाकी जीव सब गैर है। भैया एक कितना अज्ञान अंधकार है। भले ही व्यवस्थाके नाते यह करना कर्तव्य है कि उन परिजनोकी सम्हाल करे, पर ऐसा अज्ञान बसना कि ये मेरे है, बाकी सब गैर है यह कोई भली बात है क्या? जगतके सभी जीव ज्ञानस्वरूप है, अपनी अपनी सत्ता रखते है, मुझसे सब भिन्न है। चाहे अपने घर मे कोई उत्पन्न हुए हो वे सब भी भिन्न है और जिन्हे गैर माना जा रहा वे भी सब उतने ही भिन्न है। बल्कि निमित्त दृष्टिसे देखो तो जिन्हे हम गैर मानते है उनसे हमारा बिगाड नही होता और जिन्हे हम अपना मान रहे उनमे रागद्वेष मोह होता, आपत्ति आती। बन्धन पडता, उनसे बिगाड है। लेकिन मोहमे जीवको यह मति बनती है कि ये मेरे है, मेरा जीवन इनके ही लिये है और बाकी गैर है, उन्हे कुछ भी हो, ऐसी द्वैत बुद्धि जगती है वही अनर्थ करने वाली चीज है। हम अपने आपके ज्ञानस्वरूपको तो जानें।

स्वव्यवस्थाके पुरुपार्थका न्याय—सबकी हम व्यवस्था न करें और अपनी व्यवस्था न कर सके तो बतावो कहा टिकेगा यह? कोई मनुष्य दूसरेके घरमे घुसे, उसे निकाले, फिर वह दूसरेके घरमे जाय, अपने घरको भूला रहे तो उसका ठौर रहेगा? इस जगतके जितने चाकने पदार्थोमे हम अपना उपयोग दौडाते है मगर जमता

तो नहीहै । जिसमे सोचते हैं वही से धोखा मिलता है । जिन जिनका सयोग हुआ है वियोग तो उनका नियमसे होता ही है । लेकिन मोहकी ऐसी बान है कि जिससे धोखा मिलता । क्लेश मिलता फिर उसीमे लगता है । फल यह होता कि इसी तरह ससार रुलना फिरना इसका बना रहता है अपने स्वरूपका निर्णय करलें । यही एक काम है । यह पुरुषार्थ कर सके तो मनुष्य होनेका अर्थ निकला, और एक अपने आपका निर्णय न कर सके तो आहार तो पशु भी करते, मनुष्य भी करते, निद्रा पशु भी लेते मैथुन पशु भी करते मनुष्य भी करते, भय पशु भी करते मनुष्य भी करते । तो कौन सी बडी बात मनुष्य ने करली ? कुछ स्वप्नवत् असार वैभव इकट्ठा हो गया तो इसका है क्या, आखें मिची और सब खतम ।

राज्यमे विद्वत्ताके सम्बन्धके आदरका एक उदाहरण भैया ! कोई समय था ऐसा जब ज्ञानका बडा आदर था । राजा महाराजा लोग भी विद्वानोका कवियोका अत्यन्त अधिक आदर करते थे । उनकी दृष्टिमें ज्ञान का महत्त्व था । ऐसा समय राजा भोजके समयमे एक खासा गुजरा है कि जहा विद्वानोका बडा आदर था और उनकी बडी खबर रखी जाती थी । एक एक श्लोकके सुननेपर उन्हे हजारो लाखो रुपयोंका द्रव्य प्रदान किया जाता था । उस समयकी एक घटना है कि किन्ही चार देहातियो ने एक बार सोचा कि चलो अपनी भी कुछ कविता करलें राजाको सुनावेंगे तो वहाँसे कुछ अच्छा द्रव्य मिलेगा । चले चारो देहाती । रास्तेमें एक बुढिया रहटा कात रही थी उसे देखकर एक देहातीने कविता बना ली, चनर मनंर रहटा भन्नाय । बोला हमारी तो कविता बन गई । आगे चले तो देखा कि कोल्हूका बैल खली भुस खा रहा था सो दूसरा देहाती कहता है कि हमारी भी कविता बन गई कोल्हूका बैल खली भुस खाय । और आगे बढे तो देखा कि एक आदमी कधेपर पीजना लादे चला आ रहा था, उसे देखकर तीसरा देहाती बोला कि हमारी भी कविता बन गई वहाँसे आ गए तरकस बन्द । अब चौथेसे कहा कि तुम भी कविता बनाओ, तो चौथा देहाती कहता है कि हम पहिलेसे कविता नही बनाते हम तो तुरन्त ही बनाकर सुना देंगे । चारो पहुचे राजा भोजके दरबारमे । बाहर जो द्वारपाल खडा था । उससे उन देहातियोने कहा कि महाराज साहाबसे कह दो कि आज चार महाकविश्वर आए हैं । द्वारपालने राजासे जाकर बताया । राजा ने कहा अच्छा बुलावो । जब चारों देहाती पहुचे राजाके पास तो राजा ने चारोको कमसे खडा कर दिया और अपनी अपनी कविता सुनानेके लिये कहा । एक सो चौथे देहातीने क्या कविता बनाया यह हम जो चौथे छन्दमे कहे सो समझना) । सुनाने लगे चनर-मनर रहटा भन्नाय कोल्हूका बैल खली भुस खाय, वहाँसे आ गये तरकस बन्द, राजा भोज हैं मूसर चन्द । राजा भोज विद्वानोसे कहते हैं कि इन कवियोकी कविताओंका अर्थ तो लगावो । सब लोग दग रह गय । अगर कवितामे कोई दम हो तो अर्थ लगायें । एक दूसरेका मु ह तकने लगे । एक बूढा पुरुष उठा बोला महाराज हम इनकी कविताका अर्थ लगाते हैं । इस कविता

मे बडे मर्म छिपे है । यह पहिला कवि कह रहा है कि यह जो शरीर रूपी रहटा है वह रात दिन चारमनर भन्नाया करता है अर्थात् यहाँ वहाँ दौडा धूपा करता है और दूसरा कवि यह कहता कि यह जो इसके भीतर जीव है वह कोल्हूका बैल बन रहा है । अब बतलावो जितने श्रम किए जाते, खुदसे खाया भी नही जाता, धन सचयकी धुनमे खाली भुस जैसा रूखा सूखा खाया और रात दिन जुतता फिरता, तो यह कोल्हू का बैल जैसा ही तो रहा, तो यह जो जीव है वह कोल्हूका जैसा बैल दूसरोके आराम के आरामके लिए लदता फिरता है और खुद रूखा सूखा खाता है । तीसरे कविने कहा कि इतनेमे आ गए तरकस बन्द याने यमलोकसे यमराज अर्थात् अब मरणका समय आ गया तो चौथा कवि यह कहता कि इतनेपर भी राजा भोज कुछ चेतते नही है, सावधान नही होते है तो ये मूसरचन्द ही तो हैं । राजाने उन्हे भरपूर इनाम दिया

अपने सम्हालकी सावधानीका स्मरण प्रयोजन यह है कि हम अपनी सम्हाल न करें, दूसरोकी सम्हालमे ही रहे तो मनुष्य होनेका लाभ क्या है । यो तो सभी जीव व्यवस्थित है, कीडा मकोडा सभी जिन्दा होते है, जिन्दा होकर मर जाते है, यही मनुष्यका हाल है । कभी मानो इन मायामयी पुरुषोने कुछ नाम भी गा दिया यश भी कर दिया, कीर्ति भी वोल दी तो इतनेसे भी इसका होता क्या है । यहाँसे मरकर न जाने इतनी बडी दुनियामे जो ३४३ घनराजू प्रमाण है, जिसका असख्यात योजन क्षेत्र है कहासे कहाँ जाकर किस गतिमे जन्म ले, इसका फिर इस भवमे क्या रहा । तो सबसे बडी सावधानी चाहिए अपने आपकी सम्हाल । और, अपनी सम्हाल इसीमे है कि अपने ज्ञानको निर्लेप बनायें, बाह्य वस्तुवोमे उलझाये नही, यथार्थ बोध करते रहे कि घर वैभव मकान आदिक ये सब जड वस्तुवे है, इनसे मेरा कुछ सम्बध नही । मेरा तो स्वरूप ज्ञान है । ज्ञानस्वरूपकी उपासनामे ही मेरा भला है, ऐसी जीवन दृष्टि बनायें, इसीमे अपने जन्मकी सफलता है ।

मतव्योमे अपनी-अपनी दृष्टिका प्रयोजन--उस ही ज्ञानकी चर्चा यहाँ चल रही है कि वह ज्ञान कैसा होता है जो हमारे हितकी प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये । इस सम्बन्धमे जैन सिद्धान्तने बताया है कि वह ज्ञान प्रमाण है जो स्व और अन्य अर्थका निश्चय कराये । यह पदार्थ ऐसा ही है और, जो यह मैं जान रहा हूँ यह ठीक ही जान रहा हूँ ऐसा स्वमे और परपदार्थके बोधमे जिसकी दृढता हो वह ज्ञान प्रमाण है । इसपर क्षणिकवादी यह कहते कि निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है । जिसका कुछ निश्चय न हो ऐसा प्रथम ज्ञान प्रमाण है तो उसपर ये सब प्रसग चल रहे हैं । देखिये दार्शनिकोकी एक अपनी-अपनी दृष्टि होती है । क्षणक्षयवादियोने इस बातमे भला समझा कि हम यह समझ जाये कि प्रत्येक पदार्थ एक-एक क्षण ही रहता है तो हमारे रागद्वेष न जगेगा क्योकि पदार्थ क्षणभगुर है, नष्ट हो गया । अब अन्य-अन्य आत्मा हैं तो दूसरे आत्माके मोहमे हम क्यो फसे ? यो मोहसे निवृत्त

होनेका उपाय उन्होने क्षणिकवादको समझा है लेकिन उस क्षणिकवादमे ज्ञान व्यवसायात्मक नही बन सकता क्योकि ज्ञान जब उनका एकस्वभावी है, अभ्यास स्वभावी है ही नही, निश्चयात्मक है ही नही तो वह दुनियाको पथ क्या बनावेगा ?

न्वयके स्वभाव बिना परभावकी व्यावृत्तिकी अयुक्तता—यदि यह कहे कि अन्ययागव्यावृत्ति होनेसे वह ज्ञान विकल्पको उत्पन्न कर देगा तो जब स्वय ज्ञानमे निर्णय नही पडा है तो अनिर्णयकी व्यावृत्ति क्या ? जैसे अग्नि है अग्निमे उष्णता है और शीतकी निवृत्ति है तो जब अग्नि मे उष्णताका गुण है तभी तो ठड उससे अलग है। अब अग्निमे गर्मीका गुण न माने और कहे कि ठडसे यह दूर है तो कोई यह भी कह दे कि यह गर्मीसे भी दूर है तब भी अनाप सनाप बात हुई। पदार्थमे जो उसमे निजी स्वभाव पडा हुआ है। ज्ञान है, ज्ञानका काम जानना है। जाननेमे निर्णय अवश्य पडा हुआ है। जो ज्ञान निर्णयात्मक है उससे तो व्यवस्था बनती है और जो ज्ञान निर्णयात्मक नही है उससे कुछ भी व्यवस्था नही है।

सुखका साधन—देखिये जितना भी सुख है वह सब ज्ञानका फल है परवस्तुवोका सुख नही है। परवस्तुके सचयमे भी जो सुख माना जा रहा है वह एक प्रकारका ज्ञान बनाया ऐसा कि मैं अब महान हो गया हूँ सम्पन्न हो गया हू, मैं सबमे पूर्ण हूँ। जिस किसी प्रकारका ज्ञान बने ज्ञाताको उसे आनन्द आ रहा है। चीजसे आनन्द नही आता, कही ईट पत्थरमे आनन्द भरा है क्या ? इन जड पत्थरोसे कभी आनन्दकी किरण निकलती देखी है किसीने ? वे बाह्य पदार्थ हैं, पुद्गल जडस्वरूप है, इनमे आनन्द गुण है ही नही, वहाँ आनन्द क्या आयगा ? जब जीव मोहवश होता है तो यह मोहमे, ममतामे, सचयमे आनन्द समझता है, इन्द्रियविषयोके उपभोग मे आनन्द समझता है लेकिन वह आनन्द क्या आनन्द है जो शुभकर्मके आधीन हो, अनेक पदार्थोके वश हो फिर भी मिट जाय और आगामी कालके लिए कर्म बध जाय जाय दुर्गतिको प्रदान करे। ये इन्द्रियोके सुख क्या वास्तवमे सुख है ? यही एक ज्ञान बना, कभी इन्द्रिय सुखसे रुचि हट जाय तो इस प्रयत्नको आप धर्म समझिये।

धर्मपालन—कोई प्रभुकी भक्ति भी करे और विषयसुख ज्योके त्यो चाहे तो वहाँ धर्मपालन क्या किया ? धर्मपालन विषयसुखोसे निवृत्त होकर अपने आनन्द स्वरूप आत्मतत्त्वके दर्शनमे सन्तुष्ट रहे यही है धर्मपालन। प्रभुका स्वरूप केवल ज्ञानमय है। जैसे हम पदार्थोमे कुछ तत्त्व निरखते हैं खोजते हैं ऐसे ही हम भगवानमे कुछ स्वरूप खोजे तो क्या मिलेगा ? केवल ज्ञान ही ज्ञान। मात्र जानन ही जानन मिलेगा जहाँ केवल प्रकाश हो, जिसमे समस्त लोक और अलोक ज्ञात हो रहे है वही प्रभुका स्वरूप है। यह शरीरका आवरण एक बहुत बडा विघातक आवरण है। हम देहमे आत्मबुद्धि करते हैं कि सही बुद्धि हमारी उल्टी हो जाती है। मैं हूँ ज्ञानस्वरूप, देह-

रूप नहीं हूं लेकिन जहाँ लगना कि मैं यही हूं, जो शरीर सदा है यही मैं हूं जब यह जाना तो स्व और परका भेद बनने लगा। जो हमारे इन्द्रियके विषयोंमें साधक बने उन्हें तो मान लेते कि ये मित्र हैं और जो इन्द्रिय विषयोंमें बाधक बने उन्हें मान लेते कि ये शत्रु हैं। सारी विपदाओंकी जड़ इस शरीरको आत्मा मानना है।

शान्तिलाभका उद्यम— शान्तिके मार्गके लिये मौलिक ज्ञान यह बनाना आवश्यक है कि देह मैं नहीं हूँ। इन इन्द्रियोंका संयम करके ये इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें लगती हैं उन विषयोंको रोककर हम कुछ सुनना नहीं चाहते, कुछ भोगना नहीं चाहते फिर शान्ति कैसे प्राप्त हो। इन इन्द्रियोंके कार्यसे हटकर बड़े विश्रामसे अपने आत्माकी ओर झुककर अपने ज्ञानमें रहें तो ऐसा अपूर्वज्ञान प्रकट होता है कि जिस ज्ञानमें आनन्द ही आनन्द भरा है। इस आनन्दका जब तक पता नहीं है तब तक ये इन्द्रियोंके विषय सताया करते हैं पर इन विषयोंमें सार बात कुछ-कुछ नहीं है। ये विषय तब तक सता रहे हैं जब तक कोई अलौकिक आनन्द न प्राप्त हो। उस अलौकिक आनन्दकी प्राप्तिके लिए कुछ कष्ट भी करना होगा। कष्ट तो कुछ नहीं होता किन्तु जिन्होंने इसमें प्रवेश नहीं किया उन्हें कष्ट मालूम होता है। कुछ उदारता लानी होगी, कुछ श्रम भी करना होगा, कुछ ढंग भी बदलना होगा। वही मोहका ढंग, वही अपने कुटुम्ब मित्रको ये मेरे हैं ऐसा माननेका ढङ्ग, यह तो जीवका उत्थान कर सकने वाला नहीं है। मनुष्य जन्म पाया तो ऐसा प्रयोग करें जिसमें हमारा कुछ उत्थान हो हमारा भविष्य सुधरे, हम उत्तरोत्तर किसी नये-नये ज्ञान प्रकाशमें आयें, अपूर्व-अपूर्व आनन्द पायें, वह यत्न कीजिए। हम कितना समय अपने विचारमें लगाते हैं और कितना समय परिजन कुटुम्बके विचारमें लगाते हैं जरा ध्यान तो दीजिए। हम आत्माके जाननेके लिए क्या तो समय देते हैं, कितना श्रम करते हैं सो सोच लीजिए। और धनलाभमें हमारा कितना समय जाता है सो सोच लीजिए।

है उस प्रकारका आनन्द तो स्वादिष्ट विषयोमे भी नही मिल सकता है। आनन्द कहाँ है इसका निर्णय तो पहिले कीजिए। इन्द्रियविषय तो आत्मवलको नष्ट कर देने वाले हैं। आत्माका आनन्द तो निर्मोह रहनेमे है।

धर्म विना मनुष्यका अर्थ क्या ? यह सारा जगत मोही है, सो मोही जगतमे मोहियोकी करतूतको महत्त्व दिया जा रहा है। मोही जीव मोह करके ही समझते हैं कि हमने कुछ चतुराईका काम किया है क्योकि मोही लोग ही उनका सम्मान करते है। लेकिन इस जगतसे हम रुचि रक्खे और अपनेको निर्लेप न बना सकें, दृष्टि भी न पा सके तो भला बतलावो कि मनुष्य जन्मकी सार्थकता क्या हुई ? कई बातोमे तो मनुष्योसे पशु भी अच्छे हैं। निद्रा लेनेमे मनुष्य घटो बेहोश पडा रहता है। पशु तो जरा सी झपकी ही लगाते हैं, और जरा सी आहट मिलनेपर तुरत जग जाते हैं। पशु पेट भर जानेपर अहार करनेकी इच्छा नही करते पर मनुष्य पेट भरा होनेपर भी यदि कोई अच्छी चोज मिल जाय तो कुछ न कुछ खानेकी जगह पेट मे निकाल लेता है। मैथुन प्रसगमे भी पशुवोका कोई सालमे नियत समय होता है पर इस मनुष्यका कोई नियत समय नही है। भयकी बात यह है कि पशु निर्भय रहते हैं, उनपर जब कोई लाठी मारे तब वे डरते हैं, पर यह मनुष्य बडे आरामसे घरमे रहता हुआ भी भयभीत रहता है। कही चोर धन न चुरा ले जायें, कही कोई छीन न ले कही सरकार छीन न ले, न जाने कासे क्या कानून बन जायें, ये सब बातें सोचकर मनुष्य भयभीत रहता है। तो मनुष्य होकर भी क्या किया ? धर्महीन मनुष्य तो पशु समान बताया है।

धर्मकर्तव्यकी दृष्टि—हम धमस्वरूप हैं, धर्मकी ओर हमे दृष्टि देना चाहिए आचार्योंने ऐसे-ऐसे ग्रन्थ लिख दिए है जिनमे समस्त तत्त्व निचोडकर भर दिया है। हम उनको न पढें, उनके स्वरूपमे न उतरें, कुछ भी हम समय न दें स्वाध्यायका तो यह तो हमारी कृतघ्नता है। आचार्योंने कितना श्रम किया और हम उनका महत्त्व न माने, आदर न करें तो यह हमारे लिए अच्छी बात नहीं है। हम स्वाध्यायमे अधिकाधिक उपयोग दें, जो भी ग्रन्थ हमारे ऋषीसतोने लिखे हैं उनका अधिकाधिक स्वाध्याय करें तो इससे हम आपको शान्तिका मार्ग भी मिलेगा।

प्रमाणके प्रकरणमे ज्ञानकी प्रमाणताका निर्णय—जगतमें समस्त व्यवस्था प्रमाणसे होती है। दार्शनिक क्षेत्रमे सर्वप्रथम प्रमाणका निर्णय कराया जाता है। प्रमाणका क्या स्वरूप है ? प्रमाणका स्वरूप बताया है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये ऐसा ज्ञान प्रमाण है तो इस लक्षणपर अनेक दार्शनिकोने आपत्तिया उठायी थीं। इसका विश्लेषण प्रतिलोम पद्धतिसे किया गया है। स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण है। ४ इसमे विशेषण शब्द हैं तो पहिले तो ज्ञान

पर ही विचार किया गया। कोई पदार्थोंका समूह जोडनेको प्रमाण कहता था। कोई पदार्थोंके और इन्द्रियोके सम्बन्ध होनेको प्रमाण कहता था। कोइ इन्द्रियके व्यापारको हलन चलनको प्रमाण कहता था, कोई आत्माके व्यवहारको प्रमाण तो कहता था पर आत्माको अचेतन मानता था चेतनाका सम्बन्ध होनेपर आत्माको प्रमाण माना था। उन सबका निराकरण किया गया और फिर समर्थन किया कि ज्ञान ही प्रमाण है क्योकि ज्ञान हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमे समर्थ है।

सविकल्प ज्ञानकी प्रमाणताके प्रकरण—ज्ञानके सम्बन्धमे निर्णय होनेके बाद अब निश्चयात्मकके सम्बन्धमे विचार चल रहा है। जो निश्चयात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है। इसपर क्षणक्षयवादियोने यह बताया था कि निश्चयात्मक ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है क्योकि समस्त पदार्थ क्षण-क्षणमे नष्ट होते है। पदार्थके निश्चय करनेमे देर लगती है ना, एक ही समयमे निश्चय तो नही बनता। तो चू कि जब निश्चय हुआ और जिसरूपमे निश्चय हुआ तब वह पदार्थ नही रहा तो उसे तो असत्य जाना। कल्पनासे विकल्प किया है सही पदार्थका ग्रहण नही कर सका प्रमाण, अतएव निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण नही किन्तु उस ही क्षणमे जो ज्ञान हुआ, जिसमे आकार नही झलका, निश्चय नही हुआ किन्तु दर्शन मात्र हुआ ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है। इस सम्बन्धमे बहुत विचार चला और कब क्षणिकवादी सिद्धान्तको यह कहना पडा था कि निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प ज्ञानका उत्पादक है। इस कारण निर्विकल्पज्ञानमे प्रमाणता आजी है, अन्यथा जिस ज्ञानमे कुछ झलका ही नही, कुछ आकार ही नही बना उसको प्रमाण कैसे कहा जाय ?

निर्विकल्प ज्ञानकी विकल्पोत्पादकताकी चर्चा वह प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमे कुछ निश्चय नही है वह प्रमाण कैसे बन गया ? इस प्रश्नपर क्षणिकवादने यह कहा था कि निर्विकल्पज्ञान प्रमाणको उत्पन्न करता है जिससे विकल्पमे समझ बैठती है अतएव निर्विकल्पज्ञान सही है और प्रमाण है। तब पूछा गया कि वह विकल्पका उत्पादक किस तरह है। कुछ सम्बन्ध है कि नही ? बिना सम्बन्धके ही विकल्प उत्पन्न करे तो देख तो रहे है नेत्रसे और विकल्प कर देवे शब्दका अन्य चीजका तो उनका यह मतव्य था कि अभ्यास और वासना आदिकके कारण जिस पदार्थके विपयमे निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है उस ही पदार्थका विकल्प बनता है। तो इसपर भी यह आपत्ति दी गयी थी कि तब तो दर्शनमे दो भेद पड गए कोई अभ्याससापेक्ष निर्विकल्प ज्ञान है और कोई अभ्यास रहित निर्विकल्प ज्ञान है। तो ये भेद पडनेसे निर्विकल्प फिर वह क्या रहा ?

निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञानकी पृथक् दो धाराओका विचार—प्रत्यक्षभेद दूर करनेके लिए क्षणिकवादी यह कर रहे हैं कि अभ्यास आदिककी अपेक्षा

रखकर या न रखकर दर्शन विकल्पका उत्पादक नही है विकल्प तो शब्द और अर्थको विकल्पवासनासे उत्पन्न होता है, अर्थात् जो निश्चयात्मक ज्ञान है वह विकल्प वासनाकी अपेक्षासे उत्पन्न होता है। इसमे वासना लगी है इस कारण यह सारा सविकल्पज्ञान बनता है और वह वासना विकल्प जिससे विकल्प ज्ञान बना वह वासनाविकल्प पूर्व-वासनासे होता है। तो इस तरह दो धारायें हैं। निर्विकल्पज्ञानकी तो स्वतन्त्र धारा है। प्रति समय एक-एक निर्विकल्प ज्ञान होता रहता है। पहिलेसे दूसरेका कुछ सम्बन्ध नहो है। और इस धारामे जिसमे विकल्प ज्ञान बन रहे हैं, निश्चयात्मक चल रही है वे पूर्व-पूर्व वासनाम विकल्प बनते चले जाते हैं। ऐसा माननेसे उन्होने अपने प्रत्यक्ष ज्ञानको अभेद और एक स्वभाव रखनेकी कोशिश की है। तो प्रत्यक्षकी सतान तो निर्विकल्प धारामें चली और विकल्पकी सतान वासनाकी धारामे चली, लो यो अब ये विजातीय हो गए दोनो ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान तो निर्दोष ज्ञान है और सविकल्प ज्ञान वासना ज्ञान है। तो विजातीयसे अन्य विजातीय उत्पन्न नही होता, अतएव हमारे यह दोप न आयगा क्षणिकव दी कह रहे है कि कभी अभ्यासकी अपेक्षा रखकर ज्ञान बनता है और कभी अपेक्षा न रखकर बनता है यो प्रत्यक्षके दो भेद माननेकी आपत्ति नही आती।

प्रत्यक्ष और विकल्पकी पृथक् सतानधारा माननेपर आपत्ति—इसपर स्याद्वादी सिद्धान्त समाधान देता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि निर्विकल्प ज्ञान विकल्प को उत्पन्न नही करता। बहुत समय तक तो यह कह रहे थे कि निर्विकल्प ज्ञान विकल्पका जनक है। जब उसमे आपत्तिया देने लगे तो यह बचाव रखा कि प्रत्यक्षकी सतान और विकल्पकी सतान ये दोनो अलग-अलग हैं। निर्विकल्प ज्ञान विकल्पोका उत्पादक नहीं होता तो क्षणक्षयवादके ही सिद्धान्तमे अनेक जगह कथन आता है कि प्रत्यक्ष जिस पदार्थके विषयमे विकल्पवासना उत्पन्न करे उस ही का प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। तो अनेक कथनोसे यह स्पष्ट किया है कि निर्विकल्प ज्ञान विकल्पोको उत्पन्न करता है फिर इस सिद्धान्तका विरोध कैसे दूर किया जायगा।

प्रत्यक्ष और निर्णयकी पृथक् धारा माननेपर रूपादि विपयत्वका अनियम—अब दूसरी बात देखिये, जो क्षणिकवादका प्रत्यक्ष ज्ञान है निर्विकल्प याने जिस किसी पदार्थको देखते ही जब तक कोई विकल्प नही उठता कि यह हरा है यह नीला है उससे पहिले जो भी ज्ञान हुआ वह तो क्षणिकवादमे प्रमाणभूत निर्विकल्प ज्ञान है। और, जब जाना कि यह नीला है, हरा है तो वह विकल्प ज्ञान माना और इसे मिथ्या माना, करीबन जैनसिद्धान्तमे कुछ-कुछ दर्शनके विपयसे उनका निर्विकल्प ज्ञान मे। खाता हुआ समझिये तो वह निर्विकल्प ज्ञान विकल्पको तो उत्पन्न करता नही तो फिर वासना विशेपमे उत्पन्न हुए विकल्पसे यह कैसे निर्णय हो कि इस प्रत्यक्ष ज्ञानसे रूपका विषय किया ? उस निर्विकल्प ज्ञानने क्या किसी पदार्थके

सम्बन्धमे समझा था, यह निर्णय तो विकल्प ज्ञानसे होता है। आखिर निर्विकल्प ज्ञान भी किसी न किसी पदार्थको विषय तो करता ही है। किसे विषय करता है इसका निर्णय निर्विकल्प ज्ञान क्या करे ? उसके बाद जो सविकल्प ज्ञान हुआ वह निर्णय करता है। अब निर्विकल्प ज्ञानने विकल्पोसे कोई सम्बन्ध माना नही। दो धारायें अलग-अलग मान ली, तो निर्विकल्प ज्ञान कुछ हो और विकल्प बने किसीका ऐसी विडम्बना होने लगेगी। जब उस प्रत्यक्षधारा और सविकल्प ज्ञानसे कुछ सम्बन्ध नही है तो क्या यह जरूरी है कि हम आखें खोलकर कुछ प्रत्यक्ष करें, दर्शन करें तो रूप ही विषयमे आये। आखे खोलकर देखे और रस आ जाय विषयमे, क्योकि जब निर्विकल्प ज्ञानका सविकल्प ज्ञानसे कुछ सम्बन्ध ही नही है तो अटपट विकल्प उत्पन्न होगे। अथवा मनमे कुछ सोच रहे हैं, साम्राज्यका विकल्प कर रहे है और रूपके दर्शन हो फिर तो ये सब बाते निर्विकल्प ज्ञानमे सम्भव नही हो सकती। क्षणिकवादियोने पहिले तो निर्विकल्प ज्ञानको विकल्पका उत्पादक माना, पीछे सब स्वलक्षणमात्र माना

स्याद्वादसिद्धान्तमे उत्तरोत्तर निर्णय व दृढता का विधान– स्याद्वाद सिद्धान्तमे ज्ञानकी दृढताके स्थान जुदे-जुदे चलते है। जैन मतिज्ञान ४ तरहका है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। उस ही पदार्थके सम्बन्धमे जब हमारा अवग्रह है तब भी वह सविकल्प ज्ञान है। ईहा हुआ तो अधिक निश्चय हुआ, अवाय हुआ तो अधिक निश्चय हुआ और जब धारणा हुई तो अत्यन्त दृढता बनी जिससे स्मृति हुई। तो ज्ञानकी ही वे सब क्रमिक अवस्थायें हैं पर उनमे साकारता है सविकल्पता है, निश्चय है। अवग्रह ज्ञान भी निश्चयभूत नही है पर उस ज्ञानमे जितना निश्चय हो पाता है उतना निश्चय है ईहामें फिर और विशेप निश्चय अवायमे और विशेष और धारणामे पूर्ण अभ्यास है। जैसे कोई पुरुप सामनेमे आ रहा है, ५० हाथ दूर है, उसे देखकर यह जाना कि कोई पुरुष सामने आ रहा है, फिर और निकट आनेपर जाना कि यह तो हमारा पडोसी ही है, फिर और निकट आनेपर जाना कि यह तो हमारा अमुक पडोसी ही है, फिर अभ्यासकी लडी लग जाती है जिससे धारणा होती है। ऐसी सर्वत्र अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाकी बात है। अवग्रह ईहा और अवायके होने पर अभ्यासके कारण जब धारणा बन गई तो उसका पूर्ण निश्चय हो जाता है। छद्मस्थ अवस्थामे ज्ञानका प्रयोग किये जानेके बलका उत्पादक है दर्शन। जैसे कोई पुरुप रस्सी फादता है, तीन चार फिट ऊपर रस्सी आडे लगा दी उसे फादता है तो वह जमीनमे विना बल लगाये, जमीनकी ओर बिना झुके कूद नही सकता। और वह जमीनमे इतना बल लगाता है कि जमीनमे निशान तक बन जाता है, ऐसे ही दर्शनके द्वारा जो जीव आत्माके निकट आया, चाहे इसका पता पडे या न पडे लेकिन इस दर्शनसे ज्ञानके लिए बल मिलता है। तो दर्शन ज्ञानका बलधायक हुआ। तो यो दर्शन न तो प्रमाणभूत माना गया है न अप्रमाण। प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था ज्ञानमे है। तो निर्विकल्प जो ज्ञान है, दर्शन है वह निश्चयात्मक नही है इस कारण प्रमाण

नही है।

प्रत्यक्ष और विकल्पकी पृथक् सतानधारा माननेपर अव्यवस्था—देखिये निर्विकल्प ज्ञान व सविकल्प ज्ञानका एक आधार न माननेपर तथा प्रत्यक्षसतान व वासनासतानसे पृथक्-पृथक् उद्भव माननेपर निर्विकल्प प्रत्यक्षमे रूपादिविषयत्वका नियम नही बन सकता। इसपर यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षके सहकारी वासना विशेषसे उत्पन्न हुए रूपादिविकल्पसे प्रत्यक्षके उस विषयका नियम बन जातगा तो इस ही विकल्पसे प्रत्यक्षके स्वलक्षणविषयत्वका भी नियम हो जाय, अन्यथा प्रत्यक्षके रूपादिविषयत्वका भी नियम न होगा, क्योकि असम्बन्ध व वासनाविशेषकी दोनो विषयोके प्रसगमे परिस्थिति है। यदि यह कहो कि निश्चयात्मक ज्ञान रूपादिकका उल्लेखी है, परामर्शी है, विचारक है इससे पूर्वभावी प्रत्यक्षके रूपादिके विषयत्वका नियम बन जायगा, तब ऐसे तो प्रत्यक्षमे शब्दका ससर्ग भी मान लिया जाना चाहिये क्योकि अन्यथा अर्थात् प्रत्यक्षमें शब्द वसे विरोध ही माना जाय तो विकल्प शब्द और वाच्यकी जात्यादिका उल्लेखी नही हो सकेगा। यो निर्विकल्पज्ञानकी सिद्धि नही बनती।

निर्विकल्प ज्ञानकी प्रमाणसे असिद्धि—निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणसे भी सिद्ध नही है। और आत्मा ही अह प्रत्ययसे सिद्ध है। 'मैं हूँ' सबके उपयोगमे "मैं हूँ" का निर्णय बना रहता है। "मैं हू" तो इस अह प्रत्ययके द्वारा जो जाना गया वह आत्मा है और वह आत्मा जैसे-जैसे आवरण दूर होते है, अभ्यास आदिक बढते हैं वैसे ही वैसे विकल्पोको उत्पन्न कर लेता है, निर्णय कर लेता है। तो आत्माको ही ज्ञाता माना, प्रमाण माना, यही विकल्पोका उत्पादक मान लीजिए। अदृष्ट विकल्प बनाना या अन्य-अन्यकी कल्पना करना व्यर्थ है और वह प्रतिभास स्वरूप है। जैसे अन्य-अन्य पदार्थोका लक्षण उनमे पाया जाता पुद्गलमे रूप रस गन्ध स्पर्श, ऐसे ही आत्मा का लक्षण प्रतिभास स्वरूप है प्रतिभास मात्र है। तो प्रतिभासस्वरूप आत्मामे जो सामान्य प्रतिभास है वह दर्शन है और जो विशेष प्रतिभास है वह ज्ञान है। विशेष प्रतिभाससे प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था है। सामान्य प्रतिभास विशेष प्रतिभास का बलाधायक है एक बल उत्पन्न करने वाला है। उसमें विकल्प प्रमाण हुआ। इस तरह आकार आदिका प्रतिभास और यथार्थ निर्णय यही प्रमाणभूत है क्योंकि साकार ज्ञान सवादक है, झगडा मिटाने वाला, निर्णायक यह है। और, पदार्थके जानने मे साधकतम तो विकल्पात्मक ज्ञान है। पदार्थका निर्णय कैसे होगा? उसका आकार प्रकार युक्ति स्वरूप इन सबका निश्चय होनेमे ही पदार्थका ज्ञान होता है।

सविकल्प ज्ञानके ही प्रमाणत्वका स्पष्ट अनगम—और भी देखिये, साकार ज्ञान ही अनिश्चित अर्थका निश्चयात्मक होता है। जो चीज अभी तक समझमे न आयी उसको समझाने वाला ज्ञान है। अनिश्चित अर्थका निश्चय ज्ञान कराता है

अब तक न जाना था उन वस्तुओं को हमने जान लिया ना, तो प्रमाण हो गया स्पष्ट आकार नहीं भी झलके। तब भी प्रमाण है और बात यह सीधी है कि सविकल्प ज्ञानमें स्पष्ट आकार झलीत होता, निर्विकल्प ज्ञानमें तो कुछ पता ही नहीं पड़ता।

स्पष्टाकार विकलत्वका हेतु देकर निर्णयात्मक ज्ञानको अप्रमाण माननेपर तृतीय आपत्ति—स्पष्टाकार विकलताकी दुहाई देकर सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेपर तीसरी विपदा यह आयगी कि स्पष्ट आकारसे रहित होना देनेके कारण सविकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष तो तुम मान नहीं रहे क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होता है क्षणिकवादियोंके यहाँ और वह सविकल्प ज्ञान अनुमान भी नहीं है क्योंकि अनुमान होता है साधनसे। जैसे पर्वतमें धुवां निकल रहा तो उस धुवांको देखकर अग्निका ज्ञान कर लेना अनुमान है। तो अग्निके ज्ञान करनेका साधन हुआ धुवां, सो स्पष्ट आकारसे रहित जो यह सविकल्प ज्ञान हो रहा है यह साधनसे भी उत्पन्न नहीं होता और प्रत्यक्ष भी नहीं है तो और है क्या यह ज्ञान। तो यह तीसरा ज्ञान बन बैठेगा। बौद्ध ने दो ज्ञान माने हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्षमें तो माना निर्विकल्प प्रत्यक्ष और अनुमान माना साधनसे साध्यका ज्ञान। अब देखिये साधनसे साध्यका जो ज्ञान होता वह भी उनके यहाँ प्रमाण है, और जिसमें कोई निर्णय ही नहीं है ऐसा निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है। तो कितनी विपरीत बात है कि एक तो हमारा बाहरका अनुमान, यह तो प्रमाण बन गया, पर यह सविकल्पज्ञान प्रमाण नहीं है जिसके द्वारा आकार भरके स्पष्ट झलके निर्णय हुए बिना ज्ञान प्रमाण नहीं है। तो यह युक्ति भी संगत नहीं है कि स्पष्ट आकारसे रहित होनेसे सविकल्प ज्ञान अप्रमाणिक हो गया।

गृहीतार्थ ग्राहिताका हेतु देकर सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेका निराकरण—क्षणिकवादी निर्विकल्प ज्ञानको तो प्रमाण मानते सविकल्पज्ञानको अप्रमाण मानते, इसपर उनसे पूछा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञान अप्रमाण क्यों है? क्या सविकल्पज्ञान गृहीत अर्थका ग्रहण करने वाला है इस कारण अप्रमाण है? यदि गृहीत अर्थका ग्रहण करने वाला होनेसे सविकल्पज्ञान अप्रमाण हो जायगा सो अनुमान भी अप्रमाण बन बैठेगा। ग्रहीतग्राहीका अर्थ यह है कि जिस पदार्थको ज्ञानके द्वारा एक बार ग्रहण कर लिया उस ही पदार्थको फिर जाने तो उसको ग्रहीतग्राही कहते हैं जाने हुए को जानना ग्रहीतग्राहिता है। यद्यपि ग्रहीत ग्राही ज्ञान अप्रमाण भी हुआ करते, पर जिस रूपमें ग्रहण किया है उस ही रूपमें अन्य ज्ञानोंसे ग्रहण किया करे तो अप्रमाण है। जैसे जितने ढंगसे हमने इस चौकीको जाना फिर बारबार यह चौकी है यह चौकी है यह ज्ञानकी रटन लगाते रहें तो वे सब ज्ञान अप्रमाण हैं, लेकिन जो ग्रहण किए हुए पदार्थमें कुछ और विशेषताके साथ जानें तो अप्रमाण नहीं है। जितने अंशमें गृहीतको ही जानते रहें तो वह अप्रमाण कहलाता है। यदि गृहीतको ग्रहण करनेके कारण सविकल्पज्ञान अप्रमाण बन जाय तो अनुमान बन जाय तो अनुमान भी अप्रमान बन बैठेगा।

गृहीतार्थ ग्राहिके कारण निर्णयात्मक ज्ञानको अप्रमाण माननेपर आपत्तिका विवरण--क्षणिकवादी पुरुष दो प्रमाण मानते हैप्रत्यक्ष और अनुमान भी अनुमानअ प्रमाण बनजायगा ऐसी आपत्ति गृहीतगाहीकोअ प्रमाण माननेपर दी जारही है। अनुमान ज्ञा कैसे गृहीत गाही है ? यो है कि जिस किसी भी पदार्थका हम अनुमानपे पहिने उसकी व्याप्तिका ज्ञान करना पडता है। जैसे पर्वतपर धुवा देखकर अग्निका अनुमान किया जाता। इस पर्वतमे अग्नि होनी चाहिए ? धुवा दिखनेसे। तो ऐसा ज्ञान करनेसे पहिले यह ज्ञान हो चुका था कि जहाँ जहाँ धुवा होता है वहाँ वहा अग्नि होती है। अथवा जहा अग्नि नही होती वहा धुवाँ नही होता। तो यह व्याप्तिज्ञान पहिले हो चुका था तव अनुमान ज्ञान बना। व्याप्तिका ज्ञान हुए बिना अनुमान ज्ञान नही हो सकता। तो व्याप्तिज्ञान और उससे सम्बन्धित जो भी सम्वेदन हो उसमें पहिले अग्निको जाना कि नही जाना। जाना उसी ग्रहीतअर्थको फिर अनुमानने जाना तो यह अप्रमाण बन बैठेगा ना। यदि इस सम्बन्धमे यह कहा जाय कि व्याप्तिज्ञानसे और ढगसे अग्निका ज्ञान किया एक तार्किक रूपसे कि जहाँ धुवा होता है वहा अग्नि होती है पर व्याप्तिज्ञानमे यह तो नही ज्ञान होता कि पर्वतमे अग्नि होनी चाहिए। अनुमानसे यह ज्ञान किया कि पर्वतमे अग्नि होनी चाहिये। इस व्याप्तिज्ञानसे जिन ढगसे अग्नि जानी गयी उससे विलक्षण ढगसे अनुमानसे जानी अतएव वह समान गृहीतग्राही नही हैं। इस तरह अनुमानको अप्रमाणतासे वचानेकी बात कहोगे तो यही वात सविकल्पज्ञानमे भी है। सविकल्पज्ञान उत्तरोत्तर जिस दृढताके साथ पदार्थको जानता रहता है उसमे नई नई बात रहती है। तो गृहीतग्राही होनेसे सविकल्प ज्ञान को अप्रमाण नही कह सकते। और, गृहीतग्राही होनेसे सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण कहेगे ही तो अनुमान भी अप्रमाण बन बैठेगा और फिर तुम जो क्षणक्षयका अनुमान किया करते हो, समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। क्यो ? सत् होनेसे। तो क्षणक्षयके अनुमानकी फिर प्रमाणता कैसे रहेगी। क्योकि जिस पदार्थको तुम क्षणिक सिद्ध करते हो उस पदार्थका पहिले तो शब्दरूप आदिका अवभासन करने वाले प्रत्यक्षसे ग्रहण करते हो और फिर ग्रहण किएमे फिर तुमने क्षणिकपनेको ग्रहण किया तो यह अनुमान भी गृहीतग्राही हुआ ना, तो तुम्हारा अनुमान भी अप्रमाण है।

गृहीतार्थग्राहिताके कारणक्ष णक्षयके अनुमानकी अप्रमाणता -- क्षणिकवादियोका यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुको हम यहाँ क्षणिक सिद्ध करना चाहते है तो क्षणिकपना तो सिद्ध किया जायगा अनुमानसे और उस वस्तुका प्रत्यक्ष हो जायगा पहिले ऐसा होता भी तो है ना। जैसे हम यह सिद्ध करें कि यह कागज अमुक कम्पनीका बना है तो कागज तो प्रत्यक्ष हमे पहिले होगा, बादमे हम और अनुमान करेंगे। तो जिस वस्तुको भी क्षणिक सिद्ध किया जा रहा है अनुमानसे उस वस्तुका प्रत्यक्षसे ग्रहण तो पहिले हुआ ना, फिर किया अनुमान तो क्षणक्षयका अनुमान ज्ञान भी गृहीतग्राही होनेपर भी यदि अनुमान अप्रमाण नही बनता तो सविकल्प ज्ञान भी अप्रमाण नही बनता।

क्षणक्षयके ज्ञानकी प्रत्यक्षसे असिद्धि यदि यह कहे कि क्षणिकपना भी हम प्रत्यक्षसे जान जाते हैं तो ऐसा तो किसीको भी विदित नही होता। प्रत्यक्ष धर्मी स्वरूपको ग्रहण करता है ना प्रत्यक्षसे धर्मीका, शब्दका ग्रहण होनेपर भी क्षणक्षयका ग्रहण नही होता। किसी भी वस्तुका प्रत्यक्षसे ज्ञान करनेपर भी यह विनाशीक है अथवा अन्य प्रकार है यह प्रत्यक्षमे नही जाना जाता। उसके लिये अन्य तर्क उठाये जाते हैं। और, फिर प्रत्यक्ष और अनुमानमे तो अन्तर है। प्रत्यक्षने तो शब्दरूपी धर्मीको ग्रहण किया या वस्तुरूपी धर्मीको ग्रहण किया और अनुमानने क्षणिकत्व धर्म को ग्रहण किया तो प्रत्यक्ष और अनुमान एक कैसे हो सकते है? तो गृहीतग्राही होने से तुम सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण नही कह सकते।

असत्मे प्रवर्तन होनेका हेतु देकर सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण मानने का निराकरण—सविकल्प ज्ञान मायने जो पदार्थका निश्चय कराये वह ज्ञान, सो सविकल्पज्ञानको याने निश्चयात्मक ज्ञानको तो माना है क्षणिकवादियोने अप्रमाण और जो पदार्थका निश्चय नही करा सकता और शीघ्र हो गया, एक समसमे हो गया किञ्चित् झाकी सी हो गई उसे प्रमाण कहते हैं। तो उनसे पूछा जा रहा है कि सविकल्पज्ञानको अप्रमाण क्यो मानते हो? क्या इसलिये कि सविकल्पज्ञान असत् पदार्थमे प्रवर्तन करता है। तात्पर्य उनका यह है कि जब पदार्थ सत् हुआ तो वह एक समयका हुआ। बौद्धोका पदार्थ एक समयवर्ती है, नित्य नही है। तो जिस समयमे पदार्थ हुआ उस ही समयमे तो हुआ दर्शन निर्विकल्प प्रत्यक्ष, और जब उसके बारेमे कुछ निर्णय बनता है, विकल्प बनता है उस समय पदार्थ रहा नही, तो जिस समय विकल्पज्ञान हुआ उस समय पदार्थ नही रहा तो असत्को विकल्पने जाना। अतएव सविकल्प ज्ञान अप्रमाण है। यदि ऐसा कहते हो तो यह बात भी युक्त नही बैठती क्योकि विकल्पोके कालमे चाहे वह पदार्थ नही रहे मगर अतीत कालमे तो रहा, सर्वथा ही किसी कालमे पदार्थ नही रहा सत् और उसको जाने तो झूठ कहलाये। परन्तु, वर्तमानमे न रही, भूत अथवा भविष्यमे तो मन रहा। तो वर्तमान कालमे, विकल्पके कालमे असत्त्व होनेपर भी पदार्थ अपने-अपने समयमें तो सत् रहे इसलिए असत्मे प्रवृत्ति नही हुई, फिर भी यदि सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण मानते हो तो प्रत्यक्ष मे भी अप्रमाणता आ जायगी क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञानमे भी, प्रत्यक्ष ज्ञानके कालमे प्रत्यक्ष के विषयका असत्त्व पाया जाता है। वस्तुत एक क्षणमे जो पदार्थ हुआ और दूसरे क्षण नही रहा तो उस ही समयमे प्रत्यक्षज्ञान भी प्रवृत्त नही हो सकता। समय एक सेकेण्डका असख्यातवा हिस्सा है, और उस समयमे छद्मस्थोके किसी भी ज्ञानकी सफल बन जाय तो यह नही हो पाता। अतएव असत्मे प्रवर्तन होनेसे सविकल्प ज्ञान अप्रमाण है यह कहना तुम्हारा ठीक नही बैठता।

हिताहितप्राप्तिपरिहारकी असमर्थताका हेतु देकर सविकल्प ज्ञानको

कर लेना चाहिए कि जो विसम्वादसे रहित है वह प्रमाण है और जिसमे विसम्वाद बनते हैं वह अभी प्रमाण नही हो सकता है। यही बात तुम मानते हो कि प्रत्यक्ष भी दो प्रकारके होते है—एक भ्रान्त और एक अभ्रान्त। भ्रान्त और अभ्रान्तमे भेद है। जो अभ्रान्त है वह तो प्रमाण हो गया और जो भ्रान्त है वह अप्रमाण हो गया।

समारोपकी अप्रतिषेधकताका हेतु देकर सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेका निराकरण क्या सविकल्प ज्ञान इसलिए अप्रमाण है कि वह सविकल्प समारोपका प्रतिषेध करने वाला नही है ? समारोप तीन होते हैं सशय विपर्यय और अनध्यवसाय। सशय नाम है पदार्थके सम्बन्धमे सकित ज्ञान रहना कि अमुक पदार्थ यह है या यह है, यह सीप है या चादी। इस प्रकारके सशयमे झूलता हुआ ज्ञान सशयज्ञान है, और किसी पदार्थका उल्टा ज्ञान बन जाना वह है विपर्यय। जैसे पडी तो है सीप और उसे दृढतासे समझ जायें कि यह तो चाँदी है तो वह विपर्यय ज्ञान हुआ। और, अनध्यवसायज्ञान वह है कि कुछ साधारण सा प्रतिभास हो, पर उसके सम्बन्धमे निर्णय कुछ न हो। जैसे चलते हुए जा रहे है तो अनेक शब्द सुनाई देते हैं उन शब्दोमे निर्णयकी आकाक्षा ही कुछ नही कुछ निर्णय भी नही हो पाता, यो अनेक शब्द सुनते हुए चले जाते है, अथवा चलते हुएमे पैरोके नीचे कितनी ही चीजें आती है उनमेसे क्या सबका निर्णय हो जाता है कि यह तृण छू गया, यह अमुक चीज छू गयी ? तो वह अनध्यवसाय ज्ञान है समारोपका निषेधक न होनेसे सविकल्प ज्ञान अप्रमाण है। यह बात तो बिल्कुल असम्भव है। कारण यह है कि सविकल्प ज्ञान ही समारोपको दूर करता है। तर्क वितर्कके साथ पदार्थका जहाँ विशेष निर्णय होता है वही तो समारोपको दूर करता है। निर्विकल्पज्ञानमे तो कुछ प्रतिभास भी नही हो पाता समारोपको क्या दूर करेगा ? जैसे कहते है लोग कि गिरते है सहसवार जो मैदाने जग महे। वो तिफ्ल क्या गिरे जो घुटनोके बल चले। घोडे परसे वह गिरता है जो घोडेपर चढता बलिष्ठ है और जो नादान छोटा बालक है वह चढ ही नही पाता, सो क्या गिरेगा। तो कभी सविकल्पज्ञानमे समारोप भी बन जाय तो कभी यह जाने कि ऐसे ज्ञानोमे हा' तो समारोप बनता है जो ज्ञान निर्णय भी कर सकता है, पर जिन ज्ञानोंमे निर्णय करनेकी प्रकृति हो नही है वे ज्ञान तो समारोप भी क्या प्राप्त करें, जब उनमे आभास प्रतिभास भी नही है तो यह भी युक्ति तुम्हारी उचित नही है।

व्यवहारके अयोग्यत्वका हेतु देकर सविकल्पज्ञानको अप्रमाण मानने का निराकरण—क्या इसलिए सविकल्पज्ञान अप्रमाण है कि वह व्यवहारके अयोग्य है ? यह भी उपहासका विकल्प है। सविकल्पज्ञान ही व्यवहारके योग्य हो सकता है। वह निर्विकल्पज्ञान जिसमे कुछ निर्णय ही नही बना वह कही व्यवहारके योग्य होता होगा। समस्त व्यवहार विकल्पमूलक चलते हैं, निर्णयपूर्वक सारे व्यवहार चलते

है। जिस ज्ञानमे कोइ निर्णय नही बना उससे कोई व्यवहार चल भी सकता है क्या? व्यवहारकी अयोग्यता बताकर सविकल्पज्ञानको अप्रमाण नही कह सकते। क्या सविकल्पज्ञान इसलिए अप्रमाण है कि वह अपने स्वलक्षणको विपय नही करता ? तो यह बात तो अनुमानमे भी घटित हो सकती है। अनुमान भी एक विशेषका विषय किया करता है, वह सामान्यको विषय नही करता तो वह भी अप्रमाण बन जायगा। यहाँ भी गजबकी बात देखिये स्वलक्षण माना गया है ऐसे सामान्यको जिसमे कुछ बात समझमे न आये उसे ही तो सामान्य कहते है। जिसमे कुछ विशेष बात समझमे आती वह सामान्य नही रहता। तो प्रत्यक्ष एक ऐसे निर्विशेष विषयको ग्रहण करता है कि जिसमे कुछ ज्ञान ही नही होता। यद्यपि क्षणिकवादियोने उसे सामान्य शब्दसे नही कहा क्योकि यदि सामान्य शब्दसे कह दे तो उनमे नित्यता सिद्ध हो जायगी, क्योकि सामान्य सदा रहता है सामान्य व्यापक रहता है अतएव वह विशेप–विशेषको ही सर्वस्व मानता है। एक समयकी पर्याय वह उनका द्रव्य है एक अंशका परमाणु वह उनका पदार्थ है, एक प्रदेशका क्षेत्र वह उनका आकाश है और निरंश भाव, डिग्री रहित भाव अविनाभावी परिणाम वह उनका भाव है तो भी ऐसा विशेष मानते है जिसमे और विशेपता न बन सके और न कुछ भी व्यापक बन सके, न दो समय ठहरे न दो प्रदेशोपर ठहरे, न दो परमाणुवोका समूह दीखे ऐसे दो विशेप माने है। तो अनुमान ज्ञान ऐसे विशेषको कहाँ जानता है अर्थात् सामान्यको कहाँ जानता है ? तो वह भी अप्रमाण हो बैठेगा। इससे यह भी नही कह सकते कि स्वलक्षणका विपय न करनेके कारण सविकल्पज्ञान प्रमाण है।

शब्दससर्गयोग्यप्रतिभासत्वका हेतु देकर सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेका निराकरण—क्या सविकल्पज्ञान इसलिए अप्रमाण है कि वह शब्द ससर्ग के योग्य प्रतिभास करता है ? उसके साथ शब्द भी जुडा हुआ है। जैसे हम जिस तत्त्वको जानते हैं उसके जाननेके साथ अन्तर्जल्प भी उठता है तो शब्दका ससर्गके योग्य प्रतिभास करता है। सविकल्पज्ञानसे हम जानते हैं तो उसके साथ–साथ कुछ शब्द रचना भी अन्दर उत्पन्न होती रहती है। क्या इसलिए अप्रमाण है ? यदि इस कारण अप्रमाण कहोगे तो यह बात तो अनुमानमे भी है। अनुमान ज्ञानके साथ साथ शब्द ससर्ग चलता रहता है तो वह भी अप्रमाण बन बैठेगा, क्योकि अनुमानसे तुमने अप्रमाण माना तो शब्द समग न बैठे इस कारणसे कोई ज्ञान अप्रमाण हो यह बात बुद्धिमे नही जचती।

शब्दमात्र प्रभुत्वके हेतुसे सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेका निराकरण— क्या सविकल्पज्ञान इसलिए अप्रमाण है कि वह शब्दसे उत्पन्न होता है। जैसे किसी भी हम पदार्थ विशेषको विशेप ढङ्गसे जानते है तो वह जानना शब्द उठने पूर्वक हुआ करता है प्राय। भीट जाना तो जाननेके साथ हृदयमे भीट ऐसा शब्द न

बोलते हुए ही उठ जाता है तो क्या शब्दसे उत्पन्न होता है यह सविकल्पज्ञान इस कारण अप्रमाण है ? यदि शब्दप्रभव होनेसे सविकल्पज्ञान अप्रमाण बन जाय जो शब्दका प्रत्यक्ष कराने वाला ज्ञान है वह भी शब्दसे ही उत्पन्न हो रहा है। तो जो शाब्दिक प्रत्यक्ष है वह भी अप्रमाण बन बैठेगा इस कारण शब्द प्रभवताके कारण सविकल्पज्ञानको अप्रमाण नहीं कह सकते। और, सीधा तथ्य तो यह है कि सविकल्पज्ञान भी शब्दप्रभव नहीं है।

ग्राह्य अर्थके विना शब्दमात्रप्रभवताके कारण सविकल्प ज्ञानको अप्रमाण माननेका निराकरण —अब आखिरी विकल्पका प्रश्न कह रहे है। क्या सविकल्पज्ञान इसलिए अप्रमाण है कि ग्राह्य अर्थके बिना केवल वासनासे या शब्दोंसे ही उस सविकल्पज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इस तरह अप्रमाण माना गया तो यह तो असिद्ध ही बात है क्योंकि जितने भी विकल्पज्ञान होते है वे पदार्थके होनेपर ही होते है। जो नीला पीला पदार्थ है उसका ही तो विकल्प बनेगा। यदि यह कहो कि किसी किसी जीवके पदार्थके बिना भी विकल्प बन जाता है। जैसे मनमें राज्यकी कल्पना करना। तो यह बात प्रत्यक्षमे भी समान है। कभी-कभी आखोंमें दो चन्द्र दिख जाते है। पदार्थ दो हैं नहीं और दिख गए तो सारे फिर अप्रमाण कर दे क्योंकि एक प्रत्यक्ष अप्रमाण बन गया। तो इस दृष्टिसे भी सविकल्पज्ञानको अप्रमाण नहीं कह सकते। निर्णय यह है कि सविकल्पज्ञान ही प्रमाण है, निर्विकल्पज्ञान प्रमाण नहीं है।

ग्राह्य अर्थके विना सविकल्प ज्ञान होनेका क्षणिकवादमे मतव्य—ज्ञान जब होता है तो ज्ञानके निर्णयकी सीमामे सर्वप्रथम जो जानन होता है वह अत्यत साधारण होता है। उसके बाद फिर विशेष-विशेष होता है। इस पद्धतिके पदार्थ चूकि क्षणिकवादके सिद्धान्तमे क्षण-क्षणमे नष्ट होता है, उसकी रक्षाके लिए भी यह बात मानी गयी कि वास्तविक ज्ञान तो एक समयमें हुआ निर्विकल्पज्ञान है और जिस ज्ञानमे ये सब निर्णय बने होते हैं कि अमुक चीज यो है ऐसा आकार है, प्रकार है वह सविकल्पज्ञान अप्रमाण माना है क्षणिकवादियोने। और, ऐसा माननेका हेतु मुख्य उनका यह है कि एक तो निर्णायक ज्ञान जिस पदार्थ सम्बन्धमे निर्णय कर रहे हैं निर्णयके समयमे वह पदार्थ है कहाँ, वह तो नष्ट हो गया। सो अब जो निर्णय बन रहा है वह विषयभूत पदार्थके अभावमे बन रहा है। चीजके रहते हुए निर्णय नही होता, और जब निर्णय होता तब चीज नही रहती क्योंकि क्षणिकवादका सिद्धान्त है ना। प्रत्येक पदार्थ क्षणमात्र ही ठहरता है तो इसीलिए यहाँ निर्णायक ज्ञान अप्रमाण है, निर्णय करने वाला ज्ञान अप्रमाण है। जो प्रमाण है, चीज है वह तो क्षणिक है। तो इस दृष्टिसे निर्विकल्पज्ञान तो प्रमाण है और सविकल्पज्ञान अर्थात् निश्चय करने वाला ज्ञान अप्रमाण है।

सविकल्प ज्ञानको शब्दमात्रप्रभव माननेका क्षणिकवादमें मन्तव्य व

समीक्षण --दूसरी बात सविकल्पज्ञानकी अप्रमाणताकी युक्तिमे यह है कि सविकल्प ज्ञान सत्य ज्ञान नही है अर्थात् निर्णय करने वाले ज्ञानके साथ शब्दकी गुनगुनाहट रहती है। जैसे हम किसी चीजको जानते है, उसका निश्चय रखते है तो उस निश्चय के साथ-साथ चित्तमे शब्द भी उठ जाते है कि नही ? जैसे जाना कि यह भीट है, पत्था है जो-जो कुछ हमने जाना उस-उस जाननेके साथ शब्द भी भीतर बोलनेमे आ गए, मु हसे नही बोला मगर मु ह बद किए हुए भीतरमे बोलनेमे आ जाते है। किसी चीजका ज्ञान भी न हो नाम भी न मालूम हो ऐसी अद्भुत अनोखी चीजका ज्ञान कर तो भी उसमे कुछ न कुछ शब्द तो उठते वहाँ भी है। आकार प्रकार लम्बाई चौडाई ये तो जाननेमे आयी है, तो उसके शब्द उठ बैठे। तो विषयभूत पदार्थके विना और शब्दमात्रसे उत्पन्न होनेके कारण सविकल्पज्ञानको यह अप्रमाण कहते है। तो यो सविकल्पज्ञान यदि अप्रमाण कहा जाय तो यह बात तो स्पष्ट असिद्ध है क्योकि विकल्प भी पदार्थके होनेपर ही होते है और विकल्पके समयमे पदार्थ उस प्रकारका न रहा तो भी था तो, सत्त्व तो था। भविष्य कालमे उस प्रकारकी अवस्था भी तो होगी जैसा विकल्प कर रहे है। तो सर्वथा सत्का अर्थका अभाव तो नही रहा। पदार्थके होनेपर ही विकल्प बनता है। यह हरा है, नीला है ऐसा जो निर्णय बना तो पदार्थ है तब तो निर्णय बना। पदार्थके अभावमे निर्णय नही बना।

अर्थप्रकाशकतासे ही प्रमाणत्वकी सिद्धि -यदि यह कहते हो कि कभी कभी पदार्थ न होनेपर भी विकल्प उठ बैठते है अतएव विकल्प अप्रमाण है तो यो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा जैसे किसीकी आखोमे ऐसा रोग हो जाता है कि उसे १०-१० चन्द्रमा दीखते है, नेत्र रोग ऐसे होते है। अच्छी नजर वालेको भी दो चन्द्रमा तो फिर भी दिख सकते है। कुछ आखोको दबाकर या किसी भी तरह अगुली आदि लगाकर देखे तो कभी दो चन्द्रमा दिखने लगते है। है तो नही दो चन्द्रमा। तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण बन बैठेगा, सो पदार्थका प्रकाशक होना यह प्रमाण है और-और बातें नही बनती।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयके एकान्तसे सविकल्प ज्ञानकी अप्रमाणताकी कल्पना—इस सिद्धान्तने विकल्प और शब्द इनका परस्परमे कार्य कारणका सम्बन्ध माना है। कुछ भी निर्णय बनता है तो वह शब्दपूर्वक बनता है और कार्य-कारणपने का क्षणक्षयमे सिद्धान्त बनता नही, अत कार्यकारणपूर्वकता वाला निर्णय अप्रमाण है। यो समझ लीजिए कि जैन सिद्धान्तमे ७ नय कहे है—नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय व एवभूतनय तो इनमे जो ऋजुसूत्रनय है उसका विषय वर्तमान समय मात्र है। जिस समयमे जो पदार्थ है उस समयमे ही उस समयका प्रतिपादन करना यह ऋजुसूत्रनयका काम है। जैसे नैगमनयका तो यह काम है कि पदार्थ न भी हो, आगे पीछे बने उसे भी वर्तमानमे कहें। जसे कोई पुरुष

रसोई बनानेके उद्देश्यसे गोंदना शुरू किया है, उसमें भी कोई पूछे क्या कर रहे हो भाई ? तो यह कहे कि रोटी बना रहे हैं। अरे रोटी बना रहे कि गोंदना शुरू कर रहे हो ? तो यह गोंदना जितना रोटी बनानेके लिए ही तो है। तो हमारी वाक्यकी बातोंको भी बताने वाला नैगमनय है। संग्रहनय बहुतसे पदार्थोंका संग्रह करके बताये। जैसे जीव कहा तो जीवमें सब जीव आ गए। फिर जीवके दो भेद करें संसारी और मुक्त तो यह व्यवहारनय हो गया। भेद करे तो व्यवहार और एकत्व संग्रह या अभेद देखें तो संग्रह। यहाँ तक तो द्रव्यकी बात थी, अब पर्यायकी बात चलती है ऋजुसूत्रनयसे। जिस समयमें जो पर्याय है उसका उस समय प्रतिपादन करना ऋजुसूत्रनय है। इस ही नयके एकान्तसे क्षणिक सिद्धान्त निकला है चूंकि पर्याय एक-एक समयमें नवीन-नवीन होती है और वही एकान्त मान लिया क्षणवादियोंने तो उनका ऋजुसूत्रनय एकान्त हो गया।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयके एकान्तमें व्यवहारकी असंभवता—अब देखिये यह कागज यदि जल जाय, जलाया जाय, जल रहा हो तो उस समय क्या यह कहा जा सकता शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे कि कागज जल रहा है ? नहीं कहा जा सकता। क्यों नहीं कहा जा सकता ? जो जल रहा है वह कागज नहीं। जो कागज है वह साफ है, वह जल नहीं रहा। तो ऋजुसूत्रनय इतने भेदको प्रकट करता है। प्रश्न—इस नयके माननेसे तो सब व्यवहार खतम हो जायगा ? उत्तर— यदि केवल ऋजुसूत्र ही माने तभी तो व्यवहार नहीं चलेगा। क्षणवादियोंका व्यवहार न चलेगा, पर यहाँ तो ७ नय माने हैं। यह तो एक विषय बताया है कि ऋजुसूत्रनयका यह विषय है। जो बात तथ्यकी है वह बतायी। क्या यह कह सकते हो शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे कि यह मनुष्य काला है ? नहीं कह सकते क्योंकि जितना यह सारा मनुष्य है वह सब काला है क्या ? भीतर खून है लाल है, मास सफेद है हड्डी सफेद है। तो मनुष्यमात्र यह कालापन चाम ही तो नहीं है। मनुष्य तो सवा डेढ मनके करीबका ऐसा है। तो जितना मनुष्य है वह समस्त काला नहीं। और, जितना काला होता है दुनियामें वह सब मनुष्य नहीं। तो मनुष्यका और कालेपनका कोई सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता, ऋजुसूत्रनय इसे स्वीकार नहीं करता। तो ऋजुसूत्रनयसे तो व्यवहार भी नहीं चल सकता इसका एकान्तरूप सिद्धान्त है क्षणिकवादियोंका।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय और एक आध्यात्मिक मर्मपर प्रकाश—अब शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय सुनिये—शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय है तो पर्याय, पर उसमें एक सूक्ष्म है और एक स्थूल है तो सूक्ष्म जो पर्याय है उसे अपन जान ही नहीं सकते। एक समयके परिणमनको केवली जान सकता है, छद्मस्थ नहीं जान सकता। छद्मस्थोंका ज्ञानोपयोग अन्तर्मुहूर्त तक कार्य करता है। जब ज्ञात होता है तब निर्णय होता है कि अमुक वस्तु है। तो अनेक पर्यायोंका समूहरूप पर्यायोंको तो हम जानते

है पर शुद्ध-शुद्ध एक-एक समयकी पर्यायको हम नही जानते। इसीसे सम्बन्धित एक आध्यात्मिक रहस्य और परख लीजिए। इस ससारी जीवमे राग पर्याय बन रही है। तो रागका जो अनुभव है, रागका जो एक भोगन' हुआ, परिणमन हुआ वह कई समयोके राग जुडनेका अनुभव हुआ है अब प्रति समयमे राग परिणमन हो जरूर रहा है और प्रति समयके होने वाले राग परिणमनोके समूहका भी नाम राग है तो उस स्थूल रागको हमने जान पाया। जब पर्यायोकी स्थूलरूपता बनती है तब हम अनुभव कर पाते हैं। एक समय मात्रके रागको न हम भोगते है न हम जानते हैं। प्रत्येक समयमे राग परिणमन भी चल रहा है पर अनुभव शून्य है।

निर्णायक ज्ञानकी शब्द कारणसे उद्भूति माननेपर आपत्ति—ऋजुसूत्र-नयके एकान्तसे यह क्षणिकवादका सिद्धान्त चलता है। फिर तो कार्यकारण सही सही पदार्थमे नही है क्षणिकवादमे किन्तु एक व्यवहारमे कल्पनामे विकल्प और शब्द का कार्य कारण नियम है। तो इस सम्बन्धमे कह रहे है कि यदि विकल्प और शब्दमे ही कार्यकारणका नियम मानते हो और निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ किसीका भी सम्बन्ध या कुछ कार्यकारण नही मानते तो जब हम प्रत्यक्षसे किसी चीजको हम निरख रहे है उस समय जो उस जैसा है उसका स्मरण नही होना चाहिए, क्योकि दूसरी चीजके नामका स्मरण हमने कहाँ किया शब्दोसे सविकल्प ज्ञान बना इस बात पर आपत्ति दे रहे है। शब्दके कारण ही निर्णायक ज्ञान बनता है, तो निर्णायक ज्ञानका आधार शब्द है और शब्दके सहारे ही निर्विकल्प ज्ञानकी जिन्दगी है, ऐसा माननेपर यह आपत्ति कही जा रही है कि हम प्रत्यक्षसे किसी चीजको देख रहे है। तो पहिले अनुभवकी चीजके समान जो अन्य चीज है उसकी स्मृति नही बनना चाहिये क्योकि उसका तो नाम भी नही लिया जा रहा है। जिस चीजको हम देख रहे है उस देखनेके साथ चित्तमे शब्द उठ गए लेकिन उस चीजके समान जो और चीज है उसका तो शब्द भी नही उठा। स्मरण कैसे हो गया ?

निर्णायक ज्ञानका कारण शब्द माननेपर दी गई आपत्तिका सदृष्टान्त विवरण—जैसे आप किसी दूकानपर बैठे थे और अपना छाता वहाँ भूल आये। जब आप काफी दूर निकल आये तो किसीको छाता लिए हुए जाते देखकर आपको अपने छाताका ध्यान हो गया। उस समय छाता ऐसा शब्द उठ जाय तो इस प्रकरणमे, तो ईमानदारीकी बात है, क्योकि आपने उस समय दूसरेका छाता देख लिया, किन्तु भूले हुए छाताका तो नाम नही लिया गया, उसका स्मरण कैसे हो गया। अत शब्द के होनेसे सविकल्पज्ञान बनता है यह बात ठीक नही जची। यदि शब्दका और निर्णायक ज्ञानका कार्यकारणका नियम बना हो तो प्रत्यक्षसे देखी हुई चीजकी तरह अन्य चीजका स्मरण न होना चाहिए और जब अन्य वस्तुका स्मरण न हुआ तो उसके शब्दका भी ज्ञान न होना चाहिए। जब नामका भी ज्ञान न रहा तो शब्दके साथ ज्ञान

का सम्बन्ध भी न जुड़ना चाहिए। फिर कुछ ज्ञान ही न होगा तब न निर्णय ही रहेगा न शब्द ही रहेगा। फिर सारा संसार निर्णयशून्य हो जायगा। तो शब्दका और ज्ञानका कार्यकारण नही है।

शब्दके बिना ज्ञानसे अर्थज्ञानकी सिद्धि—दूसरी बात यह बतावो कि पद और वर्ण है ना, वर्ण तो कहलाता एक-एक अक्षर और पद कहलाता विभक्ति लगी हुई। जैसे मैं मदिरमे जा रहा हूँ तो मैं एक पद हुआ, मदिरमे यह दूसरा पद हुआ। और, वर्ण है वहाँ चार। जा रहा हू यह तीसरा पद हुआ। और, उस तीसरे पदमे भी वर्ण है चार। तो पदका और वर्णका जो हमे ज्ञान होता है, कुछ शब्द सुन रहे और सभी वर्णोंका ज्ञान हो रहा तो उन पद और वर्णोंका हमे ज्ञान तब होना चाहिए जब उनका वाचक अन्य नामका स्मरण आये। तुम्हारा तो यह एकान्त हो गया ना कि जब भीतर शब्द उठे, तब पदार्थका ज्ञान हुआ। तो जब हम एक-एक वर्णको जान रहे हैं तो उन वर्णोंका कुछ नाम भी है क्या ? तो बिना नामके जाना, हम उन वर्णोंको जानते हैं कि नही ? तो जब हम नामान्तरके ज्ञानके बिना शब्द जानने लगे तो इस तरह शब्दके बिना हम सीधा अर्थको क्यो न जान जायें ?

शब्दज्ञानमे अर्थज्ञानकी भिन्नता—भैया ? वर्तमानमे अपन लोगोमे बात यह है कि एक तो वासना लगी है और एक अज्ञान जग रहा है। तो ज्ञानके साथ शब्द न जुड़े हुए होने, पर वासना भी हमारेमे है न, समझ बनी है ना, तो ज्ञानके साथ शब्द भी चल उठते हैं। सर्वज्ञदेवके तो ऐसा नही होता वे तीन लोक और अलोकको जान रहे हैं तो उनके जाननेके साथ-साथ शब्द भी उनमें उठते हो यह बात नही है प्रभुके। यह बात हम लोगोके है। क्योकि हम लोगोकी वासना, धारणा इस प्रकार की है कि ज्ञान करनेके साथ ही हम शब्द भी मनमे बोलने लगते हैं, पर यह नही समझना चाहिए कि उन शब्दोके कारणसे यह ज्ञान बना है। ज्ञान तो स्वतन्त्र रूपसे बना है। यदि कहो कि हम शब्दोका भी ज्ञान करते हैं तो जिन शब्दोको हमने सुना है उनका हमारे भीतर और नाम उठे तब जानें तो अनवस्था दोष आ जायगा। फिर जो भीतर शब्द उठे, जिन्हे हमने जाना उनका कोई दूसरा नाम होगा, इस तरह नाम-नाममे ही चित्त घूमता रहेगा, प्रकृत अर्थको हम जान ही नही सकेंगे। इससे यह निर्णय करना कि शब्दके कारणसे सविकल्पज्ञान नही होता, किन्तु आवरणके नष्ट होनेसे ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार हमे पदार्थोका निर्णय होता है। और, जो निर्णयात्मक ज्ञान है वह तो प्रमाण है और जिसमे निर्णय नही बसा है, केवल एक कल्पनाकी चीज है ऐसा निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नही है।

व्यवसायात्मक ज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि - ज्ञान निर्विकल्प होता ही नही। जितने ज्ञान होते हैं सब साकार होते हैं। निराकार तो दर्शन होता है। दर्शन

यो अवश्यभावी है कि आत्मा है प्रतिभासस्वरूप। और प्रतिभास होता है सामान्य और विशेष, तो जो सामान्य प्रतिभास है वह किसी पदार्थके निर्णयरूप तो है नही। तो वह हैं केवल एक आत्मविषयक। और, जो विशेष प्रतिभास है वह निर्णयरूप है तो जो निर्णयरूपज्ञान है वह प्रमाण हुआ करता है। दर्शन न प्रमाण है न अप्रमाण है। यो प्रमाणके स्वरूपके सम्बन्धमे यह सिद्ध किया गया कि जो व्यवसायात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है। अव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण नही है। अर्थात् अनिर्णयात्मक क्षणिकवाद जैसा निर्विकल्पज्ञान वह प्रमाण नहीं है। तो इस प्रकारके स्वरूपमे जिसमे यह कहा गया था कि स्व और अपूर्व अर्थका निर्णायक ज्ञान प्रमाण है, अनिर्णायिक ज्ञान अप्रमाण है, इसके कुछ अंशोके विश्लेषणमे खूब अच्छी तरहसे स्पष्ट कहा गया है।

शब्दाद्वैतवादकी उत्थानिका— पदार्थका निर्णय प्रमाणसे होता है, अतएव प्रमाणके स्वरूपको देखा जा रहा है कि प्रमाण क्या चीज है। प्रकृत बात यह रखी कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है। इसपर पहिले तो ज्ञानके विरुद्ध ही अनेक मतव्योकी बात चली। लेकिन ज्ञानको प्रमाण नही मानते वे किन्तु उन सब स्थितियोको प्रमाण मानते है जिनके बिना ज्ञान होना कठिन होता है। जब उन अज्ञानवादोका निराकरण करके ज्ञानकी व्यवस्था की तो ज्ञानके सम्बन्धमे क्षणिकवादियोने यह मन्तव्य रखा कि ज्ञान तो प्रमाण मान लेंगे, परन्तु निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण नही है, जो अव्यवसायात्मक है वह ज्ञान प्रमाण है। इस सम्बन्धमे भी पहिले चर्चा हो चुकी। अब शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि हम निश्चय करने वाला भी ज्ञान प्रमाण मान लेंगे लेकिन ज्ञान कुछ अलग चीज नही है। क्योकि जितने भी ज्ञान होते है वे सब शब्दोसे बीधे हुए होते है। वे शब्दके साथ तादात्म्य रखते है तब ज्ञान होता है। जैसे आप कुछ भी जाने तो जाननेके ही साथ चित्तमे शब्द और उठेंगे, मदिर जाना, चौकी जाना, चटाई, मनुष्य, पुस्तक आदि कुछ भी जाना तो उस जाननेके ही साथ ही तुरन्त चित्तमे कुछ शब्द उठ बैठते है कि नही कि यह अमुक है ? तो जब सम्यग्ज्ञानके ही साथ शब्दोका उठना निरखा जाता है तो यह ज्ञान कुछ अलग वस्तु नही है, किन्तु शब्दात्मक प्रत्यय ही ज्ञान है। तो शब्दात्मक प्रत्ययका नाम प्रमाण है, वह खाली कोई ज्ञान नही है ऐसी शब्दाद्वैतवादी अपनी बात रख रहे है।

शब्दब्रह्मवादके सिद्धान्तकी भित्ति शब्दब्रह्मवादका कथन है कि यदि वे सब प्रत्यय, ये सब जानकारियां यदि शब्दोका स्पर्श न रखें, ज्ञानमे शब्दोका साथ न हो तो पदार्थोका प्रकाश नही हो सकता, प्रत्ययमे प्रकाशरूपता नही आ सकती। कुछ भी प्रकाश न होगा। जितने भी ज्ञान प्रकाश होते है, प्रत्यय होते है वे सब ज्ञान शब्दो को साथ लिए हुए ही होते है। ऐसा न मानेंगे तो ज्ञानका प्रादुर्भाव हो जायगा

भला कोई ज्ञान ऐसा बतावो कि जैसे किसी मनुष्यको जान तो लिया है पर उसके शब्दका कोई प्रकार न उठा हो अन्तरङ्गमे ? ऐसा कोई ज्ञान न मिलेगा। इस प्रकरणमे ये शब्दाद्वैतवादी अपना सिद्धान्त पक्ष रख रहे है विवरण कर रहे कि देखो वचनरूपता दो प्रकारकी होती है एक शाश्वती और एक प्रकाशहेतुभूत। इसकी साधारणतया यह पहिचान समझ ले कि जो हमेशा शक्तिरूपमे, सत्वरूपमे वचन है वह तो है शाश्वती वाग्रूपता व जो ज्ञानके लिये शब्द बना करता है वह है प्रकाश हेतुभूतवचनरूपता। इन दोनो वचनोका अभाव माननेपर फिर ज्ञानका कोई रूप नही रहता। शब्दाद्वैतवादी जिस प्रकारका सिद्धान्त रख रहे हैं यह बात छद्मस्थ मनुष्य लोकमे कुछ घटित देखी जाती है। जो कुछ भी हम जानते हैं उसका कोई वचन उठ जाता है।

शब्दब्रह्मवादमे ज्ञानके शब्दात्मकत्वकी दृष्टि जितने भी ये वाचक वाच्य तत्त्व हैं जो कहनेमे आये, जो कहने वाला है, जो समझमे आया, जो समझने वाला है वह सबका सब शब्दब्रह्मकी पर्याय है। शब्दके सिवाय अन्य कुछ भी नही है। अन्य ज्ञान, अन्य वस्तु या अन्य कुछ भी चीज नही है। न किसी अन्य प्रकृति आदिक की परिणति है और न कोई स्वतन्त्र कुछ चीज है। जो कुछ वस्तु है वह शब्दसे भरी हुई है। शब्दात्मक है। और, देख लो ना, प्रत्येक चीजमे शब्द पड़ा हुआ है। मेरे जाननेमे शब्द है और उस पदार्थमे भी शब्द पड़ा है। सब कुछ शब्दात्मक है। शब्दको छोड़कर लोकमे अन्य कुछ नही है। ऐसा कोई ज्ञान नही है लोकमे जो शब्दका अनुगमन किए बिना हो। अपने अनुभवसे भी सोच लो क्या कोई ज्ञान ऐसा भी कभी हुआ कि उसके साथ कुछ शब्द उठा न हो, मनमे कोई शब्दरूप चिन्तन न बना हो और चीज ज्ञान हो जाय ऐसा होता भी तो नही, अनुभव भी बताता है, ऐसा तो हो जाता है कि कही पदार्थ भी कुछ न हो और शब्दोकी गुनगुनाहट कल्पनाएँ उठ रही हो, ज्ञान हो रहा हो। तो पदार्थके बिना ज्ञान चाहे हो जाये पर शब्दोके उठे बिना ज्ञान नही होता। इसलिए सब ज्ञान शब्दात्मक हैं, मात्र ज्ञान कुछ चीज नही है ऐसी शब्दाद्वैतवादी अपनी बात रख रहे हैं।

शब्दब्रह्मवादमे सकल प्रत्ययोकी शब्दात्मकता—और भी देखिये—यदि शाश्वती वचनरूपता न रहे तो प्रकाशका कारणभूत भी न रहा तो प्रकाश भी नही रह सकता। वचन रचनात्मक दो प्रकारके होते है। जैसे जैन लोग मानते है कि एक द्रव्यशक्ति और एक परिणति। तो ऐसी ही शक्तिरूप जो वचनरूपता है जो सदैव रहा करती है वह तो है शाश्वती वचनरूपता, और जो पदार्थका ज्ञान करानेमे कारण हो कर शब्द उठता है या जो मुखसे बोल दिया जाता है वह सब है प्रकाशानुभूत वचनरूपता। निर्विकल्पज्ञान प्रमाण नहीं है इस बातको तो हम दार्शनिकोने मान लिया, शब्दाद्वैतवादी दार्शनिक कहते जा रहे हैं किन्तु सविकल्पज्ञान शब्द रचनाके अलावा कुछ है ही नही। जो अन्तरङ्गमे शब्द रचना उत्पन्न हुई है वही बस ज्ञान है

और जुदी वस्तु नही है। शब्दात्मक जो प्रत्यय है वही प्रमाण है।

शब्दब्रह्मवादमे सकल विश्वकी शब्दात्मकता—वह शब्दात्मक तत्त्व अनादिनिधन है, अविनाशी है और वही शब्दब्रह्म जब अर्थ भावरूपसे परिणमता है तो यह सब जगत बन जाता है। ज्ञान बन गया प्रक्रिया बन गई तो सब कुछ एक शब्दब्रह्म है। जो तुम्हे दिख रहे है ये सब पदार्थ भी शब्दब्रह्मकी माया है। यह समस्त जो कुछ भी जगत है, जिसे लोग कुछ तो ज्ञानरूपमे ग्रहण करते, कुछ अर्थरूपमे ग्रहण करते, यो दो भागोमे लोग इस जगतको ग्रहण कर रहे है—कुछ ज्ञान तत्त्व है और कुछ वस्तुभूत तत्त्व है, पदार्थ तत्त्व है, लेकिन न ज्ञान कोई शब्द रचनासे न्यारी वस्तु है और न यह पदार्थ भी शब्द रचनासे न्यारी वस्तु है। सबमे शब्द व्यापक है और जो ज्ञान बनता है वह भी एक शब्द प्रणाली है। तो शब्दब्रह्म अनादिनिधन है क्योकि उसका कभी उत्पाद व्यय नही होता है। शब्दका जो लोग विनाश सा समझ रहे हैं कि लो यह शब्द बोला और यह शब्द मिट गया। तो शब्द मिटता नही है, शाश्वत है, सर्वत्र है। उन शब्दोका इन कण्ठादिकसे आविर्भाव होता है याने यह प्रकट होता है और साधनोके थकनेसे यह शब्द ढक जाता है। पर शब्द कभी उत्पन्न नही होता है ऐसा इसका सिद्धान्त है।

शब्दकी नित्यता व अक्षररूपताका वाद—शब्द ब्रह्म है, अविनाशी है, अक्षररूप भी है क्योकि अकार आदिक अक्षरोका यह निमित्तभूत है, अत यही शब्दब्रह्म वाचकरूप भी है, और वाच्यरूप भी है, उसका नाम शब्दब्रह्म है, कोई अन्य चीज नही है वास्तवमे। और जो कुछ समझमे आया है शब्दब्रह्मसे अर्थात् चाहे ज्ञान समझमे आया, चाहे पदार्थ समझमे आया वह सब भ्रम है। शब्दब्रह्म ही एक तत्त्व है। ऐसी शब्दाद्वैतवादियोने अपनी बात रखी है कि प्रमाण तो ज्ञान है और सविकल्पज्ञान प्रमाण है, पर शब्दब्रह्मसे न्यारा न यह ज्ञान है न पदार्थ है। जो कुछ भी ज्ञान होता है वह चित्तमे शब्दोकी गुनगुनाहट सहित होता है और सब जगह शब्द ही शब्द पडे हुए हैं। आकाश सब जगह है और आकाशका ही गुण शब्द मानते है तो शब्द भी सब जगह है।

शब्दाद्वैतके मन्तव्यमे साधारण जनोके ख्यालका मेल—देखिये शब्दाद्वैतवादमे भी साधारण लोगोके ख्यालके अनुरूप बात मानी गयी है। जैसे पूछा जाय अच्छा बतावो तो सही रूप किसका गुण है ? तो आप झट कह देंगे कि रूप इस भौतिक पदार्थका गुण है, रस, गन्ध, स्पर्श ये सब पुद्गलके गुण है। और, शब्द किसका गुण है ऐसा सोचनेमे कुछ अटक आ जायगी। किसका बताये ? और, साधारणतया सोचनेपर ऐसा मालूम होगा कि शब्द तो एक आकाशमे मालूम होते है, आकाशमे ही रहते है, आकाशसे ही आते है तो शब्द आकाशका गुण है ऐसा साधारण लोग ख्याल कर सकते है और इसी कारण शब्द ब्रह्मका मतव्य निकला है। जब आकाश

अविनाशी है तो शब्द भी अविनाशी है और अर्थ अथवा ज्ञान सब कुछ शब्दात्मक है। शब्दको छोडकर न तो ज्ञान कोई चीज है और न शब्दके विकासको छोडकर यह पदार्थ कोई चीज है। तो शब्दाद्वैतवादियोने इन शब्दाद्वैतको प्रमाण माना है।

शब्दाद्वैतकी इन्द्रियज ज्ञानसे असिद्धि—अब शब्दाद्वैतके सम्बन्धमे समाधान किया जा रहा है कि शब्दाद्वैतके मन्तव्यमे भी तत्त्वका ज्ञान नही कर पाया क्योकि समस्त ज्ञान शब्दसे बींधे गये है इस तरह प्रतिभासमे नही आता, क्योकि सभी ज्ञान शब्दसे बीधे हुए हैं, शब्दसे रचे गए हैं ऐसी बात तुमने प्रत्यक्षसे जाना या अनुभवसे जाना ? यदि कहो कि प्रत्यक्षमे जाना तो प्रत्यक्ष होते है दो प्रकारके। एक इन्द्रियज प्रत्यक्ष और एक स्वसम्वेद्य प्रत्यक्ष। तो ज्ञान शब्दात्मक होता है यह बात तुम इन्द्रियसे तो जान नही रहे किन्तु स्पष्ट मालूम हो रहा कि इन्द्रियाँ रूप आदिक विषयोमे निमित्त है। आखोसे जाना तो रूप जाना, कर्णोंने जाना तो शब्द जाना, पर कर्णोंसे यह तो नही जाना कि ज्ञान शब्दात्मक है। नाकसे जाना तो गन्ध जाना, रसनासे रस जाना, स्पर्शसे स्पर्श जाना। इन्द्रियसे भी यह कैसे जान सकते है । यदि यह कहो कि समस्त ज्ञान शब्दसे बीधे हुए होते हैं अतएव उन पदार्थोका अनुभव होनेपर भी, ज्ञान होनेपर भी उस ज्ञानमे शब्द भी अनुभवमे आते है तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। जब ज्ञानकी शब्दानुविद्धता सिद्ध हो तो शब्दानुविद्धत्वका ज्ञान बने और जब शब्दानुविद्धत्वका ज्ञान हो तो शब्दात्मक अर्थविज्ञानकी सिद्धि हो।

स्वसंवेद्य प्रत्यक्षसे शब्दाद्वैतकी असिद्धि—समस्त ज्ञान शब्दोसे बीधे हुए है यह स्वसम्वेद्यज्ञानसे भी सिद्ध नही होता है। स्वसवेद्यज्ञानका तो विषय ही शब्द नही है। स्वसम्वेद्यका विषय है। स्व मायने आत्मा। शब्द विषय नही है। यदि यह कहें कि यद्यपि स्वसम्वेद्य ज्ञानका विषय शब्द नही है लेकिन समस्त पदार्थ शब्दसे बीधे हुये है अतएव उन पदार्थोका अनुभव होनेपर ज्ञान होनेपर उस ज्ञानमे शब्द भी अनुभवमे आते है। तो यह बतलावो कि तुम्हारा जो यह कहना है कि सब पदार्थ शब्दात्मक है। समस्त ज्ञान शब्दात्मक हैं तो शब्दात्मकताका अर्थ क्या हैं ? क्या पदार्थके अभिन्न देशमे शब्दका प्रतिभास होना इसके कारण शब्दात्मकता है या पदार्थमे शब्दोका तादात्म्य हो गया, एकमेकपना हो गया इसके कारण शब्दात्मकता है ? देखिये अनेक बातें मिली-जुली लगती हैं लेकिन सूक्ष्म जो प्रज्ञा है, तर्क बुद्धि है वह मिली-जुलीको भी न्यारी-न्यारी समझ लेती है। जैसे आममे रूप और रस कोई अलग अलग जगह नही हैं, जहाँ रूप है वही रस है लेकिन प्रज्ञा छैनी ऐसी पैनी बुद्धि है कि उसमे भी रूप और रसको न्यारे-न्यारे समझ लेते है। रस जाना जाता है रसनासे, रूप जाना जाता है आखोसे। तो रूप कुछ भिन्न तत्त्व रहा इससे कि नही ? और पदार्थमे देखिये तो अलग-अलग कुछ नही पडा कि उस आममे किसी जगह रूप हो और किसी जगह रस हो ऐसी बात तो है ही नही।

पदार्थक्षेत्रमे शब्द प्रतिभासका हेतु देकर शब्दात्मकताकी सिद्धिका अभाव--ज्ञान व अर्थकी शब्दानुविद्धताका अर्थ क्या है ? पदार्थोके अभिन्न देशमे शब्दका प्रतिभास होनेका नाम शब्दात्मकता है या पदार्थके साथ शब्दोका तादात्म्य ही बन गया । पहिली बात तो यो ठीक नही कि इस प्रत्यक्षमे सदैव शब्दरहित पदार्थ ही प्रतिभासमे आता है । किसी भी पदार्थको जानते समय दो बातें उत्पन्न हुई हे तो वे बाते अलग है -- ज्ञान भी हो रहा है और भीतर शब्दरचनाके रूपमे तर्कणा भी चल रही है तो ये दो काम हो रहे है इससे पदार्थ शब्दात्मक हो गए या ज्ञान शब्दात्मक हो गया यह बात सिद्ध नही होती । जैसे सामने रहने वाले ये नीले-पीले आदि पदार्थ प्रतिभासमे आते हैं इसी प्रकार उस देशमे शब्द भी प्रतिभासमे आना चाहिए पर आते तो नही ।

क्षणिकवादमे व्यापक पदार्थका नास्तित्व इस प्रकरणमे एक और नवीन बात जानियेगा कि यह शब्दाद्वैत इस समय क्षणिकवादको दृष्टिमे रखकर कहा जा रहा है । वैसे फर्क तो बहुत है कि शब्द ब्रह्म तो है नित्य व क्षणिकवाद हर एक चीजको छिन्न-भिन्न मानता है, केवल एक समय-समयकी ही बात नही, द्रव्य छिन्न है, क्षेत्र छिन्न है, काल छिन्न है, भाव छिन्न है । तो क्षणिक सिद्धान्तमे पदार्थ कुछ नही है, पदार्थ मान ले तो वह कोई वस्तु बन जायगी । तो उनसे पूछा गया कि जो कुछ आखो दिखता है वह क्या चीज है ? तो वे कहते हैं कि हरा, पीला, सफेद यह चीज है, पदार्थ नामसे वे न बोलेंगे । जो कुछ यह ज्ञात हो रहा है आखोसे वह नीला पीला वगैरह हो रहा है, क्योकि जितने भी पदार्थके विभाव बनेंगे वे नीले-पीले आदि बनेंगे और कुछ बनेंगे नही । ऐसा तो नही है कि किसी पिण्डके आधारपर नीला पीलारूप हो और भीतर कोई वस्तु छिपी हो । सब कुछ नीलात्मक ही तो है ।

अर्थदेशमे शब्दप्रतिभासका अभाव --देखिये ! यदि अर्थदेशमे शब्दप्रतिभास होनेसे ज्ञान शब्दात्मक हो तो ज्ञानसे जब हम पदार्थको जान रहे हैं तो उसके साथ हमे वहाँ शब्द भी जाननेमे आना चाहिए । जिस प्रकार नील आदिक पदार्थ सामने ठहरे हुये हमारे ज्ञानमे आते है उसी प्रकार उस ही देशमे शब्द नही आते । शब्द देखो तो श्रोताके श्रोत्र प्रदेशोमे ज्ञात होते है । स्थानका भी भेद है । अन्य देशमे पाया जाने वाला पदार्थ अन्य देशका न बन जायगा, जो जहाँ है वहाँ ही रहेगा । तो ज्ञान अर्थ अभिन्न देशमे शब्दको भी जानता हो ऐसा तो नही है । अर्थकी जगह अर्थ जान रहे है और कानके प्रदेशोमे शब्द जाग रहे है तो पदार्थ शब्दात्मक कैसे हुए ? तब इनका आधार न्यारा-न्यारा है । नील आदिकका आधार सामने है और शब्दका आधार कर्णप्रदेशमे मे है तो फिर यह कहना कि ये सब पदार्थ शब्दात्मक है यह कैसे सिद्ध हो जायगा ?

पदार्थमे शब्दके तादात्म्यका अभाव--यदि यह कहोगे कि अर्थके साथ-

साथ शब्दका तादात्म्य है तो यह भी बात बनती नही है। क्योकि जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियो द्वारा जाना जा रहा है वह तो भिन्न विषय है। जिन दो तत्त्वोका ग्रहण विभिन्न इन्द्रियोसे होता हो उनमे एकता नही हो सकती। जैसे रूप और रस इनमे एकता नही है। देखिये स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार प और रसमे एकता है और नही भी है। विभिन्न गुण है वि िन्न परिणतिया हैं, इसीलिए तो एकता नही है, और चू कि वह पदार्थ रूपात्मक है, वही पदार्थ रसना मक है और पदार्थ ही चीज है इसलिए एकता है। लेकिन क्षणिकवादने रूप रसको एक नहीं माना, और रूप रसको यथा, किसी भी दो बातोको एक मानते ही नहीं क्षणिकवादी। दो समयोका मेल भी नही मानते। घडी घटा आदि नही मानते, यह तो सब भ्रम है परमार्थ चीज तो एक एक समय है। तो जैसे रूप और रस भिन्न-भिन्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहणमे आते है अतएव इनमे एकता नही है। सो जैसे नील आदिक रूपका रसके साथ एकता नही है ऐसे ही नील आदिकके साथ शब्दकी भी एकता नही है। और, इस नेत्र इन्द्रियजन्य ज्ञान मे ये जो कुछ जाननेमे आ रहे हैं ये समस्त पदार्थ शब्द रहित प्रतिभासमे आ रहे हैं। फिर कैसे पदार्थको तुम शब्दात्मक कहते हो ?

साकार ज्ञानके ही प्रमाणत्वकी सुगम सिद्धि—नेत्र इन्द्रियजन्य ज्ञानमें शब्दरहित नील आदिकरूप ग्रहणमे आ रहा है और कर्ण इन्द्रियजन्य ज्ञानमे शब्द जाननेमे आ रहे हैं। शब्द न्यारे है, रूपादिक पदार्थ न्यारे हैं, इनको तुम एक कैसे कहते हो कि पदार्थ शब्दात्मक ही हैं अन्य कुछ नही हैं, और ज्ञान भी शब्दात्मक ही है। ज्ञान भी शब्दात्मकताको छोडकर अन्य कुछ नही है यह बात तुम्हारी असत्य है। तो प्रमाण सविकल्प ज्ञान है यही मानना चाहिए और वह सविकल्पज्ञान ज्ञानरूप है शब्दरूप नहीं है। शब्द तो अचेतन है। अचेतनका परिणमन चेतनरूप नही हो सकता। ज्ञान जुदी चीज है। यो तो मोही प्राणियोको देह और ज्ञान ये भी जुदे-जुदे नहीं मालूम पडते। शरीर है सो ज्ञान है, शरीर है सो आत्मा है, यो एकमेक मानते तो रागद्वेष म ह गादिक रूप हो वही मैं आ मा हूँ। तो एक ' तिभासमे आ जानेके कारण एकता आ जाय सो सत्य नही है। यो अर्थमे और शब्दमे भेद है। ज्ञान ज्ञानरूप ही है, ज्ञान शब्दरूप नही है।

शब्दात्मक प्रत्ययके प्रमाणत्वकी सिद्धिका उपक्रम निर्विकल्पज्ञानको क्षणिकवादी प्रमाण मानते थे, उसके निराकरणके बाद शब्दाद्वैतवादी कह रहे हैं कि यह तो बात बहुत ठीक है कि जो निराकार ज्ञान है वह प्रमाण नही हो सकता। साकार ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। जिस ज्ञानमे कुछ आकार प्रकार रूप रूपक सकल कुछ आया हो वह ज्ञान प्रमाण है। यह ठीक है लेकिन शब्द रचनासे अत्यन्त न्यारा ज्ञान तो कुछ होता ही नही। जैसे लौकिकजन जो कुछ ज्ञान करते हैं तो अदर मे उस जातिके शब्द उठते है। भीट निरखो तो भीतरमे भीट यह शब्द बिना बोले

भी कुछ अन्तरङ्गमे उठे हुएसे लगने लगते है। जैसे किसी अपने परिचित मनुष्यको देखा तो मनुष्यसे कुछ भी नही बोला लेकिन अन्दरमे उसका नाम कुछ बनने सा लगता है। तो जितने भी ज्ञान होते है, वे सब शब्दात्मक हुआ करते है। बोले अथवा न बोले, इसे विचारमे शब्दब्रह्मवादी यह सिद्ध करना चाहते है कि सब कुछ शब्दात्मक है। पदार्थ सब शब्दात्मक है। जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान शब्दात्मक है। शब्दसे अलग न कोई पदार्थ है न कोई ज्ञान है।

पदार्थमे शब्दरूपताकी असिद्धि - शब्दाद्वैतवादके निराकरणमे अभी बहुत सी बाते दी गयी थी और यह सिद्ध किया गया था कि किसी भी मनुष्यको आँखो के द्वारा रूपके देखनेपर वह पदार्थ शब्दरूप भी है, ऐसा कोई नही जानता, किन्तु केवल रूपको जानता है नेत्रसे, शब्दमय नही है। नेत्रसे जो दीखा और नीला हरा सफेद जो जाना तो इस जाननके साथ भीतरमे शब्द उठे यह बात तो किन्ही किन्ही जीवोंके है, सबके फिर भी नही हो सकती। कोई भले ही रूप आदिकके ज्ञानके साथ साथ शब्दका भी ज्ञान करे। चूंकि वासना बनी हुई है इसलिए शब्द उठते है मगर ज्ञान शब्दसहित नही है। ज्ञान शब्दरहित ही है। पदार्थ जो जाननेमे आया वह शब्द-जाननेमे आया। शब्द भले ही ज्ञानके साथ भीतरमे उठ गए, इसी बातको लक्ष्यमे लेकर शब्दब्रह्मवादी कह रहे है कि पदार्थ भी शब्दरूप है, ज्ञान भी शब्दरूप है, तो उनसे पूछा गया कि जब नेत्रसे हम रूपको देखते है तो रूपके साथ शब्दकी एकता तो नही समझमे आती। शब्द श्रोत्र इन्द्रियसे जाने जाते है, रूप नेत्रसे जाना जाता है। जब भिन्न इन्द्रियसे ज्ञात होने वाली दो चीजें है तो वे एक कैसे हो जायेगी ? यदि एक हो सकती तो नेत्रसे नीला पीला रूप देखा तो उसके साथ वे शब्द भी सुननेमे आने चाहिये। सो रूप और शब्दमे एकता तो नही है, भिन्न-भिन्न चीज है।

शब्दविशेषणगम्यतासे पदार्थके शब्दात्मकत्वकी असिद्धि—यदि कहो कि ज्ञान इस वचनरूप है तो यह तो प्रत्यक्षसे असिद्ध है। इसका देखनेके साथ ही वचनरूपता भी किसीको ज्ञान नहीं होती। नेत्रसे वचन तो नहीं देखा। तो पदार्थ वचनरूप नहीं है। यदि एक इन्द्रिय दूसरेको जानने लगे तो फिर बहुत सी इन्द्रिया मानना व्यर्थ है। एक आंख ही गोल ले तो स्वाद भी ले ले, रूप भी देख ले, शब्द भी सुन ले। सब कुछ एक इन्द्रियसे काम हो लेगा। पर ऐसा तो नहीं है इस कारणसे पदार्थ शब्दमय नहीं है। ये रूपादिक शब्दात्मक नहीं है। यदि कहो कि जब हमने जाना कि यह रूप है, यह पीला है तो यह पीला ज्ञानमे आया और यह पीला है ऐसे शब्दोंमे ज्ञानमे आया तो वह विशेषण शब्द इन पदार्थोंसे भिन्न है ऐसा मालूम हो तो ठीक है भिन्न ही रहा। जब भिन्न हो गए तो फिर शब्दात्मक कैसे हो गया अर्थ ?

शब्द, अर्थ और ज्ञानके स्वतन्त्र स्वरूपकी सिद्धि—यहाँ इस बातका कथन किया जा रहा है कि पदार्थ पदार्थ ही है ज्ञान ज्ञान ही है शब्द शब्द ही है, न तो पदार्थ शब्दमय है और न ज्ञान शब्दमय है। नेत्र इन्द्रियने तो एक विशुद्ध रूपको जाना। जब यह नेत्र इन्द्रिय ही किसीने शब्दका ग्रहण करले कि यह रूप है इस तरह से कुछ देखा, इन शब्दोंके द्वार देखा, भिन्न ही विषय है। तो जब नेत्र इन्द्रियसे शब्द विशेषण ग्रहणमे आया तो वह इसको शब्दात्मक कैसे मान लें ? यदि कहो कि शब्द दूसरे ज्ञानसे जाना, श्रोत्रसे जाना और उस विशेषणसे सहित पदार्थको हमने नेत्र-इन्द्रियसे जाना तो प्रकट ही भिन्न हो गए। तो न तो पदार्थ शब्दरूप है और न ज्ञान शब्दरूप है। इस ज्ञानसे शब्दको न्यारा ही समझिये। भले ही हम आप ज्ञान करते हैं तो अन्तरङ्गमे उसका नाम भी साथ-साथ उठ जाता है। जैसे कोई आया तो आते ही उसका नाम भीतरमे उखड गया, हम मुखसे बोलें अथवा न बोलें, इस आधारपर यह दार्शनिक कह रहा कि सारे ज्ञान शब्दरूप होते है, ज्ञान स्वतन्त्र कुछ नहीं है। शब्दसे रहित कोई ज्ञान हो ऐसी बात समझमे नहीं आती, यह शब्दब्रह्मवादीका मत-व्य है। स्याद्वाद तो शब्दज्ञान व अर्थज्ञानके प्रसगमे यह कहता कि भले ही उसमें कुछ साथ हो से सम्बन्ध हो लेकिन स्वरूप देखा जाय तो शब्द तो है पौद्गलिक पर्याय और ज्ञान है आत्माकी परिणति तो जब हम पदार्थसे निरखते है तो पदार्थ नीला आदिक ही दिखनेमे आता है। शब्द नहीं आता, इस कारण शब्द जुदा है और ये दिखनेमे आने वाले पदार्थ जुदे हैं।

निःशब्द निर्णायक ज्ञानकी प्रमाणताका निष्कर्ष—यहाँ प्रमाणको स्वरूपका कथन चल रहा है सो यह बात कही है। प्रमाण क्या है ? स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है। तो इसपर दार्शनिक अपनी-अपनी बात रख रहे हैं। शब्दब्रह्मवादी यह बात रख रहे हैं कि ज्ञान स्वतन्त्र कुछ नहीं है। जो शब्दात्मक प्रत्यय है, शब्दात्मक जानकारिता है वही प्रमाण है। ज्ञान कोई अलग

चीज नहीं है। क्यों? जब हम पदार्थको देखते हैं तो पदार्थ ही जाननेमें आ रहा, शब्द उसीके साथ सुननेमें, जाननेमें तो निरन्तर रहे हैं, किन्तु विषय भिन्न-भिन्न है। यदि यह कहो कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब शब्दसे सम्बन्धित हैं, शब्दके सम्बन्ध बिना कोई पदार्थ नहीं है इस कारणसे शब्द सम्बन्धित पदार्थका स्मरण करनेसे शब्दात्मक अर्थका दर्शन सिद्ध हो जाता है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष है। जब हम शब्दात्मक अर्थ देखें तो शब्दात्मक अर्थका स्मरण मनमें आये। और अर्थका स्मरण हो तो शब्दात्मक अर्थका दर्शन हो। यह शब्दका शब्दात्मक और अनुपथा सम्बन्ध है इस कारण अर्थके देखनेसे शब्दात्मककी सिद्धि हो जाती है यह युक्त नहीं है। तो पदार्थ शब्दात्मक नहीं है और न ज्ञान शब्दात्मक है। ज्ञान ज्ञान है और जो ज्ञान अपना और पदार्थका निश्चय करता है वह प्रमाण है।

हैं पदार्थ और शब्दके सम्बन्धका या यह मतलब है कि जिस जगहपर पदार्थ है उस ही जगहमे शब्दका भी ज्ञान चल रहा है, क्या यह अर्थ है ? अथवा यह अर्थ है क्या कि जिस समय पदार्थका ज्ञान कर रहे है उस ही कालमे शब्दका भी प्रतिभास हो रहा है। शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध है इसका ख्याल करनेके लिए तीन विकल्प रखे।

शब्दाद्वैतकी साधनामे युक्तियोकी असमर्थता—पहिली बात तो यह है कि पदार्थके ज्ञानमे शब्दका भी प्रतिभास होता हो यह बात तो सही है नही क्योकि जब नेत्र इन्द्रियसे रूपका प्रत्यक्ष कर रहे हैं उस समयमे शब्दका प्रतिभास नही हो रहा। दूसरी भी बात सही नही है। दूसरी बात क्योंकि जिस जगह पदार्थ है उसी जगह शब्दका भी बोध हो रहा है क्योकि शब्दका तो होता है कर्णके प्रदेशमे बोध और रूपादिकका हो रहा है नेत्रइन्द्रियसे बोध और ये रूपादिक शब्दसे न्यारे हैं। शब्द यहाँ जाना गया, रूप वहाँ दीखा। रूपकी ही जगहमे शब्द कहा मालूम पडा। तीसरी बात भी सही नही है, वह क्या कि जब अर्थका ज्ञान हो रहा है इसी समयमे शब्दका भी प्रतिभास होता है इस कारणसे पदार्थका और शब्दका वहाँ सम्बन्ध है। यह भी ठीक नही है क्योकि चाहे एक ही समयमे दोनोका बोध हो, यहाँ रग भी ज्ञानमे आया और भीतर शब्द भी सुननेमें आया या शब्द भी समझमे आया, इतने पर भी नेत्रके ज्ञानमे तो शब्दका प्रतिभास नही हो गया। वहाँ दो ज्ञान हो गए। शब्दका ज्ञान शब्द ज्ञानने किया, रूपका ज्ञान, रूपज्ञानसे किया। यदि कहो कि रहे आयें भिन्न ज्ञानके द्वारा वे ज्ञेय तो भिन्न ज्ञानके द्वारा ज्ञेय हो गए तो भेद अपने आप सिद्ध हो गया।

शब्दाद्वैत मतव्यकी अविचारितरमणीयता—शब्दब्रह्माद्वैतका सिद्धान्त जो शब्दाद्वैतवादी रख रहे है यह बहुत विचारनेपर तो खण्डित हो जाता मगर साधारण लोक विचारसे इसका खण्डन नही होता, क्योकि ज्ञानसे ऐसा लग रहा है कि शब्दसे बीधा हुआ ज्ञान है। जब यह अलमारी है तो अलमारीको निरखते ही अलमारी ऐसे शब्द भीतरमे आ ही जाते है। जिसे निरखा उसको निरखते ही भीतरमे शब्द आ ही जाता है। जिसका परिचय भी न हो ऐसा कोई आता जाता मनुष्य दीखा तो चाहे उसका नाम न मालूम होनेसे नामरूप शब्द न कहे किन्तु यह मनुष्य है इतने शब्द फिर भी उठ जाते हैं। तो इस ही कारण शब्दाद्वैतवादी यह कह रहे हैं कि ज्ञान कोई स्वतत्र चीज नही है किन्तु शब्द रचना ही एक ज्ञान है, पर यह बात सही नही बैठी क्योकि शुद्ध दृष्टिसे निरखनेपर रूपका ज्ञान नेत्रसे ज्ञात हुआ, शब्दका ज्ञान श्रोत्र से ज्ञात हुआ, तो फिर एकता कैसी रही ?

ज्ञानकी शब्दानुविद्धताके निराकरणमे युक्तिरूप उदाहरण —यदि तुम ऐसा मानते हो कि सारे ज्ञान शब्दसे बीधे हुए होते। तो जो तत्कालका उत्पन्न हुआ बालक है वह जो कुछ देख रहा है उसे मुखसे बोल नही सकता पर भीतरमे उसके

शब्द उठ रहे है। तो उस बालकके शब्दके बिना ही अर्थदर्शन कैसे सम्भव हो गया ? वहाँ तो शब्द नही मालूम पड रहा बालकको। जैसे यह भीट है, नीली है, पीली है, ये शब्द भी उठते है क्या बालकके चित्तमे ? तो शब्द बिना ज्ञान हुआ कि नही ? ज्ञान शब्दरूप ही हो यह बात ठीक नही। और, भी निरखिये। प्रभु, ईश्वर सर्वज्ञदेव को सब लोग श्रुतसे जानते है। क्या उनके ज्ञानके साथ शब्द भी उठ रहे है ? वहाँ भी शब्द नही उठ रहे। हम आपमे वासना पडी है ? सस्कार पडा है इस कारणसे देखते ही शब्द उठ जाते हैं तो यह हम आप लोगोकी परिस्थिति है। पर इससे ज्ञान शब्दरूप ही हो गया हो यह बात तो नही समायी है, अथवा कोई मनुष्य घोडेका चिन्तन कर रहा है, घोडा खरीदनेके विचारसे बैठा है या किसीका घोडा गुम हो गया उसके चिन्तनमे बैठा है तो केवल घोडे घोडेका शब्द आकार प्रकार नाम भीतर उठ रहा है, ऐसे पुरुषके सामनेसे गाय निकल जाय तो क्या गाय दिखेगी नही ? दिखती है पर इनके सिद्धान्तसे नही दिखनी चाहिए क्योकि वहाँ शब्द तो भीतर घोडेका हो रहा है। तो शब्द जब गायका भीतर उठा तब गाय दिखना चाहिए पर घोडेका विकल्प करने वाले पुरुषको गायका दर्शन हो जाता है वहा शब्दरहित ज्ञान है इस कारणसे भी सिद्ध है कि ज्ञान शब्दात्मक नही होता। तो ज्ञान शब्दरहित है और जिस ज्ञानमे पदार्थका निर्णय बसा हो यह ज्ञान प्रमाणभूत है।

शब्दरहित सविकल्प ज्ञानके प्रामाण्यकी प्रतीति—शब्दब्रह्मवादियोने शब्दके सम्बन्धमें एक सिद्धान्त रख दिया कि वचन दो प्रकारके होते है—एक शाश्वत और एक प्रकाशहेतुभूत। शाश्वत तो सदैव रहता है और वह शक्तिरूप है, व्यक्तिरूप नही है। जैसे यह चौकी है इसमे शब्द बसा है कि नहीं ? उनके सिद्धान्तसे बसा है, और जब हाथको ठोकर लगाया तो शब्द प्रकट हो गया। तो शब्द सदैव रहता है उनके सिद्धान्तसे बसा है और जब हाथकी ठोकर लगाया तो शब्द प्रकट हो गया। तो शब्द सदैव रहता है उनके सिद्धान्त से और जो शब्द प्रकट हुआ वह ज्ञानका कारण बनता है। तो ये सारी बातें तुम्हारी सिद्ध नही होती, क्योकि पदार्थ भी शब्दात्मक नही और ज्ञान भी शब्दात्मक नही। श्रोत्रसे ग्रहणमे आने वाली वैखिरी भाषाको नेत्र कहाँ जानता है ? और जो अन्तरङ्गमे शब्द उठता है उसके बिना भी शुद्ध ज्ञान हो जाता है। तो ज्ञानात्मक न तो अर्थ है और न शब्द है इसलिये शब्दात्मक ही सब है यह बुद्धि छोडो। शब्द शब्दकी जगह है, ज्ञान ज्ञानकी जगह है, अर्थ अर्थकी जगह है, सब कुछ स्वतन्त्र अपना अपना अस्तित्व रखता है। उसमे प्रमाण ज्ञान है, अचेतन प्रमाण नही हो सकता है। उस ज्ञानको प्रमाण सिद्ध करने के प्रसङ्गमे यहाँ शब्दात्मकताका निराकरण किया गया है।

शब्दाद्वैतका सिद्धान्त—शब्दब्रह्मवादी यह कह रहे हैं कि पदार्थ शब्दसे सम्बद्ध रहते है, तो पदार्थकी शब्दसम्बद्धताका अर्थ क्या है ? न तो पदार्थके ज्ञानमे

शब्दका प्रतिभास होता है और न पदार्थकी जगहमे शब्दका वेदन होता है । और, यद्यपि पदार्थके ज्ञानके समयमे शब्दका भी प्रतिभास हो रहा है । जैसे कि यह रूप है, ऐसा शब्द भी उठ रहा है और रूपका ज्ञान भी चल रहा है, इतनेपर भी शब्द तो जाना जाता है कर्णमे और पदार्थ निरखा जाता है नेत्रसे तो यह एक कैसे हो सकता है ? यदि यह कहो कि सारा जगत वचनरूप है और वह शक्तिरूप वचन है और व्यक्ति रूप वचन है ऐसे दो भेद कहो तो वह युक्त नहीं बैठता । शब्द ब्रह्मवादी तीन प्रकारसे वचनरूपता मानते हैं । एक तो अन्त ज्योतिरूप वाणी दूसरे मध्यमावाणी और तीसरे बैखिरी वाणी । तीन तरहकी वाणी मानी है । बैखिरीवाणी तो वह है जो कानसे स्पष्ट शब्द सुननेमे आयें । जो वचन बोलनेके स्थान है कठ तालू वगैरह, उन के खुलनेपर, प्रयोग होनेपर हृदयकी वायुके बलके कारण जो वचन निकलते हैं वह है बैखिरी वाणी । अब उसने और अन्तरङ्गमे जिसमे हृदयमे रहने वाली वायुके बलकी जरूरत नही है और जहाँ वर्ण पद आदिक भी नही हैं, वहाँ जो कुछ प्रत्यक्षमे दीखता है उस दिखनेके समयमे जो अन्तरङ्गमे वचन उठ रहे हैं वह मध्यमा वाणी है । इस का सम्बन्ध जानकारी करनेसे है । जब हम किसी आकार सकलमे जानकारी बनाते हैं तब यह मध्यमा वाणी हुई । अब उससे भी और अन्तरङ्गकी वाणी है सूक्ष्मा । सूक्ष्मा केवल स्वरूपके ज्योति स्वरूप है । मध्यमाका सम्बन्ध तो बाह्य पदार्थोंकी जानकारीके सम्बन्धमे है और सूक्ष्माका स्वरूप ज्योतिके अनुभवकी बात है, इस प्रकार सूक्ष्मा मध्यमा और बैखिरी इन तीन वाणियोंसे सारा जगत व्याप्त है । यो सब जगत शब्दात्मक है । यह बात तब घटित हो जब शब्दका, पदार्थका या शब्दका ज्ञानका तादात्म्य हो । सो तादात्म्य तो है नही, अतएव यह कहना तुम्हारा गलत है ।

शब्दाद्वैतकी अनुमानसे असिद्धि— यदि यह कहो कि हम अनुमानसे सिद्ध कर लेंगे कि पदार्थ अनुमानसे शब्दात्मक सिद्ध है तो यह भी बात तुम्हारी मनोरथ मात्र है सिद्ध नही हो सकती क्योंकि पदार्थ शब्दोसे बींधा हुआ है । ऐसा सिद्ध करने वाला अविनाभावी साधन कोई नही है । कौनसा शब्द बतावोगे जिससे यह सिद्ध हो सके कि पदार्थ शब्दात्मक है, और अनुमान आदिक भी जो प्रत्यक्ष बाधित बात है उसमे अनुमान करोगे क्या ? कोई यो अनुमान कर ले कि अग्नि ठडी होती है । क्यो ? द्रव्य होने से । जो द्रव्य होते है वे ठडे होते हैं जैसे पानी । पानी द्रव्य है अतएव ठडा है । अग्नि भी द्रव्य है । अत अग्नि भी ठडी होनी चाहिए । क्या ऐसा भी कोई अनुमान करेगा ? यदि कोई ऐसा कहे तो उसके हाथमे आग धर दो तो उसे पता पड जायगा कि अग्नि ठडी होती है या गर्म । जो प्रत्यक्ष बाधित बात है उसका सिद्ध अनुमान नही चला करता है । यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष सिद्ध है कि हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं तो पदार्थका ज्ञान हो रहा है वहा शब्द साथमे नही जाने जा रहे, और जाने भी जा रहे हो शब्द तो शब्दकी जगह शब्द जाने जा रहे, पदार्थकी जगह पदार्थ जाने जा रहे ।

प्रत्यक्षबाधित अर्थमे साधनकी अगोचरता— यदि यह कहो कि सारा

जगत शब्दमय है, सो उस जगतके उदरमे रहने वाले जितने भी ज्ञान हैं वे ज्ञान भी अर्थमय होनेसे शब्दसे अनुविद्ध हो जायेंगे। सारा संसार शब्दात्मक है। शब्दात्मक ये सब पदार्थोंका जो ज्ञान है वह ज्ञान भी शब्दात्मक है। तो शब्दात्मकज्ञानकी सिद्धि हुई और वही शब्दात्मकज्ञान सब कुछ होता है, तो यही भी कहना तुम्हारा ठीक नहीं है क्योंकि यह तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है कि शब्दमय पदार्थ प्रत्यक्षमे नही जाना जाता। जो बात प्रत्यक्षके विरुद्ध है उसमे कितने ही अनुमान दो, कितनी ही युक्तियां दो तो वे ठीक बैठ ही नही सकती। और, कहीं भी चले जावो, वनमे हो, मन्दिरमें हो, किसी भी जगह हो जो-जो कुछ जाननेमे आ रहा पर्वत है, वृक्ष है, लता है ये सब शब्दरूप तो जाननेमें नही आ रहे। यह तो आखोंने दिख रहा हल्के पीले ऐसे रूप ही तो दिख रहे हैं। तो प्रत्यक्ष विदित बिल्कुल स्पष्ट सविकल्पज्ञानसे ये सारे पदार्थ शब्दरहित मालूम होते हैं।

विश्वकी शब्दरूपताकी असंभवता और भी देखिये—जो जिस आकारमें ढलित प्रत्यक्षमे जाना जाय तो परमार्थसे वह उससे तन्मय नही है। जब प्रत्यक्षमें हमे सभी पदार्थ शब्दसे रहित जाननेमें आ रहे हैं तो शब्दात्मक कुछ भी चीज नही हो सकती। जैसे चौकी पलंग ये जलके आकारमें तो नजरमें नही आते। तो ये चौकी पलंग जलसे तन्मय हो जायेंगी क्या? नहीं तन्मय हो सकती। जो जिस आकारसे विपरीत है वह उसमें तन्मय नहीं हो सकता। तो परमार्थसे यह सब कुछ भी दिख रहा है इसके आगे साथ न तो पद भिड़ा है न वाक्य भिड़ा है और न वचन भिड़े हैं। सब शब्दोंसे ये पदार्थ न्यारे ही हैं। यह जगत शब्दात्मक नहीं है। शब्द भी एक चीज है। जैसे पदार्थ वस्तु है, रूपादिक गुण है ऐसे ही शब्द एक चीज है और जगतका शब्द भी अंश है। जैसे जगतमें अनन्त पदार्थ हैं उन्ही पदार्थोंमेंसे शब्द भी एक पदार्थ है, इस तरहसे तो जगतमें एक शब्द है, पर सारा जगत शब्दरूप हो यह बात सत्य नहीं है।

कागज है और वह राखरूप परिणम गया तो यह बतलावो कि राखरूप परिणमनको प्राप्त हुआ जो वह मैटर है सो वह कागजके स्वभावको छोडकर परिणमा या कागजके स्वभावको रखता हुआ परिणमा, ऐसा प्रश्न कर सकते ना ? वहाँ तो यह उत्तर है कि कागजके स्वभावको छोडकर राखरूप परिणमा। तो इस प्रकार शब्द यदि शब्दपनेको छोडकर जगतरूप परिणमा तो इसका मतलब यह है कि शब्दका विनाश हो गया तो शब्द अनित्य हो गया, और कहो कि शब्दके स्वभावको न छोडकर यह जगत परिणमा है तो जैसे मिट्टी मिट्टीके स्वभावको न छोडकर घटरूप परिणमता है तो वहा घट पर्यायमे भी मिट्टी स्वभावका ग्रहण होता है इसीप्रकारसे उस शब्दका भी ग्रहण होना चाहिए सो होता नही। इससे यह सिद्ध है कि शब्द न्यारी चीज है, पदार्थ न्यारे हैं। शब्दात्मक यह ससार नही, ज्ञान शब्दात्मक नही, अतएव यह मानना कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे शब्दरूपसे ही सविकल्प बनते हैं, यह बात तुम्हारी युक्त नही बैठती।

निर्णायक ज्ञानकी प्रमाणताका प्रकरण—इस ग्रथमे तात्त्विक चर्चा चल रही है। यद्यपि यह चर्चा कुछ थोडी सी कठिन है, किन्तु ध्यानपूर्वक सुननेसे यह कुछ कुछ विदित होने लगेगा कि आत्माके सम्बन्धमे अथवा प्रमाणके सम्बन्धमे दार्शनिकोने क्या-क्या मर्म निरखा है और किस दृष्टिसे उन्हे वह मर्म विदित हुआ। प्रकरण यहाँ प्रमाणके स्वरूपका है। प्रमाण ज्ञान होता है, अज्ञान प्रमाण नही होता। जैसे व्यवहारी जन कहने लगते हैं कोई दस्तावेज आगे रखकर कि यह प्रमाण है। कोई किसी पुरुषको सामने लेकर कहते कि यह गवाह प्रमाण है अथवा अपना कब्जा दिखाकर कि देखो ना मैं रह रहा हू यहाँ, मेरा इसपर अधिकार है यह प्रमाण है। इन सब बातोके अन्दर भी ज्ञान प्रमाण है। वह दस्तावेज प्रमाण नहीं। वह तो कागज है। स्याही है। उसको निरखकर जो अन्तर्ज्ञान बना है हाँ वास्तवमे ऐसी ही बात है तो ऐसा जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। और, वह ज्ञान भी जो निर्णायक ज्ञान है वह प्रमाण है।

शब्दब्रह्मवादमे शब्दात्मक प्रत्ययकी प्रमाणता—इस निर्णायक ज्ञानके सम्बन्धमें एक दर्शनिक यह कह रहा है कि ज्ञान अलगसे कुछ नही है। जो एक शब्द रचना उत्पन्न होती है वही प्रमाण है क्योंकि हम आप सब लोगोका जब जो कुछ भी ज्ञान होता है तो शब्दोकी रचनामे हम लोगोको ज्ञान होता है। जैसे मकान जाना तो भीतरमे मकान ऐसा शब्द उठता हुआ ज्ञान होता है। चाहे मुखसे न बोले लेकिन भीतरमे वे शब्द उठे और जहाँ जिस किसी पदार्थको हम जानते हैं तो शब्दपूर्वक जानते हैं, और शब्द रचना अन्तर्जल्प नही बने तो उस ज्ञानकी कोई शकल ही न बने। कुछ भी जानें तो उसमे उसका नाम रक्ख प्रकार किसी व बत कुछ भी तो शब्द उठ आते हैं ऐसा एक दार्शनिकने कहा है। अत ज्ञान तो प्रमाण है, पर वह ज्ञान

शब्दात्मक ही है। शब्दात्मकताको छोडकर ज्ञान और कुछ चीज नही है। इसकी सिद्धिमे वे युक्ति यह दे रहे है कि ज्ञान ही क्या सारा जगत शब्दमय है। जैसे एक दार्शनिकने यह माना था कि सारा जगत ज्ञानस्वरूप है, अन्य कुछ मालूम पडे तो भ्रम है। न भीत है न मकान है, जो कुछ है सो ज्ञान-ज्ञान है और भीटादिक मालूम पडे तो भ्रम है। एक दार्शनिकने यो कहा। तो यहाँ कह रहे कि सव कुछ शब्दब्रह्म है। इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम पडे तो वह सारा भ्रम है। यह समस्त विश्व शब्द मय है।

शब्दमयताका दो विकल्पोसे प्रतिविधान—इस शब्द ब्रह्मवादके प्रतिविधानमे उनसे पूछ रहे हैं कि जगत शब्दमय है तो क्या इस कारण है कि यह सारा विश्व शब्दपरिणामरूप है, या इस कारण है कि इस समस्त जगतकी शब्दोसे उत्पत्ति हुई है? दो बाते सामने रखी। इस सारी दुनियाको शब्दरूप कैसे बता रहे हो? आखोसे जो कुछ दिखता है वह शब्दरहित दीखता है, और इन समस्त पदार्थोको शब्दात्मक कह रहे हो तो क्या शब्दरूप परिणमनसे जगत शब्दात्मक है या शब्दसे उत्पन्न होनेसे शब्दात्मक है। अब शब्दरूप परिणमनकी बात तो यो युक्त नही है कि वहाँ भी यह सोचना पडेगा कि यह जगतरूप जो बन गया है सो शब्दब्रह्म बना है यह तुम्हारा कहना है। तो यह शब्दब्रह्म अपनी शब्दस्वरूपताको न छोडकर नीलादिक पदार्थरूप बना है या शब्दस्वरूपताको छोडकर बना है। शब्दरूपताको छोडकर बन गया तो शब्द नित्य नही रहा। शब्द नष्ट हो गया और शब्दरूपताको न छोडकर बना है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमे जो कुछ दिखता है वह सब शब्दमय है। सो शब्द और रूपादिक पदार्थ सब एकरूप हो गये। तो बहिरे आदमी जब किसी पदार्थको देखते है तो उन्हें शब्द क्यो नही सुननेमे आते। जब ये पदार्थ शब्दमय है तो देखते ही के एक साथ सबका ज्ञान हो जाना चाहिए। जब नीला पीला आदिक पदार्थ बहिरोको दिखते हैं तो उन्ही बहिरोको शब्दका भी ज्ञान होना चाहिए क्योकि तुमने सारे लोक को शब्दमय मान लिया है। तो जैसे इन पदार्थोमे नील पीत रूप भिन्न नही है इसी तरह इन पदार्थोमे शब्द भी अभिन्न है और जो जिस पदार्थमे अभिन्न है उस पदार्थका ज्ञान होनेपर उसका भी ज्ञान हो जाता है। और, यदि यह कहे कि भाई नील पीत आदिक रगका तो ज्ञान हो गया पर इनके शब्दका नही, तो नीलादिक पदार्थ, व शब्द एक चीज ती नही रही।। नील आदिक पदार्थ और ये शब्द एक हो तो आखोसे जैसे पदार्थ दीखे ऐसे ही शब्द भी ज्ञानमे आ जाना चाहिए था। किन्तु आते हैं नही। तो शब्द जुदी चीज है और पदार्थ जुदी चीज है।

भ्रममे तत्त्वभ्रम—यहाँ उस एक दार्शनिककी बात कह रहे है कि जो दार्शनिक सारे जगतको शब्दमय मानता है। उसका कहना है कि शब्दके सिवाय और कुछ नही है। यदि और कुछ मालूम पडे तो वह भ्रमकी बात है। सुननेमें तो उल्टा सा

लगता, पर थोड़ा सा विचार करनेपर ऐसा लगने लगता कि सही तो बात है क्योंकि जिस पदार्थका ज्ञान होता है उस पदार्थमे उन शब्दोकी रचना बन जाती है, भींट दिखते ही भींट पदार्थके सम्बन्धमे भींट ये शब्द उठ ही जाते हैं। तो शब्द उठे बिना पदार्थ भी ज्ञानमे नही आते। तो मालूम होता है कि पदार्थ शब्दात्मक हैं किन्तु और जरा गहरा विचार करें तो ये विचार खण्डित हो जाते हैं। पदार्थ पदार्थकी जगह हैं, शब्द शब्दकी जगह है, ज्ञान ज्ञानकी जगह हैं।

अर्थ, अभिधान और प्रत्ययकी सत्ता व स्वतन्त्रता इस प्रकरणमे तीन चीजें स्पष्ट अवगमके लिये समझ लीजिये शब्द, ज्ञान और अर्थ। जैसे कोई कहता है कि हमारा पुत्रमे अधिक प्रेम है तो पुत्र तीन तरह के है शब्दपुत्र, अर्थपुत्र और ज्ञानपुत्र। किसी कागजमे पु और त्र ऐसे शब्द लिख दिए जायें तो उन शब्दोको निरखकर वह कहेगा कि यह पुत्र है। तो यह शब्द पुत्र हो गया। उससे कोई प्रेम कर नही सकता। वे तो कागजमे पु और त्र ऐसे अक्षर लिखे हुए हैं। और, अर्थपुत्र वह है जो आपके घरमे २ हाथ २ पैर वाला है। तो आपके घरमे जो अर्थपुत्र है उससे आप प्रेम करते हैं क्या ? उससे भी आप प्रेम नहीं कर सकते। क्योंकि आपका सब कुछ गुण परिणमन आदिक आपके आत्मामे आपके स्वरूपमें है। आपके बाहर आप का कुछ नही है। इस समय शरीरके अन्दर जो कुछ जीवात्मक है उसमे ही आपकी सब कुछ चीज है, उससे बाहर नही है। कभी जीव शरीररहित भी हो जायगा तब भी उसका सर्वस्व आत्मप्रदेशमे ही रहेगा, तो आप जो कुछ कर पायेंगे वह अपने आप में ही कर पायेंगे, अपनेसे बाहर कुछ नही कर सकते। अगुलीमे जो कुछ बात बनेगी गोल बने, सीधी बने वह अगुलीमे ही बनेगी, अगुलीके ही क्षेत्रमे बनेगी ? प्रत्येक पदार्थका काम उस ही पदार्थमे रहता है, उससे बाहर कुछ नही रहता है। तो मैं जीव जो कुछ भी कर पाऊँगा वह अपनेमें कर पाऊँगा अपनेसे बाहर नही। हमसे बाहर है वे पुत्रादिक, तो उनमे हम प्रेम कर नही सकते किन्तु हम अपने ही ज्ञानमे अपनी ही कल्पनामे जैसा कुछ यो विचारते है बस उसीका नाम प्रेम है। तो पुत्रका सम्बन्ध करके विषय करके जो हमने ज्ञान बनाया, कल्पना बनायी उस कल्पनामे हमारा प्रेम हुआ। तो हमारा ज्ञानपुत्रमे प्रेम है अर्थपुत्रमे प्रेम नही है।

जीवका स्वपरिणमनसे ही प्रेम सम्भव लोग कहते है कि इसका धनसे बडा मोह लगा है तो धन भी तीन तरहका है—शब्दधन, अर्थधन और ज्ञानधन। ध और न ऐसे शब्द किसी कागजमे लिख दिये जायें तो क्या उन लिखे हुए शब्दोमे कोई प्रेम करता है ? यदि उनको ही धन मानने लगे तो कोई प्रेससे लाखों करोडो जगह धन, धन ऐसे शब्द छपाकर रख ले और अपनेको लखपति, करोडपति अनुभव कर ले। तो ऐसा तो होता नहीं। शब्दधनसे तो कोई भी प्रेम नही कर सकता और अर्थधनसे भी क्या कोई प्रेम करता है ? ये बाहरमे जो सोना चाँदी आदिक वैभव

दीखते हैं इनसे भी कोई प्रेम कर सक्ता है क्या ? इनसे भी प्रेम नही कर सकता। क्योकि वे सब पदार्थ भी इस जीवसे भिन्न है, सभी अपने प्रदेशमात्र हैं। मेरी जो भी परिणति होगी, करतूत होगी वह मेरेमे ही होगी, मेरेसे बाहर निकलकर अन्य जीवमे न होगी। ये सोना चाँदी आदिक वैभव बाह्य क्षेत्रमे पडे हुए हैं उनसे भी कोई प्रेम, मोह कुछ भी नही कर सकता है। होता क्या है कि उन पदार्थोके प्रति ख्याल करके, कल्पनाएँ बनाकर, उनको आश्रय विषय बनाकर जो चित्तमे कल्पना जगी उस कल्पनासे कुछ तृप्ति माननेमे यो कल्पनामे जो धनका विचार पडा हुआ है, वह है ज्ञानधन। उस ज्ञान धनमे मोह रहा।

शब्द, ज्ञान और अर्थकी विभिन्नताके कारण विश्वकी शब्दात्मकताकी असिद्धि - तो य तीन बातें अलग-अलग है शब्द, अर्थ और ज्ञान। किन्तु, यहाँ यह शब्दाद्वैतवादी दार्शनिक यह कह रहा है कि सब कुछ शब्द ही शब्द है, न शब्दसे अलग ज्ञान है, न पदार्थ है। इसी सम्बन्धमे प्रश्न उठाया गया कि शब्द यदि सारा जगत बन गया तो शब्द स्वरूपको न छोडकर बना है तो बहिरोको भी शब्द सुनाई देना चाहिए क्योकि शब्दमय जगत है। और यह जगतमे बहिरोको भी दिखाई दे रहा है। तो जो जिसमे अभिन्न है उसके बारेमे ज्ञान हो जाता है उस वस्तुके दिखनेपर। एक ही पुरुष के एक ही समयमे एक ही चीजमे कुछका तो ग्रहण हो और कुछका ग्रहण न हो, यह बात तो नही बनती। और, यदि यह कहो कि यद्यपि शब्दका स्वरूप अलग है, पदार्थ का स्वरूप अलग है और फिर भी वह एक है तो अलग-अलग चीजको अगर एक मान लें तो हिमालय पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत इन्हे भी एक कर डालो, क्योकि भिन्न-भिन्न चीजोको एक माननेकी तुमने कल्पना कर डाली है। इस कारण शब्दरूप जगत नही।

ज्ञानियोके शब्दरहित ज्ञानका अनुभव - यह विश्व सब पदार्थोका समूह है, उनमे एक शब्द भी शामिल है। ये शब्द जो बोले जाते हैं ये इन दिखने वाले पदार्थोसे कुछ अलग चीज है जो दिखनेमे नही आते, किन्तु है इन भौतिक पदार्थोसे बने हुए। तो ज्ञान ज्ञानरूप है शब्दरूप नही है ऐसा निर्णय रखिये और जब कभी अपने आपमे परकी अपेक्षा करके शब्दरहित केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव कीजिए। जब तक शब्दरूप ज्ञानका अनुभव करोगे तब तक समाधि अर्थात् समता नही बनती। ऐसे ज्ञान तक योगी आ जाते है कि जहाँ ज्ञान ज्ञान हो रहा है शब्द रच नही उठ रहे है, हम आप लोग कुछ भी जानते हैं तो जाननेके साथ शब्द उठते रहते हैं। चौकी, पुस्तक जिसे जाना भीतरमे शब्द भी उठ जाते हैं। तो भीतरमे शब्द उठ जाना यह विकल्पकी बात है, यह आत्मानुभूतिमे अलग बात है। जब आत्मानुभूति होती है तो वहाँ मात्र ज्ञानका अनुभव है, शब्द नही उठते। कदाचित् वहाँ भी शब्द उठ बैठे तो आत्मानुभवसे गिर गए। तो वह ज्ञान जो शब्दरहित है उसका तो अनुभव प्रायः लोगो को है नही, और यह जाननेमे आ रहा कि जो भी ज्ञान बनता है वह शब्दरूप बनता

सो यो कल्पनायें बढ़कर जो पदार्थ दिखनेमे आते हैं, ज्ञानमे आते हैं वे भी शब्दरूप ही आते हैं, इस तरहसे सारे जगतको शब्दरूप जो माना जा रहा है वह युक्तिसे सिद्ध नही होता ।

शब्दब्रह्मके विश्वरूप परिणमनमे प्रत्येकपदार्थमे विभिन्नशब्दरूप परिणमनका या एक शब्दरूप परिणमन विकल्प—इस सम्बन्धमे एक बात पूछी जा रही है यदि शब्द ब्रह्म इस जगतरूप परिणम जाता है, अर्थात् उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होता है तो यह शब्द ब्रह्म प्रत्येक पदार्थमे जुदे जुदे शब्दरूप परिणमता है या एक ही रूपमे परिणमता है । जैसे चौकीमे चौकी शब्दरूप परिणम गया, भीटमे भीट शब्दरूप परिणम गया तो ये भिन्न भिन्न परिणमे या प्रत्येक पदार्थ को एक ही शब्द परिणमा ? यदि भिन्न भिन्न परिणमे तो शब्द अनेक बन जायेंगे । यह दार्शनिक शब्दोको एक रूप मानता है और नित्य मानता है तथा सुननेमे शब्द आये और मिट गए, सो शब्द नित्य भी नहीं रहा । यदि कहा जाय कि ये शब्द उत्पन्न नही हुए, नष्ट नही हुए किन्तु जैसे कोई पदार्थ ढका हो कपड़ेसे और उघाड दे तो पदार्थ दिख गया और ढक गया तो पदार्थ न दीखा ऐसे ही यह दार्शनिक मानते कि शब्द तो हमेशा सर्वत्र मौजूद है पर यह ढका है । जब कान व्यापार वगैरह के कोई साधन बने तो वे शब्द उमड आते है और साधन न बने तो शब्द ढक जाते हैं । और, इसी कारण शब्दको आकाशका गुण माना है । शब्द कहासे पैदा होते ? तो बहुत बहुत विचारनेके बाद कुछ ऐसा लगता कि वे शब्द आकाशसे मिलते हैं इत्यादिक मान्यता करके विश्वको शब्दमय मानना, सब अविचारितरमणीय है ।

विश्वके शब्दात्मक परिणमनकी असिद्धि —आकाश तो अमूर्तिक है और शब्दमूर्तिक हैं, शब्द तो मिलते हैं उनका अमूर्तिक आकाशमें प्रवेश कैसे हो सकता ? शब्द नामका तो मैटर ही जुदा है इसका नाम है शब्द वर्गणायें । ये शब्द वर्गणायें सब जगह मौजूद हैं । ये शब्द वर्गणायें जब शब्दरूप प्रकट होती हैं तो संयोग वियोग दोनो स्थितियोमे शब्द प्रकट हो जाते हैं । तो शब्द चीज जुदा है और पदार्थ जुदा है । यदि शब्द ही जगत रूप बन जाता है तो जगतमे तो पदार्थ अनन्त है । जितने पदार्थ हैं क्या उतने रूपसे शब्द परिणमते हैं ? यदि उतने रूपने परिणम गये तो जितने पदार्थ हैं उतने शब्द बन गए । तो शब्द एक रूप कहां रहा ? अगर किसी एक ही रूप बनता है तो फिर पदार्थमे भेद न रहना चाहिए । एक रूप शब्द और उतने पदार्थोंरूप परिणम गया तो फिर एक शब्द है तो सारी चीजें एक मालूम होना चाहिये । एक कुछ देख ले तो सारा जगत दिख जाना चाहिये और फिर यह भेद न रहना चाहिए कि यह भींट है यह चौकी है यह पुस्तक है क्योंकि एक ही शब्द ब्रह्म है । तो यह बात सिद्ध नही होती कि शब्दरूप यह जगत परिणमता है इसलिये जगत शब्दमय है,

विश्वके शब्दमयत्वकी सिद्धिमे शब्दसे विश्वकी उत्पत्तिके हेतुकी

असिद्धि—विश्वकी शब्दमयताकी सिद्धि करनेमें यह भी नही कह सकते कि इस विश्व की उत्पत्ति शब्दोसे होती है अत जगत शब्दमय है। तुमने तो शब्दको अविकारी माना और शब्दसे उत्पत्ति भी होती विश्वकी, तो क्रमसे होगी या एक साथ ? क्रमसे क्यो होगी ? जब शब्द एक रूप है और शब्दसे जगत उत्पन्न होता है तो भूत कालकी पर्यायें भविष्यकालकी पर्यायें सब एक साथ बन जायें, समस्त कार्य एक साथ बन जाने चाहिए। अरे कारणमे कमी हो तो कार्यमे विलम्ब होता है। तुम्हारा कारण है शब्द और वह है सदा, फिर एक साथ सारे काम क्यो नही हो जाते ? तो शब्दसे जगतकी उत्पत्ति नही है। यह सारा विश्व अनादिसे ऐसा ही चला आया है, इसमे परिणमन होते रहते हैं। ये सब मैटर अनादिसे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। इन की पर्यायें बदलती रहती हैं।

ज्ञानस्वरूप परिपूर्ण स्वतन्त्र आत्माका अस्तित्व अभी हम आप लोग अपनी योग्यतासे उपाधिके सम्बन्धमे कुछ विकारी बन रहे है, कषाये हैं रागद्वेष में ह हैं। ज्ञान बन जायगा, स्वरूपकी पहिचान हो जायगी तो ये विकार भी दूर हो जायंगे मैं सत् जीव अनादिसे हूँ और अनन्त काल तक रहूँगा, न मेरी कभी उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। गीतामे भी यह लिखा है— 'नासतो विद्यतेभाव' जो असत् पदार्थ है उसका कभी उत्पाद नही होता और जो सत् पदार्थ है उसका कभी विनाश नही होता। वैज्ञानिक भी कहते हैं कि जो भी वस्तु है सत् है उसका कुछ बन सकता है और जो सत् ही नही है उसका क्या बन सकता है ? हम आप सत् है, प्रत्येक पदार्थ सत् है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जो ये दिखने वाले भौतिक पदार्थ है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले है वे सब पदार्थ हमसे जुदे है। यो भेदविज्ञान करके अपने ज्ञान स्वरूप तक पहुचे तो यही एक धर्मपालन है और इससे ही वह आत्मबल प्रकट होता है कि भव-भवके बाधे हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं, यही मुक्तिका उपाय है।

सब कुछ करते हुए ज्ञानद्रष्टा रहें और अपनेको सबसे न्यारा निर्लेप ज्ञानस्वरूपमात्र जाननेकी चेष्टा करें तो इसमें आत्मदर्शन होते हैं, इसीसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

शब्दसे जगतकी उत्पत्तिका विडम्बित मन्तव्य – शब्दब्रह्मवादी दार्शनिक यह कह रहा है कि जगतमें केवल शब्द ही भगवान है। शब्दब्रह्मके सिवाय दूसरा कोई सत् नहीं है। जितना जो कुछ यह कार्यसमूह दिख रहा है वह सब शब्दब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, तो इसपर उनसे यह पूछा जा रहा है कि यह जो घटपट आदिक अनेक पदार्थोंका समूह है यह क्या शब्दब्रह्मसे जुदा है या शब्दब्रह्मसे अभिन्न उत्पन्न हुआ है? वह शब्दब्रह्म जिसमें यह जगत बनता है तो यह जगत शब्दब्रह्मसे न्यारा बन रहा है या शब्दब्रह्मसे अभिन्न बन रहा है? यदि शब्दब्रह्मसे न्यारा विश्व उत्पन्न है तो यह कैसे कह सकते कि शब्दब्रह्म ही इन जगतके रूपोंको प्राप्त किए है। और, फिर शब्दब्रह्मकी ये पर्यायें हैं, यह तो नहीं कह सकते, क्योंकि तुम्हारा शब्दब्रह्म जुदा है और ये मकान आदिक सारे पदार्थ जुदे हैं। शब्दब्रह्मकी पर्यायें तो नहीं रहीं। कहीं ऐसा नहीं देखा जाता कि भिन्न चीजसे भिन्न चीजका उत्पाद हो तथा जो दूसरेके स्वभावका आश्रय न करे और उसे तद्रूप करे। जैसे कपड़ा बनता है तो यह कपड़ा मिट्टीसे न्यारा बना तो, तो कपड़ेको कोई मिट्टीरूप कह देगा क्या? ऐसे ही ज्ञान भगवानको व इन घटपट आदिकोंको शब्दरूप कैसे कह देंगे? शब्दरूप जुदा है और यह विश्व जुदा है, फिर शब्दब्रह्मकी पर्याय नहीं कह सकते। यदि यह कहे कि ये जितने भी कार्य बनते हैं महल मकान आदि ये सब शब्द ब्रह्मसे अभिन्न हैं तो फिर शब्दब्रह्म अनादि निधन न रहा। अर्थात् जैसे ये पदार्थ उत्पन्न होते, नष्ट होते तो उसके साथ शब्दब्रह्म भी उत्पन्न होगा, नष्ट होगा। फिर शब्द ब्रह्म कभी नित्य नहीं रह सकता।

विभिन्न विचित्र विलक्षण जगतकी अभेद एकरूप सावृतिक शब्दब्रह्मसे अनुत्पत्ति – देखिये एक ऐसा भी विलक्षण सिद्धान्त है कि जैसे कोई लोग मानते हैं कि ईश्वरसे जगत बना है, यों ही कोई यह मानते हैं कि शब्दसे ससार बना है। सारा ससार शब्दरूप है लेकिन यह बात न किसी प्रत्यक्षसे सिद्ध है और न किसी प्रमाणसे। सब पदार्थ शब्दरहित नजर आते हैं। शब्द भी एक अलग चीज है, पदार्थ भी अलग चीज है। तो शब्दब्रह्मवादका सिद्धान्त शब्दब्रह्मको अनादि निधन मानता है, एक स्वभाव मानता है। तो यहां शब्द ब्रह्मवादी कह रहे हैं कि यह जो सारा जगत है यह शब्दसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है ऐसा माननेका कारण उन्होंने यह समझा है कि जिस पदार्थको हम जानते हैं, निरखते हैं तो जाननेके साथ उस पदार्थके नाम वगैरह हृदयमें उठ आते हैं। तो इससे उन्होंने यह सिद्ध किया कि पदार्थ सब शब्दरूप हैं तभी तो पदार्थोंके जाननेके साथ ही शब्द उठ आया करते हैं। किन्तु जैन सिद्धान्त यह कहता है कि ये पदार्थ इनकी वर्गणायें इनका पिण्ड कुछ न्यारे मैटरसे बना है और शब्दकी उत्पत्ति किसी न्यारे मैटरसे बनी है, ये जुदे-जुदे पुद्गल हैं तो

यहाँ जो उनसे पूछा जा रहा कि यदि शब्दसे ही इस जगतकी उत्पत्ति हुई है तो फिर यह सारा जगत विचित्र क्यों मालूम होता है ? शब्दब्रह्म तो एक है।

शब्दब्रह्मकी कल्पनामे अविद्या, लोकव्यवस्था, ज्ञानज्योतिकी असिद्धि जैसे ईश्वरसे अगर यह जगत बन गया तो ईश्वर तो एकरूप है फिर ये नाना रूप कैसे बन गए ? ऐसा प्रश्न किया जा सकता है ना ? इस प्रकार जो मानते हैं वे शब्दब्रह्म से जगत उत्पन्न होता है तो शब्दब्रह्मको तो एक स्वभाव माना है फिर यह जगत नानारूप क्यों हो गया ? तो इसके उत्तरमे पूर्वपक्षकार यह सिद्धान्त रख रहे हैं कि यद्यपि शब्दब्रह्म अनादिनिधन है अभिन्न स्वभाव है लेकिन इन जीवोपर अविद्याका अन्धकार लगा है इस कारण उन्हे उत्पत्ति विनाशकी तरह नाना कार्य और विचित्रताएँ मालूम पड रही हैं। जैसे ब्रह्मवादी भी यह कहते कि जगतमे केवल एक ब्रह्म है और ये जो नाना कार्य हैं ये सब मिथ्या है, झूठ हैं, स्वप्नवत् हैं, इन्द्रजाल है। इसी तरह यह कह रहे है कि तत्त्व तो एक शब्दब्रह्म है फिर ये नाना कार्य जो विचित्र नजर आ रहे हैं ये अज्ञानके कारण नजर आते है। इस विषयमें वे एक दृष्टान्त दे रहे है कि जैसे आकाश तो एकस्वरूप है, विशुद्ध है लेकिन जिनकी आँखोमे तिमिर रोग हो जाता है उन्हे ऐसा लगता है कि नाना रेखाओसे यह आकाश बना है। इस आकाशमे उन्हे रेखाएँ रेखाएँ ही नजर आती है। तो ऐसे तिमिर रोगवालेको आकाश मे चित्र-विचित्र रेखायें मालूम होती हैं। इसी तरह शब्दब्रह्म तो निर्मल है, निर्विकार है किन्तु अज्ञानसे, कलुपतासे प्राप्त हुआ यह सारा जगत भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देने लगता है। आचार्यदेव समाधान कर रहे हैं कि ये सारी तुम्हारी बातें मनगढन्त हैं। इस तत्त्वमें कोई प्रमाण नही है। शब्दब्रह्मका स्वरूप जो बताया कि शब्दब्रह्म स्वभावी है, नित्य है, वह न तो प्रत्यक्षसे जाननेमे आ रहा और न अन्य प्रमाणोसे जाननेमे आ रहा। सारे पदार्थ न्यारे-न्यारे केवल पदार्थ ही दिखते है। यह पुस्तक है, यह चौकी है, यह मकान है ये सारे पदार्थ न्यारे-न्यारे दीखते है शब्द कहाँ नजर आते शब्द कोई एक आधारभूत चीज नही है। आधारभूत चीजें तो ६ द्रव्यो जातियोमे है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल।

स्याद्वाद शासनमे वस्तुस्वरूपके यथार्थ प्रकाशकी प्रधानता जैन सिद्धान्तमे कितनी स्पष्टतासे तत्त्वका स्वरूप बताया है। कोई यदि यह पूछे कि नियम व्रत तप तो और लोग भी करते है, जैन भी करते है, हिंसा, झूठ आदिकका निषेध और लोग भी कहते है, जैन सिद्धान्त भी करता है। जैन सिद्धान्तमे ऐसी खास बात क्या है जो अन्यत्र न पायी जाय ? तो जैन सिद्धान्तमे सबसे मुख्य चीज है पदार्थके स्वरूप का यथार्थ निर्णय। देखिये ६ जातिके पदार्थ माने हैं- जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल। तो जाति वह होती है कि जिसमे उस जातिकी सब चीजे आ जायें कोई छूटे नही। और दूसरी जातिका उसमे कुछ आये नही तब तो जाति बनती

जातिके बननेका कायदा ही यह है कि उस जातिके सब पदार्थ इनमे आ जावें और भिन्न जातिका पदार्थ न आने पाये तब वह जाति बनती है। तो जीव कहनेमे जितने चेतन हैं वे सभी आ गए। परमात्मा भी आत्मा है और संसारी भी आत्मा है, पशु-पक्षी आदिक जितने भिन्न रहके आत्मा है वे सब जीव जातिमे आ गए। जो भी अचेतन हैं, पुद्गल है वे सब जीवसे दूर हैं। यों जीव जुदा है पुद्गल जुदा है पुद्गलका स्वरूप है जिससे रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाय। तो पुद्गलमे सभी पुद्गल आ गए। शब्द भी पुद्गल हैं और ये जो दिखने वाले पदार्थ हैं ये भी पुद्गल हैं। जीवके साथ जो सूक्ष्म कर्मोंकी उपाधि लगी है वह भी पुद्गल है। जीवके साथ जो शरीरकी उपाधि लगी है, वह भी पुद्गल है। ऐसे ही धर्म, अधर्म, आकाश काल भी स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं।

द्रव्य जातियां—जैसे अन्य लोग चार्वाक आदिक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वोंको जुदा-जुदा मानते हैं, पर पृथ्वी कभी जल बन सकता है, जल के परमाणु कभी अग्नि बन सकते हैं, अग्नि कभी वायु बन सकती है, ये चारों कालान्तरमे अदल बदल सकते हैं इस कारण इनकी मुख्य जाति नहीं है, एक पुद्गल ही जाति है। धर्म द्रव्य एक ऐसा द्रव्य है जो चलते हुये जीव पुद्गलको चलानेमे सहायक होता है। ना ईथर है, सूक्ष्म है, सर्वत्र व्यापक है, जिसके बिना गति नहीं हो सकती। जिसके सम्बन्धमे वैज्ञानिक भी अनुभव करते हैं कि आकाशमें कुछ श्रेणियां हैं जिनके सहारे पदार्थ चला करते हैं। अधर्म द्रव्य वह है जो जीव पुद्गलके ठहरनेमे मदद करे आकाश यह है ही। काल द्रव्य पदार्थके परिणमनमे सहायक हैं। जैसे २४ घंटे न गुजरें तो वह कार्य न बने जो २४ घंटे गुजरनेसे बनता है। जैसे यहां से दिल्ली जाना है रेलसे तो तीन घंटे गुजरे तभी तो दिल्ली पहुंचेगे। तो यह कालका उपकार है कि पदार्थोंका परिणमन होता रहता है।

पदार्थोंका स्वरूपास्तित्व—भैया! पदार्थ ६ जातिके होते हैं, लेकिन धर्म, अधर्म, आकाश तो एक एक ही हैं, किन्तु जीव व पुद्गल अनन्त हैं व काल असंख्यात हैं। जीव जातिमे जीव अनन्त हैं, सबके कर्म अलग-अलग परिणमते हैं, सबके कर्म अलग-अलग हैं, जन्म-मरण भी सबका अलग-अलग है। तो ये सब जीव अनन्त हैं, ये संसारी जीव ही ज्ञानके प्रतापसे तपश्चरणके प्रतापसे मुक्त होते हैं। अनन्त जीव मोक्ष गये हैं और उनसे अनन्त गुने संसारमे हैं। तो जीव जातिमे अनन्त जीव आ गए वे सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है। यह बात सब पदार्थोंमे पायी जाती है। दृष्टान्तके लिए यह चौकी है, यह पुस्तक है तो चौकीकी सत्ता पुस्तकके रूप है या चौकीके ही रूपसे है? चौकीरूपसे ही है। अगर चौकीकी सत्ता पुस्तकके रूपमे हो जाय तो न चौकी ही रही और न पुस्तक ही रही। इसी तरह जगतमे एक-एक परमाणु प्रत्येक स्कन्ध, प्रत्येक जीव ये सब केवल

अपनी-अपनी सत्तामें है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी सत्तामें हो जाय, दूसरेके रूपसे सत् बन जाय तो न यह रहा न वह रहा। जो भी पदार्थ है वे अपने-अपने अस्तित्वसे हैं, अपने स्वरूपसे हैं, परके स्वरूपसे नहीं।

स्वरूपपरिचयका साधन—स्वरूप विदित होता है चार विभागोंमें, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। जैसे चौकीका जो पिण्ड है वह द्रव्य है। जितनेमें फैली है वह क्षेत्र है। चौकीका जो परिणमन है वह चौकीका काल है, और चौकीमें जो शक्ति है, गुण है वह चौकीका भाव है। तो चौकीका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चौकीमें है, पुस्तक का पुस्तकमें है। तो इसका अर्थ यह भी तो निकला कि चौकी अपने परिणमनसे परिणमती है पुस्तकके परिणमनसे नहीं परिणमती। आपने मान लो कोई गालीका शब्द दिया और हम दुःखी हुए तो हम आपके शब्दसे दुःखी नहीं हुए। आपके परिणमनमें दुःखी नहीं हुए, किन्तु हम अपनेमें कल्पनाएँ बनाते और अपनेपर घटाते तो हम अपने ही परिणमनसे दुःखी हो जाते, आपके परिणमनसे दुःखी नहीं होते। तत्त्व यह कहा है और इससे भेद विज्ञानकी दिशा मिलती है व निर्मोहता प्रकट होती है। तो मोह दूर करनेका सही उपाय जैन सिद्धान्तमें मिलता है।

स्वरूपास्तित्वके यथार्थ बोध बिना मोहसंकटका मिटना असम्भव—भैया! ऊपरी बातें सुनकर तो मोह दूर नहीं होता। जैसे परिवार आपत्तिका घर है। स्त्री पुत्रादिक नरक आदिक दुर्गतियोंमें पठाने वाले है, सब स्वारथके साथी हैं, बातोंको सुनकर मोह दूर नहीं होता। मूलसे मोह तो तब गलेगा जब स्पष्ट यह नजर आयेगा कि प्रत्येक पदार्थ बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। एकका दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। यह बात स्पष्ट ज्ञानमें आये तो मोह गल सकता है। मोहका ही संसार है। मोहसे ही सारे क्लेश हैं। मोह मिटे तो मोक्ष होता है। मोह न मिटे जो जन्म-मरण की परम्परा चलती ही रहेगी। मोह करके पशु पक्षी कीट मकोडा आदिक पर्यायोंमें ही रुलते रहे तो फिर कल्याणका अवसर कब मिल पायगा ? इस समय जो नर भव की हम आपको स्थिति मिली है वह बड़े सौभाग्य और सन्तोषकी बात है। हमें चाहिए अपने आपमें सन्तोष भाव लायें, सन्तुष्ट रहा करें हर बातोंमें यह गुण उत्पन्न करें क्योंकि सन्तुष्ट न रहे, कोई तृष्णा जगायी, कल्पनाएँ बनायीं, चिन्ताएँ बनायी तो उससे आत्माको कुछ भी लाभ प्राप्त न होगा।

अनावश्यक वैभव—जो भी यहाँ वैभव मिला है उसे यह जरूरतसे ज्यादा है यह सोचना चाहिए। यह बात दूसरोंपर घटाकर जल्दी समझमें आ जाती है, अपने आपपर घटानेसे कठिन होगी। जैसे बिड़ला है साहू जी हैं उनके पास वैभव जरूरतसे ज्यादा है या नहीं ? अरे चाहिए सिर्फ पेटके लिए दो रोटियाँ और ठंडसे बचनेके लिए दो मोटे कपड़े। इनके अतिरिक्त ऐसी कौन सी जरूरतें हैं जो अत्यन्त आवश्यक हैं,

जिनके बिना हम आपका काम हो नहीं चल सकता है ? जो जिसके पास जो भी वैभव है वह जरूरतसे ज्यादा है ऐसा सोचना चाहिए। जरूरतकी चीजोमे मुख्य दो बातें है – भूख प्यास शान्त रहे और सर्दी गर्मी न लगे। इनके सिवाय ऐसी कोई खास बात नही है जिसके बिना काम न बने। रही इस मायामयी ससारमे अपनी पोजीशन बनानेकी बात तो इसमे तो वैभव कितना चाहिए इसकी कुछ भी हद नही है। जिन-जिनके पीछे रात दिन चिन्ता की जाती है वे सब एक दिन नष्ट हो जायेंगे। जरूरतकी दृष्टिसे देखिये कोई हजारपति पुरुष है तो उसके भी जरूरतसे ज्यादा धन है कि नही? इस बातको समझनेके लिए अन्य जो बहुतसे गरीब लोग है उन्हे ले लीजिए। उनकी भी जरूरतें पूरी होती हैं कि नही ? जिसके पास ५ बीघा जमीन है उसके भी पास जरूरतसे ज्यादा है क्योकि जिसके पास दो ही बीघा जमीन है उसका भी काम चलता है कि नही ? तो जिसके पास जो भी है वह जरूरतसे ज्यादा है इसमे कुछ भी सदेह रखनेकी बात नही है। भैया ! पुण्यके अनुसार जो भी प्राप्त होता है उसमे ही अपनी व्यवस्था बना लें और उत्तरोत्तर धर्मपालनकी तृष्णा बनायें। बजाय विभूति की तृष्णाके धर्मपालन, ज्ञानार्जनकी तृष्णा बनाये। इससे लाभ है इसलिए इस बात को बता रहे हैं। जो भी अपने पास वैभव हो उसे जरूरतसे ज्यादा है ऐसा मानकर सन्तोष मनमे धारण करना चाहिए। क्योकि, हमारा जीवन यदि सन्तोषपूर्ण नही है तो वह जीवन तो दुःखी है। सन्तोष आयगा सही ढङ्गसे तो इस भेद विज्ञानके बाद आयगा।

शान्तिलाभमे जैन शासनकी अतुल देन--जैन शासनमे भेद विज्ञानकी बात जिस ढङ्गसे बतायी गयी है वह ढङ्ग अन्यत्र मिलता नही है अतएव जैन शासन की सबसे बडी देन है वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे है ऐसी जानकारीमे यह तत्त्व निकला कि मुझे जो भी सुख दुःख होते हैं वे मेरे ही विचारोमे होते हैं किसी अन्यके परिणमनके कारण मेरेमे सुख दुःख नही होते। हम ही अन्य पदार्थोंके प्रति कल्पनाएँ बनाकर सुखी अथवा दुःखी होते हैं। जैसे एक वेश्या गुजर गयी लोग मरघटमे लिए जा रहे है उसे देखकर कामी पुरुष सोचता है कि यदि यह कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इससे और प्रेम करता। एक साधु उसे देखकर सोचता है कि इसने बडी दुर्लभतासे यह मानव जीवन-पाया था और इसने सारा जीवन यो ही व्यसनोमे पडकर खो दिया। यदि इस जीवनको तपश्चरणमे सयममे, ज्ञानमे, सत्य श्रद्धामे लगाती तो यह अपने जीवनको सफल कर लेती, साधु तो ऐसा सोचता है। मरघटमे जो कुत्ते और स्याल वगैरह है वे सोचते है कि यदि ये इसे फूकें नही, यो ही छोड जायें तो हमारे १०-२० दिनका भोजन हो जायगा। तो तीन तरहके जीव हैं उनके तीन तरहके भाव है। इससे यह निर्णय हो कि हम जैसे अपने भाव बनाते हैं वैसे ही सुख दुःख पाते हैं। कोई प्रशसा कर रहा हो तो उसमे कल्पनाएँ बनाकर हम सुखका अनुभव करते हैं और कोई निन्दा करता है तो उसमे कल्पनाएँ बनाकर हम दुःखका अनुभव करते हैं।

आत्मकल्याणके अर्थ आत्मस्वच्छताका कर्तव्य— हम अपने ही विचारोसे अपनेमे सुख दु खका अनुभव करते हैं ऐसा जानकर हमे अपने आपकी सिद्धिकी जरूरत है, बाह्य पदार्थोंके अनुग्रह विग्रहकी जरूरत नही है। जैसे लोग कहते है कि कुवा नही छनता है अपना ही लोटा छनता है। तो यो समझो कि हम अपने आपमे ही अपने ज्ञानको बनायें, अपने आपका ही सत्य श्रद्धान बनायें, सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अनुभव करने वाला बनायें तो हम सुखी हो जायेंगे। यह बात जो भी सत पुरुष अपने आपमे ढाल लेते है वे तो ससारसे पार हो जाते हैं और जो इस भेद विज्ञानको अपने चित्तमे नही बसा सकते वे ससारमे रुलते हैं। मुक्तिका सत्य उपाय इस दर्शनसे प्राप्त हो सकता है। इस जैन दर्शनसे हम जितने उपकृत हुए, उस उपकारका बदला किसी भी प्रकार से नही चुकाया जा सकता है। तो हमारा काम है कि इन ग्रन्थोके स्वाध्यायमे, ज्ञान की अर्जनामे हम अधिकाधिक अपना सब कुछ न्योछावर करें और एक ज्ञानकी बात समझ जायें तो समझ लीजिए कि हमने बहुत बडा वैभव प्राप्त किया।

एकान्तवादमे योगिपुरुष और योगकी असिद्धि— यह विश्व ६ जातिके पदार्थोंका समूह है—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पदार्थोंमेसे किसी भी एक पदार्थके किसी धर्मकी मुख्यता देकर अनेक दार्शनिकोने अपने जुदे-जुदे मतव्य बनाये है, शब्द ब्रह्मवादी एक शब्द वर्गणात्मक पुद्गलके शब्द परिणमनकी व अपने अन्तर्जल्पकी दिशाका हठ करके यह कह रहा है कि सारा जगत शब्दरूप है। शब्दके सिवाय दुनियामे अन्य कुछ नहीं है। जो भी पदार्थ दिखते हैं वे सब शब्दमय हैं। तो उनसे पूछा गया कि ऐसा तो किसीको नजर नही आता कि सारे पदार्थ शब्द रूप हैं। तो इसपर वे उत्तर देते है कि जो बडे योगी पुरुष होते हैं। जो बडे धर्म कार्यमे लगे है मोक्ष और स्वर्गके फलको देने वाले धर्मसे जिनका चित्त अनुगृहीत हुआ है ऐसे योगी ही इस शब्द ब्रह्मको देख पाते हैं। यह कहना भी उनका ठीक नही, क्योकि जब सब कुछ शब्दरूप ही है तो फिर योगी अलगसे आये कैसे ? इस शब्द ब्रह्मवादीने यह कहा है कि सब पदार्थ शब्दरूप है, जो भी हमे नजर आया। जो भी हमे ज्ञात हुआ वह सब शब्दरूप हुआ। तो जब शब्द ब्रह्म ही है तो योगी भी वही एक नित्य शब्द ब्रह्म हुआ, वास्तविक योगी तो नही रहे जिससे यह कह सकें कि वे देखते हैं। यदि शब्दात्मक ब्रह्मके ज्ञानमे योगियोका व्यापार हो तभी तो देखनेकी बात कही जा सकती। शब्द ब्रह्मको तो नित्य मानते है फिर उसमे विकल्प हो ही नही सकते। तो यह जगत शब्दरूप है यह सिद्ध नही होता।

एकान्तवादमें अविद्या व विश्वकी असिद्धि—यह जगत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यरूप है और उनमे जो आत्मा नामक द्रव्य है वह ज्ञानरूप है, उससे तो ज्ञान परिणमन बनता है और बाकी पदार्थ केवल ज्ञेयरूप है। यो है विश्वकी व्यवस्था, न कि सारा विश्व शब्द ब्रह्म हो और फिर उसकी पर्याय

हो। और, जो यह कहते हैं कि लोगोंको अविद्यासे, अज्ञानसे ऐसा लग रहा है कि ये भींट चौकी आदिक पदार्थ नहीं हैं, यह तो एक शब्दब्रह्म ही है ऐसा कहना भी ठीक यों नहीं है कि अविद्या भी तो शब्दब्रह्म ही हुई। जो कुछ है वह सब शब्दब्रह्म है तो अविद्या अलगसे कुछ चीज नहीं हुई फिर वह शब्द प्रतिभासका कारण कैसे बना ? आकाशमें कभी-कभी रेखायें सी दीखती हैं उसे, जिसको तिमिर रोग होता है तो तिमिर रोग तो कोई अलग था है कुछ चीज है, आँखोंका रोग है सो आकाशमें रेखायें दिखने लगती हैं, मगर अविद्या तो कुछ चीज ही नहीं है तब तुम्हारा दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे मेल नहीं खाता। यह जगत शब्दात्मक नहीं है।

शब्दब्रह्मकी अनुमानसे भी असिद्धि - इस ग्रन्थमें प्रमाणका स्वरूप चल रहा है इस प्रकरणमें। प्रमाण किसे कहते हैं ? जो ज्ञान स्वपर पदार्थका निर्णय करा दे कि अमुक तत्त्व ऐसा ही है, जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करा दे वह ज्ञान प्रमाण रूप है। ऐसा कहनेपर शब्द ब्रह्मवादने यह कहा था कि ज्ञान प्रमाणरूप तो है किन्तु ज्ञान शब्द रचनासे अलग कुछ चीज नहीं है। तो जो शब्दात्मक है वही प्रमाण चीज है। इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें बहुत विचार विमर्श किया गया। उससे शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। शायद यह कहो कि हम अनुमानसे शब्दब्रह्मका ज्ञान करने लगे तो अनुमान या तो कार्य लिङ्ग वाला हो या स्वभावादि लिङ्ग वाला हो। स्वभावरूप कारणरूप, कार्यरूप साधनसे ही तुम्हारे साध्यकी सिद्धि होती है क्योंकि अनुपलब्धि आदि साधनसे साध्यविज्ञानके अनुमान जिनके निषेधरूप हेतु बनें वे तो माने ही नहीं गये हैं। तो यहा कोई कारण या कार्य ऐसा दीखता नहीं है कि जिससे हम जानें कि यह सारा विश्व शब्दरूप है और फिर शब्दब्रह्म तुम्हारा नित्य है, एक-स्वभावी है, उससे कार्यकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। और यदि किसी नित्य पदार्थ से कार्य बनने लगे तो यह बतावो कि वे सब कार्य क्रमसे होंगे या एक साथ ? क्रमसे तो यों ठीक नहीं कि जब कारण समर्थ है, सदैव मौजूद है फिर क्रमसे होनेकी बात क्या ? सब एक साथ हो जाना चाहिए। और, एक साथ होते नजर नहीं आते। इस से किसी कार्यसे भी यह नहीं सिद्ध कर सकते कि जगतमें एक ही शब्दब्रह्म है, शब्द-भगवान है उससे इस जगतकी सृष्टि बनी है। कोई मानते हैं कि ज्ञानानन्द स्वरूप भगवान है और उससे इस जगतकी सृष्टि बनी, तो यहाँ मान रहे हैं कि केवल शब्द ही शब्दका नाम भगवान है और उससे जगतकी सृष्टि बनी। तो कार्य हेतु दे करके शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। और, स्वभावसे भी शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि स्वभाववान शब्दब्रह्म ही सिद्धि नहीं है तो स्वभावकी सिद्धि क्या होगी। जब कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं तो उसका स्वभावभूत धर्म क्या अलगसे मानोगे ?

विश्वविभाग—शब्दब्रह्म तत्त्वभूत नहीं, किन्तु यह मानो कि चेतन अचेतन ऐसे दो भागोंमें विभक्त यह सारा विश्व है उसमें जो चेतन तत्त्व हैं वे सब जानने वाले

हैं और जाननेमे आते है और जो अचेतन तत्त्व हैं वे मात्र जाननेमे आते हैं। इस विश्वको तुम शब्दब्रह्मरूप न मानो। शब्दब्रह्म कोई अलग वस्तु नही है। ये शब्द जो सुनाई देते हैं ये एक पृथक् प्रकारकी वर्गणाये हैं। जो कुछ ये नजर आ रहे है ये शब्द नही हैं न ये शब्दके कारण है। शब्दका उपादान भूत शब्दवर्गणाये अलग ही होती जो सर्वत्र व्यापक हैं। जब किसी पदार्थकी टक्कर और किसी प्रकारका वियोग होता है तो उन सब वर्गणावोसे शब्दका विकास होने लगता है। तो वह शब्द अलग वस्तु है। सारा विश्व शब्दमय न हो जायगा। तब यह तुम्हारा जो कहना था कि समस्त भाव शब्दके आकारसे बद्ध हैं सो वे शब्दमय हैं क्योकि जो जिस आकारमे बधे हुए हैं वे तन्मय हुआ करते है। हम जब किन्ही पदार्थोंको जानते हैं तो जाननेके साथ ही भीतरमे शब्द भी उठ जाते हैं तो मालूम होता है कि वे पदार्थ सारे शब्दरूप है। भीट देखा तो भीटका ज्ञान करते ही चित्तमे भीट ऐसा शब्द उठ जाता तो मालूम होता कि यह भीट शब्दरूप है। जो जिस आकारमे अनुस्यूत होता है वह उसमे तन्मय होता है। जैसे घडा दिया आदिक ये सब मिट्टीका आकार रखते हैं तो ये मिट्टीमय प्रसिद्ध हैं इसी प्रकार जब इन पदार्थोंका ज्ञान करते हैं तो शब्द उठते हैं। तो ये सारे पदार्थ शब्दमय हैं, ऐसा जो शब्दब्रह्मवादने कहा है वह केवल कहना मात्र है क्योकि शब्दाकार कहाँ कौन पदार्थ नजर आता ? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने सही सकलमे नजर आते है। पदार्थ जुदा है शब्द जुदा है। जैसे जब हम नीले पीले पदार्थोंको जानते है तो शब्दरहित ही इन पदार्थोंको जानते हैं। शब्द भीतरमें उठ जाते यह हमारा भीतर का परिणमन है और वहाँ भी जो मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ उसमे तो अन्तर्जल्प भी नही होता है।

शब्दकी पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपता ये सारे पदार्थ शब्दरहित ही मनुष्योंको जाननेमे आ रहे हैं। शब्दब्रह्म केवल काल्पनिक है वास्तविक चीज नही है अतएव शब्दब्रह्मकी सिद्धि नही है। न तो उनमे शब्दरूपता सिद्ध है न शब्दका आधार बन रहा है फिर भी जबरदस्ती तुम शब्दमय मानोगे तो ऐसी कल्पनासे तो पारमार्थिक शब्दब्रह्मकी सिद्धि नही हो सकती है। शब्द भी एक परिणमन है। जैसे यह पुद्गलका परिणमन है प्रकाश, उद्योत, बध, पतला होना, मोटा होना, उसका आकार बनना, पदार्थका न्यारा हो जाना, पदार्थका जुड जाना, ये पुद्गल द्रव्यकी पर्याये हैं वैसे ही शब्द उत्पन्न होना भी पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें है, गुण पर्याय नही है किन्तु प्रदेश पर्याय है। गुणपर्याय तो चार प्रकारके है - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। पुद्गलमे गुण चार है-उनका जो भी परिणमन है वह गुण परिणमन है। इसके अतिरिक्त जो परिणमन ऐसे हैं कि कभी हो जाय कभी न हो जाय, उनका प्रतिपक्ष परिणमन भी नही है वे सब प्रदेशके परिणमन हैं। जैसे यह छाया हुई है तो यह छाया चौकीका परिणमन है। कहते तो यो हैं लोग कि यह हाथकी छाया है मगर वह छाया जिसका परिणमन है उसकी है, वह है यहाँ चौकी। हाथका निमित्त पाकर वह छाया बनी। चौकीपर जो

छाया बनी वह छाया रूप परिणमन चौकीका है। चौकीपर जो प्रकाश है वह प्रकाश परिणमन भी चोकीका है। कहते तो लोग यो हैं कि यह सूर्यका प्रकाश है इस कमरे में, सूर्य तो है लाखो योजन दूर, उसका प्रकाश यहाँ कहाँ आ जायगा। यहाँ तो जिस वस्तुपर प्रकाश पडा है वह उस वस्तुका प्रकाश है। तो जैसे छाया प्रकाश ये सब पुद्गलके परिणमन हैं इसी तरह शब्द भी पुद्गलका परिणमन है। शब्द कोई भिन्न अखड तत्त्व नही है।

शब्द और अर्थके तादात्म्यकी असिद्धि शब्द ब्रह्मवादका यह सिद्धान्त है कि सारा विश्व शब्दरूप है और वह एकात्मक है लेकिन न तो एकात्मक नजर आ रहा है और न शब्दरूप नजर आ रहा है। प्रत्येक पदार्थ कभी एक दूसरेसे समानतामें मिल भी जाते कभी नही भी मिलते। यो भिन्न भिन्न प्रकारके नजर आते हैं, और मोटी बात तो यह है कि यदि ये शब्द पदार्थ शब्द स्वरूप होते तो इन पदार्थोंका ज्ञान होनेपर शब्दका भी तुरन्त ज्ञान होना चाहिये फिर तो जो बहिरे लोग हैं वे आखो से तो देखते हैं ना। तो जब पदार्थ शब्दरूप हैं तो उनको देख कर ही शब्दका भी ज्ञान बहिरोको हो जाना चाहिए। या शब्द और पदार्थ एक है तो जिस समयमे हम बोले पत्थर तो जिसको पत्थर शब्द सुननेमे आया है यो जो बोल रहा है उसको चोट लग जाना चाहिए क्योकि शब्द और पदार्थ एक चीज मान ली है। आग बोलें तो जल जाना चाहिए। तो यह तो बिल्कुल स्पष्ट बात है कि पदार्थ शब्दरूप नहीं मालूम होते। यह कल्पना हमने इसलिये उठाई कि चू कि जानने वाले ये साधारण पुरुष, छद्मस्थ मनुष्य पदार्थोंको जानते ही अपने भीतर कुछ न कुछ शब्दोकी कल्पना कर लेते हैं। उस शब्द कल्पनाके कारण ऐसा ज्ञात होता कि प्रत्येक पदार्थ शब्दरूप पडे हुए है। पर, शब्दात्मक जगत नही है।

विश्व स्वतन्त्र अनन्त पदार्थोंका समूह - पदार्थ ६ जातिके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव है अनन्तानन्त, पुद्गल हैं उनसे भी अनन्त गुने। धर्म, अधर्म और आकाश एक एक है व काल द्रव्य असख्यात हैं। विश्वके मायने है इन छहो जातिके पदार्थोंका समूह। चाहे विश्व कहो, चाहे छहो जातिके पदार्थोंका समूह कहो। विश्व, सर्व, सकल ये सब विश्व शब्दके पर्यायवाची शब्द है। विश्व कुछ अलग,बात नही है। तो ये समस्त पदार्थ स्वतन्त्र हैं, अपना अपना स्वरूप रखते हैं, क्योकि प्रत्येकका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा न्यारा है। यदि इस प्रकार की दृष्टि बन जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है तो - उसका मोह छिन्न हो सकता है।

भेदविज्ञानसे मोहका प्रक्षय – मोह मिटानेके लिए प्राय. सभी लोगोंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार उपाय निकाले है। किन्हीने यह उपाय निकाला है कि यह सारी दुनिया ईश्वरका बगीचा है, इसमे मेरा कुछ नही है इस कारण मोह छोडो

ईश्वरकी सब चीजे है, हमारा कुछ नही यो विचारकर मोहको दूर करनेका प्रयत्न किया है। प्रयत्न तो किया है लेकिन अज्ञान अधकार इसमे और आ गया है। इस ईश्वरके बगीचेकी मान्यतामे उन्होने अपने स्वरूपको नही समझा है। यह मोहको दूर करनेका उपाय नही है। लौकिक जन प्राय ऊपरी ढगसे यह कहकर मोहको दूर करना चाहते हैं कि सब भिन्न हैं, कि न्यारे हैं, सब खुदगर्ज है, किसीका साथी नही है, सब धोखा है कोई किसीका होता नही, ऐसा सोचकर वे मोहको दूर करना चाहते है। यद्यपि ऐसा सोचनेमे पहिले मतव्यसे कुछ ठीक है कि यह विश्व ईश्वरका बगीचा है हमारा कुछ नही, वहाँ तो तात्त्विक बात आयी न थी, यहाँ कुछ ठीक है। लेकिन ऐसा सोचनेमे भी केवल ऊपरी ऊपरी चिन्तन है। मूलमे ये भिन्न भिन्न मालूम पडे यह बात तब ही विदित हो सकती है जब यह विदित हो जाय कि सबका अस्तित्व न्यारा न्यारा है किसी पदार्थसे किसी दूसरेकी त्रिकाल कोई क्रिया नही होती। निमित्त नैमित्तिक भावमे यह बात पडी हुई है कि अमुक किसी पदार्थका निमित्त पाकर, सन्निधान पाकर दूसरा पदार्थ खुद परिणमता है। निमित्त खुद उपादानके रूपमे नही परिणमता। इसी तरह उनके प्रदेश भी न्यारे है, उनका पिण्ड भी न्यारा हैं, उनका भाव और स्वरूप भी न्यारा है इस प्रकारका न्यारापन विदित हो तो वह है एक मौलिक भेदविज्ञान। और, उससे फिर मोहके छूटनेका अवसर प्राप्त होता है।

मोहसे विश्वविडम्बना—भैया! मोह ही एक विपदा है। यद्यपि सभी जीव ज्ञानानन्द स्वरूप हैं लेकिन विडम्बना यह बन रही है कि इस ससारमे रुल रहे हैं, शरीर ग्रहण कर रहे है, सम्मान, अपमान, सुख दु खकी अनेक विडम्बनाएँ बन रही हैं। ये सब आपत्तियाँ क्यो लगी हैं? उनका कारण है कि इस जीवमे एक मोह भाव उत्पन्न हुआ है। अपना जो सहज स्वरूप है उसमे तो आत्मतत्त्वकी प्रतीति न की और जो भी समागम—सङ्ग प्रसङ्ग मिले उनमे यह मैं हूँ, इस प्रकारकी प्रतीति करता है। इस अज्ञानके कारण इस जीवमे ये नाना दशायें बनती है और यह दु खी होता है।

व्यावहारिक धर्मकर्तव्यका प्रयोजन निर्मोहताका लाभ—प्रभुभजन, स्वाध्याय, सामायिक, वृद्धसेवा आदिक जितने भी उपाय किए जाते है वे सब एक मोहके छोडनेके लिए किए जाते है। मेरे विकार दूर हो मैं निर्विकार रह सकू, सत्य प्रसन्नता तो निर्विकारतामे। किसी भी घटनाका प्रसग सोचकर हम क्रोधमे बने रहे, गुस्सा आती रहे अथवा अभिमानमे आ जायें, कुछ भी मायाचार करें या किसी पदार्थ की तृष्णा लगे तो ऐसे कषाय भावमें रहकर क्या कोई प्रसन्नता लूटी जा सकती है? वहाँ निर्मलता नही, प्रसन्नता नही, एक तरहसे बुझा हुआसा बना रहता है। अज्ञानसे बढकर और विपत्ति क्या है, सम्यक्त्वसे बढकर और वैभव क्या है सम्यक्त्व प्राप्तिके लिये अहङ्कारको तो बिल्कुल त्यागना पडेगा, पर तत्त्वोमे परभावोमे यह मैं हूँ, यह

मेरा है इस प्रकारका भाव रखकर या इस बाह्य कलासे मेरा बड़प्पन है लोग हमे कुछ बड़ा मानलें इसमे हमारा शृगार है, ये सारी बातें स्वप्नवत् असार हैं। ये सब कल्पनाएँ अहकार हमसे विदा हो जायें तो हम उस सम्यक्त्वका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। तो समझिये कि दुनियाके लिए हम कुछ नही हैं। यह भाव हममे भरा हुआ हो तो हममे आनन्द प्रकट होगा, मुक्तिका आनन्द हमे विदित होगा। और यह बात सभी लोग जब चाहें तब कर सकते है क्योकि हमारी बात है, हमारा विचार है, हमारी दृष्टि है। अपने आपमे बिना हिले डुले, बिना दिखावट, बनावट, सजावटके स्वय अपनी दृष्टिके द्वारा अपने आपमे अपनेको यो निरख सकते हैं। इस कारण कोई इसमे कठिनाई नही है और करनेका कार्य यही है।

स्वरूपाचरणमे ज्ञानका सदुपयोग – भैया ! ज्ञान पाया है तो उसका सदुपयोग यही है कि हम अपने आपको यथार्थ सहजस्वरूपमे निरखते रहें। मैं तो यह हूँ। जो कुछ व्यवहारमे करने योग्य काम है वे यदि करनेकी परिस्थितिमें हैं तो सहज होते रहेगे। जिसके यह मौलिक सम्यग्ज्ञान है उस ज्ञानको तो बनाये रहनेका हमे यत्न करना चाहिए। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। यह एक ऐसा भाव है कि प्रत्येक जुदी-जुदी परिस्थितियोमे रहने वाले मनुष्य अपने क्षयोपशम और योग्यताके अनुसार इस भेद विज्ञानकी भावनाका लाभ लूट सकते हैं। कोई विशेष लाभ ले, कोई कम लाभ ले मगर कल्याणलाभ लेनेका उपाय भेदविज्ञान ही है। इस भेद विज्ञानके प्रतापसे ही आत्माका जो सहजस्वरूप है उसमे अभेद स्थित होता है। स्वरूपाचरण चरित्रका मूल साधन तो भेद विज्ञान है। भेदविज्ञान हो तो अपने स्वरूपका परिचय बने कि मैं इन सब पर पदार्थोंसे जुदा हूँ। अपने स्वरूपका परिचय बने तो स्वरूपमे स्थित रह सकते हैं और स्वरूपमें स्थित रहनेका नाम है स्वरूपाचरण। और मात्र स्वरूपाचरण ही एक जीवके कल्याणका साधन है।

स्वरूपाचरणके प्रयोग बिना विश्रामकी व परमात्मभक्तिकी असिद्धि— स्वरूपाचरण बिना जीवको विश्राम मिल नही सकता। पर पदार्थोंमे हम अपना उपयोग फसाया करें, उनको ग्रहण करनेकी आशा बनाया करें तो उस आशामे हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते, न हमे कभी अनिर्वचनीय आत्मीय आनन्द प्राप्त हो सकता है, और न हम यह भी ज्ञान कर सकते कि भगवानका स्वरूप क्या है। भगवानके स्वरूपकी तरह कुछ भी बात हमे अपने आपमे अनुभवमे न आये तो हम भगवानके स्वरूपका ज्ञान नही कर सकते। जो कुछ भी हम ज्ञान किया करते हैं सो अपने आपमें अनुभव करके ही किया करते हैं। और, फिर भगवानका स्वरूप जो ज्ञानस्वरूप है जो इन्द्रियसे अगोचर है, इन्द्रियको कितना ही फाड़े उससे नही जाना जाता, उसका सम्बन्ध तो सीधे मेरे आत्मासे है, अर्थात् मैं अपने ज्ञान और आनन्दकी कुछ झलक लूं किसी भी उपायसे तो उस झलकके मार्गसे हम यह पहिचान सकेंगे कि भगवानका यह

स्वरूप है इस सब कल्याण लाभके लिए हमे यह चाहिए कि हम पदार्थका यथार्थ ज्ञान करे और भेद विज्ञान अपना दृढ बनाये।

शब्दाद्वैतकी अनुमानसे सिद्धिके साधनका अभाव—भैया! तत्व तो यही ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व है। शब्दब्रह्म मूल तत्त्व नही है। शब्दरचना तो शब्दवर्गणा जातिके पुद्गल स्कन्धोकी परिणति है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल जातिमे साधारण धर्मरूप पाये जाने वाले तत्त्वकी सग्रहदृष्टिमे भी कुछ माना जाय तो उसे सद् ब्रह्म कह सकते हैं सो वह भी तिर्यक् सामान्यकी दृष्टिकी बात वह भी अखण्ड कोई सद् ब्रह्म नही है। शब्दमयताकी कोरी कल्पना ही है। विश्वके शब्दात्मकताकी सिद्धि न तो प्रत्यक्षसे हो सकती है और न अनुमानसे हो सकती है। शब्दब्रह्म साध्यकी सिद्धिका साधन न तो कोई कार्यरूप लिङ्ग है, न स्वभावरूप लिङ्ग है और न कारणरूप लिङ्ग है। कार्यकारणरूप साधन माननेसे शब्दब्रह्मकी अनित्यता व नानारूपताकी प्रसक्ति हो जायगी जो कि शब्दब्रह्मवादियोको अनिष्ट है। स्वभावलिङ्ग स्वभाववान्के होनपर ही बन सकता सो स्वभाववान् शब्दब्रह्म ही असिद्ध है। धर्मिके असिद्ध होनेपर स्वभावभूत धर्म कैसे स्वतन्त्ररूपसे मान लिया जावे। यो विचार करनेपर अनुमानमे भी शब्दब्रह्मकी सिद्धि नही होती।

शब्दब्रह्मकी आगमसे भी असिद्धि—आगमसे भी शब्दब्रह्मकी सिद्धि नही होती, क्योकि जो तुम्हारा आगम है जिसमे कि यह सब बखान किया गया हो कि सब कुछ यह ब्रह्म ही है अन्य कुछ नही इत्यादि वह आगम ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है। यदि भिन्न है तो लो यही द्वैत हो गया, आगम तो शब्दब्रह्मरूप है नही, फिर शब्दाद्वैत कहाँ रहा। यदि शब्दब्रह्मसे आगम अभिन्न है तो जैसे अभी शब्दब्रह्मकी असिद्धि है ऐसे ही आगमकी असिद्धि रही। सो विश्वकी शब्दात्मकताकीकी सिद्धि आगमसे भी नही हो सकती है।

व्यवसायात्मक ज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि—यहाँ प्रकरण प्रमाणके स्वरूपका चल रहा है। प्रस्तुत बात यह है कि प्रमाणका स्वरूप "स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान" बताया गया है। जिसमे क्षणिकवादियोने तो यह कहा था कि ज्ञान तो प्रमाण है, किन्तु व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण नही है, वह तो मिथ्या प्रतिभास है, निर्विकल्प याने अव्यवसायात्मक स्वलक्षणमात्र ज्ञान प्रमाण है। इस मन्तव्यके निराकरणमे शब्दाद्वैतवादी यह कह रहे थे कि व्यवसायात्मक याने सविकल्प ज्ञान तो प्रमाण है, किन्तु शब्दानुविद्ध ही प्रत्यय (ज्ञान) होता है अत सविकल्प ज्ञान का लक्षण शब्दानुविद्धता है और यो माननेपर मूलतत्त्व शब्दब्रह्म ही रहता है। यो शब्दाद्वैतवादमे शब्दानुविद्धतारूपमे ही व्यवसायात्मक प्रत्यय माना है। किन्तु यह मन्तव्य कोरी कल्पना है, युक्त नही है इसका सविस्तार वर्णन किया। यथार्थ बात यह ही है कि जो सशय, विपर्यय व अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञानका निवारण कर देता है ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।



परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[तृतीय भाग]



प्रमाणप्रकरण—प्रमाण क्या चीज है ? इसका वर्णन चल रहा है। प्रमाण बताया है—जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण होता है। तो यहाँ विचार चल रहा है व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण होता है इस बातपर। जो ज्ञान पदार्थका निर्णय कर रहा है कि पदार्थ ऐसा है और इसी निर्णयमे यह भी बात पडी हुई है कि इसमे हमारा हित है और इसमे हमारा अहित है। तो जो हित की प्राप्ति कराये अहितका परिहार कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है।

व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण माननेमे शङ्काकारकी आपत्ति—व्यवसायात्मक ज्ञानकी प्रमाणतापर एक दार्शनिक यह आपत्ति कर रहा है कि व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण माननेपर तो सारे ज्ञान प्रमाण हो जायेंगे क्योंकि जो भी ज्ञान होता है वह कुछ न कुछ तो निश्चय रखता ही है। पदार्थ है कुछ और जान लिया जाय कुछ तो भले ही और कुछ जान लिया हो, किन्तु वहाँ भी निश्चय तो है। जैसे पडी तो सीप है और हम जानते हैं कि यह चाँदी है तो कुछ निर्णय तो है ही। यदि व्यवसाय (निश्चय) करने वालेको प्रमाण माना जाय तो सारे ज्ञान निश्चयभूत होते हैं, सभी प्रमाण बन बैठेंगे तो विपर्यय ज्ञान फिर कुछ नही रहा। क्योंकि उल्टा ज्ञान भी कुछ न कुछ निर्णय तो बनाये हुए है, अथवा जिस किसी पदार्थको हमने जान लिया उस ही पदार्थको हम बार बार जाना करें—चौकी है, चौकी है, चौकी है, लगातार जाना करे तो ऐसा धारावाही ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा, किन्तु तुम्हारे स्याद्वाद सिद्धान्तसे तो प्रमाण होगा अपूर्व अर्थ। नई बात जाने तो प्रमाण है। एक बार जाना चौकी, पर उसको बार बार जाननेकी रट लगायें तो अनेक बारका जानना इसमे प्रमाणपना नही रहा कहा, लेकिन निर्णय तो सभी ज्ञानोमे बसा है। बार बार जान रहे हैं उनमे भी निर्णय पडा हुआ है। तो धारावाही ज्ञान भी और विपरीत ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। और, जब उल्टा ज्ञान और धारावाही ज्ञान प्रमाण बन गये तो फिर व्यवहार न चल सकेगा। फिर हम व्यवहारमें किसे प्रमाण कहें और किसे अप्रमाण कहे ? सारे प्रमाण बन गए, अप्रमाण कुछ रहा ही नही तो व्यवहार कैसे चलेगा, इस कारणसे व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण होता है यह बात समझमें ठीक नही बैठती कुछ और सोचना चाहिए।

अपूर्व विशेषणसे धारावाही ज्ञानके प्रमाणत्वका निरास—व्यवसायात्मकताकी शङ्कापर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो कुछ और सोचना चाहिए वह सोच कर ही तो कहा गया है। अपूर्व अर्थका जो निश्चय कराये उस ज्ञानको प्रमाण कहते है। केवल निश्चय करने वाले ज्ञानका नाम प्रमाण हमने नही कहा किन्तु नये सही पदार्थका ज्ञान कराने वालेको हम प्रमाण कहते हैं। यदि इतना ही कहे कि निश्चय करने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते है तो सारे ज्ञान प्रमाण बन बैठेंगे क्योकि निश्चय सारे ज्ञान रखते है, पर इसमे अपूर्व अर्थका विशेषण भी दिया है कि नये अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण है। तो नवीन अर्थका निश्चय कराये यह कहकर तो धारावाही ज्ञानसे अलग किया है। धारावाही ज्ञान उसे कहते है कि एक बार जानने पर उस ही रूपमे बराबर जानते ही रहना इसका नाम है धारावाही ज्ञान। जैसे धाराका प्रवाह है तो वही है इसी तरह एक बार जान लिया अब उसको उस ही रूपमे उतने ढगसे बराबर जानना सो धारावाही है। यदि कुछ और विशेष जानकारी रखी जाय तो धारावाही नही। जैसे कमण्डलको जान लिया कि यह कमण्डल है अब इस ही बारेमे और और विशेष जाने यह लकडीका है। यह नारियलका है, यह समुद्रके किनारे पाया जाता है, यो जानकारिया करें तो धारावाही नही रहा। धारावाही तो तब था जब जितना जानें उतना ही बराबर जानते रहे पर विशेष-विशेष जाना तो धारावाही नही है। तो इस धारावाही ज्ञानको प्रमाण न माननेके लिये सूत्रमे अपूर्व शब्द दिया है।

अर्थ विशेषणसे विपर्यय ज्ञानका निरास—उल्टा ज्ञान प्रमाण न हो जाय इसकी रक्षाके लिये अर्थ विशेषण दिया है। जैसा पदार्थ है वैसा ही निश्चय करें तब ज्ञान प्रमाण है। पदाथ तो है और कुछ और निश्चय कर रहे हैं और कुछ तो यद्यपि उसमे भी निश्चय पडा है लेकिन वह निश्चय पदार्थके अनुरूप नही है। पदार्थ है कुछ और निश्चय किया जा रहा है अन्य कुछ अतएव अप्रमाण है। विपर्यय ज्ञान तो पदार्थको विषय नही करता। पडी तो है रस्सी और जान लिया साप तो यथार्थ पदार्थ तो जाननेमे नही आया। तुम्हारी कल्पना बन गई अलगसे। तो पदार्थका ज्ञान होना सो प्रमाण है। पर पदार्थ तो है और कुछ जानते हैं और कुछ तो यो विपरीत ज्ञान प्रमाण नही है। जो जान लिया उससे कुछ विशेष नही जाना और वही वही जानते रहे याने धारावाही ज्ञान वह अविशेषग्राही है अर्थात् जो समझा था उससे और कुछ अधिक न समझकर उसी उसीको रटते हैं वह अपूर्व शब्दके देनेसे अलग हो जाता है तथा अर्थ विशेषणसे विपर्यय ज्ञानकी प्रमाणताका निराकरण हो जाता है।

अपूर्वार्थ विशेषणसे धारावाही ज्ञानके प्रमाणत्वका निराकरण व व्यवसायात्मक विशेषणसे सशय विपर्यय अनध्यवसाय ज्ञानका निराकरण—अथवा अपूर्व अर्थका विशेषणने तो धारावाही ज्ञानका निषेध किया और व्यवसायात्मक

ज्ञान प्रमाण है इस मुख्य प्रतिपादनने सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीनो समारोपोका परिहार किया। सशय ज्ञान कहते हैं किसी पदार्थके सम्बन्धमें अनेक कोटिका ज्ञान बनाना कि यह पदार्थ ऐसा है या ऐसा। जैसे रस्सी पडी है और वहाँ दो कोटि का ज्ञान बने कि यह रस्सी है या साप है तो उसका नाम सशयज्ञान है। सशयज्ञान भूठा ज्ञान है। इसी प्रकार है तो रस्सीपर जान रहे हैं कि यह साप ही है तो यह ज्ञान भी सही है क्या ? यह भी मिथ्या है, क्योकि पदार्थ है और कुछ, जान लिया और कुछ, यह हो गया विपर्यज्ञान। इसी तरह किसी पदार्थके सम्बन्धमे कुछ तो प्रतिभास हो गया लेकिन उसका निर्णय कुछ नही हो पा रहा, जैसे रास्ता चलते हुयेमे कितने ही शब्द सुनाई देते हैं पर उन सबके बारेमे यह निर्णय नही बन सकता कि ये शब्द क्या है, किसका है, ऐसा अनध्यवसित ज्ञान अनध्यवसायसे ज्ञान होनेसे कहलाता है। यह अनध्यवसाय भी प्रमाण नही होता, किन्तु जिस ज्ञानमे सशय न हो, विपर्यय न हो, अनध्यवसाय न हो और सही अर्थका पूर्ण निश्चय कराने वाला हो वह ज्ञान प्रमाण होता है।

प्रमाण स्वरूपका सस्मरण –हम आप सब ज्ञान स्वरूप पदार्थ हैं। हम अपने ज्ञानकी ही बात न जान पाये तो हमने अपने लिये क्या किया ? दूसरे वस्तुके स्वरूपका निर्णय प्रमाणसे होता है। तो प्रमाणको समझना तो चाहिए कि प्रमाण का तत्त्व क्या है ? प्रमाणका स्वरूप समझ लेंगे तब ही हम वस्तुका ठीक-ठीक विचार कर सकेंगे। तो इस तरह यहाँ तक यह बात सिद्ध की है कि जो ज्ञान स्व अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह प्रमाण होता है। तो निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है क्योकि ऐसा ही ज्ञान सशय विपर्यय और अध्यवसायको दूर करता है।

शङ्काकारद्वारा सशयके स्वरूपकी असिद्धका प्रयास—इस प्रसङ्गमे कोई यह कहते हैं कि सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये ज्ञान ही सिद्ध नही हैं। सशयका क्या स्वरूप ? स्वरूप ही नही बनता फिर व्यवसायात्मक शब्द देकर तुम किस ज्ञान का निराकरण करते हो ? सशय कहते किसे है कि किसी पदार्थमे कई विकल्प उठ जाना कि यह पदार्थ यह है कि यह है, सीप है या चादी है या काँच है ? अनेक प्रकार के विकल्प उठ जाना तो सशय ज्ञान है। तो यह बतावो कि सशय ज्ञान जब हो रहा है तो उस सशय ज्ञानमे धर्मी प्रतिभासमे आ रहा है या धर्म ? अर्थात् सशय ज्ञानमे वह समूचा पदार्थ आ रहा है या उस पदार्थका कोई धर्म ज्ञानमे आ रहा है ? यह प्रश्न किया। यहाँ प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तके खिलाफ कहा जा रहा है कि सशय कोई चीज नही है। सशयका स्वरूप ही सिद्ध नही होता। अगर सशय है तो वह बतावो कि सशय ज्ञानमे वह पदार्थ पूरा ज्ञानमे आ रहा है या उस पदार्थका कोई अश ज्ञानमे आ रहा है।

सशयज्ञानके स्वरूपकी असिद्धिमे धर्मी, धर्म, तात्त्विक, अतात्त्विक

विषयके विकल्प—सशय ज्ञानके विकल्पो द्वारा पूछनेका मतलब यहाँ यह है कि संशय नामकी कोई चीज ही नही है। वह व्यवसायात्मक विशेषणको व्यर्थ करनेके लिये सशय ज्ञानको उडाना चाहता है, पर सशय ज्ञान होता है। भले ही वह यथार्थ ज्ञान न हो, पर सशय नामका ज्ञान होता है दुनियामे। सब लोगोको अपनी प्रतीतिमे आ रहा है कि सशयात्मक भी ज्ञान हुआ करता है। सशय ज्ञानमे धर्मी प्रतिभास होता है या धर्म, अर्थात् पूरा पदार्थ। अगर पदार्थ प्रतिभासमे आ रहा है तो वह सही आ रहा है या झूठ ? यदि सही आ रहा है तो फिर सशय क्या रहा है ? जब तात्त्विक अर्थका ग्रहण कर लिया तो तात्त्विक अर्थका ग्रहण करने वाला ज्ञान तो प्रमाण है। जैसे हाथका तला हम जान रहे है तो यह तो सही है, प्रमाण है, झूठ क्या हो सकता है। यदि सशय ज्ञानमे तात्त्विक पदार्थ जाननेमे आ रहा है तो जानकारीमे तो वह ठीक ही हो गया। अगर अतात्त्विक ज्ञान समझमे आ रहा है तो वह अतात्त्विक अर्थ को विषय बनानेसे सशय भी भ्रान्त रहा, सशय स्वय कुछ चीज नही रहा। जैसे जिस का कुछ बिगाड करना हो तो किसी भी प्रकार हो, कुछ न कुछ बिगाड कर दे चाहे काम बिल्कुल उल्टा हो जाय। उसे तो बिगाडसे मतलब है।

सशय ज्ञानके स्वरूपमे शङ्काका विवरण—यहा सशय ज्ञानके स्वरूपका बिगाड करनेकी दृष्टिसे एक दार्शनिक यह कह रहा है कि सशय ज्ञान कोई वस्तु ही नही है, फिर अप्रममाणकी बात क्या रही ? और वह इस शब्दसे सिद्ध कर रहा है कि सशय ज्ञानमे पदार्थ तो आया नही। यदि पदार्थका धर्म आये जैसे कि सुबह ५ बजे कोई घूमने जा रहा है, कुछ अधेरा उजेला है, रास्तेमे किसी खडे हुए ठूठमे यह भ्रम हो जाय कि यह आदमी है या ठूठ है, तो यहाँ पुरुष व ठूठका जो साधारण रूप से सभवित आकार ज्ञानमे आया है वह तो हुआ धर्म और जो भी वह चीज है वह है धर्मी। साधारण आकार प्रकार जाननेमे आया तो वह धर्म कहलाया। तो यह बतलावो कि सशय ज्ञानमे ठूठपना जाननेमे आ रहा या पुरुषपना जाननेमे आ रहा या दोनो बातें जाननेमे आ रही। यदि रास्तेमे ठूठपना जाननेमे आ रहा तो वह भी सही है या झूठ ? सही कहोगे तो सशय क्या अतात्त्विक कहोगे तो भी सशय क्या ? ऐसी ही धर्मकी बात भी तात्त्विक व अतात्त्विकके विकल्पसे खण्डित हो जायेंगे यदि कहो कि दोनो ही ज्ञानमे आ रहे सशय ज्ञान करने वाले पुरुषके ज्ञानमे ठूठपना और पुरुष पना दोनो रहे तो दोनो सही है या झूठ ? उसमे भी वही दोष है। यदि कहो कि उनमे एक धर्म तो तात्त्विक है और एक अतात्त्विक सशय ज्ञानमे वे दोनो बातें तराजू के बराबर तौल माफिक समान रूपसे आ रही है, जैसे कि पडी है सीप और जान रहे है कि सीप है या चाँदी तो ये दोनो तरहके ज्ञान एक तौल आ [illegible] सशयज्ञान मे तो जितने ज्ञान किए जाते हैं वे सब एक समान [illegible]
को तो सब एक बराबर है। इसपर वे समाधान देते [illegible]
ज्ञान आ रहा हो और एक अतात्त्विक हो यह बात

धर्म तात्त्विक और एक अतात्त्विक धर्म ये विरुद्ध बातें नही हो सकती। फिर भी उस का विषय कहेगे तो जो सही जाना वह सही हो गया, जो अतात्विक जाना वह सशय ज्ञान भ्रान्त हो गया। सशय खुद भ्रान्त हो गया तो सशय ज्ञानकी सिद्धि नही हुई।

मीमासामे ज्ञानविकल्पोका ही खण्डन-मण्डन—यह एक ज्ञानकी मीमासा चल रही है कि सही ज्ञान किसे कहते हैं और झूठ ज्ञान किसे कहते हैं ? जब वस्तु-स्वरूपका विचार चलेगा, वादी और प्रतिवादी दोनो खडे होकर अपनी-अपनी बात रखेंगे तो खण्डन-मण्डन कैसे बनेगा ? यो ही बनेगा कि दूसरके ज्ञानमे दोष लगे कि तुम्हारा ज्ञान झूठा है और अपने ज्ञानमे दोष न लग सके। जब तक ज्ञानके बारेमे सच्चा ज्ञान क्या होता है ? और झूठा ज्ञान क्या होता है ? इनका स्वरूप न जान ले तब तक वाद-विवाद क्या हो सकेंगे ? यहाँ एक बात और समझिये ! कोई भी मनुष्य यदि किसी दूसरेकी बातका खण्डन करता है तो पदार्थका खण्डन नहीं करता किन्तु दूसरेकी कल्पनाओका खण्डन करता है कि आपमे जो ये कल्पनायें उठी है वे सही नही हैं। जैसे पडी तो है सीप और आप जान रहे हैं कि यह चांदी है और हम आपको समझा रहे है कि यह चाँदी नही है यह सीप है और आप उसे चाँदी ही समझ रहे हैं तो आप यह बतावो कि हम खण्डन किसका कर रहे हैं ? हम किसी पदार्थका तो खण्डन कर नही रहे हम तो आपके अन्दर जो मिथ्या कल्पना उठी उसीका खण्डन कर रहे हैं। पदार्थका खण्डन कोई नही करता। पदार्थ यदि है तो उसका खण्डन क्या किया जाय ? वह तो है ही। और, पदार्थ यदि नही है तो उसका खण्डन क्या हो ? तो खण्डन जितने चलते हैं वे दूसरेके ज्ञानविकल्पोके खण्डन चला करते हैं, सच और झूठ पदार्थ नही हुआ करते, पदार्थ तो जो है सो है। है तो है और नही है तो नही है सच और झूठकी बात तो कल्पनामे लायी जाती हैं। पदार्थ जैसा है वैसी यदि आपकी कल्पना बनी तो कहेगे कि भाई आपका ज्ञान सच्चा है। और, पदार्थ है और भांति, कल्पना बने और भांति तो कहा जायेगा कि आपका ज्ञान झूटा है। तो ज्ञानमे ही तो सत्य और झूठकी बात आती है, पदार्थमे नही आती। तो उस ही ज्ञानकी मीमासा की जा रही है।

सशयस्वरूपकी असिद्धिके निरूपणसे प्रमाणकी निश्चयात्मकताके निरसनका प्रयास – ज्ञान सत्य कौन हुआ करता है ? तो प्रस्ताव यह रखा गया है कि जो ज्ञान सशय विपर्यय और अनध्यवसायको दूर कर दे और पदार्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है वही शुद्ध ज्ञान कहलाता है। तो इसपर सशयके स्व-रूपकी सिद्धिके विरोधमे एक दार्शनिक कह रहा है – बतावो, तुम्हारे सशय ज्ञानमे झलकता क्या है ? यदि कहो कि सदिग्ध अर्थ झलकता है तो वह भी वहा मौजूद है कि नहीं ? है तो सशय क्या ? इस तरहसे सशय आदिक ज्ञान कुछ भी चीज नहीं है, तब फिर निराकरण किसका हो, ऐसा एक दार्शनिक कह रहा है और सशय ज्ञानकी भाँति विपर्यय ज्ञान भी कुछ चीज नही है। विपरीत ज्ञान कहते हैं। उल्टे ज्ञान को

पदार्थ है और भांति, ज न रहे है और भांति। तो इसके सम्बन्धमे बहुत वर्णन आ चुका कि विपर्यय ज्ञान भी कुछ नही है। तब फिर तुम्हारा यह लक्षण नही बन सकता कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान कराये सो प्रमाण है।

सशयज्ञानके स्वरूपकी प्रसिद्धि देखिये ! विचार करनेपर सशयादिक ज्ञानोके स्वरूपकी सिद्धि यथार्थ हो जाती है। जब सशयज्ञान होता है तब सर्वप्राणियो को अपने आप विदित होता है कि यह मेरा ज्ञान चलितप्रतिपत्तिरूप है। जिसमे अवगम चलित हो वही तो सशयज्ञान है। जिस ज्ञानमे निर्णय नही बसा वह ज्ञान खुद मे फिट बैठता ही नही, खुद विश्राम ले नही सकता। मिथ्या ज्ञान जब तक चलता है तब तक सही बुद्धि नही मिल सकती। जब ज्ञान सही हो तो आत्माको विश्राम मिलेगा। जैसे मान लो रास्तेमे पडी तो रस्सी है और जान रहे कि रस्सी है कि सांप है ? तो ऐसा जानने वाला भी घरमे विश्रामसे नही रह सकता अथवा जान लिया कि यह सांप है तो विश्रामसे नही रह सकता। यथार्थ ज्ञान जब हो गया कि यह रस्सी ही है तब उसको शान्ति उत्पन्न होती हैं। इसी तरह ससारका यह समूह, इसके सबध मे यो जानते रहे कि यह हमारे लिए सारभूत है या नही है, सशय ही करते रहे तो उसमे भी आत्मध्यान नही जनता और इस जगतको सारभूत मान ले तो यह उल्टा ज्ञान हो गया तो यहाँ भी आत्मध्यान नही बनता।

अचलित प्रतिपत्तिके विना विश्रामका अलाभ—जब यह पूर्ण निर्णय हो जाता कि मेरे आत्माके सिवाय अन्य जितने भी पदार्थ मौजूद है वे इस आत्माके लिये सारभूत नही है। वे तो विकल्पके कारण बनेंगे और हमारे क्लेशके कारण बनेंगे। मेरे आत्माको मेरे ज्ञान स्वरूप यह आत्मतत्वका दर्शन होना ही शरण है, इसके अलावा बाकी जितने भी सग प्रसग विकल्प है वे सब मेरे लिये अहितकर हैं ऐसा खुदमे निर्णय बने तो विश्राम प्राप्त होता है। ऐसा विश्राम प्राप्त करनेके लिये हमे अपने ज्ञानका ज्ञान करना है हमे अपने स्वरूपका निर्णय करना है कि मैं देहसे न्यारा ज्ञान स्वरूप मात्र हूँ। जब कभी यह मनुष्य सर्व परभावसे हटकर अपने अन्त-रङ्गमे ऐसे निर्विकल्प तत्त्व स्वरूपपर भुके मैं तो यह हू, बस सब विकल्प सकल्प शान्त हो जायेंगे।

अज्ञानके प्रमाणत्वका निराकरण - यह दर्शन शास्त्रका परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ है। इसमे ज्ञानकी परीक्षा की गई है कि कौनसा ज्ञान प्रमाण माना जाता है और कौनसे ज्ञान अप्रमाण माने जाते हैं। इस सम्बन्धमे सर्व प्रथम यह बताया गया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान है वहप्रमाण है अर्थात् ऐसा ज्ञान प्रमाण है जो ज्ञान खुदको भी जाने और नवीन नवीन पदार्थोंको भी जाने। इस सम्बन्धमे सर्वप्रथम यो अनेक दार्शनिकोंने ज्ञानपर ही आपत्ति उठायी थी। उनका

कहना था कि ज्ञान प्रमाण नही होता किन्तु जिन पदार्थके रहनेसे ज्ञान बने उन पदार्थों का इकट्ठा हो जाना प्रमाण है या इन्द्रियका पदार्थसे जुड जाना प्रमाण हैं या इन्द्रिय हलन चलन होनेका नाम प्रमाण है। जैसे आखें खोली तो जानकारी हुई तो आखो का खुलना प्रमाण है। तो किसीने कहा कि अचेतन आत्माका व्यापार प्रमाण है। यो अज्ञानको प्रमाण बनानेकी कोशिशकी गई थी उसका निराकरण किया। ज्ञान प्रमाण है यह सिद्धान्त स्थापित हुआ।

अव्यवसायात्मक ज्ञानके प्रमाणत्वका निराकरण—तब क्षणिकवादी यह कहने लगे कि ज्ञान तो प्रमाण है पर निर्णय करने वाला ज्ञान अप्रमाण है और जिस ज्ञानका निर्णय नही होता किन्तु एक स्व लक्षण मात्र झलक है वह प्रमाण है और इसमे भी यह-युक्ति दी है कि जब पदार्थ क्षण-क्षणमे नष्ट होते हैं तो जिस क्षणमे पदार्थ है उस क्षणमे तो निर्णय हो नही पाता निर्णय होता है अगले समयोमे। तो जिस समय निर्णय हो रहा है उस समय पदार्थ नही रहा तो निर्णयने असत्को जाना, सत तो उस क्षण था और नष्ट हो गया। जो असत्को जाने वह तो झूठा ज्ञान है। यह उनकी युक्ति थी, जिससे यह सिद्ध करना चाहा कि जो ज्ञान कुछ निश्चय करता है वह तो झूठा है और जिसमे कुछ भी निश्चय नही ज्ञान तो वह सच्चा है यो क्षणिक वादियोने कहा है उसका निराकरण किया है। और इसका निराकरण निश्चयात्मक ज्ञानप्रमाण है इसकी सिद्धिमे किया। इसके बाद फिर एक शब्दाद्वैतवादी दार्शनिक कहने लगा कि निर्णय करने वाला ज्ञान तो प्रमाण है, पर निर्णयात्मक ज्ञान अलगसे कुछ नही है। जो भीतरमे शब्द उठते है बस वे शब्द ही प्रमाण है। यो शब्दानुविद्धत्व प्रत्ययकी सिद्धिका यत्न किया उसका निराकरण किया।

संशयज्ञानके स्वरूपकी विराधनाका प्रयास– इसके बाद फिर अनेक दार्शनिकोंने एक साथ यह आपत्ति उठाई कि निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। क्योंकि उसमे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नही रहते, ऐसा जो जैनोने कहा है तो यह तो तब बने जब संशय विपर्यय, अनध्यवसाय भी कोई ज्ञान होता हो। उसका स्वरूप ही सिद्ध नही। ये दार्शनिक यह कह रहे है कि संशयज्ञान कुछ भी चीज नहीं होती। यह चर्चा अपने आपकी है और सभी ज्ञानरूप है, सभी जानकारी किया करते है। जानकारियोमे क्या क्या ढङ्ग रहा करते हैं उनका इसमे विवेचन है। चर्चा अधिक कठिन नही है लेकिन किसी कठिनाईसे भी समझे जाने वाले तत्त्वकी उपेक्षा ही करते जाये कि हमे तो सरल सरल सुनना है। तो सरल सरल सुनते रहनेमे तो सरलके कारण वह ठहर नही पाता, जो अत्यन्त सरल है वह भी बात हृदयमे जमती नही है और जो कठिन है उससे करे उपेक्षा कि यह तो बडी कठिन चर्चा है, यह चर्चा हमसे सुनी नही जाती, तो उसके निकट जिन्दगीमे कभी पहुच ही न सकेंगे। ध्यानपूर्वक सुननेसे सभी विषय सुगम हो जाते हैं।

सशयज्ञानके स्वरूपके विरोधमे कुयुक्तियोंका उगाल—यहाँ कुछ दार्शनिकोने यह बात रखी है कि सशयज्ञान कुछ चीज नही है। सशय ज्ञानका अर्थ है सन्देह करने वाला ज्ञान। जैसे पडी तो सीप हो और जानकारी रख रहे हो यो कि यह सीप है या चाँदी है तो इसका नाम है सशयज्ञान। विरुद्ध दार्शनिकोंने यह बात रखी कि सशयज्ञान कुछ चीज नही क्योकि यह बतावो कि सशय ज्ञानमे पदार्थ आया है ज्ञानमे या धर्म आया है ज्ञानमे। पदार्थ तो आप जानते ही है और धर्म मायने सफेदी, लम्बा–चौडा आकार आदि ये सब धर्म कहलाते हैं। तो चाहे पदार्थ ज्ञानमे आ रहा हो चाहे धर्म ज्ञानमे आ रहा हो वह तात्त्विक याने सही ज्ञानमे आ रहा है ? या अतात्त्विक ज्ञानमे आ रहा है ? यदि तात्त्विक ज्ञानमे आ रहा तो फिर सशय कहाँ रहा ? सही रहा ! यदि अतात्त्विक विषय है ? तो भ्रान्तका ज्ञान करने वाला भ्रान्त हो गया तो स्वरूप ही उसका भ्रान्त हुआ। सशय ज्ञान कुछ नही है, ऐसी–ऐसी अनेक युक्तियाँ-दी।'

प्रतीतिसिद्ध सशयज्ञानके स्वरूपके अपन्हवकी अशक्यता—उसपर आचार्य समाधान दे रहे है कि यह कहना ठीक नही है क्योकि बडे गजबकी बात है कि जो सशय ज्ञान सभी मनुष्योको बिल्कुल सही मालूम होता है कि जिसमे प्रतिपत्ति चलित हो गयी हो, जिसमे एक किसीकी ओर झुकाव न हो, यह है या यह नही है, ऐसी चलित प्रतिपत्ति हो, सभी मनुष्योको उस सशयज्ञानका पता है। जिसका भली भाति पता है उसमे कुछ विकल्प उठाकर उसे खण्डित करना यह तो एक दोदापट्टीकी बात है। इन विकल्पोसे सशयज्ञानका स्वरूप खण्डित नही हो सकता। जो बात एकदम स्पष्ट ज्ञात है उसमे भी कुछ विकल्प उठाकर उसका खण्डन करे तो फिर सुख दुःख आदिक कुछ भी चीजें सिद्ध नही कर सकते। अनेक विकल्प उठाने लगो जो सुख तुम भोग रहे हो सो यह बतावो कि वह सुख पदार्थ है या कोई धर्म है ? यदि पदार्थ है तो पदार्थ रहा, तुमने भोगा क्या ? यदि धर्म है तो बतावो कि किसका धर्म है ? विषयका धर्म है कि जीवका धर्म है। विषयका धर्म है तो विषय सुखी रहे, तुम्हारा धर्म है तो वह सुख धर्म तुममे भिन्न है या अभिन्न है ! सुख भिन्न है तो तुमने भोगा क्या, सुख अभिन्न है तो तुमने भोगा क्या ? तुम और सुख एक चीज रहे। जिस चाहेका विकल्प करके जिस चाहेको खण्डित बना दो।

प्रत्यक्ष सिद्धके विरोधमे कुयुक्तियोसे विडम्बना—भैया ! एकान्तवाद व मिथ्यावाद तर्कपर सगत नही होते। भिन्न और अभिन्नके विकल्प उठाकर जिस चाहे का मुंह तुरन्त बन्द कर दो। एक स्याद्वादका मुंह बन्द नही हो सकता। जैसे पूछा जाय कि बतावो यह जो तुम्हारे पास घडी है वह तुमसे भिन्न है कि अभिन्न है ? अगर घडी तुमसे भिन्न है तो वह तुम्हारी कहाँ रही और अगर अभिन्न है तो तुम और घडी दोनो एक हो गए। फिर ये अलग अलग चीजे नही रही। फिर उसमे किसका

कौन स्वामी बताया जाय ? तो स्याद्वादके सहारे बिना तो किसी तत्त्वका स्वरूप ही नही कह सकते और फिर जो प्रत्यक्ष सिद्ध बात है उसकी युक्तियोका निर्माण करके अगर खण्डन करने लगे तो फिर दुनियामे कोई बात न रहेगी। अच्छा बतावो अग्नि गर्म है या ठडी है ? अग्नि ठडी है। क्योकि पदार्थ होनेसे। अग्नि पदार्थ है कि नहीं ? और जो जो पदार्थ होते है वे ठडे होते हैं जैसे पानी, ओला, बर्फ ये पदार्थ हैं। किसी भी बातमे धोखापट्टी करते रहे तो कोई प्रत्यक्ष सिद्ध बात भी खडित हो सकती है। लेकिन जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध है उसका खडन किसी भी प्रकार नही किया जा सकता। तो सशय ज्ञान सबको भली भाति परिचयमे आ रहा है कि सशय ज्ञान भी कुछ हुआ करता है, फिर उसमे विकल्प उठाना बेकार है।

समारोपोका रूपक—हे सशय स्वरूपके विरोधको ! अच्छा तुम यह बतावो जो तुम पूछते हो कि सशय धर्मीको विषय करता या धर्मको विषय करता ? तो इस प्रश्नको उठाकर तुम्हें भी कुछ सन्देह है क्या ? अगर है तो सशयज्ञानकी सिद्धि हो गई तुम्हारा ही ज्ञान सशयज्ञान हो गया। तो सशयज्ञान भी होता है विपर्यय व अनध्यवसाय भी होता है। उसके निराकरणके लिए यह बताया है कि जो सशय विपर्यय अनध्यवसाय इन दोनो अज्ञानोका निराकरण करे वह ज्ञान प्रमाण होता है। जैसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमे कोई यो सन्देह करे कि आत्मा सचमुच है कि शरीरका ही नाम आत्मा है ? तो इस चलित प्रतिपत्तिरूप ज्ञानका नाम हो गया सशयज्ञान। इसमे निर्णय तो नही बसा है, सो यह ज्ञान अप्रमाण रहा। कोई ऐसा ज्ञान करे कि यह आत्मा तो यही शरीर है तो यह हो गया विपर्यय ज्ञान। यह भी अप्रमाण है और आत्माके बारेमे कोई दृष्टि ही न दे, होगा कुछ, तो यह होता है अनध्यवसाय। तो इस तरहके भी बोध होते है और वे सब अप्रमाण हैं।

प्रमाणमे स्वपरनिर्णायिकता—प्रमाणरूप तो वह ज्ञान होता है जिसमें अपना और अपूर्व पदार्थोका निर्णय बसा हुआ है। जैसे यह ज्ञान किया कि यह चौकी है तो इस ज्ञानने दोनोका निश्चय किया अपना भी और चौकीका भी। यह ज्ञान बिल्कुल सही है कि यह चौकी है, ऐसा जिस ज्ञानमे आया है वही ज्ञान चौकीका निर्णायक हो सकता है। स्वय सोच लीजिये यह ज्ञान मैं पूर्ण सही हू, ऐसा निर्णय बसा है कि नहीं ? यहाँ तो कर रहे हो सन्देह कि मैं जो चौकीको जान रहा हू यह ज्ञान सच है कि झूठ है, यह तो हो जाय सन्देह और कहे यह कि यह चौकी ही है तो यह बात तो नही बन सकती। जब कभी ज्ञानमें मजबूती हो तो पदार्थोका ज्ञान भी कहलायेगा। तो स्वका भी निश्चय करे और नवीन अर्थका भी निश्चय कर वह ज्ञान प्रमाण होता है।

सशय ज्ञानके उत्पादक कारणपर प्रकाश—हे सशय ज्ञानके स्वरूपके विरोधको। तुम सशयज्ञानका अभाव कहते हो क्या इसलिये सशय ज्ञानका अभाव है

कि सशय ज्ञानको उत्पन्न करने वाले कारण कुछ नहीं है, क्या इस कारणमे तुम सशय ज्ञानका अभाव कहते हो ? या इसलिए कहते हो कि सशयज्ञानका साधारण खास कोई स्वरूप नही है ? या इस कारण कहते हो कि सशयज्ञानका कोई विषय नही है ? बात प्रकरणमे यह है कि कोई दार्शनिक यह कह रहा है कि सशयज्ञान कोई चीज ही नही है। तो उससे स्याद्वादी पूछ रहे हैं कि सशयज्ञानको उत्पन्न करने वाले कोई कारण हैं इससे सशयका अभाव बनाते हो ? यह बात तुम्हारी ठीक नही है क्योकि सशयज्ञान को उत्पन्न करने वाले कारण मौजूद हैं। जिनको थोडा बहुत मालूम हो, जिसे सस्कार बना हो ऐसा जानने वाला पुरुष जब कभी ज्ञेय पदार्थोंके सम्बन्धमे कुछ तो ऐसी बात जानता है जो अनेक पदार्थोंमे समान है और जो खास विलक्षण है उसे जानता न हो तो मिथ्यात्व होनेपर सशयज्ञान उत्पन्न होता है। इसका मतलब यह है कि जैसे पडी तो है रस्सी और हम जान रहे है कि यह साँप है। तो ऐसा सशयात्मक ज्ञान होनेका कारण क्या है ? उसके कारण है दो—एक तो ऐसी चीज हमारे ज्ञानमे आ रही है जो बात रस्सीमे भी घटित हो और सांपमे भी घटित हो। जैसे टेढा मेढा पडा होना, उतना ही मोटा पतला पडा होना। इस तरहका जो समान धर्म है, आकार है उसका तो हो रहा है ज्ञान और रस्सीका जो खास लक्षण है न, वह ज्ञानमे आ रहा और सांपका जो खास लक्षण है न वह ज्ञानमें आ रहा तो ऐसी स्थितिमे सशयज्ञान उत्पन्न होता है। तो उत्पादक कारण तो सिद्ध हो गए, फिर इस विकल्पसे तो सशयज्ञानके कारणका अभाव नही कह सकते।

सशयज्ञानका असाधारण और विषय– सशय ज्ञानका कोई विशेष स्वरूप नही है ऐसा भी नही कह सकते क्योकि सशय ज्ञानका स्वरूप है यह जिसमे चलित प्रतिपत्ति (बोध) हो वह है सशय ज्ञान। जिस ज्ञानमे बोध चलायमान हो, ऐसा है या ऐसा है उस ज्ञानको सशय ज्ञान कहते है। यह भी नही कह सकते कि सशय ज्ञान का कोई विषय नही है। विषय कैसे नही है। जैसे मान लो ब्रह्म मुहुर्तमे कोई पुरुष घूमने जाया करता है। किसी दूसरी गलीसे चला गया तो बहुत दूरपर एक ठूठ खडा हुआ था। उस ठूठके देखकर उस पुरुषको यह शङ्का हुई कि यह ठूठ है या आदमी है तो उस सशय ज्ञानमे विषय क्या आया सो सुनिये। ठूठ रूपसे जो निश्चय न किया जा सके ऐसा जो सामान्य धर्म है, कुछ ऊँचासा उठा होता है कुछ मोटासा है, ऐसी जो ऊर्द्धता सामान्य है वह सशयज्ञानमे विषयभूत है। सशयज्ञानमे आया क्या सो बतला रहे हैं। जैसे रस्सीको साप है या रस्सी है यह जाना तो वह आकार जो न तो रस्सी रूपसे अनुभव किया जा सके, न सर्प रूपसे अनुभव किया जा सके ऐसा जो सामान्य धर्म है वह ज्ञानमे आया। तो सशय ज्ञान है कोई चीज ? और उसके निराकरण के लिये जो निर्णायक ज्ञान है वह प्रमाण है यह बताया गया है।

सन्देहसे अस्थिरता – देखिये जब तक अपने आपको अपने आपमे अपने आप

का यथार्थ निर्णय न हो तब तक जीवको विश्राम नहीं मिलता। जीवका स्वरूप ज्ञान है, और ज्ञानके बारेमे जब तक वह संदेहमे रहेगा तब तक उसे विश्राम नहीं मिलता। वह अपने आपमे फिट ही नहीं बैठ पाता, यत्र तत्र उछलता रहता है और इस क्रमसे उसे आकुलता होती है। लोग यद्यपि घर गृहस्थीमे रहकर बहुत-बहुत उल्टा निर्णय बनाये हुए हैं पर उनके बीच-बीचमे अनेक संशय जो संशयका प्रकट रूप तो नहीं रखते, किन्तु हो जाया करते हैं। जैसे घरका सम्बन्ध, परिजनका सम्बन्ध हमे कल्याणरूप है या नहीं, इस बारेमे मोही जीवका यह निर्णय है कि घरमे रहना ही हमारा कल्याणकारी है। घरसे ही मुझे कल्याण मिलता है, घरमे ही सुख मिलता है, ऐसा निर्णय किए हुए तो हैं, पर बीच-बीच कुछ उसमे निर्णयकी शिथिलता सी बनी ही रहती है। कितना ही तीव्र मोही हो फिर भी उसको कभी-कभी अपने इस ज्ञानमे संदेह हो जाता है। और जिस ज्ञानमे सही निर्णय न बने, अव्यक्तरूपमे भी संदेह हो वहाँ आत्मा अपने आपमे चाहे उल्टा हो चाहे सीधा हो फिट नहीं बैठ पाता, और जो झूठे ज्ञान हैं उन ज्ञानोमे कहा तक निःसन्देह रह सकेंगे। जो यथार्थ तत्त्व है उसके परिज्ञानमे ही पूर्ण निःसन्देहता रहती है।

तत्त्ववेदीकी निःशङ्कता—जिस तत्त्ववेदी पुरुषने अपने आत्माका यथार्थ निर्णय कर लिया है मैं एक देखनजाननहार सद्भूत वस्तु हूँ, परिजनसे, देहसे, रागादिक विकारोंसे भी निर्मल केवल मेरा ज्ञानस्वरूप है और मेरी दुनिया मात्र उतनी ही ही है जो मैं अपने आपमे अपने ज्ञानसे कुछ भी निर्णय और विचार करता रहता हूँ। मेरी दुनिया इतनी मात्र है। बाहरमे घर वैभव परिजन इज्जत यह मेरी दुनिया नहीं है। मैं केवल एक हू, अकेला हूँ, और इस अकेलेकी केवल अकेली ही परिणति है यह स्वतत्र है ऐसे ही प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और प्रत्येक अणु स्वतन्त्र है। ऐसा जिसने द्रव्यका निर्णय किया है उसको फिर लोकमे आकुलता नहीं रहती है। कुछ काम बिगड़ गया, कुछ चीज टूट फूट गयी, कुछ आर्थिक घाटा हो गया, कैसी भी परिस्थितियाँ आये, वह तो वहाँ यह यह जानता रहता है कि यह बाह्यमे ऐसा परिणमन होता है। मेरा यह मैं पूर्ण सुरक्षित हूँ, मुझमे न कोई गुणसे बाह्यसे आता है और न मेरेसे कोई गुण बाहर निकलकर जाता है। मैं वहीका वही परिपूर्ण रहता हूँ। ऐसा जिसका अपने बारेमे यथार्थ निर्णय है उस पुरुषकी महिमा समयसारमे एक कलशमे बतायी है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष ही ऐसा साहस कर सकता है कि ऐसा भी वज्र गिरे, ऐसी अनेक घटनाए हो कि जिनसे तीन लोकके जीव अपना रास्ता छोडकर अन्यत्र हट जाये तो भी सम्यग्दृष्टि जीव सदैव निशक रहता है।

तत्त्ववेदीकी निःशङ्कताका कारण—सम्यग्दृष्टि जीवके निःशङ्क रहनेका कारण यह है कि उसे अपने आपके बारेमे कोई सन्देह नहीं है। मैं मर न जाऊँ, मेरा कही गुजारेमे विघ्न आये ऐसे कोई भी सन्देह नहीं है। गुजारेका अर्थ क्या है ? कुछ

र्यय नही रहा। जैसे रस्सी पडी है और उसमें यह सांप ही है ऐसा ज्ञान बन गया तो बतलावो इस सर्पका प्रतिभास करने वाले ज्ञानमे आलम्बनीभूत विषयभूत सर्पकी सत्ता है क्या ? यदि सर्पकी सत्ता है और फिर सर्पका हो ज्ञान बना तो वह शुद्ध ज्ञान कहलायगा, विपर्ययज्ञान कैसा होगा ? इसीप्रकार मरीचिकामे जिस जलका अवभासन हुआ उसका आलम्बनीभूत यदि सत्तात्मक जल है तो वह विपर्यय नही रह सकता।

अभाव विषय न होनेका हेतु देकर विपर्ययज्ञानको असिद्ध करनेका प्रयास --क्या है उस विपर्ययज्ञानमे विषयभूत ? यह पूछा जा रहा है ? मरीचिकामे जलका प्रतिभास करने वाला जो ज्ञान हो उस ज्ञानका यदि यह कहेंगे कि जलका अभाव विषय है तो यह तो प्रतीतिमे आता ही नही है। विपर्ययज्ञान विधिपरक होता है, निषेधपरक नही होता। किसी भी पदार्थमे उल्टा ज्ञान किया जाय तो किसीके हाँ रूप ही तो ज्ञान हुआ ना, न रूपज्ञान नही हुआ। रस्सीने सर्पका ज्ञान किया तो सर्प की विधि ही तो बतायी, या यह ज्ञान हुआ क्या कि सर्पका अभाव है। तो विपर्ययज्ञान विधिरूपमे ही प्रवृत्त होता है इस कारण यह भी नही कह सकते कि विपर्ययज्ञानमे विषय जलका अभाव है।

अप्रतिभासका ग्रहण अशक्य होनेका हेतु देकर विपर्ययज्ञानका अभाव बतानेका प्रयास—यदि कहे कि रेतीली जमीनमे जलका जो प्रतिभास होता है ऐसे विपर्ययज्ञानमें रेतीली जमीन विषय है। तो यह वो प्रतीतिमें आ नही रहा। वहा तो जल ही जल समझमे आ रही हैं। जैसे रस्सीमें सांपका ज्ञान किया तो इस विपर्ययज्ञानमे विषयभूत क्या रस्सी आ रही है ? नही आ रही है। अगर रस्सी विषयमें आ जाय तो उसका वह ज्ञान विपर्यय हो ही नही सकता। विपर्ययज्ञानका कोई विषय ही नही बैठ पाता, अतएव विपर्यय ज्ञान कुछ चीज नही है ऐसा एक दार्शनिक कह रहा है। भैया ! विपर्ययज्ञानका भी प्रतिषेध करनेकी इसे फिक्र क्यो पडी ! यो पडी कि प्रमाणका स्वरूप नही बन सके। प्रमाणका स्वरूप है जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका प्रतिषेध करे। तो इस दार्शनिकका कहना है कि प्रतिषेध्य, विपर्ययज्ञान है ही कुछ नही, निषेध किसका करते ?

अन्याकारसे अन्यका ग्रहण अशक्य होनेका हेतु देकर विपर्ययज्ञानका अभाव सिद्ध करनेका प्रयास—शंकाकार ही कह रहा है प्रतिशंकाकारसे कि वहाँ जलके आकारसे रेतीली जमीनका ग्रहण हो रहा है यदि ऐसा कहो तो यह बात भी ठीक नही, क्योकि जल बिल्कुल पृथक् चीज है और रेतीली जमीन बिल्कुल पृथक् चीज है। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि किसी पृथक् वस्तुके आकारसे किसी पृथक् वस्तुका ज्ञान हो जाय ? क्या घडेके आकारसे घडेसे भिन्न कपडे आदिकका भी ज्ञान हो जाता है ? क्या कोई कपडा घडेके रूपसे भी प्रतिभास होता है ? अन्यके आकार

से-अन्यका ग्रहण नही होता है। तो विपर्ययज्ञानमे भी यह बात नही बन सकती कि जो जलके आकारसे रेतीली जमीनका ग्रहण हो जाय। जैसे रस्सीको साँप जाना तो इस विपरीत ज्ञानमे क्या सर्प सर्पके आकारसे रस्सीका ग्रहण हो रहा है? शकाकार इसका प्रतिषेध कर रहा है। यद्यपि कोई तीसरा आदमी सुने तो वह ठीक कहेगा कि हाँ सर्पके आकारसे रस्सीका ही तो ग्रहण हो रहा है, किन्तु जो जानने वाला है उसके ज्ञानमे तो रस्सीकी सुध भी नही है कि यह रस्सी है। विपरीत ज्ञानमे जिस पदार्थके बारेमे उल्टा ज्ञान चल रहा है उस पदार्थकी सुध भी नही रहती। सशयज्ञानमे तो कभी उसकी भी सुध हो सकती है कि यह रस्सी है या साँप है। विपरीतमे तो यथार्थ वस्तुकी सुध होती ही नही है। कभी-कभी तो सशयज्ञानमे भी पदार्थकी सुध नही होती। जैसे पडी तो है सीप और सदेह यह करें कि यह चाँदी है कि काँच है, सीपकी बात ही न करे ऐसा भी सशय हो सकता है पर विपर्ययज्ञानमे तो पदार्थकी सुध होती ही नही है। किसी उल्टी चीजका ज्ञान होता है, तो जैसे घटके आकारसे पट आदिक का ग्रहण नही देखा जाता इसी प्रकार जलके आकारसे रेतीली जमीनका ग्रहण नही होता।

निरालम्बन बताकर विपर्ययज्ञानका अभाव सिद्ध करनेका पक्ष—विपर्ययज्ञानके विषयकी बात कही जा रही है। विपर्ययज्ञानका कोई विषय ही नही बनता। तो ये जल आदिक विपर्ययज्ञान निरालम्बन है। इनका कोई आधार नही है। निराधार ज्ञान कोई चीज ही नही है, फिर क्यों प्रमाणका यह स्वरूप बना रहे हो कि जो सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका विरोधी हो ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। इस प्रकार विपर्यय ज्ञानके स्वरूपका खण्डन करने वाला यह दार्शनिक विपर्ययज्ञानका स्वरूप कह रहा है।

विपर्ययज्ञान न मानकर अख्यातिमात्र माननेसे व्यपदेशके अभावका प्रसङ्ग—इसपर आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारी ये बातें लगती तो बडी सुन्दर हैं पर ये तभी तक सुन्दर लग रही हैं जब तक इनपर कुछ विचार नही किया जाता। देखो यदि विपर्ययज्ञान कुछ नही होता तो किसी भी विशेषरूपसे जो व्यपदेश किया जा रहा है उसका अभाव हो जायगा। नही तो विपर्ययज्ञान तो गुमसम रहा, कुछ कल्पना ही क्यो उठाते? किसी भी पदार्थमे किसी दूसरे पदार्थ विषयक विकल्प भी हो तो व्यपदेश तो कुछ हुआ, नाम तो कुछ धरा गया। व्यपदेशका मोटा अर्थ है कुछ नाम तो धरना। जिस ज्ञानमे कुछ भी प्रतिभास न हो वह ज्ञान किस विशेषण द्वारा आप व्यपदिष्ट करेंगे? जिस ज्ञानमे पदार्थ नही झलक रहा उस ज्ञानका कुछ व्यपदेश नही बन सकता, उसका नाम ही नहीं धरा जा सकता है। विपर्ययज्ञानमे कुछ प्रतिभास हो रहा है तब उसका नाम धरा जा रहा है कि यह विपर्ययज्ञान है। तुम उसे अख्याति नामसे कहते हो कि यह अख्याति है विपर्यय कुछ नही है अर्थात् पदार्थ झलक

मे नही आता, यह विपर्ययज्ञान तुम बता रहे हो। तो कुछ तो व्यपदेश किया। इससे ही सिद्ध हो गया कि वह कुछ चीज तो है। चाहे उसे अख्याति नामसे कहो चाहे विपर्यय नामसे कहो।

विपर्ययज्ञानका परिणाम—परपदार्थ है कुछ, और जाननेमे आया कुछ ऐसा हुआ करता है, इसको कोई मना नही कर सकता। और इस ही आधारपर तो यह सारा ससार बन रहा है। यह सब विपर्ययज्ञानका ही तो फल है कि इतने प्रकार की योनियोमे जन्ममरण ये सब हो रहे हैं तो ये सब विपर्ययज्ञानसे ही हो रहे हैं। आत्मा तो है ज्ञानानन्दस्वरूप और मान रहे देहरूप, मान रहे है अपनी पोजीशनरूप तो यह विपर्ययज्ञान होना इसीपर तो यह सारा ससार टिका हुआ है। देखिये यह सारा ससार उल्टे ज्ञानपर टिका है। सही ज्ञानसे तो ससार मिटता है। कितने ही लोग कहने लगते कि साहब ! साधु, त्यागी व्रती अगर सभी लोग बन जायें तो फिर ससार रहेगा कैसे ? हम तो ससारपर बडी करुणा करके आसक्त हो रहे है। यो ससारके प्रति लोग अपनी बडी दया दिखाते हैं। (हसी) तो यह ससार उल्टे ज्ञान पर टिका हुआ है। तुम उस विपर्यय ज्ञानको क्या माना करते हो ? विपर्यय ज्ञान है कुछ विपर्ययज्ञान है कुछ चीज और जो ज्ञान विपर्यय ज्ञान विरोधक हो अर्थात् विपर्यय ज्ञानका निषेध करे ऐसा निर्णय करने वाला ज्ञान सच्चा ज्ञान है और वह प्रमाणभूत है।

विपर्यय ज्ञान न माननेपर सुप्त और भ्रान्तमे विशेषताके अभावका प्रसग—यदि विपर्ययज्ञान नामकी कुछ चीज न हो तो एक विपरीत ज्ञान करने वाला पुरुष है और एक सोया हुआ पुरुष है। इन दोनोमे कुछ फर्क है या नही सो बताओ ? यदि अख्यातिका ही नाम विपर्ययज्ञान हो अर्थात् कोई पदार्थ झलकमे न रहे इसको यदि तुम विपर्ययज्ञान कर रहे हो तो जो सोया हुआ मनुष्य है उसकी भी अख्याति बन रही है अर्थात् कुछ उसकी भ्रममे ही नही है और ऐसे ही मानते हो इस जगनेवाले विपर्ययज्ञान करनेवाले पुरुषको कि वहाँ भी अख्याति है, मानो कुछ पदार्थ झलकमे नही आ रहे ऐसी स्थिति उसकी भी माने तो फिर उन दोनोमे फर्क क्या रहा ? और फर्क स्पष्ट सबको विदित है। सोया हुआ पुरुष और उल्टा ज्ञान करने वाला पुरुष क्या ये दोनो एकसे बेहोश हैं ? बेहोश हुएको तो कुछ भान ही नही और उल्टा ज्ञान करने वालेको कुछ भान तो है। सो विपर्ययज्ञान है एक ज्ञानका रूप और वह है झूठा। उसका निषेध करनेके लिए व्यवसायात्मक शब्द दिया है कि जो ज्ञान निश्चयात्मक हो, सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका खण्डन करने वाला हो वह ज्ञान प्रमाण होता है।

सुप्तसे भ्रान्तमे प्रतिभासमान अर्थकी विशेषता—सोये हुए मनुष्यसे विपरीत ज्ञान करने वाले मनुष्यमे कुछ विशेषता है या नही सो बताओ जरा ? एक आदमी सोया हुआ है खूब खुर्राटे ले रहा है, मुर्दा जैसा बन रहा है, हलन चलन जरा

भी नहीं और एक पुरुष नहीं बैठा हुआ रस्सीको साप जान रहा है, यह विपरीत ज्ञान कर रहा है तो इस विपरीत ज्ञान करने वालेमे सोये हुए पुरुषकी अपेक्षा कुछ विशेषता है या नहीं। लगता है ना कुछ फर्क। वह क्या फर्क है ? वहाँ कुछ प्रतिभास ही नहीं हो रहा सोये हुएमे और इस जगते हुएको यद्यपि रस्सीमे सापका ज्ञान हो रहा है। तो प्रतिभासमान अर्थके सिवाय और विशेषता क्या बतावोगे ? यही तो बतावोगे कि सोये हुए पुरुषमे कुछ प्रतिभासकी विशेषता नहीं है और इस पुरुषमे कुछ प्रतिभास हो रहा है यह विशेषता है। वो जो कुछ भी प्रतिभास हो रहा हो वही विपर्ययज्ञानका आलम्बन है, वह ज्ञान सत्य है या असत्य है यह तो बादके निर्णय करनेकी चीज है। लेकिन विपर्यय ज्ञानमे विषय क्या है ? तो जो कुछ भी प्रतिभास हो रहा हो वही उसका विषय है। तो यह कहना तुम्हारा अयुक्त है कि विपर्यय ज्ञान कुछ चीज नहीं है, अख्यातिका ही नाम विपर्यय है।

विपर्यय ज्ञानमे भी दृढताकी वृत्ति—अख्यातिका अर्थ है अ मायने नहीं, ख्याति मायने झलक। पदार्थका कुछ बोध न हो उसका नाम अख्याति है। सो विपर्यय ज्ञान अख्याति रूप नहीं है, किन्तु यहाँ भी उटकर कोई चीज ज्ञानमे आ रही है अब जो ज्ञानमे आ रहा वह वैसा नहीं है यह बात एक अलगसे सिद्ध करेंगे पर विपर्यय ज्ञान कुछ चीज है और उसमे प्रतिभास हो रहा है कुछ न कुछ। जैसा सम्यग्दृष्टिका ज्ञान मजबूत है ऐसा ही विपर्यय ज्ञान करने वालेका वह विपर्यय ज्ञान मजबूत है। जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानमे कोई शङ्का नहीं रखता ऐसे ही उल्टा जानने वाला पुरुष अपनी जानी हुई बातमे रच शङ्का नहीं रखता। तुम ऐसे ठोस ज्ञानका कैसे निषेध कर रहे हो। विपर्यय ज्ञान कुछ है। विपर्यय ज्ञानीको कोई कितना ही समझाये तो भी वह अपना लक्ष्य नहीं छोडता। उसके तो बडा तेज निश्चय हो रहा है। इतनी बात जरूर है कि जैसा पदार्थ है तैसा उसका ज्ञान नहीं है बस इतनी सी बातीपर जीवकी इतनी बडी विडम्बना हो रही है।

फिरने किसीकी बातपर ध्यान न दिया और जो रास्ता दक्षिण दिशाको जा रहा था उसीसे चल दिया। जब बडी दूर जाकर कोई गाव मिला तो वहाके लोगोने बताया कि तुम यहां कहा आ गये। उस गावका रास्ता तो तुम जिस गावसे अभी गुजर कर आ रहे हो उस गावसे पूरब दिशाको जाता है। वहा लौटकर जावो तब उस गावसे पूरब दिशाको जो रास्ता आ रहा है उससे चले जाना।

विपर्ययज्ञानमे दृढतापूर्ण हठ—तो भैया! विपर्यय ज्ञानमे भी निर्णय जैसी हठ रहती है। वह उसके खिलाफ कोई दूसरी बात मानना ही नही चाहता। इन मिथ्यादृष्टि जीवोको एक ऋषिने क्या, पचासो ऋषियोने समझाया है। ये जो ग्रन्थ हैं ये जीते जागते ऋषी ही तो हैं। उनकी यह कृति है, जैसे लोकमे कहते है किसीसे कुछ विशिष्ट उपकारका काम हुआ तो लोग कहते हैं ना, कि वह यहाँ रहा नही, पर वह अमर है। ऐसे ही वे ऋषी जन अब रहे नही, पर उनकी इन कृतियोसे वे अमर हैं। अनेको ऋषियोने समझाया कि हे आत्मन्! तू अपने आपको पहिचान, यह घर तेरा घर नही है, तेरा घर तेरा अभिन्न स्वरूप आत्मप्रदेश है। अनेक ऋषियोने समझाया, तू देहसे भी न्यारा है, इन विषयोसे तेरा कल्याण नही है, ये विषय दु खके देने वाले हैं लेकिन ये मिथ्यादृष्टि किसीकी भी नही मानते और शायद यह भी सोचते हो कि ये सब मुझे बहका रहे है। हमारे सब प्रकारके बढिया साधन है, स्त्रीपुत्रादिक आज्ञाकारी है इन ऋषि सतोको किसी बातकी हमसे ईर्ष्या हो गयी है सो ये हमारे बिगाडकी बात कह रहे हैं।

विपर्ययज्ञानमे निरालम्बनता असिद्ध होनेसे विपर्ययज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि और विपर्ययज्ञानके परिहारकी शिक्षा—विपर्यय ज्ञानमे तो ऐसी दृढता रहती है, रहती है विपरीत। जो विपर्ययज्ञान इतनी हठ रखता है उस विपर्ययज्ञानके स्वरूपको तुम मना कर रहे हो कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही है, केवल अख्याति मात्र है। अख्यातिका ही नाम विपर्यय नही है, किन्तु तत्त्व तो हो कुछ और प्रतिभासमे आया अन्य कुछ, ऐसा प्रतिभासमे आने वाला जो कुछ भी विषय है वही विपर्ययज्ञानका आलम्बन है। विपर्ययज्ञान निरालम्बन नही है, विपर्यय ज्ञान है और उस विपर्ययज्ञानका निषेध करनेके लिए व्यवसायात्मक शब्द दिया है जो ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय कराये सो ज्ञान प्रमाण है, अनिर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण नही होता और विरुद्ध भी निर्णायक ज्ञान करिये तो वह ज्ञान भी प्रमाण नही होता। तात्पर्य यहा यह है कि जो पदार्थ जहाँ जैसा है उसको वैसा समझले तो यह सम्यक् प्रकाश आपके ससार-सकटोका विनाश करेगा, जो विपरीत ज्ञान है वह तो ससारमे रुलानेका ही कारण है, उसे छोडे और सम्यग्ज्ञानका आश्रय करे।

अख्यातिमात्रका अभिप्राय करके विपर्यय ज्ञानके निराकरण करनेका निराकरण—प्रमाणका स्वरूप है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान

प्रमाण है। इसके समर्थनमे इस तृतीय सूत्रमें यह बात बतायी गई है कि ऐसा समर्थ ज्ञान जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ है। प्रमाणभूत है। वह ज्ञान निश्चयात्मक होता ही है क्योकि वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका परिहार करता है। यह स्पष्टतया स्याद्वाद सिद्धान्तमे बताया है इसका विरोध करना है जिस दार्शनिकको उसे कुछ न कुछ कहना तो चाहिए ही। तो इस प्रकरणमे एक दार्शनिक यह कह रहा है कि विपर्यय ज्ञान नामकी कोई चीज ही नही है फिर किसका निषेध किया जाय ? कैसे निर्णायक माने और किसे प्रमाण माना जाय। सो विपर्यय ज्ञानके स्वरूपके प्रतिषेधमे अख्यातिवादने अपना मतव्य रखा था उसका तो निराकरण किया। अख्यातिका नाम तो विपर्ययज्ञान है नही। अख्यातिसे उसका मतलब है कुछ भी बात झलकमे नही आना सो ही विपर्यय है, किन्तु ऐसा तो है नही। कुछ न कुछ तो प्रतिभासमे आता ही है मात्र ज्ञानमे। जैसे रस्सीमे सापका ज्ञान हो गया तो ज्ञाता को कुछ तो प्रतिभासमे आया है। क्या कुछ भी प्रतिभासमे न आये और वह उछले कूदे ? दूसरेको बुलाये, इतनी बडी कठिन कवायत अख्यातिसे हो जायगी। फसा पडा है और अहितकारी वस्तुको उसने समझा है कि यह है इसलिये डरता है। तो अख्यातिका नाम तो विपर्यय है नहीं।

विपर्ययज्ञान न मानकर असत्ख्याति मात्रके मन्तव्यपर विचार—अख्यातिका निराकरण सुनकर एक क्षणिकवादी, कोई सिद्धान्तवादी बडे खुश होकर कह रहे हैं कि तुम्हारी बात कहाँ ठीक है ? अख्यातिका नाम तो विपर्यय नही है मगर असत्ख्यातिका नाम विपर्यय है। असत्ख्यातिसे भाव इसका यह है कि कुछ सत् नही है, ऐसे असत्की ख्याति हो रही है। यद्यपि ऐसा कहना ज्यादा दोषयुक्त नही है क्योकि जैसे पडी तो सीप है, जान चाँदी रहे हैं तो जिस चाँदीकी उन्हे ख्याति हो रही है, जानकारी हो रही है वह चाँदी तो है नही, वहाँ तो सीप पडी है। इसलिए असत् की तो ख्याति है किन्तु इसका मतलब असत्को पररूपसे मानकर कहनेका नही है सर्वथा असत् जो कुछ है ही नही उसकी ख्याति कही जा रही है। विपरीत ज्ञानमे भले ही रस्सीमे सर्पका ज्ञान हो और सर्प वहाँ है नही, मगर सर्प दुनियामे हुआ तो करते हैं। और, जो प्रतिभात होता है वह सर्पाकारेण प्रतिभात होता है न कि असत्रूपेण प्रतिभात होता है, सर्वथा असत्की ख्याति तो नही है, ख्यातिका अर्थ है जानकारी। जो नही है उसकी तो जानकारी है मगर उसमे भी कुछ प्रतिभात तो है। तो ऐसी असत्ख्याति यह नही मान रहा किन्तु सर्वथा असत् किसी रूपमे भी सत् न समझकर असत्ख्याति कह रहा है।

असत्ख्यातिवादीका अभिप्राय—इस शङ्काकारने अपना यह पक्ष पोषण किया है कि यद्यपि विपर्ययज्ञानमे कुछ प्रतिभात तो हुआ, अख्यातिवादी तो प्रतिभास भी नही मानता था। पर विपर्ययज्ञानमे जो प्रतिभासमान अर्थ है उसका यदि विचार

करें तो सत्रूप तो वह है नहीं। जैसे रस्सीमें सर्पका प्रतिभास हो तो वहाँ सर्प सत् तो है नहीं, सर्प तो मौजूद नहीं है। तो वह अब सत्रूप नहीं रहा तो असत्की ही तो जानकारी हुई, इसलिए असत्‌ख्यातिका नाम विपर्ययज्ञान है। विपर्ययज्ञान और कुछ चीज नहीं है। और भी भ्रमको, जैसे चाँदीका भ्रम हुआ तो सीपके टुकड़ेमें सीपका तो प्रतिभास हो नहीं रहा, किन्तु चाँदीका प्रतिभास हो रहा है। और चाँदीका आकार वहाँ है ही नहीं उस स्थलपर। जहाँ विपर्यय ज्ञान बन रहा है वहाँ चाँदी है नहीं। सो असत्की ही ख्याति हुई तो असत्की ख्यातिका ही नाम विपर्यय ज्ञान है। वह और कोई भिन्न चीज नहीं है जिसके निषेधके लिये तुम व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण बतला रहे हो।

असत्ख्यातिवादकी अयुक्तता—असत्ख्यातिवादके निराकरणमें इस समय जैन सिद्धान्तसे निराकरण न करके सांख्यसिद्धान्तसे निराकरण कर रहे हैं। ऐसा होता है कि जिस बातको स्याद्वाद भी न मानता हो, सांख्य भी न मानता हो तो सांख्योंसे ही कह दिया भाई तुम जवाब दे दो। तो सांख्योंकी ओरसे जो जवाब होगा वह कुछ कुछ इष्ट स्याद्वादको भी है क्योंकि जो पक्ष निराक्रियमाण हो रहा है उसका निराकरण दोनोंको इष्ट है। सांख्य भी असत्ख्याति नहीं मानता और स्याद्वाद भी सर्वथा असत्ख्याति नहीं मानता तो असत्ख्यातिके निराकरणमें कहा जा रहा है कि देखो यदि सर्वथा असत्की ख्याति कहते हो तो यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है क्योंकि सर्वथा असत् है वह आकाश पुष्पकी तरह असत् ही है, उसका प्रतिभास क्या ? जैसे कोई मजाकमें औषधि बताता है कि देखो आकाशकी तो छाल लाना और धुवांके कोपल इनकी गोली बनाकर खा लेना तो क्या कोई ऐसा कर सकता है ? अरे कहाँ आकाश से छाल लायगा और कहाँ धुवांके कोपल लायगा। तो जो असत् है उसका प्रतिभास ही कुछ नहीं है। और देखो यहाँ तो फिर भी कोपल और छाल हुआ करते हैं, गल्ती इतनी ही तो कर रहे हैं कि जिसके छाल नहीं हो सकते, जिसके कोपल नहीं हो सकते उसके बता रहे हैं। मगर तुम असत्ख्याति वाले तो मूलसे असत्की बात बतला रहे हो। तो जो असत् है उसका आकाश पुष्पादिककी तरह प्रतिभास नहीं हो सकता, किन्तु प्रतिभास तो हो ही रहा है, यदि भ्रान्त ज्ञानके विषयका प्रतिभास न होता तो तुम निषेध किसका करते। तुम्हे भी होता है, तुम्हारे घरमे पड़ी रस्सी हो और साप की जानकारी हो जाय तो तुम भी डरोगे। तो असत्ख्यातिका नाम विपर्ययज्ञान नहीं है।

सर्वथा असत्की ख्याति होनेकी असंभवताके कारण—यदि असत्की जानकारीका नाम विपर्यय ज्ञान कहोगे तो असत् तो असत् ही है। असत् तो एक प्रकारका ही है, लेकिन विपर्यय ज्ञानमें तो विचित्र विचित्र भ्रम हो रहे हैं। तो असत्की यदि जानकारी है तो विचित्र विचित्र भ्रम न होना चाहिए। असत् तो एक ही तरह है। जैसे एक अभाव प्रमाणवादी हैं वैशेषिक, उनका यह कहना है कि जैसे आंखसे

निरखा और पदार्थ दीखा, समझमे आया तो जैसे वह प्रमाण है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है इसी तरह पदार्थका अभाव ज्ञात हो तो अभाव भी एक प्रमाण है। जल्दी सुननेमे तो कुछ सही सा जचता है कि हाँ अभाव भी प्रमाण होता है। किसीने कहा कि हाल मेसे चौकी उठा लावो। वह हालमे गया, ढूंढ आया, चौकी न मिली तो लौटकर कहता है कि वहाँ तो चौकी नही है, चौकीका अभाव है। तो तब वह पूछता है कि तुमने अच्छी तरह देखा था कि चौकीका अभाव है? वह कहता है हाँ हमने खूब देखा वहाँ चौकीका अभाव है। तो यह यो बतावो जरा कि चौकीका अभाव भी क्या आखोसे दिख जाता है? वहाँ चौकी रहित हाल देखा इसका नाम चौकीका अभाव है। यही सिद्धान्त है किन्तु चौकीका अभाव चौकी रहित हालके सद्भावरूप न माना जाय फिर प्रमाण कहो तो यह बात अयुक्त है। किसीसे तुम कहो देखो यह घडी कितनी अच्छी है। दिखा तो रहे हैं चस्माघर और कहते हैं कि देखो यह घडी कितनी सुन्दर बनी है। तो आप कहेंगे कि कहाँ है यह घडी। घडी असत् है तो इस प्रकरण मे घडीका अभाव चस्माघरके सद्भावरूप पडा है, जिसमे हम घडीका आरोप कर रहे हैं। वह वस्तु चस्मा घर है तो घडीका अभाव चस्माघरके सद्भावरूप पडा। सर्वथा अभाव कोई वस्तु नही है। इसी प्रकार या असत्ख्यातिवादी सर्वथा असत्की ख्याति करना चाहता है कि विपर्यय ज्ञानमे सर्वथा असत्की जानकारी हुई।

असत्ख्यातिके प्रतिविधानमें भ्रान्तिके नानात्वमे दो विकल्पोसे प्रश्न— यहाँ उसका प्रतिविधान कह रहे हैं कि जो सर्वथा असत् है उसका प्रतिभास नही हो सकता। और सर्वथा असत्का प्रतिभास भी हो तो वह एकरूप होगा। अभाव अभाव सब एकरूप है। चाहे घडीका अभाव कहो चाहे मनुष्यका अभाव कहो सब एक रूप हो जायगा। और एक रूप हो जानेसे यह भिन्न भिन्न विपर्यय ज्ञान न होना चाहिए। होता है ना? किसीको सीप चादी जची, किसीको सीप काच जची। इस ही आत्मा को कोई शरीर मानता है तो कोई एक पृथक् जीव मानता है, कोई मन मानता है, कोई ईश्वरका अंश मानता है तो कोई ईश्वरका समग्र अन्त स्वरूप मानता है। उनमे कुछ सत्य है, कुछ असत्य है तो विचित्र प्रतिभास तो हुआ किसी पदार्थके सम्बन्धमे, यदि असत्की जानकारीका ही नाम विपर्ययज्ञान होता तो भिन्न-भिन्न भ्रम न होना चाहिए था, क्योकि बतावो कि असत्की ख्यातिमे असत्ख्यातिवादके माननेपर ये जो भिन्न-भिन्न नाना भ्रम हो रहे हैं, विचित्र ज्ञान हो रहे है यह एक पदार्थगत विचित्रता ज्ञात होती है या ज्ञानगत विचित्रता ज्ञात होती है?

असत्ख्यातिवादमे भ्रान्ति वैचित्र्यके अभावका प्रसङ्ग—जैसे पडा तो है है भोडल और उसको देखकर आपने तो यह ज्ञान किया कि यह सीप है, दूसरेने यह ज्ञान किया कि यह काच है, तीसरेने यह ज्ञान किया कि यह चाँदी है तो ये जो नाना तरहके विपरीत ज्ञान हो रहे हैं विचित्र विचित्र जो बोध हो रहे है ये पदार्थकी विचि-

'नताएँ ज्ञानमे आ रही हैं या ज्ञानकी विचित्रता ज्ञानमे आ रही है ? पदार्थकी विचित्रता भी असत्ख्यातिवादके अभिप्रायसे भ्रान्त ज्ञा मे आ नही सकती क्योंकि तुमने माना असत्ख्यातिको और असत् एक ही तरहका है । अर्थ तो वहाँ मौजूद ही नही, तो असत्ने विचित्रता क्या ? जो चीज हो उसमे तो नानापन है और न का नानापन क्या ? जैसे कोई पुरुष कहे कि देखो हमने जान लिया कि इन वस्त्रोमें चोर कौन है । कोई पूछे अमुक चद है ? न, अमुक लाल है ? न अथवा अमुक प्रसाद हैं ? न, तो सब मे न का उकर आये, तो इस न मे नानापन तो कुछ नही बचा । "न" तो अभाव रूप पड़ा, लेकिन यहा भी नानापन जच रहा है कि अमुकका न किया, अमुकका निषेध किया । यहा भी न का किसी सत्से सम्बन्ध है । अभावका सत्से सम्बन्ध होता है । सर्वथा असत्में न सद्भावकी बात कह सकते और न अभावकी बात कह सकते ।

अभावोकी अन्यसद्भावरूपता अभाव चार प्रकारके होते हैं - प्रागभाव प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव । प्रागभावका अर्थ है—प्राक् मायने पहिले, अभाव मायने न होना । जैसे घडा है और उसकी फूटकर खपरियाँ बनेंगी । पर अभी घडा फूटा नहीं है, और घडा फूटता जरूर है, उसकी आखिरी चीज है खपरिया बनना । खपरियोका उस समय तो अभाव है ना । तो खपरियोका जो अभाव है वह घडेके सद्भावरूप पडा । तो खपरियोका प्रागभाव है वह घडेके सद्भावरूप है । कोई घडाको बताकर कहे कि देखो यह खपरिया है तो कोई कहे कि कहाँ है खपरिया ? तो यहाँ खपरियोका अभाव घडा रूप पडा । सर्वथा असत् नहीं रहा यहाँ है प्रागभाव । और, जब घडा फूटा तो खपरिया बन गई । कोई कहे कि देखो यह घडा है, इसमे जल भर लावो तो वह कहता है कि कहाँ है घडा ? तो यह घडेका अभाव खपरियारूप पडा यही है प्रध्वसाभाव । और, कोई समूचे घडेको उठाकर कहे कि देखो यह कपडा कितना अच्छा है तो कोई कहता है कि कहाँ है कपडा, यह तो घडा है । तो वहाँ कपडेका अभाव घडेका सद्भावरूप पडा यही है अन्योन्याभाव । और, कोई जीवको पुद्गल कहने लगे, पुद्गलको जीव कहने लगे, अजीवको जीव कहने लगे तो कहते हैं कि कहा है यह जीव ? तो यहाँ यह जीवका अभाव अजीवके सद्भावरूप पडा, यह है अत्यन्ताभाव । तो अभाव किसी न किसीके सद्भावरूप हुआ करता है ।

विपर्यय ज्ञानमे विपरीत सत्की ख्याति—विपर्ययज्ञानमें जाना तो है रस्सीको साप, मगर जो जाननेमे आया है साप तो वहाँ नहीं है मगर वह सर्वथा असत्रूप नही है । अन्यथा उस भ्रान्त ज्ञान करने वालेके चित्तमे सर्पका आकार नही आ सकता और फिर घबडा नही सकता । ये जितनी विभिन्नताएँ देखी जाती हैं उस ही एक भोडलके प्रति कोई काच, कोई चादी, कोई सीप मानता रहे तो ऐसे जो विचित्र नाना विपर्ययज्ञान हो रहे हैं यह विचित्रता तुम्हारे विपर्ययज्ञानके असत्ख्याति में अर्थगत तो हो नही सकती, असत्की ख्यातिमें असत् तो एक ही रूप कुछ कल्पना

रहेगी अर्थका तो असत्त्व है, विचित्रता किसकी। असत्ख्यातिवादियोसे कहा जा रहा है कि सबके ज्ञानमे भिन्न-भिन्न तो ज्ञान उठ रहे है तो क्या यह विचित्रता उनके ज्ञान की है। उनके ज्ञानकी ही यह विचित्रता है तो भाई ज्ञानगत विचित्रता तो तब हो जब असत्का ज्ञान नाना रूप हुआ करता हो। तुम तो असत्ख्याति कह रहे ना तो असत्का ज्ञान तो समस्त एक ही एक रूप है। नाना जितने है सब एक है। हाँ मे विचित्रता हो सकती है पर 'न' मे क्या विचित्रता। तो असत्ख्यातिका स्वरूप तुम्हारा सिद्ध नहीं होता। प्रमाणप्रसिद्ध यह अर्थ ही जो कि कुछ विचार करनेपर निकट जाने पर सही समझमे आयगा कि यह तो भोडल ही है, वह ही भोडल अनेक पुरुषोको नाना रूप प्रतिभात हो रहा है। असत् नानारूप प्रतिभात नही हुआ करता। पदार्थ ही नानारूप प्रतिभात हो सकता है।

प्रसिद्धार्थख्यातिके अभिप्रायसे असत्ख्यातिवादके निराकरणका प्रयास—इस असत्ख्यातिके निराकरणमे साख्य और स्याद्वादवादियोकी मित्रता चल रही है क्योकि असत्ख्यातिमात्रके विरोधमे स्याद्वादको जो इष्ट है वैसा ही उन्हे भी इष्ट है। फिर भी जिसके अभिरुचिकी जो बात होती है उसकी गन्ध आ ही जाती है। तो यहाँ असत्ख्यातिका निराकरण तो कर रहे है, पर प्रसिद्धार्थख्यातिमात्र विपर्ययज्ञान है ऐसा सिद्ध करनेके लिए कह रहे है, और इनका यह कहना है कि विपर्ययज्ञानमे भी सद्भूत पदार्थ जानकारीमे आया और वह सद्भूत क्या है? जो कुछ हमारे विचारमे आया वह सब सही है क्योकि प्रतीतिके सिवाय अन्य कुछ और वस्तु विचार नही होता। प्रतीति अबाधित है। देखो जो जानकारीमे आया वह तो सही है।

प्रसिद्धार्थख्यातिवादकी मान्यताका आधार—साख्य भी असत्ख्यातिका निराकरण कर रहा है। सो केवल असत्ख्यातिके निराकरणके लिए थोडी स्याद्वादकी एकमति थी, लेकिन जब सत्कार्यवादी स्वरूपसीमासे आगे बढने लगे तो स्याद्वादका वह प्रतिद्वन्दी बन गया। प्रसिद्धार्थख्याति जो कुछ ज्ञानमे आता है वह सद्भूत अर्थ है। रस्सीको जिसने साप जाना है तो उसने तो सत् जाना है, असत् नही जाना है। मेरे ज्ञानमे जो आया मेरे लिए वही सत् है। जैसे किसी पुरुषकी स्त्री गुजर जाय और उसे हो उस स्त्रीसे बडा स्नेह तो वह पुरुष यह कहता है कि मेरी तो दुनिया लुट गई। मेरी भी नही कहता, यो कहता है कि दुनिया लुट गई। अब सुनने वाले लोग सोचते है कि दुनिया कैसे लुट गई? अरे सोचने वाले सोचें मगर जो जान रहा है, जिसका गुजर गया इष्ट उसके ज्ञानकी ओरसे देखो तो पूरी दुनिया लुट गई है। ऐसे ही यह प्रसिद्धार्थख्याति वाले यह कह रहे हैं कि विपर्ययज्ञानमे भी सद्भूत अर्थ आ रहा है। जो है सो ही आ रहा है और वह सच है, इस तरह यह प्रसिद्धार्थख्यातिको विपर्ययज्ञान कहकर विपर्ययज्ञानका निषेध कर रहे है ताकि स्याद्वाद द्वारा कहे गए प्रमाण का रूप सिद्ध नही हो सके।

प्रसिद्धार्थख्यातिका अभिप्राय—सत्कार्यवादमे विपर्ययज्ञानके एवजमें प्रसिद्धार्थख्यातिको माना है यह प्रसिद्धार्थख्याति क्या है ? जो प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थ है उसकी ख्याति हुई है, ज्ञानमे जो कुछ आया है उस पदार्थकी जानकारी होती है इसका नाम है प्रसिद्धार्थख्याति । यह केवल विपर्ययज्ञानमें ही लागू नहीं किन्तु समस्त ज्ञानो मे प्रसिद्धार्थख्याति लागू है । इस सिद्धान्तका यह मंतव्य है कि ज्ञानमे जो कुछ भी झलकता है बस वही सत्य पदार्थ है, प्रमाणसिद्ध है चाहे रस्सीका साप झलके चाहे रस्सीका रस्सी ही झलके, दोनो ज्ञान बराबरीके हैं । इसके अभिप्रायमे बाह्य पदार्थों कुछ मतलब ही नहीं है, जो कुछ है वह विचारसे है किसी भी तत्त्वका खण्डन इस मंतव्यमें है ही नही । हम किसका खण्डन करें ? जिसका खण्डन करेंगे वह कुछ विचार ही तो बनेगा और उस विचारमे जो कुछ झलकका हो वही तुम्हारे विचारका विपय है । यहाँ सत्य और असत्यकी पूछ नही है । जो प्रतीतिमे आया, जो समझमे आया सो सब निर्दोष सत्य है, क्योकि इसका मतव्य है कि प्रतीति हमेशा अबाधित होती है । भले ही हमने सीपमें चाँदी जान ली पर जब जान रहे हैं तब तो हमारे ज्ञानमें कोई बाधा नहीं है । जो चाँदीको चाँदी जान रहे हो, जिससे वे निशङ्क हैं ऐसे ही सीपमे हम चाँदी भी जान रहे हैं तो भी निशङ्क हैं, ठीक चाँदी जान रहे हैं । हमारे लिए तो यह भी पदार्थ है ।

प्रसिद्धार्थख्यातिका अभिप्राय करके विपर्ययज्ञानका अभाव बताकर प्रमाणस्वरूप खण्डित करनेका प्रयास—प्रसिद्धार्थवादी कह रहे हैं कि एक प्रतीति में भी यदि हम कुछ बाधा डालने लगें तो सारा लोकव्यवहार खतम हो जायगा । हम हाथके तले देखते हैं और इस तलेको देखकर कहते हैं कि यह करतल है तो यह प्रतीति से ही तो कहते हैं, ऐसे ही प्रतीतिसे कोई साँप कह देता है, कोई चाँदी कह देता है । प्रतीति तो अबाधित है । करतलको जान रहे हैं वहाँ भी प्रतिभास है और रस्सीको साँप जान रहे हैं वहाँपर भी प्रतिभास है । प्रतिभासके नातेसे ही प्रमाणकी व्यवस्था है, पदार्थके नातेसे नहीं । ऐसा प्रसिद्धार्थख्याति वाले कह रहे हैं कि विपर्ययज्ञान नाम की कोई चीज ही नहीं है, फिर किसका निराकरण करनेके लिए तुम प्रमाणके स्वरूप मे व्यवसायात्मक विशेषण लगाते हो ।

प्रसिद्धार्थख्यातिवादके समर्थनमे एक शङ्काका उत्तर देनेका प्रयास—यदि कोई यह कहे कि सीपमे हमने चाँदीका जो ज्ञान किया तो चाँदीका ज्ञान करनेके कुछ देर बाद जब उसे उठाने जाते हैं तो वहाँ तो चाँदी नही मिलती । उत्तरकालमे तो इस ज्ञानके माफिक वे पदार्थ नही मिल रहे । इसके उत्तरमे प्रसिद्धार्थख्यातिवादी कहते हैं कि मत मिले, तो भी जिस समय चाँदीका प्रतिभास हो रहा है उस समयमे तो वह चाँदी है । देखिये ! इनके मतव्यमे कुछ थोड़ा सा यह आधार है कि जैसे कि लोग यह महसूस करते हैं कि हमारे ज्ञानमे यह लाभ आ रहा तो चाहे दूकानमे टोटा

भी हो मगर सुख मिलेगा नामका। जैसे कलकत्तामें दूकान है वहाँ पड गया दो लाख का घाटा और खबर आ जाये कि चार लाखका नफा हुआ है तो उसे तो वह लाभकी बात सुनकर प्रसन्नता होगी। तो लाभ क्या है ? एक दिलके विचारका लाभ है। जो चित्तमे विचार आया है, भाव आया है उसका लाभ है। ये समस्त बाहरी पदार्थ तो सब धोखा हैं, उनके समागमसे अपना कोई हित न समझे। यह ज्ञान जब ज्ञानमे आये वही सत्य है। तो किसी भी ज्ञानके बाद उस पदार्थके क्षेत्रके निकट जाकर चाहे वह पदार्थ न मिले लेकिन जिस कालमे ज्ञान हो रहा है उस कालमे तो वह पदार्थ है ही। इसमे कोई सन्देह नही।

प्रसिद्धार्थख्यातिके अभिप्रायके समर्थनमे अन्यथापत्तिका प्रस्ताव—प्रसिद्धार्थख्यातिवादी कह रहे हैं कि यदि प्रसिद्ध अर्थकी ख्यातिका सिद्धान्त नही मानते तो हम यह कह बैठेंगे कि बिजली कोई चीज नही है। मेघोमे तो बिजली प्रकाशित होती है हम कहेगे कि वह तो कोई चीज नही। क्योकि जिस कालमे हमने जाना कि बिजली है उस कालमे तो बिजली है मगर उसके बाद तो बिजली है ही नही। ऐसे ही जिस जिस समयमें हमने रस्सीमे साँप समझा तो बिजलीकी तरह हमारे ज्ञानमे साँप भी आ गया। तो जैसे ज्ञानमे आनेसे बिजली है यह हम निर्णय बनाते है ऐसे ही ज्ञानमे आनेसे साँप है यह भी हम निर्णय बनावेगे और यदि थोडी देर बाद वहाँ साँप नही मिलता तो तुम इसको झूठ बताते हो। कुछ देर बाद बिजली भी न मिले तो वह भी झूठ हो जायगी। यह शङ्काकारकी दलील है इस कारण प्रसिद्धार्थख्यातिको ही सत्य समझना, विपर्ययज्ञान और कोई चीज नही है। जो कुछ है तो सब प्रसिद्ध अर्थकी ख्यातिकी ही बात है, ऐसा असत्ख्यातिवादक निराकरण करनेके लिये सत्-कार्यवादीने अपना विचार रखा है।

प्रसिद्धार्थख्यातिमात्रके मन्तव्यका प्रतिविधान - इसपर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि यह तुम्हारा कहना योग्युक्त नही है कि यदि ज्ञानमे जो कुछ आया वह सब सच सच ही मान लिया जाय अर्थात् ज्ञानकी ऐसी ख्याति स्वीकार करली जाय कि इस ज्ञानमे जो जो भी आकार झलकता है वह सब यथावस्थित अर्थ ही झलकता है ऐसा माननेपर फिर यह ज्ञान भ्रान्त है, यह ज्ञान अभ्रान्त है यो दोनोकी व्यवस्था हो ही नही सकती। जो आया सो सब सही हो गया, फिर हमारा तुम्हारा भी विवाद क्या ? झगडा तो तब चलता है जब यह बात बीचमे आती है कि तुम्हारा कहना भ्रमपूर्ण है हमारा कहना भ्रमरहित है, तुम्हारा विपरीत है, हमारा सम्यक् है। यह व्यवहार तो हो ही नही सकता।

ज्ञानोत्तर कालमे अर्थके आशुविनाशकी कुयुक्तिका निराकरण—जो यह दलील दी गई थी कि जैसे ज्ञानमे बिजली आयी तो थोडी देर बाद बिजली नही मिलती है ऐसे ही थोड़ी देरको हमारे ज्ञानमे जल आ गया, तो रेतीली जमीन, पर

उसे निरखकर ज्ञानमे जल आ गया तो जैसे ज्ञानमे विजली आकार भी थोडी देर बाद बिजली नही मिलती इसी तरह ज्ञानमे जल आकार भी उसके बाद जल नही मिलता तो न मिलने दो, जल नही मिलता न सही मगर जलकी निशानी जमीनका गीला होना आदि तो मिलेगा। बिजलीकी तरह तो जलका शीघ्र विनाश कही नही देखा जाता है। जैसे यह छत बनी है, परसों पानी गिर गया था मगर आज भी उस की गिलाईसे मालूम होता है कि पानी यहाँ था बिजलीमे यद्यपि प्रकाश प्रकट है पर थोडी ही देरमे तुरन्त मिट गया तो बिजलीकी ही तरह ये जल वगैरह तुरन्त थोडे ही मिटने वाले हैं। ये मिट भी जाय, कुछ समयको सूख भी जाये तो भी जमीनका चिकना गीला रहना यह कुछ शेष रहता है कुछ समयतक, पर जहाँ मारीचिकामें रेतीली जमीनमे जलका ज्ञान किया गया वहा जल ज्ञान के बाद जब हम निकट जाते है तो कुछ तो उसके चिन्ह मिलने चाहिए थे, एक तो यह दलील तुम्हारी युक्त नही है।

भ्रान्त ज्ञानमे सबका ज्ञेय वही न होनेसे विद्युतके दृष्टान्तकी अयुक्तता—दूसरी युक्ति सुनिये। जैसे विद्युत्का दृष्टान्त दिया कि ज्ञानमे विद्युत आया और थोडी देरमे मिट गया, मिट जावो मगर जिस समय हमारे ज्ञानमे विद्युत् आयी उसी सब नगरोमे ५०० मील तककी दूरीके सारे नगरोमे सारे मनुष्योको एक साथ बिजलीका ज्ञान हुआ इसी तरह सीपमे यदि हम चादीका ज्ञान कर रहे हैं तो वहाके आसपासके सारे लोग भी चादी जानते हैं क्या ? ऐसा तो नही है। सब लोगोंके विचित्र २ ज्ञान हो रहे हैं, कोई सीपको सीप भी समझ रहा, कोई सीपको चादी भी समझ रहा, कोई काच भी समझ रहा इस कारण यह कहना अयुक्त है प्रसिद्धार्थ-ख्याति ही सब चीज है, विपर्ययज्ञान कोई चीज नहीं है।

विपर्ययज्ञानके स्वरूपके निर्णयका औचित्य—जैसे सम्यग्ज्ञानकी सिद्धि की जाती है तो वह भी एक निर्णय है इसी तरह विपर्यय ज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि करना भी निर्णय है। विपर्ययज्ञानका यह स्वरूप है इसकी सिद्धि तो करना चाहिए। जैसे पाप खोटे होते हैं, पाप न करना चाहिए। ठीक है मगर पापके स्वरूपकी सिद्धि करे तो क्या यह भी पाप है ? कोई हिंसाका लक्षण बनाये और उसको पाप सिद्ध करे तो पापको पाप सिद्ध करना क्या पाप है ? पापका करना पाप है। यह पाप है ऐसा निर्णय करे तो पाप नही है। यदि पापके स्वरूपका निर्णय नही होता तो हम छुटकारा कहासे करें। इसी प्रकार अनेक बल लगाकर हम सम्यग्ज्ञानकी सिद्धि करते हैं, इसी प्रकार विपर्यय ज्ञानको भी सिद्धि की जा रही है। विपर्ययज्ञानमें विषय विपरीत है और वह खोटा है पदार्थके अनुकूल नही है लेकिन एक विपर्ययज्ञान क्या होता है इसका निर्णय तो करना ही चाहिए। ताकि हम सम्यग्ज्ञानका यह निर्णय कर सके कि जिसमे विपर्ययज्ञान नही होता वह ज्ञान सम्यक् है।

सत्कार्यवादमे प्रसिद्धार्थख्यातिका सन्मान—सत्कार्यवादी विपर्यय ज्ञान

को नही मानते हैं, किन्तु उनका मतव्य है कि प्रत्येक ज्ञानमे प्रसिद्ध अर्थकी जानकारी होती है, विपरीतमे भी और सच्चे ज्ञानमे भी। जैसे पडी है रस्सी और भ्रम हो गया कि यह साँप है, तो उसको भ्रम प्रसिद्धार्थका ही तो हुआ है। कोई किसी देशमे कोई अनजान चीज हो उसका तो भ्रम नही होता। देखिये उस रस्सीको निरखकर ऐसा तो भ्रम नही होता कि यह मटका है। अरे जो उसके ख्यालमे बहुत बहुत बात रहती है चाहे प्रतिषेधके रूपमे और चाहे माननेके रूपमे बस उस अर्थकी ख्याति हो गयी। रस्सी देखा तो उसका प्रसिद्धार्थ जानकारीमे आ गया। किसी मनुष्यकी सकल थोडी थोडी किसी अपने मित्रकी सकलसे मिलती हो तो उस मनुष्यका दूरसे देखकर झट हमे उस मित्रकी स्मृति आ जाती है अथवा यह ज्ञान होने लगता कि यह मेरा ही मित्र आ रहा है। तो जिसमे हमारी लगन है चाहे रागसे लगन हो या जिससे हम डरते रहते हैं उसकी जानकारी झट आ जाती है। किसीकी सकल हमारे दुश्मनसे कुछ मिलती हो तो उसको देखकर हमे झट दुश्मनका बोध हो जाता है, अरे वही आ रहा है। तो जो हमारे चित्तमे प्रसिद्ध बात हो उस अर्थकी ख्याति हो गई है। विपर्यय ज्ञान कुछ नही है, ऐसा ये प्रसिद्धार्थख्याति वाले कह रहे हैं।

न्यायक्षेत्रमे हठवादकी विफलता प्रकरण तो यह है कि विपर्ययज्ञान भी चीज है और विपर्ययज्ञानका, उल्टे ज्ञानका जिसमे निराकरण बसा हो वह ज्ञान सही है पर जिसे किसीकी बातका खण्डन करनेका ही विकल्प बन गया हो तो कोई न कोई बात जबरदस्ती भी निकल दे किन्तु विद्वानोकी गोष्ठीमे गलत कहने वालेकी बात चल नही सकती। लेकिन कोई हठी हो जो स्वय अपनी बुद्धि न रखता हो, अपनी अकल कहीसे उधार लाया करता हो तो ऐसा पुरुष तो कभी मान ही नही सकता, पर यह तो एक न्यायका क्षेत्र है उसमे यह चर्चा चल रही है। जैसे एक कथानक प्रसिद्ध है कि कोई गावमें एक मुखिया था पटेल, पचायत हो रही थी किसी मामलेपर। होते-होते कोई हिसाबकी बात आ गई। थी मामूली सी बात। पटेलने कहा लो ३० यह और ३० यो ५० हो गये। लोग कहने लगे कि ३० और ३० साठ होते है। तो पटेल कहता है कि अगर ३० और ३० मिलकर ५० न होते हैं तो वे १०-१० सेर दूध देने वाली हमारी ७ भैंसे हैं ये पचोको दे देगे। अब यह बात उस की स्त्रीने भी सुन ली तो बडी उदास हो गई। पटेल जब घर पहुँचा तो उस स्त्रीको उदास देखकर पूछता है कि तू उदास क्यो है ? तो स्त्री बोली कि ये ७ भैंसें अब चली जायेगी, कलको बच्चे क्या खायेगे ? हम क्या खायेगे ? तुम्हे क्या खिलायेंगे ? पटेल बोला —ऐसा क्यो तुम्हे खयाल हुआ ? स्त्रीने कहा कि आप कह आये हैं पचोसे कि अगर ३० और ३० मिलकर ५० न हो तो हम अपनी सातों भैंस दे देंगे। तो पटेल स्त्रीसे कहता है कि तू तो निरी पगली है देखेंगे हमारी भैंसें कौन लेता है ? और जब हम अपने मुखसे कह देंगे कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो वे हमसे भैंसे लेगे ! तो अन्याय और अविवेकियोकी गोष्ठीकी तो बात ही नही। यहाँ

न्यायक्षेत्रकी बात चल रही है।

प्रसिद्धार्थख्यातिमात्रका अभिप्रायकरके विपर्ययज्ञानके स्वरूपके निरास का प्रयास प्रकरण यह है कि स्याद्वादी यह कह रहे हैं कि विपरीत ज्ञान भी कुछ होता है। जैसे सीप पड़ी हो, चाँदी जान गए तो यह विपरीत ज्ञान है। पदार्थ कुछ है और हम जान कुछ रहे है ऐसा ज्ञान हुआ करता है और ऐसा ज्ञान प्रमाणभूत नही है जिसमे उल्टा ज्ञान न हो संशय ज्ञान न हो, अनध्यवसाय न हो वह ज्ञान प्रमाण है। इसपर ये प्रसिद्धार्थख्यातिवादी यह कह रहे है कि विपर्यय ज्ञान तो दुनियामे कुछ होता ही नही। तब वह जो कुछ ज्ञानमे आता है वह प्रसिद्ध अर्थ आता है। मेरी दुनियामे मेरे ज्ञानमे, जो मेरी वासनाकी बात भरी हो प्रसिद्ध अर्थ हो बस वह ज्ञान में आ गया विपर्यय ज्ञान क्या हुआ ?

प्रसिद्धार्थख्यातिवादका निराकरण—इसके निराकरणमे कुछ युक्तिया देदी, अब एक युक्ति यह दे रहे है कि यदि प्रसिद्ध अर्थकी ख्याति ही मात्र मानी जाय और विपर्ययज्ञान सम्यग्ज्ञान इनकी कोई व्यवस्था न की जाय तो बाध्य बाधक भाव भी नही बन सकता। अर्थात् जैसे सीपको हमने चाँदी समझा तो थोडी देर बाद जब हम निकट पहुचते हैं तो यह ज्ञान होता है कि ओह! यह तो सीप ही है। तो उस समय सीप है यह ज्ञान तो बन गया बाधक पूर्वज्ञानका निषेध करने वाला और जो पहिले ज्ञान किया था कि यह चाँदी है उसका हो गया निषेध। तो बाध्य-बाधक भाव भी न बनेगा, क्योकि तुम्हारे अभिप्रायसे तो समस्त ज्ञान सत्य विषय करते हैं, तो सभी सभी सत्य हैं, बाहर खडे होकर जाना कि चाँदी है वह भी तुम्हारे यहाँ सत्य है और पास आकर जान लिया कि यह सीप है तो वह भी तुम्हारे यहा सत्य है फिर सत्य-असत्य तुम्हारे यहा सब एक हो गया फिर न निर्णयकी बात रही और न व्यवहारकी बात रही। इससे यह सिद्ध है कि विपर्यय ज्ञान कोई बोध है और उसके प्रमाणत्वके निराकरणके लिए इस तृतीय सूत्र मे यह कहा गया है कि प्रमाणभूतज्ञान निश्चयात्मक होता है, अनुमानज्ञानकी तरह संशयज्ञान आदि समारोपोंका विरोध होनेसे प्रत्यक्षज्ञानमे भी संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान आदि नही होते।

विपर्ययज्ञानस्वरूपके निरासमे आत्मख्यातिमात्रका अभिप्राय—अब ज्ञानाद्वैतवादी आकर अपना मतव्य रखता है कि अजी, क्यो विकल्पोमे पडते हो, हमारी बात सुनो! जो कुछ यह आकार प्रतिभास हो रहा है वह सब ज्ञानका ही आकार है पर अनादिकालसे अज्ञान लगा है सो यह ज्ञानका आकार बाह्य पदार्थोकी तरह मालूम पडता है। दुनियामें जो कुछ है वह सब ज्ञानका आकार है। ये भींट, चौकी, पत्थर, ईंट कुछ चीज नही हैं। और, जैसे स्वप्नमे बडे-बडे महल निरखते हैं, पेड निरखते हैं, बडे-बडे जानवर निरखते हैं तो यह बतावो कि वहाँ कोई जानवर है क्या ? वहाँ कोई महल है क्या ? वह तो एक ज्ञानका आकार है, जो वह जान रहा

है उसकी जानकारीका रूप है, चीज तो कुछ नही है। इसी तरह यहाँ भी ये सब कुछ नही है। भले ही हाथसे आप लाठी पकड़े और आपको यह लगे कि यह लाठी है तो स्वप्नमे भी ऐसा ही लगता है। स्वप्नमे भी तो आप लाठी पकडते हो तो वहाँ भी ऐसा लगता कि यह लाठी पकडे है। है कुछ नही, ज्ञानका आकार है। इसी तरह यहाँ भी यह सब ज्ञानका आकार है, चीज कुछ नही है। ऐसा मंतव्य ज्ञानाद्वैतवादी रख रहे हैं।

अज्ञान और वासनाके बाह्य अर्थोंकी विचित्रताव ताकर आत्मख्याति-मात्रके समर्थनका प्रयास आत्मख्यातिवादी कह रहे हैं कि विपर्ययज्ञान नामकी कोई चीज नही है। जो कुछ है यह सब ज्ञानका ही आकार है लेकिन लग आज सही रहा है कि यह मंदिर है, यह पुस्तक है, यह घडी है। यह सब अज्ञानकी वजहसे सही लग रहा है, है कुछ नही। अनादिकालसे जीवोके विचित्र वासनाएँ लग रही हैं और वे वासनाएँ क्रमसे लगा करती हैं। तो वासनाओके जगनेका कारण पुरुषोमे जिस २ प्रकारकी वासना जगती है उस उस आकारमे ज्ञान बनते जाते हैं और वे सब ज्ञान अपने ही आकार मात्रसे सम्वेद्य हैं। ऐसा नही है कि कोई पदार्थ ऐसा हो और ज्ञान मे फिर ऐसा आता हो, पदार्थकी ओरसे कोई मतलब नही, ज्ञानका कोई सम्बन्ध नही, जीवोकी अपनी अपनी जुदी जुदी वासनाएँ है और उस उस प्रकारके ज्ञान होते है। जैसे स्वप्न देखने वाले लोग यथा एक ही भातिका स्वप्न देखते है। पचासोने देखा तो उन सबके पचासो तरहके स्वप्न है, क्योकि जिसके जैसी वासना लगी थी उसने तो वासनाके अनुसार वैसे ही बाह्यमे पदार्थ देखा। ऐसे ही यहाँपर भी जिसके जैसी वासना लगी है वैसा हो बाह्य पदार्थोको मानकर रहता है। यह मेरा मकान है, ये मेरी दूकान है, ये मेरे रिस्तेदार है ऐसी ऐसी वासनाएँ लगी है सो बाह्य अर्थका भ्रम है, है कुछ नही इस कारण आत्मख्याति ही सब कुछ है विपर्ययज्ञान कुछ नही है।

आत्मख्यातिवादियोंका अभिप्राय - भैया ! यहाँ आत्मख्यातिके अभिप्राय मे आत्मासे मतलब आत्माका नही किन्तु ज्ञानका आत्मा जानना अर्थात् ज्ञानका निजी रूप। प्रत्येक ज्ञानमे ज्ञानका निजी रूप ही प्रतिभासमे आता है, और देखिये निश्चय-नयकी अपेक्षा तो कुछ कुछ उसकी बातसे मिलान हो रहा है ना। निश्चयनयसे हमारे प्रतिभासमे पदार्थ आता है या ज्ञेयाकार आता है। ज्ञेयाकार हमारे प्रतिभासमे आता है निश्चयसे, पदार्थकी कोई चीज नही आती। यह ज्ञान ही उस उस पदार्थाकार रूप परिणमन करके प्रतिभासमे आ रहा है। लो कुछ कुछ इसी ढगसे ही तो चले ये ज्ञाना-द्वैतवादी पहिले, पर उसे एकान्त मान लिया। इसमे आगे और कोई कुछ बाह्य ही नही है ऐसा हठ करके सीमा तोड कर कह रहे हैं ज्ञानका जो स्व आकार है ज्ञानका ही जो निजी रूप है उस आत्माकी ही ख्याति है, जानकारी है, विपर्ययज्ञान उससे अलग और कुछ नही है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादियोंने अपनी आत्मख्यातिका मन्तव्य रखकर विपर्ययज्ञानका निषेध किया। विपर्ययज्ञानका स्वरूप न रहे तो उनके निराक-

रणमे स्याद्वादियोने जो प्रमाणका स्वरूप कहा है वह खण्डित हो जाय इस भावनासे वे आत्मख्यातिमात्रको विपर्यय ज्ञान कह रहे हैं।

आत्मख्यातिमात्रका आशय— प्रमाण वह ज्ञान होता है जिसमे सशय विपर्यय और अनध्यवसाय नही होता। इस सिलसिलेमे कुछ दार्शनिक विपर्ययज्ञानका लोप कर रहे हैं कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज ही नही है, फिर तुम किसका निराकरण करनेके लिये प्रमाणके स्वरूपमे निश्चयात्मक विशेषण दे रहे हो ? इस सम्बन्धमे ज्ञानाद्वैतवादी यह कह रहे है कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही है किन्तु जो कुछ ज्ञानमे प्रतिभास होता है वह ज्ञानका ही आकार है। जानकारीमे पदार्थका कोई सम्बन्ध नही है, और जितने भी पदार्थ भी लोकमें मालूम पडते है, यह भीट है, दरी है, आग है आदिक तो ये सब ज्ञानके ही आकार हैं चीज कुछ नही हैं। इस तरह आत्मख्याति ही अर्थात् ज्ञानके स्वरूपकी प्रसिद्धि ही ज्ञानका रूप है और पदार्थ कुछ है ही नही, फिर विपर्ययज्ञानका क्या अर्थ रहा ऐसा ज्ञानाद्वैतवादी कह रहे हैं, उसका अब आचार्य प्रतिविधान करते हैं।

ज्ञानकी सविन्मात्र निष्ठता व अर्थाकारताकी अप्रसिद्धि—देखिये ज्ञान आत्मख्याति तब सिद्ध होगी जब ज्ञान केवल ज्ञानके स्वरूपमे ही निष्ठ रहे वे पदार्थ असत् है एक तो यह पक्ष सिद्ध हो और दूसरी बात यह सिद्ध हो कि समस्त पदार्थ ज्ञानके ही परिणमन है प्रतिभास हैं। जब ज्ञानकी ये दो बातें सिद्ध हो जायें कि प्रथम तो ज्ञान अपने स्वरूप मात्रके सम्वेदनमे ही रहता है और दूसरी बात यह सिद्ध हो कि जितने भी पदार्थ हैं ये सब ज्ञानस आकार है। पदार्थ कुछ चीज नहीं है। इन दो बातोकी सिद्धि होनेपर आत्मख्याति सिद्ध हो सकती है। आत्मख्याति कहो चाहे ज्ञान-स्वरूपाख्याति कहो यहाँ आत्मासे मतलब जीवका नही है किन्तु जिस ज्ञानने जो कुछ जाना है उस ज्ञानने केवल ज्ञानको ही जाना है और उसमे केवल ज्ञान ही ज्ञेय होता है, पदार्थ तो है ही नही, वह ज्ञेय क्या होगा। और, जो कुछ भी ये पदार्थ मालूम होते है कि यह अमुक चीज है यह अमुक चीज है। तो यह बात सिद्ध हो जब ये दो बातें सिद्ध हो जायें कि ज्ञान केवल ज्ञानके स्वरूप मात्रके सम्वेदनमे ही रहा करता है और ये सब पदार्थ ज्ञानके ही आकार बन गए हैं। ये दो बाते सिद्ध हो तो आत्मख्याति बने, किन्तु ये दोनो ही नही हैं।

आत्मख्यातिमात्रके मन्तव्यमे सत्यासत्यकी अविशेषताका प्रसङ्ग—यह जो माना गया कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञानके आकारको ही ग्रहण करते हैं पदार्थको नही जानते। पदार्थको जानकारी नही किया करते, केवल अपने स्वरूपका आकार ही ग्रहण करते हैं। ऐसा यदि माना गया तो भ्रान्तज्ञान और अभ्रान्तज्ञानका ज्ञानभेद न रहेगा, क्योकि पदार्थ तो कुछ माना नही और पदार्थकी कुछ जानकारी भी नही, जो कुछ जानन होता है वह ज्ञानके आकारसे ही सम्वेदन

उसकी भी प्रतीति बाहरी पदार्थ है इस रूपमे न होना चाहिए क्योंकि विपर्यय ज्ञान करे कोई हो, या सम्यग्ज्ञान करे कोई हो, उसने तो अपने ही ज्ञानके स्वरूपमे एक सम्वेदन किया है तो उसे बाहर क्यो कुछ दिखा ? बाहरमे पदार्थ स्थित है, बाहरमें ज्ञेय है इस रूपसे प्रतीति क्यो होती, वह न होनी चाहिये।

आत्मख्यातिके मन्तव्यसे बाह्यार्थमे प्रवृत्तिके अभावका प्रसग भाग आत्मख्यातिके आशयमे तीसरा दोष यह है कि जानने वाले सब अपने आपको ही जान रहे है, बाहरसे तो कोई सम्बन्ध नही रखा ना, बाहर तो कुछ इनका है ही नही ना। तो फिर बाहरकी चीजका ग्रहण करनेके लिये यह प्रवृत्ति क्यो करता है ? जब सब कुछ ज्ञानने ज्ञानमे ही ज्ञानके आकारको ही जाना, बाहर कुछ है ही नही, पदार्थ ही नही है तो फिर जानने वाले पुरुष बाहरमे किसी पदार्थको ग्रहण करनेकी कोशिश क्यो करते है ? क्योकि जो बात बाहर नही है और अस्थिर भी है उसमें प्रवृत्तिका विधान ही नही हो सकता। यह ज्ञानाद्वैतवादी इस आत्मख्यातिको अबहिष्ठ मानता है याने बाहरमे कुछ नही है और फिर ये हैं क्षणिकवादी सो उस ज्ञानको भी क्षणिक मानते हैं। तो तत्त्व तुम्हारे यहाँ स्वरूपमात्र रहा और विनीशीक रहा। बाहर तो कोई चीज माना नही, फिर अर्थोमे प्रवृत्ति क्यो हो ? रोटी बनाना, खाना, उद्यम करना ये सारी प्रवृत्तिया क्यो होगी ? ये होती हैं, इससे सिद्ध है कि ये सब पदार्थ हैं, उन पदार्थोंसे हम हित अहित मानते हैं इसलिए जो हितकारी बात है उसमें लगाते हैं और जो अहितकारी बात है उससे हटते हैं। यदि मात्र ज्ञान ज्ञानके ही आकारमात्रमे सम्वेदन करे, पदार्थ कुछ नही हो तो यह सब व्यवहार समाप्त हो जायगा। इससे आत्मख्यातिमात्र मत मानो। पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके सम्बन्धमें जैसा पदार्थ है वैसा न न जान सके तो वह विपर्ययज्ञान है।

अविद्यावश बहिष्ठताकी प्रतीति माननेपर विपर्ययज्ञानकी सुतरा सिद्धि—भैया ! सीधी सी बात है लेकिन जब कोई अपनी चतुराईकी अधिकता बगराती हो और केवल एक विरोध ही विरोध मनमे समाया हो तो ऐसे ही अनिर्वचनीय गजबमे युक्ति पाई जाती है कि जिससे साधक-साध्यका स्वरूप न बन सके। ये ज्ञानाद्वैतवादी कह रहे हैं अपने दोषके निवारणके लिए कि ये बाहरके पदार्थ सब मालूम होते हैं और यह ज्ञान बाहरमे कुछ यह है इस प्रकारसे जानता भी है लेकिन वे सब अज्ञानके आक्रमणसे ऐसा जानते हैं। अविद्याका घोर अन्धकार लगा है इस जीवमे इस कारण बाहरमे जानता है कि यह चीज है। और बाहरमे स्थितिरूपसे ज्ञान करता है कि यह चीज है और साथ ही इन पदार्थोंको स्थिर भी वह देखता है यह सब अज्ञान का माहात्म्य है। अज्ञानके उपद्रवके कारण यद्यपि तत्त्व केवल ज्ञानमात्र है और ज्ञान स्वरूपका ही आकार सम्वेदनमे आता है लेकिन अविद्याका ऐसा जोर है कि है तो यह तत्त्व अबहिष्ठ अर्थात् अन्त रहनेवाला लेकिन बहिष्ठ मानना पडता है। है तो

अस्थिर किन्तु स्थिर पदार्थ मानना पडता है यदि ऐसा कहते हो तो तुमने बहुत भला कहा। यह तो विपरीत ज्ञान है, चीज है तुम्हारी अबहिष्ठ और अस्थिर किन्तु मान रहे हैं बहिष्ठ याने बाहरमे रखी हुई व स्थिर इसीका नाम विपर्ययज्ञान है, क्योंकि तुम्हारे ज्ञानाकारसे भिन्न और स्थिर कुछ मालूम पड़ने लगा ना, है तो तत्त्व ज्ञानसे अभिन्न और है अस्थिर मगर मालूम पडने लगा और तरहका। तो इस हीको विपर्ययज्ञान कहा करते है। विपर्ययज्ञानका अपह्नव किया नही जा सकता, विपर्ययज्ञान दूर तो किया जा सकता है पर विपर्ययज्ञानके स्वरूपका निरावरण किया ही नही जा सकता। इस प्रकार इस विपर्ययज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि के प्रकरणमे आत्मख्याति मात्रका अभिप्राय ले कर जोविपर्ययज्ञानका निराकरण कर रहे थे उनका निराकरण किया।

अनिर्वचनीयार्थख्यातिमात्रका आशय करके विपर्ययज्ञानके स्वरूपके निरासका प्रयास—एक दार्शनिक कह रहा है कि विपर्यय ज्ञान जिसे तुम कहा करते हो वह विपर्ययज्ञान और कुछ नही है किन्तु एक ऐसे अर्थकी जानकारी है जो अनिर्वचनीय है जिसे न हम सत् कह सकते और न असत् कह सकते ऐसे अनिर्वचनीय अर्थकी ख्याति होना, व्यक्ति होना, यह ही मात्र है कोरा, विपर्ययज्ञान कुछ नही है। इसे कहते हैं अनिर्वचनीयार्थख्याति। इसका मतव्य है कि विपर्ययज्ञानका विषय ही सिद्ध नही होता। विपर्ययज्ञान मायने विपरीतज्ञान। पडी है सीप और जान लिया चाँदी इसीका नाम विपर्ययज्ञान है। यह दर्शन कह रहा है कि इस ज्ञानका कोई विषय ही नहीं है। क्या इस ज्ञानका विषय उपदेशगम्य है ? उपदेशगम्य भी नही है, क्योंकि तुम क्या उपदेश दोगे क्या बात बतावोगे ? देखो जो जिस ज्ञानमें प्रतिभास होता है वह उसका विषय कहलाता है ना। जैसे है तो मारीचिका रेतीली जमीनपर हो गया जलका ज्ञान तो जलका जो वहाँ ज्ञान होता है उसमे जल ही तो ज्ञानमे आ रहा है, सद्भूत या असद्भूत ! सत्भूत आ रहा तो कहते कि सत् है और ज्ञानमे आरहा है तो वह तो सच्चा ज्ञान हो गया। फिर उसे विपर्ययज्ञान क्यो कहते हो ? यदि जल नही है और फिर जल ज्ञानमे आ रहा है यो असत् यदि ज्ञानमे आने लगे तो आकाशके फूल, गधेके सीग बन्ध्याका लडका ये सब विषय वन बैठेंगे। असत्का प्रतिभास और असत्की प्रवृत्ति हुआ ही नही करती। जो रेतीली जमीनमें भी जलका ज्ञान करता है वह जल ज्ञान करके उस ओर दौडता क्यो है ? यदि सर्वथा असत् विषय आये तो प्रवृत्ति क्यो बनती है ? इससे उस विपर्यय ज्ञानमे न तो सत् पदार्थ विषयमे आया न असत्पदार्थ विषयमे आया और ऐसा भी नही है कि जो विषयमे आया वह सत् असत् दोनो रूप हो। दोनोका तो परस्परमे विरोध है इस कारण इस ज्ञानका कोई विषय ही नही वन पाता फिर विपर्ययज्ञानकी क्या कल्पना करते हो ? विपरीत अर्थ ही कुछ नही हो सका।

शकाकारद्वारा असत्के प्रतिभासमे व्यवस्थालोपकी आपत्तिका पारण—

यदि यह कहेंगे कि मारीचिकामे जो जलका ज्ञान होता है उसमे जल प्रतिभास मे नही आ रहा है और कुछ प्रतिभासमे आ रहा है तो यह बात तो एकदम अयुक्त है। यदि रेतीली जमीनमे जलका ज्ञान किया जा रहा है और प्रतिभासमे जल नही आ रहा है तो जलका ज्ञान हुआ यह व्यपदेशभी कैसे हो सकता है। विपर्ययज्ञानमे कुछ तत्त्व नही आता है। अटपट कुछ बात सी बन गई है। क्या विषय है वह अनिर्वचनीय चीज है। न सत् है, न असत् है, न उभयरूप है न अनुभयरूप है किन्तु एक अनिर्वचनीय है।

अविदितरहस्यतामे अनिर्वचनीयताकी कल्पना—देखो भैया! जैसे कुछ बुद्धि नही चलती है किसी बातके सिद्ध करनेमे तो यो कह बैठते हैं कि यह तो सब ईश्वरकी लीला है। सृष्टि कैसी बनी, कहाँसे क्या प्रारम्भ हुआ, किसने बनाया, अनेक प्रश्न होनेपर कुछ तो उत्तर देनेकी कोशिश होती है किन्तु जब युक्तिपर नही बात उतरती है तो यही कहना पडता है कि यह तो सब ईश्वरकी विचित्र लीला है। उस को तो वही जाने, दूसरा क्या समझे। बहुत समय पहिले जब रेलगाडीका विकास प्रारम्भ हुआ था उस समय देहातोमे जब रेलगाडी चले तो उसके आनेके पहिले ही उसे देखनेके लिये लोगोकी भीड इकट्ठी हो जाती थी। वे तो समझते थे कि गाडिया बैलोसे घोडोसे चला करती हैं, यह यो ही कैसे चलती है। उस समय यत्र, मशीन, इञ्जन आदिका उनके कुछ विकल्प ही न होता था। वे तो समझते थे कि इस गाडी को चलाने वाली एक काली देवी होती है और देवीमे तो बहुत बडी शक्ति होती है। जो चाहे करले। तो इसी प्रकार जब निमित्त उपादानकी बात निर्णयमे न आयी कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादानसे परिणमा करते हैं, अन्य पदार्थ निमित्त होते हैं और यह व्यवस्था अनादिकालसे चली आयी है, जब यह बात ध्यानमे न रही और इस सृष्टिको हमे बताना है कि कैसे हुई है तो उपादान और निमित्त इन दोनोकी सुध न रखकर कोई तृतीय शक्तिकी कल्पना करनी होती है और उस समय फिर अनेक प्रसग अनिर्वचनीय बन जाते हैं।

अनिर्वचनीयार्थं ख्यातिवादियो द्वारा सहेतुक अनिर्वचनीयार्थताका स्पष्टीकरण—व्यवसायात्मक ज्ञानके निराकरणके प्रसङ्गमे यह दार्शनिक कह रहा है कि विपर्यय ज्ञान तो कुछ चीज नही है। एक अनिर्वचनीय अर्थकी ही वहाँ ख्याति हो रही है। क्या रहा विषयमे? विपर्ययज्ञान जिसे तुम मानते हो वह केवल एक अनिर्वचनीयार्थख्याति है ऐसा ये दार्शनिक कह रहे है। इस बुद्धिमे जिसे स्याद्वादी विपर्यय ज्ञान कह रहे हैं इस बुद्धिमे जो कुछ अर्थ दीखा वह न तो सत् रूप है इस तरह कहा जा सकता है न असत्रूप है यह कहा जा सकता, न अन्य किसी धर्मरूप है यह कहा जा सकता, क्योकि सीपमे यह चाँदी है इस आकार वाले ज्ञानमे यह चादी है ऐसा जो ज्ञान किया तो इसमे बतलावो कि विषय क्या आया? इसपर उपदेश नही चल

सकता, इसकी सिद्धि नही हो सकती। क्योकि जो प्रतिभासमे आया है और जो स्थल पर अर्थ है उससे वह जुदी चीज है, सीप प्रतिभासमान चाँदीसे जुदी वस्तु है, ऐसी वस्तुका किसी भी रूपमे मेल–जोल करना यह तो बेकार सी बात है इसमें तो अपना समय बरबाद करना है। विपर्ययज्ञान कोई चीज नही है, इसी कारण उसका निराकरण करनेके लिये व्यवसायात्मक शब्दपर जोर देना यह भी तुम्हारा युक्त नही है।

अद्वैतकी सिद्धि बिना अनिर्वचनीयार्थख्यातिकी असभवता— इस अनिर्वचनीयार्थख्यातिके सिद्धान्तके निराकरणमे आचार्यदेव कहते है कि तुमने जो बताया है अनिर्वचनीय कई तरहका होता है या एक तरहकी जो अवक्तव्य तत्त्व है वह एक प्रकारका होता है कि नाना प्रकारका नाना प्रकारका तो वक्तव्य ही बन सकता है। अवक्तव्य तो एक प्रकारका है। जैसे १० आदमियोने १० तरहकी मिठाई खाई और उनसे कोई पूछे–क्यो भाई कैसा स्वाद आया? तो सभी यही कहेगे कि उस स्वादको तो हम मुखसे नही कह सकते, वह तो अवक्तव्य है। तो उन दसोके अवक्तव्यमे कुछ भेद है क्या? जो विधिरूप है-उसमे तो भेद किया जा सकता है, यह ऐसा है यह ऐसा है, पर अवक्तव्य तो सब एक ही तरहका है। तो इसका अर्थ है कि अनिर्वचनीय अर्थके मायने अद्वैतकी सिद्धि हो जाय तो तुम्हारे इस अनिर्वचनीय अर्थख्यातिकी सिद्धि हो। अद्वैत तो सिद्ध है ही नही। अद्वैतका निराकरण इसी ग्रन्थमे आगे किया जायगा वह एक बहुत बडा विषय है।

स्वरूपके उपदेशगम्यता व अनुमानगम्यताकी सिद्धि— विपर्ययज्ञानका निराकरण करनेके लिये अनिर्वचनीयार्थकी सिद्धिके लिये जो तुमने यह बताया है कि इस विपर्ययज्ञानका विषय न तो उपदेशगम्य है न अनुमानगम्य है। यह बात तो आप को ही प्राप्त हो रही है। आप उपदेश देकर अनिर्वचनीय अर्थख्यातिको सिद्धकर रहे तो उपदेशगम्य हुआ ना कुछ और इसमे युक्तिया देकर उससे अनुमान भी तो बना रहे हो। तो कुछ चीज हुआ करती है ना उपदेश गम्यता और अनुमानगम्यता। जो तुम कह रहे हो चाहे वही विषय मान लो पर कहनेमे आया तो है। अनिर्वचनीय विषय कुछ नही रहा। और भी देखो जिस समय सीपमे चाँदीका बोध हो रहा है तो उस चाँदीकी भ्रान्तिके समयमे जो कुछ तुम्हे नजर आ रहा है वह नियत देशमे आ रहा, नियतकालमे आ रहा। नियतरूपमे आ रहा, तो वह सत्तारूपसे ही रजत प्रतिभासमान हो रहा है। भले ही वहाँ चाँदी नही है, है सीप, किन्तु उस विपरीत ज्ञानमे सीप अर्थ रजतरूपसे प्रतिभासमान हो रहा है। यदि सत्‌रूपसे प्रतिभासमान न हो तो चाँदी जानकर झट उसे उठानेके लिए जो प्रवृत्ति होती है वह कैसे होगी? फिर अनिर्वचनीय नहीं कह सकते।

विपर्ययज्ञान और विपर्ययज्ञानविराधक व्यवसायात्मकज्ञानकी सिद्धि— जो कुछ विपरीतज्ञानमें प्रतिभास हो रहा है वह सब सत्‌रूपसे प्रतिभासमान हो रहा है

भले ही वहाँ वह चीज नही है मगर वह चीज हुआ तो करती है, और इस ससारमे वर्तमानमे समक्ष पडे हुए पदार्थमे उस जातिके आकारसे हमारा ज्ञान बन गया। तो सत् अर्थ प्रतिभासमे आया मगर वह सत् अर्थ जो आँखो दिख रहा है वह चाँदीके रूप से ग्रहणमें आया है। तो विपर्यय है मगर सद्भूत अर्थ ही ज्ञानमे हमारे आया, असत् नही आया इस कारण विपरीत ज्ञान अवश्य है, उसमें कोई अनिर्वचनीय अर्थका ज्ञान नही होता किन्तु है वह अर्थ। हुआ दूसरे रूपसे ग्रहण। यो विपर्ययज्ञान है और ऐसा ज्ञान जिस ज्ञानमे नही आता वह ज्ञान है व्यवसायात्मक और वही ज्ञान प्रमाण है। यह ग्रन्थ सारा प्रमाणका ग्रन्थ है, इसमे सबमे प्रमाणके स्वरूपकी ही सिद्धि की गई है और जितने भी प्रमाणके भेद आयेंगे उन सबमे यह प्रमाणका स्वरूप लगेगा। यो प्रमाणके स्वरूपकी सिद्धिके प्रसङ्गमे विपर्ययज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि की गई है।

अनिर्वचनीय अर्थमे प्रवृत्तिकी असंभवता—प्रमाणस्वरूपका विरोधी दार्शनिक यहाँ कह रहा है कि विपर्ययज्ञानमे, उल्टेज्ञानमे कोई कहनेमे आने योग्य चीज ही प्रतिभासमे नही आती अर्थात् विपर्ययज्ञानका विषय अवक्तव्य है अतएव अवक्तव्य विषयकी जानकारी होनेका नाम ही उल्टा ज्ञान है। उल्टा ज्ञान और कुछ चीज नही है देखिये जिस उल्टे ज्ञानपर यह जगतकी सारी विडम्बना बन गई है उस उल्टे ज्ञानके स्वरूपको ही सिद्ध नही होने देता है यह दार्शनिक। यदि कुछ ज्ञानमे नही आयी अवक्तव्य चीज तो फिर सीपको जैसे चाँदी समझा तो ग्रहण करनेके लिए फिर क्यो वहाँ जाता है? अनिर्वचनीय अर्थमे प्रवृत्ति सम्भव नही है।

भ्रान्तिकालमे अनिर्वचनीयता न माननेपर विपर्ययज्ञानकी ही सिद्धि—शायद यह कहो कि नही, जब उल्टा ज्ञान हो रहा है तब तो अनिर्वचनीय अर्थ नही मालूम पडता। तब तो उसे ही समझता है और प्रवृत्ति करता है, किन्तु जब उसका वही या कोई विचार करता है तो विचार करनेपर यह प्रश्न उठता है कि सीपको यदि चाँदी जाना है तो चाँदी वहाँ सत् है या असत्? सत् हो तो झूठा ज्ञान क्या और यदि सत् नही है तो असत्का बोध क्या? जो वह प्रतिभासमे आ रहा वह सत्‌रूप है न असत्‌रूप है, किन्तु अवक्तव्य है, यह बात विचार करनेपर ज्ञात होती है, पर जिस समय भ्रम हो रहा है उस समयमे अनिर्वचनीय नही मालूम होता। तब आचार्यदेव कहते हैं कि तुमने तो इसमे विपर्ययज्ञानकी सिद्धि ही कर दी। जब भ्रम हो रहा है उस समय तो अवक्तव्य अर्थ नही आया। उस समय तो सत्तरूपसे वह पदार्थ आया, बादमे जब विचार किया तब उसका स्वरूप नही बन सकता, सो अनिर्वचनीय तब तो इससे तो विपर्ययज्ञानकी सिद्धि बराबर होती है।

विपरीतार्थख्यातिके स्वरूपपर झुंझलाहट—अब वही दार्शनिक जब बहुत झुंझला गया, कुछ रूठ गया तब कहता है कि तुम्हारी विपरीत ख्याति भी तो

नही बनती, क्योकि उसमे प्रतिभासका विरोध है। जो कोई सीपको चाँदी जानता है तो क्या वह इस रूपमे जानता है कि हम यह उल्टा ज्ञान कर रहे हैं ? यह विपरीत अर्थ है ऐसा क्या उनके ज्ञानमे आता है ? तो विपरीत अर्थकी ख्याति कैसे बने ? जो उल्टा ज्ञान कर रहा उसके ज्ञानमे क्या इस तरह उल्टा ज्ञान आ रहा कि यह विपरीत है ? नही आता ना ? यदि आया तो उल्टा ज्ञान क्या रहा ? तो विपरीत ज्ञान करने वाले पुरुषके चित्तमे यह विपरीत पदार्थ है ऐसी जानकारी हो तो विपरीत ख्याति वने पर ऐसा तो किसीको प्रतिभास नही होता। इसलिए विपरीतख्याति भी युक्त नही है।

विपरीतार्थख्यातिका अर्थ - विपरीतार्थख्यातिके समाधानमे आचार्यदेव कहते है कि कौन यह कहता है कि विपरीत ख्यातिका यह अर्थ है कि यह पदार्थ विपरीत है, ऐसी जानकारी होनेका नाम विपर्ययज्ञान है किन्तु है क्या, कि जो बात प्रतिभासमे आ रही है उससे उल्टा पदार्थ है और उस पदार्थसे उल्टा प्रतिभास हो रहा है इसका नाम है विपरीतख्याति। देखिये जगतके जीव इस ही विपर्ययज्ञानके वश हो कर तो ससारमे रुल रहे हैं। है पदार्थ और तरह, जानते हैं और तरह। देह है अचेतन, पर इसको निरखकर यह प्राणी समझता है कि यह मैं जीव हू, यह तो विपर्ययज्ञान है। अब कोई इसमे प्रश्नोत्तर करके इस विपर्ययज्ञानका स्वरूप विगाडे तो उसका एक हठवाद है। लोकमे भी, परमार्थमे भी सब जगह विपर्ययज्ञान बराबर चलता है।

बाह्य वैभवोमे विपर्ययज्ञानका रूपक विपर्ययज्ञान आत्महितके विरुद्ध अनेकरूपसे अनेक पदवियोमे चलता है। हो तो कोई अत्यन्त भिन्न अचेतन बाह्य वैभव और माने कि यह मेरा स्वरूप है, यह मेरा हितकर है, यह मेरी वस्तु है, यही तो विपर्ययज्ञान है। वहाँसे कुछ लौटा, कुछ लौकिक शिक्षा भी मालूम किया कि ये बाह्य मकान आदिक मेरे स्वरूप नही है तो उनसे हटकर जो अचेतन पदार्थ है परिजन मित्रजन, उन्हें माने कि यह मेरा है यह विपरीत ज्ञान हुआ। अब यहाँ देख लीजिए शल्यके ढङ्गसे ज्ञान किया जाय तो शल्य अवश्य होती है। शल्यका ढङ्ग यह है कि जो मेरा नही है उसे समझें कि यह मेरा है तो यह बुद्धि ही शल्यको उत्पन्न करती है। और अपने-अपने मनमे इसका अनुभव और प्रयोग कर लीजिए कि जितनी दृष्टि अधिकाधिक आशक्ति रूपसे या निर्णयरूपसे परिजनमे हम रखते हैं, क्या किसी अन्य आत्मा पर भी कुछ करुणाकी बुद्धि अथवा उपकारकी बुद्धि हम रखते है ? अपना जो तन, मन, धन, वचन है वह सब कुछ उन परिजनोंके लिए ही अर्पण किया जा रहा है तो यह आशक्ति नही है तो फिर और क्या है ? परिजनके अतिरिक्त अन्य जीवोपर भी तो कुछ ध्यान रखना चाहिए।

देहमे विपर्ययज्ञानके हटावकी कठिनाई—कदाचित् इन परिजनोसे कुछ थोडा सा हटाव हो जाय तो इस शरीरसे हटाव होना बडा कठिन है। योद्धा लोग

युद्धमे बड़े गौरवके साथ जान-बूझकर उत्साहसे अपना मरण भी कर जाते हैं वे मोही जन भी मरण भी पसंद करते हैं तो उस देहके ममत्वके कारण। लोग तो यह आशङ्का करेंगे कि जब अपने प्राण खो दिये तो उसमें इस देहकी ममता कहाँ रही ? लेकिन विचार करो तो वहाँ भी कारण यही मिलेगा देहकी ममता। मेरा देश विजयी हो, मेरा यश हो, मेरी बात न गिरे, ऐसा भाव तो रहता ही होगा, तो इस भावमें उसने इस देहको माना कि यह मैं हूँ। इस देहको जब मैं मान रहा है तो उस ही आधारपर उसके फिर यश आदिकके परिणाम होते हैं। तो देहमें ममता परिणाम होनेसे ही यश आदिकके अभिमान बनते है। यदि देहको यह मैं हूँ ऐसा वह न मानता हो और मैं चैतन्यमात्र हू इस प्रकारकी प्रतीति रखता हो तो वह यह भाव नही कर सकता कि मेरा यश और नाम फैले। उस चित्स्वरूपका यश क्या इस दुनियामें ? वह तो इस देहकी ममतामें अपने आपका घात कर रहा है।

आत्मघातमे भी देहकी ममता कारण – कभी परिजनोमे कोई परस्परमे विरोध हो जाय और वह विरोध इतना बढ जाय कि जो सहन न कर सके और कोई अपने आप अपने प्राणोका घात कर रहा हो जिसे आत्महत्या कहते हैं, यह आत्महत्या भी उसने देहकी ममताके कारण की। वह किसलिये ? कि जो बात उसे परिजनोकी नही रुची; उसने मुझे यो कहा, उसकी निगाहमे मैं कुछ भी नही, मेरी कोई बात ही नही मानी जाती ऐसा मेरा मेरा जो वह बार बार लगा रहा है तो वह इस देहको निरखकर कह रहा है। या उस चिन्मात्र स्वरूपको निरखकर कहा है ? वह तो इस देहको ही निरखकर कह रहा है। तो उस आशयसे प्रेरित होकर जो उसने आत्महत्या की वहाँ पर भी उसने देहकी ममताके कारण आत्महत्या की। भैया ! यह देहकी ममता हट जाय यह अत्यन्त कठिन चीज हो रही है। यही है विपर्ययज्ञान कि जो मेरा स्वरूप नही है, जो तत्त्व नही है उसे ही अपनाये कि यह मैं हूँ यही है विपर्ययज्ञान।

विपर्ययज्ञानके स्वरूपमे एक शङ्का—विपर्ययज्ञानमे जो कुछ जाननेमे आ रहा है उसमे जाननेमे तो आ रहा है कुछ और पदार्थ है वहाँ और ऐसा ही जानना कि पदार्थ है कुछ और, प्रतिभास हो रहा है कुछ, उस हीका नाम है विपर्ययज्ञान। इसपर यह शङ्काकार कहता है कि कुछ अँधेरे-उजेलेमे जैसे कोई खडा तो था ठूठ और जान लिया पुरुष तो पुरुष जैसा मालूम होता है ऐसे इस ज्ञानमे और जो प्रतिभास नही हो रह ऐसे ठूठको तुम बताते कि पुरुष है। जैसे रस्सीको साँप समझा तो उसके ज्ञानमे विषयभूत पदार्थ क्या है ? साँप तो है नही, क्योकि वहाँ विषयभूत पदार्थ रस्सी ही है, किन्तु साँपरूपसे विषय किया गया है। तो वहा शङ्काकार यह कहता है कि जो पदार्थ प्रतिभासमे नही आ रहा तो वह अप्रतिभासमय पदार्थ ज्ञानका विषय कैसे बन जायगा ? तो ज्ञान तो करें हम और कहते यह हैं कि इस ज्ञानका विषय भूत पदार्थ है और कुछ विषय कुछ भी निकल रहा, फिर सम्यग्ज्ञानका भी स्व-

रूप नही बन सकता कुछ घटपट आदिक पदार्थ हो और पुरुष जानते रहे, घटपट आदिक जान रहे हैं और नाना पदार्थोंका सत्त्व बन जाय तो यह बात ठीक नही बैठती ।

विपर्ययज्ञानकी साधना--विपर्यय ज्ञानके स्वरूपमे जो शङ्का हुई उस शङ्काके उत्तरमे आचार्यदेव कहते है कि ठूठमे जो सशयज्ञान हुआ है वहा इस पुरुषके प्रतिभास वाले ज्ञानमे भी ठूठ ही विषय बन रहा है । इतनी गल्ती हो गई कि ठूठका जो स्वरूप है उसका निर्णय नही रहा और कोई दोष लग गया, कम दीखता है या नेत्रमे कोई दोष आ गया है इसकी वजहसे ठूठ ही पुरुषाकार रूपसे प्रतिभासमान हो रहा है और थोडी देर बाद जब निकट पहुचता है तो वह खुद समाधान कर लेता कि यह पुरुष नही, यह तो ठूठ है । विपर्ययज्ञानके स्वरूपका निराकरण नही बन सकता ।

निर्णयकी दृढता व हठकी दृढता भैया! ज्ञान क्षेत्रमे दृढता वाले ज्ञान दो ही तो है एक सम्यग्ज्ञान और एक विपरीत ज्ञान । जैसे सम्यग्ज्ञानमे निर्णयकी दृढता बसी है यह पदार्थ यह ही है इसी प्रकार विपरीत ज्ञानमे भी हठकी दृढता बसी हुई है । जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको आत्मस्वरूप मे शका नही है उसका दृढ निर्णय है कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ चैतन्य स्वरूप हूँ, सबसे न्यारा हूँ, अमूर्त हूँ इसी तरह विपर्यय ज्ञान वालेको भी अपनी मान्यतामे उस काल बडी दृढता है । उसे इसमे कोई शङ्का नही हो रही है कि मैं यह देह हूँ, इतने लडके बच्चो वाला हू, ऐसी पोजीशन वाला हू, इसमे उसे सशय नही है । ऋषीजन समझाते हैं कि आत्मा देहसे न्यारा है । है भी न्यारा या नही, क्या यह देह ही जीव है-या इससे अतिरिक्त कोई जीव है इस सशयमे दृढता कहाँ है । और साधारणतया थोडासा आभास कर लिया है, आत्मचर्चा सुन रखी है, पर उसके सम्बन्धमे निर्णयकी आकाक्षा भी न हो सके तो वह है एक अनध्यवसायज्ञान । उसमे भी दृढता कहा अब कर्तव्य यह है कि हम जो विपरीत ज्ञान करके अपनी दृढता बना रहे हैं बजाय इसके सम्यग्ज्ञान करके दृढता बनाये ।

सम्यग्ज्ञान व विपर्ययज्ञानकी दृढतादिमे अन्तर -- सम्यक् व विपरीत ज्ञान इन दोनोकी दृढतामे अन्तर है । विपर्ययज्ञानकी तो क्षणिक क्षणिक दृढता है और सम्यग्ज्ञानकी स्थायी दृढता है । आज विपर्ययज्ञान किस रूपसे कर रखा है कि यह मै हूँ ऐसा मानकर पर वस्तुओमे ममता बसा ली है । इस ही ममताके कारण रात दिन बैचेन रहा करते हैं । इस ममताके आनेका कारण है विपर्ययज्ञानमे दृढता चिर कालतक नही हो सकती कि उस विपरीत ज्ञानमे जिसे विषय किया है उस ही पदार्थका यह प्राणी विषय करता रहे । इसका विषय बदलता रहता है । किन्तु सम्यग्ज्ञानका विषय तो केवल एक अन्तस्तत्त्व है, वह विषय कभी बदलता नही है । जैसे इन लौकिक प्रसगोमे कभी कोई बहका दे तो इस बहकानेसे वह अपने पूर्व विचारोको छोड देगा और अन्य विचार ग्रहण कर लेगा । इसी प्रकार आत्मतत्त्वके सम्बन्धमे कोई बहकाये तो सम्यग् दृष्टि जीव बहककर कुछ अन्य तत्त्व ग्रहण न करेगा अपनेमे ।

सम्यग्ज्ञानमे दृढता है, नि शङ्कता है विपरीतज्ञानमे एक तात्कालिक हठ है किन्तु निर्भयता नही है।

विपर्ययज्ञानमे उभयलोकभय मिथ्या जाननेमे सदा शका रहती है। यह देह मैं हूँ ऐसा जान रहे हैं तो उनमे कितने–कितने भय उत्पन्न हो रहे हैं, कही मैं मर न जाऊँ। इस देहमे जिस जीवको आत्मबुद्धि है, यह मैं जीव हू इस प्रकारका जिसे विपरीत निर्णय है ऐसे पुरुषको यह भी शका होती है कि मरकर मैं कहीं नरकगतिमे न पहुचू। अन्य बुरी देह न पाऊँ यह भी एक देहमे आत्मबुद्धि करनेके क्षेत्रकी ही एक झाकी है।

विपर्ययज्ञानमे वेदनाभय जिसे देहमे आत्मबुद्धि हुई है ऐसे पुरुषको वेदना का भय अत्यन्त अधिक रहता है। कही यह बढ न जाय, बडा क्लेश होगा, अनेक भय उत्पन्न होते है। शारीरिक दु ख कब बढता है ? जब इस देहमे आसक्ति हुआ करती है। यह सम्यग्दृष्टि जीव तो समझता है कि इस देहके चले जानेपर तो मेरा कुछ भी बिगाड नही होता वह तो मात्र उसका ज्ञाता रहता है। एक जीवका देहसे बन्धन होनेके कारण कुछ थोडी वेदना होती है पर उस वेदनामे वह तो यही समझता है कि मैं तो इस देहसे भी जुदा हूँ, यह दर्द होना तो पुद्गलकी चीज है। इस पुद्गल शरीरमें यह रोगादिका परिणमन हो रहा है, इनसे मेरे आत्माका कुछ सम्बन्ध नही, यो दृढता सम्यग्दृष्टि पुरुषके अन्दर होती है। विपर्ययज्ञान वाला तो झट घबडा जाता है, उसके ज्ञानमे दृढता नहीं रहती है, उसे तो जगह–जगह भय उत्पन्न होता रहता है।

विपर्ययज्ञानमे मरणादि भय बहुतसे लोगोका मरण होते देखता रहता है सो वह भी घबडाता रहता है कि कही मैं मर न जाऊँ, अगर मैं मर गया तो क्या होगा। विपर्ययज्ञानमे इस देहमे आत्मबुद्धि होनेसे वह मरणसे भी घबडाता रहता है। और इस कुबुद्धिमे ऐसे–ऐसे आकस्मिक भय बन जाते हैं कि जिनके होनेकी कोई आशङ्का नही। अभी यह छत बिल्कुल नई बनी है, इसके गिरनेकी कोई आशका नही पर विपर्ययज्ञानमें उसके यह आशका हो सकती है कि कहीं यह छत न गिर जाय, मैं इससे दबकर न मर जाऊँ, क्या हाल होगा मेरा, यो आशका बनी रहती है विपर्ययज्ञानमे। विपर्ययज्ञानको अपनी अरक्षा व अगुप्तिका भी भय रहता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जो कुछ भी होता है उस सबका ज्ञान रहता है, सब स्थितियोमे प्रसन्न रहता है। घर गिरता है तो गिरे, घाटा होता है तो हो, वह तो जानता है कि इससे मेरा कुछ भी बिगाड नही है।

आत्महितके लिये लज्जाशीलता व निर्लज्जता—सच पूछो तो सम्यग्दृष्टि पुरुष कई बातोमे निर्लज्ज है। दरिद्रतादिक उसकी कैसी भी हालत हो जाय, दुनिया उसे कुछ भी कहे, पर वह उन बातोसे लज्जित नही होता। वह इन मायामयी पुरुष

समूहोको कुछ भी महत्त्व नही देता। ये लोग कुछ भी कहे इस बातमे वह सम्यग्दृष्टि पुरुष तो निर्लज्ज है। हाँ उसे लज्जा इस बातमे है कि मैं कोई खोटा कर्म करूँ, धर्म-विरुद्ध विषयोमे प्रवृत्त होऊँ तो मैं लज्जित होऊँ। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव-मात्र प्रभु हूँ, इस प्रभुके प्रति ऐसे खोटे कार्य करना यह एक लज्जाकी बात है। इसके सिवाय बाकी लोकेषणाकी ओरसे वह सम्यग्दृष्टि जीव निर्लज्ज है, क्योकि उसे इन बाह्य समागमोमे कोई महत्त्व नही जच रहा है। सब विनाशीक चीजें हैं। ये जितने भी जीव है ये सब अपने-अपने कर्मोदयवश अपनी-अपनी भावनावश पर्यायोको भोग रहे है, ये भी सदा न रहेगे, ये भी गुजर जायेंगे, यह मैं चाहने वाला भी गुजर जाऊँगा। यहाँ इस लोक लाजको बढाकर अपनेमे शल्यको बढाना यह विवेक नही है। मेरा कोई जीव यहाँ शरण हो तो उसे मैं यहदिखानेकी कोशिश करूँ कि मैं बहुत अच्छा हूँ, बडी मेरी पोजीशन है, यहाँ तो सुनने वाला कोई है ही नही। मैं किसको प्रसन्न रखनेके लिए अपने आपको धर्मपथसे पतित करूँ और अपनेको शल्यमे बनाये रहूँ ऐसा विवेक सम्यग्दृष्टि पुरुषके रहता है।

ज्ञानीके भयोका अभाव —ज्ञानीको कोई भय नही कि इस लोकमे कोई गुजारा नही होगा। तो गुजारा तो कीडा मकोडा पशु पक्षियोका भी होता है। केवल एक शरीर ही तो रखना है किसलिए कि कुछ श्रेष्ठमन पाया है तो धर्ममार्गमे भी चलें इसके लिए शरीर भी रखना है, यही है उसका मूलमे निर्णय और इसी आत्मदर्शनके प्रसादसे इस परलोकका भी इसे भय नही होता। भय तो परलोकका वह करे जो खोटे कामोमे रहता हो उसको ही तो दुर्गतिकी शका होगी। और, जिसे आत्मज्ञान है वह तो जानता हैं कि मैं आत्मा तो सर्वसे भिन्न हू। इस मुझ आत्माका इस लोकमे क्या और इस परलोकमे क्या ? मेरा तो यह ही मात्र मे हूँ। उसे वेदनाका भी भय नही हैं। शरीरमे फोडा है तो वह ज्ञाता हो रहा है। जैसे दूसरेके शरीरमे बाधा हो तो दूसरा पुरुष उसका ज्ञाता रहता है उसी तरह अपने शरीरमे भी जो वेदना होती है उसका वह ज्ञाता रहता है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको शका नही रहती, अरक्षाका भय नही रहता। मेरी रक्षा कैसे हो इसकी उसे चिन्ता नही रहती। तो सम्यग्दृष्टि पुरुषको कभी किसी भी बातका भय नही रहता, विपर्ययज्ञानमे तो सदा भय बना रहता है, अतएव विपर्ययज्ञान एक अहितकारी भाव है उस विपर्ययज्ञानको त्यागना चाहिए और सम्यग्ज्ञानमे अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

प्रमाणस्वरूपमे व्यवसायात्मक विशेषणकी सार्थकता—अब स्याद्वादी विपर्ययज्ञानके प्रकरणपर कह रहे हैं कि अरे दार्शनिको ! विपर्ययज्ञान दूर करने योग्य है, यह तो सही है, पर तुम विपर्ययज्ञानके स्वरूपका ही निषेध कर रहे हो कि विपर्यय ज्ञान कुछ चीज नही है। अरे, कुछ चीज नही है तो इतनी बडी आपत्ति दुनियाको लग गई है यह किसका फल है ? विपरीतज्ञानका फल है। विपर्यय ज्ञान है तो उसके

निराकरणके लिए प्रमाणके स्वरूपमें व्यवसायात्मक पद दिया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक निर्णायक ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते है। इस ग्रन्थमें प्रमाणके स्वरूपकी ही चर्चा है आदिमें अन्त तक, क्योंकि यह दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी भूमिका यही है कि पहिले इस प्रमाणका तो निर्णय करलें कि जिस प्रमाणके द्वारा तुम अपनी बात सही बता पावोगे और दूसरेकी बात दोषयुक्त बता सकोगे। यह तो प्रमाण और अप्रमाणाभासके स्वरूपनिर्णयपर अवलम्बित है। तो अपना परम कर्तव्य है कि आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वका सम्यक् निर्णय करें, इसकी भी जानकारी करें और इसके ही ध्यानका अधिकाधिक यत्न करें। सर्व सङ्कटोंमें बचा सकने वाला हमारा आत्मज्ञान ही होगा।

विपर्ययज्ञानके स्वरूपका भजन करके विपर्ययविरोधी प्रमाणस्वरूपकी विराधनाका प्रयास — विपर्ययज्ञानका स्वरूप कुछ नहीं है, यह सिद्ध करनेके लिए अनेक दार्शनिकोंने अपना अपना अभिप्राय रखा है। किसीने अख्याति कहा है अख्याति का अर्थ है पदार्थकी ख्याति न होना, पदार्थकी जानकारी न होना अथवा अज्ञानको को अख्याति कहते है। उनका मतव्य था कि विपरीत ज्ञानमें किसी भी पदार्थकी जानकारी नहीं है जो जान रहा है वह तो है ही नहीं। किसीने यह कहा कि असत् ख्याति है जो असत् है जिसका अभाव है उसकी जानकारी है विपर्ययज्ञान जैसे रस्सीको साँप जाना तो साँप वैसे है नहीं। असत्की जानकारी है उल्टा ज्ञान कुछ नहीं है। किसीने कहा कि जो मनमें विशेष रहता था उस चीजकी झलक हुई। जैसे सीप देखी और चाँदीका बोध हुआ उसको देखकर चाँदी समझ ली। कोई कहे कि सब जगत् ज्ञान ज्ञानको ही समझ है, पदार्थ तो दुनियामें है ही नहीं। तो किसीने कहा कि अनिर्वचनीय पदार्थ जाननेमें आया जिसे हम न सत् कह सकते न असत् कह सकते। विपरीत ज्ञान कुछ भी नहीं है।

स्मृतिप्रमोषका अभिप्राय करके विपर्ययज्ञानके स्वरूपके खण्डनका प्रयास विपर्ययज्ञानके स्वरूपके विरोधमें सब अभिप्रायोंके बाद अब एक अंतिम अभिप्राय आ रहा है, इसका नाम है स्मृतिप्रमोष। इसका मतव्य है कि जिस किसी भी जगह पदार्थमें उल्टा ज्ञान हो रहा हो वहाँ और कुछ बात नहीं, कोई स्मृति की जा रही है और वह अधूरी रह गयी या स्मृति इतनी भर है, विपरीतज्ञान कुछ नहीं है। जैसे पडी थी सीप, जान लिया चाँदी तो इस जानने वालेने चाँदीका स्मरण तो किया पर पूरे ढगसे नहीं हो पाया, स्मृति गडबड हो गयी या अधूरी रह गयी। उस स्मृतिके दोष युक्त रह जानेका ही नाम विपर्ययज्ञान है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देखिये स्मृतिप्रमोषके मन्तव्यमें कैसी युक्ति खोजी है कि विपर्ययज्ञानका स्वरूप ही मिट रहा है।

स्मृतिप्रमोषवादी द्वारा विपर्यय ज्ञानकी उत्पत्तिके कारणोंके अभाव

प्रतिपादन—स्मृतिप्रमोषवादी कह रहे हैं कि भाई तुम्हारे माने गए विपर्ययज्ञानमे यही तो हुआ ना कि सीपमें यह चांदी है ऐसा प्रतिभास हुआ, पर विचार करनेपर यह प्रतिभास, यह ज्ञानयुक्त ही नही बैठता, क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्ति होने का कोई कारण नहीं मिल रहा है। यह कहा जा सकता है एक पदार्थ आखोसे देखा तो करेगा आंखोमे था दोष सो उन दोषोके कारण पडी तो थी सीप और जान गए चादी यही तो अधिकसे अधिक कह सकेंगे पर इसका भी तो विचार करलें। नेत्रके दोष हैं तो उन दोषोंमे होता क्या। क्या दोषोंने नेत्रकी शक्तिकी रुकावट करदी या उन दोषोंने नेत्रकी शक्तिका अभाव ही कर दिया। क्या वजह है कि पडी तो थी सीप और जानगए हम चादी। इसमे कारण क्या है, दोषोंने क्या किया ? यदि यह कहो कि दोषोने नेत्रादिक इन्द्रियोंकी शक्तिका प्रतिषेध कर दिया, रुकावट कर दी तो यदि रुकावट होती है तो कुछ भी जानकारी न होना चाहिए। उल्टा भी ज्ञान क्यो हो ? क्योकि मान लो कोई गेहू रखा है तो उसे बोनेपर कही चना तो नही उग जायगा। कितना भी दोष हो इन्द्रियमे, पर दोष होनेसे कही और का ज्ञान तो न हो जायगा। जो बोनेसे कहीं अन्य प्रकारका अन्न बनता है क्या ? इसी कारण प्रध्वस भी नही होता शक्तिका। आखमे कोई काच वगैरह दोष हो जायें तो उन दोषोसे भी क्या इन्द्रियकी शक्ति मिट जायगी ? शक्ति नही मिट सकती। भले ही दोष हो जाय, तो विपर्ययज्ञान हो कैसे गया ? स्मृति प्रमोषके लिये यह बात रख रहे हैं कि आखिर उल्टा ज्ञान हो कैसे गया यह सब स्मृति प्रमोष मानने वाला दार्शनिक कह रहा है।

विकृत स्मरण—भैया ! यहाँ प्राय सब लोगोको उल्टा ज्ञान कभी कभी हो भी जाता है। बात हो कुछ और जान ली जाय कुछ पर यह दार्शनिक कह रहा है कि उल्टा ज्ञान कोई चीज ही नही है. क्योकि चक्षु आदिकसे वही पदार्थ जाना जायगा जिसका इन्द्रियमे सम्बन्ध हो जाय और वर्तमानमे मौजूद हो, पर जो न तो इन्द्रियसे सम्बद्ध वहाँ हो और न वहाँ वर्तमान है, फिर इन नेत्रोके द्वारा वहा वह आकार कैसे बन गया ? जो चीज नही है वह बन कैसे गयी ? बात इतनी है कि स्मरण आया चाँदीका तो स्मरण आते–आते कुछ गडबडी हो गयी। पूरा स्मरण नही बन पाया, क्योंकि पूरा स्मरण बने तो इस तरह ज्ञान हो ओह ! वह चादी है, स्मरणका आकार तत्के रुपसे होता है।

विपर्ययज्ञानमे आकारके सम्बन्धोके अनिर्णयका पक्ष और भी सोचिये, ज्ञानमे यह आकार किसका आया बतलावो जरा ? चाँदीका आकार तो आता नहीं, क्योंकि वहाँ मौजूद नहीं, ज्ञानका आकार भी नही आया क्योंकि जैन लोग वहाँ केवल ज्ञानका आकार तो नहीं मानते। जैनसिद्धान्तके विरोधमे कहा जा रहा है कि वहाँ तो पदार्थका आकार प्रतिभासमे माना। तो ज्ञानका भी आकार नही, फिर आकार किसका माना ? विचार करनेपर विपरीत ज्ञान बन नहीं पाता, उसका कोई स्वरूप

उपयुक्त नही बैठता, अतएव विपर्ययज्ञान कुछ नही है। विपर्ययज्ञान नही रहा तो फिर किसके निराकरणमे व्यवसायात्मक शब्द लगाते हो ?

गृहीत और अगृहीतके प्रतिभासका विकल्प — और भी सुनो ! जाना कि यह चाँदी है, थी सीप, तो ऐसा जिस पुरुषने ज्ञान किया उसने चाँदीका ग्रहण करके यह ज्ञान किया या चाँदीका ग्रहण न किए बिना यह ज्ञान किया ? ग्रहण किए बिना तो ज्ञान होता ही नही ! अन्यथा अट्ट-सट्ट कैसा ही ज्ञान बन जाय। क्योकि बिना ग्रहण किए भी ज्ञान होने लगा। और, यदि यह कहो कि चादीका ग्रहण करने वाले पुरुषके यह ज्ञान हुआ तो उसके फिर ऐसा ज्ञान होना चाहिए कि वह रजत है यह, क्योकि यह जो ज्ञान है जिसे उल्टा ज्ञान कहो, विपर्यय ज्ञान कहो, स्वरूपसे उसमे क्या क्या बातें बनी, तब यह ज्ञान हुआ, यह बात जरा सुननेकी है। किस तरहसे वह होता है। प्रकरण यह है कि सम्यग्ज्ञान तो होता है ना, पदार्थ जैसा है वैसा ही जाननेमे आ जाय इसका नाम है सम्यग्ज्ञान। तो इसके विपरीत उल्टा ज्ञान भी तो हो सकता है। पदार्थ है और कुछ, जाननेमे आ गया और कुछ तो यह कहलाया विपर्ययज्ञान पर यहाँ वह दार्शनिक यह कहता कि विपर्ययज्ञान कोई चीज ही नहीं होती। क्योकि वह जो ज्ञान बना है वह इन चार कारणोसे बना है। वे कारण सुन लीजिए !

स्मृतिप्रमोषमें चार कारणोका वर्णन स्मृतिप्रमोषवादी कितनी खोज करके यह बात रख रहा है। एक तो इन्द्रियाँ काम कर रही हैं। यह चाँदी है, ऐसा जो ज्ञान बन रहा है सो इन्द्रियाँ काम कर रही हैं या नही कर रही हैं ? और सस्कार काम कर रहे हैं चाँदीको हमने बराबर समझा तो था ना, तब तो विपर्यय ज्ञान बना है यह। तो सस्कार भी काम कर रहा है और सादृश्य भी काम कर रहा है। सीपके समान ही तो चाँदी है किसी रूपमे। जैसा उसका रूप है वैसा ही चादीका रूप है, तो कुछ सदृशता भी है तीन बातें हुई और चौथी बात है दोष। इन्द्रियोमे दोष भी है तब तो सीपके बजाय चाँदी जाननेमे आ गयी। तो इस तरह इन चार साधनोसे विपर्ययज्ञान बना है। विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही, वह केवल एक स्मृतिकी भूल है, स्मरणका अधूरापन है क्योकि चाँदी ग्रहणमे आयी। तो यह स्मरण ज्ञान सही तो न बने और ग्रहणमे आये तो जो चीज पहिले ग्रहणमे आयी उसका ज्ञान बने तो हमेशा इस प्रकार बनता है कि वह है यह। जैसे हम किसी मनुष्यको देखते हैं और देखते ही स्मरण हो आता है तो इसी तरह तो स्मरण होगा कि यह वह है। चाहे अन्तरङ्गमे ऐसे शब्द न उठायें फिर भी ऐसा ही बोध होता है सबको, जिसको स्मरण होता है। तो इस तरहका ज्ञान बनना चाहिए कि वह रजत है यह, किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता कि यह रजत है। वह चाँदी है यह ज्ञान तो सही स्मरण है और यह रजत है यह ज्ञान स्मृतिकी भूल है अतएव विपर्ययज्ञान कोई चीज नही है।

पदार्थमे अवभासीके ससर्ग विकल्प— अब स्मृति प्रमोष वाले ही कहते जा रहे हैं कि बतलावो सीपमे चाँदीका सम्बन्ध है या नही, यदि नही है और फिर भी जान जाय तो जिस चाहेमे जिस चाहेका सम्बन्ध जोड दो। आकाशमे आकाश पुष्पका सम्बन्ध जोड दो फिर तो असत्ख्याति बन गई। और, सीपमे चाँदीका ससग है ऐसा कहोगे तो प्रकट गलत बात है। वहाँ चाँदीका सत्त्व ही नही है इस कारण जो यह ज्ञान हो रहा है कि यह चाँदी है यह कोई एक ज्ञान नही है। ये मिलावो दो ज्ञान है, यह चाँदी है इसमे 'यह" अश तो प्रत्यक्ष ज्ञान आया और चाँदी है इसमे स्मरण आया। खूब विचार कर सुनिये कि इसमे दो बाते कुछ मालूम होती हैं या नही? सीप पडी थी जान गए चादी तो इसी तरहसे तो जानते हैं ना कि यह चाँदी है सो यह तो हो गया प्रत्यक्ष इन्द्रियसे देखा, तथा यह चादी है यह हो गया स्मरण। लेकिन स्मृति अधूरी रह गयी उसमे दोष आ गया, चीज कुछ है स्मरण कुछका हुआ, और उस का स्मरण भी पूरे रूपमे नही आया क्योकि स्मरणका पूरा रूप यही हैकि किसी भी चीजका स्मरण करके अपने ज्ञानमे यह प्रत्यय होना चाहिए कि मैं स्मरण करता हूँ। तब तो वह स्मृति सही है, पर जहाँ यह विकल्प न आये कि मैं स्मरण कर रहा हूँ और फिर स्मरण जैसा ढग बना तो यह गलत स्मरण है। तो अधूरी स्मृतिका नाम विपर्ययज्ञान है। विपर्ययज्ञान और कोई चीज नही है।

अपनेमे अपनी खोटके खोजका प्रयास— भैया! यह सब खोज अपने आपमे की जा रही हैं। किसी अन्यकी चर्चा नही है। ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है और उस ही ज्ञानस्वरूप आत्माकी यह चर्चा चल रही है कि मैं किस प्रकारसे ज्ञानरूप हूँ, मेरा स्वभाव यथार्थ जाननेका है, लेकिन जब कोई दोष आता है, मिथ्यात्वकर्मका उदय आए, इन्द्रियमे कोई दोष आये तो फिर मिथ्या ज्ञान बन जाता है। मिथ्या ज्ञान करना जीवका स्वभाव नही है, पर होता जरूर है जब तक कि यह आत्मा दूषित है इसके मिथ्यात्वका उदय है पर दूसरा दार्शनिक यह कह रहा है कि मिथ्याज्ञान कोई चीज नही है सब हमारे ज्ञानकी कमजोरी है, दोष है या अन्य अन्य बातें बतायी किन्तु विपर्ययज्ञान नामकी कोई वस्तु नही है। इसका परिणाम यह है कि जो प्रमाणका स्वरूप बताया है यह साधक नही हो सका।

प्रमाणस्वरूपमे प्रकाश और द्रव्यदृष्टिमे प्रकाश—भैया! प्रमाण सच्चे ज्ञानका नाम है। सच्चे ज्ञानमे पदार्थकी समस्त बातें ज्ञात रहती है। किसी भी पदार्थ मे हैं तो अनेक बाते पर उनमेसे केवल एक अशकी ही हठ करता जाय तो वह कह- लाया कुनय। और, अन्य पक्षोको मानकर किसी एक अशकी मुख्यता से देखे या वर्णन करें तो वह है नय। जैसे आत्मा नित्य है या अनित्य? ये दो प्रश्न सामने है? यह जीव सदा रहता है क्षण क्षणमे मिट जाता है? अब इसकी परख करिये, जब आत्माको द्रव्य स्वरूपकी ओरसे निरखते है तो यह निर्णय आता कि आत्मा नित्य है सदा रहने वाला है न यह कभी उत्पन्न होता न यह कभी मिटेगा, शाश्वत है और जब हम पर्याय

दृष्टिसे देखते हैं यह आत्मा किस किस रूपपरिणमता है यो परिणमन दृष्टिसे हम देखते हैं तो आत्मा अनित्य है। यो नित्यानित्यात्मक आत्मा है। उसमे जहाँ केवल द्रव्यस्वरूपका ही हठ किया वह नित्य एकान्त माना है। आत्मा नित्य है और ऐसा नित्य है कि अपरिणामी है। उसमे कोई परिणमन ही नही होता। यदि परिणमन मान लिया जाय तो नित्यताका एकान्त नही बन सकता। तो जो नित्य एकान्तको मानता है, हठ करता है वह अपरिणामी नित्य कहलाता है।

पर्यायदृष्टिमे अज्ञेय परिणमनकी दृष्टिसे जिसने एकान्त किया वह कहता है कि सदा रहने वाला आत्मा कोई चीज नही है, किन्तु क्षण–क्षणमे नवीन उसकी ज्योति उत्पन्न होती है और मिटती जाती है। जैसे दीपक जलता है, सरसोका तेल डालो तो उसमे क्षण–क्षणमे एक बूद जलती रहती है, तो नया–नया दीपक बन रहा कि नही ? पर वह एक धारामे नया–नया बन रहा है सो लोगोको यह भ्रम होता है कि यह तो वही दीपक है जो आध घटा पहिलेसे जल रहा है, पर दीपक नया–नया है क्योकि नये–नये बूँदका नया–नया दीपक बन रहा है। इसी तरह क्षणिकवादी कहते हैं कि आत्मा तो नया–नया उत्पन्न होता रहता है मगर जिस घटमे, जिस देहमे, जिस धारामे नये–नये आत्मा बनते चले जा रहे हैं वैसे यह विवेक नही हो पाता कि यह नवीन–नवीन आत्मा है और यह भ्रम हो जाता कि वही आत्मा है। पर्याय एकान्त करने वाले इस तरह मन्तव्य रखते हैं।

स्याद्वादमे अर्थस्वरूपका दिग्दर्शन – स्याद्वाद द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्याय-दृष्टिसे अनित्य कहता है। तो अब इसमे जो कोई समझायगा तो एक बात तो कुछ समझायगा या नित्य बतावेगा या अनित्य बतावेगा। नित्य और अनित्य दोनोंको एक साथ कहा कैसे जा सकता है ? तो जब पदार्थको नित्य धर्म बताया जा रहा हो उस समय अनित्य भी है ऐसा ज्ञान रखकर बताया जाय, समझा जाय तो सुनय है। जब अनित्य बताया जाय तो यह पदार्थ नित्य भी है ऐसा ज्ञान रखते हुए फिर अनित्य अश का ज्ञान किया जाय, समझाया जाय तो वह सुनय है। तो सम्यग्ज्ञानमे पदार्थके समस्त अश जितनेमे प्रयोजनीभूत है वे सब अश ज्ञात होते हैं तब वह प्रमाण कहलाता है। यो स्याद्वाद सिद्धान्तमे समस्त दर्शन गर्भित हो जाते हैं।

ज्ञानका अनेकान्तसे प्रारम्भ और अनेकान्तमे परिसमाप्ति – स्याद्वादमे तो अनेकान्त प्रिय है, अनेकान्तका अर्थ है – अनेक अन्त, मायने धर्म वाला पदार्थ। जिसमें अनेक धर्म नजर आयें ऐसे पदार्थका ज्ञान किया जाता है। और, यह किसलिए किया जाता ? अनेकान्त बोलनेके लिए अर्थात् अ एक अन्त, जहाँ एक भी धर्म नही रहा ऐसा ज्ञान बनानेके लिए अनेकान्तका सहारा लिया जाता है। यहाँ दो स्थितियाँ बतायी हैं साधक अवस्थामे और निर्णयकी अवस्थामे। तो जब वस्तुके अनेक धर्मोंका

ज्ञान किया जा रहा है, वह पदार्थ अनित्य भी है, नित्य भी है, एक भी है अनेक भी हैं, सब कुछ सिद्ध किया जा रहा है पर यह सब सिद्ध करना और यह सब जानना किसलिए हो रहा है ! क्या ऐसा जानते रहनेके लिए ही, क्या ऐसा कहते रहनेके लिये ही ? नही । यह सब शुद्ध सम्यग्ज्ञानकी स्थिति पानेके लिए है जिस स्थितिमे ऐसा निर्विकल्पज्ञान बनता है जहाँ पदार्थका एक भी धर्म प्रतिभासमे नही आता, अर्थात् समग्र द्रव्य प्रतिभासमे निर्विकल्परूपसे आते है, वहाँ वह धर्म है, यह धर्म है इस प्रकारसे अलग-अलग ज्ञानमे नही आना, ऐसी निर्विकल्प स्थिति पानेके लिए पदार्थका सविस्तार ज्ञान किया जाता है ।

ज्ञानविकासक्षेत्रमे क्रमिक अध्ययनकी प्रथम आवश्यकता—भैया ! ज्ञानक्षेत्रमे जो कोई ध्यान बढाना चाहे तो प्रत्येक कार्योंकी विधियाँ हुआ करती है । उन विधियोको प्रयोगमे लायें तो कार्य सिद्धि होती हे । हम किसी भी ग्रन्थको जो प्रारम्भमे पढने योग्य है और उसके बाद फिर जो पढने योग्य है उसे इस क्रमसे अध्ययन करें और फिर जो उसके जानकार है उनसे उसका अध्ययन करे जिस प्रकरणको जाना उस पुस्तकका सहारा लिए बिना किसी भी रूपमे मौखिक बोला जाय फिर उसका बडा अध्ययन चले इस प्रकार क्रमिक अध्ययन होते रहनेसे यह अनुभव किया जा सकता कि इतने ज्ञानका हमने भण्डार बनाया और उससे फिर यह जिज्ञासा बनती है कि हम इसके आगेकी बात भी जाने । लेकिन ऐसा क्रमिक अध्ययन न करके कभी कुछ स्वाध्यायमे लिया, कभी कुछ ग्रन्थ स्वाध्यायको लिया, इस तरह चाहे अनेक ग्रन्थो का स्वाध्याय किया जाय पर वह क्रमिक न होनेके कारण उसका रस नही आ पाता कि हमने क्या समझा और कितना ज्ञान प्राप्त किया ।

ज्ञानकी नितान्त उपादेयता—भैया ! ज्ञान ही तो एक सारभूत वस्तु है जगतमे और कुछ शान्ति सुखका साधन नही हैं । ज्ञान है तो अकेला ही यह अपने ज्ञानमें रमकर प्रसन्न रह सकता है ज्ञान है तो ससारकी अनेक परिस्थितियोके बीच भी हम अपना विवेक बनाकर शान्त और प्रसन्न रह सकते हैं । उस ज्ञानके लिए हमे जितना भी अधिक हो सके उतना हर तरहसे यत्न करना चाहिए क्योकि यह ज्ञान हमारेसे ऐसा सस्कार बनायेगा, क्षयोपशम बढायेगा कि मरणके बाद भी हमारा यह सस्कार जायगा । यहाँके कोई भी पदार्थ मरनेके बाद साथ न जायेंगे, किन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी अपने आपकी भावना जितनी अधिक कर ली जाय और उससे जो संस्कार बनेगा वह तो केवल आपकी चीज आगे रहेगी और यहाँके जितने भी परिकर हैं उनमेसे कुछ भी मेरे साथ नही रह सकता । अरे इस ज्ञानसस्कारके साथ ही साथ जो भी वहाँ सम्यग्ज्ञान होगा वह मुझे सुखरूपसे बना सकेगा । ज्ञानका अर्जन एक सर्वोत्तम अर्जन है, इस बातका रंच भी सन्देह नहीं है । अगर अपने पास ज्ञान है तो आगेकी व्यवस्था सुखमय रहेगी, ज्ञानमय रहेगी, धर्मका वातावरण रहेगा और धर्मका

वातावरण करके रहे तो हम सर्व कर्मोंको दूर करके इस ससारसे छूट सकेंगे और निर्वाण प्राप्त कर सकेंगे।

सम्यग्ज्ञानमे समारोपका अभाव—सच्चा ज्ञान वह कहलाता है जो अपना और पदार्थोंका यथार्थ निर्णय करे। सच्चे ज्ञानमे सशय विपर्यय और अनध्यवसाय नही होना। अर्थात् न तो सम्यग्ज्ञानमे सशय बसा रहता है कि अमुक पदार्थ यो है अथवा यो है। जैसे रस्सीको देखकर यो सन्देह करते कि यह रस्सी है या साप है ससयज्ञान है जहा सशय ज्ञान न हो वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञानमे विपर्यय ज्ञान भी नही होता। जैसे पडी तो रस्सी है और जान रहे हैं साप तो यह उल्टा ज्ञान हुआ। विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञानमे नही है। और अनध्यवसाय ज्ञान कहते हैं अनिश्चयको। जहाँ कुछ भी निश्चयकी भावना तक भी नही है और कुछ झलक जरूर हुई है। जैसे चले जा रहे है, पैरमे तिनका लग गया तो उसमे और कुछ ध्यान न होना। अरे लगा होगा कुछ। उसके निर्णयकी भावना तक भी नही हो, यथार्थ ज्ञानमें यह अनध्यवसाय भी नही होता। यह है सिद्धान्तकी बात।

स्मृतिप्रमोषका अभिप्राय करके विपर्ययज्ञानके स्वरूपखण्डनका प्रयास—एक दार्शनिक इस प्रकरणमे यह कह रहा है कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज ही नही है फिर किसका निराकरण करनेके लिए तुम प्रमाणके स्वरूपमे व्यवसायात्मक शब्द दे रहे हो कि जो निर्णय रखे वह प्रमाण है और वह विपर्ययज्ञानका निषेध करता है। विपर्ययज्ञान मायने उल्टा ज्ञान। चीज तो है कुछ और जान रहे हैं कुछ। इसपर यह दार्शनिक कह रहा है कि उल्टा ज्ञान दुनियामे होता ही नही। जिसे तुम उल्टा ज्ञान कहते हो, रस्सीको साँप जान लिया तो यह कोई उल्टा ज्ञान नही है, किन्तु वहाँ सर्प का स्मरण हो रहा था कि वह स्मरण पूरे तौरसे नही बन सका और स्मरणका कुछ रूप होकर भी मैं खयाल कर रहा हूँ कि यह साँप है, वह साँप है इस प्रकार पूरा ध्यान नही हो पाता तो वह ज्ञान स्मृतिप्रमोष है, अधूरी स्मृति है, स्मृतिका अभाव है, गडबड स्मृति है, विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही है, ऐसा यह स्मृतिप्रदोषवादी अपना मन्तव्य रख रहा है।

स्मृतिप्रमोषमे प्रवृत्तिके हेतुके समाधानका प्रयास—स्मृतिप्रमोषकी एक शङ्काका समाधान भी दे रहे हैं कि वे कोई यदि यह कहे कि वह ज्ञान यदि केवल कल्पनाका ही है अधूरी कल्पना हो, गडबड स्मृति हो, इतनेका ही नाम है तो फिर उस पदार्थमे प्रवृत्ति क्यो होती है? जैसे पडी तो थी सीप और जान लिया चाँदी तो इस ज्ञानको स्मृतिप्रमोषवादी कह रहे हैं कि यह स्मृतिका अभाव है तो फिर चाँदी ग्रहण करनेके लिए पुरुष भागता क्यो है? जब वहाँ कुछ ज्ञान ही नही हो रहा तो चाँदी उठानेके लिये दौडते क्यो हैं? तो इसके समाधानमे स्मृतिप्रमोषवादी कह रहे हैं कि उस स्मृतिप्रमोष ज्ञानमे जो प्रवृत्ति हुई है वह भेद ग्रहण न करनेसे हुई है अर्थात्

सत्य पदार्थ क्या है ? और असत्य क्या है ? यो सत्य और असत्यमे उनके विवेक नही जगा, भेद नही मालूम हुआ, इस कारण वहाँ प्रवृत्ति होरही है, यह समाधान देरहे हैं।

भेदाग्रहणको प्रवृत्तिहेतु माननेपर आपत्ति—शङ्काकारके उक्त समाधान पर सैद्धान्तिक लोग प्रश्न कर रहे हैं कि वहा जो सत्य और असत्यका भेद ग्रहणमे न आया तो यह भेदका अग्रहण क्या है ? इसका अर्थ क्या है ? क्या यह अर्थ है कि सत्य और असत्यमे एकत्वका ग्रहण हो गया ? या झूठको सचरूपसे या सचको झूठ रूपसे मान लिया है क्या यह अर्थ है ? यदि यह मतलब हो कि सत्य और असत्यमे एकत्वका ग्रहण हो गया तो इस हीका नाम तो उल्टा ज्ञान है, फिर मना क्यो करते हो कि विपर्ययज्ञान कोई चीज ही नही है ? यदि यह कहो कि सत्य और असत्यका जो भेद ग्रहण होगा आगे चलकर उसके पहिले अभाव है, यह प्रागभाव है भेदका अग्रहण तो यह केवल अभावमात्र रहा। किसी सद्भाव रूप तो माना नही, फिर केवल अभाव तो प्रवृत्तिका कारण नही होता। प्रवृत्ति और निवृत्ति ही तो प्रमाणके फल है। ऐसे ज्ञानका क्या स्वरूप जिस ज्ञानके कर लेनेपर न तो हितकी प्राप्तिकी बात सूझे और न अहितके त्यागकी बात ही है। वह ज्ञान कोई ज्ञान भी है क्या जिस ज्ञानके कर लेनेपर न तो कोई हितका लाभ हो और न किसी अहितका त्याग हो। तो तुम्हारे सत्य और असत्यके भेदका ग्रहण भी कुछ नही बनता।

भेदाग्रहणकी प्रवृत्तिहेतुताके समर्थनका प्रयास—स्मृतिप्रमोषवादी उत्तर दे रहे हैं कि इसमे शका करना ठीक नही है क्योकि मात्र भेदके अग्रहणसे प्रवृत्ति नही मानी किन्तु भेदके अग्रहणके साथ साथ जो वहाँ चादीका ज्ञान होता है वह प्रवृत्तिका कारण है। अर्थात् सीप तो पडी है चाँदी जान रहे है तो यह चाँदीका ज्ञान होना और सीप और चाँदीमे अन्तर न समझना, इन दो बातोसे फिर मनुष्य वहाँ चाँदी समझकर उस पदार्थको लेनेके लिये चलता रहता है, यो प्रवृत्ति भी बन जाती है। तब विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही ऐसा स्मृति प्रमोषवादियोने माना है। यदि सत्य स्मरण हो जाय तो वह भूल मिट जायेगी। यो स्मृतिप्रमोषवादी विपर्यय ज्ञानका निषेध कर रहे हैं।

स्मृतिप्रमोषका प्रतिविधान—अब आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि स्मृति प्रमोषका कोई स्वरूप ही नही बनता। जो तुमने कहा था कि यह बतलावो कि नेत्रमे यदि कोई दोष हो गया तो उन दोषोके द्वारा नेत्रकी शक्तिका रुकावट किया जाता है या विनाश किया जाता है ? तो दोषके द्वारा न तो शक्तिकी रुकावटकी जाती और न विनाश किया जाता। आखोमे कोई काच आदिक दोष हो गये तो कही आखोकी शक्ति दबा नही दी जाती। आखोसे फिर भी देखते है और न आखोकी शक्तिका विनाश किया जाता है परन्तु दोषके उत्पन्न होनेपर इन नेत्र आदिक इन्द्रियके द्वारा ऐसा ज्ञान कर लिया जाता कि है तो कुछ और समझ लियो जाता कुछ। जैसे किसी

नेत्रदोषके कारण एक चन्द्रके वजाय कभी दो चन्द्र दिखने लगते है तो दो चन्द्रोका ज्ञान करना उल्टा ज्ञान है, झूठा ज्ञान है, यथार्थ ज्ञान नहीं है। वहाँ जो दोष होता है उस दोषने आँखकी शक्ति मिटायी नही है किन्तु दोष होनेपर कुछसे कुछ ज्ञान होने लगा है। यह दोषमे सामर्थ्य है कि उस दोषके होनेपर जो पदार्थ विद्यमान भी नही है उस अर्थमे भी ज्ञान उत्पन्न कर देते है ये नेत्रादिक।

विपर्ययज्ञानमे असत्ख्यातित्वके प्रसङ्गका अभाव—जैसे जिसे नेत्रमे कोई रोग हो जाता कि चीज चमकती तो है कम और थोडा ज्यादा चमक दिखती है तो वह यह विपरीत ज्ञानका साधन ही तो हुआ। थी तो वहा सीप और जानने लगा चाँदी तो नेत्रोमे जो दोष आये हैं उन दोषोने नही नेत्रोकी शक्ति रोकी और न नेत्रकी शक्तिका घात किया, किन्तु उन दोषोके कारण इस प्रकारका ज्ञान हो गया कि चीज तो थी अन्य कुछ और उसका लक्ष्य करके जो चीज न थी उसका ज्ञान करने लगा। इसमे असत्ख्याति भी नही होती। एक दर्शन यह कह रहा है कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही किन्तु जो पदार्थ है ही नही असत् है उसकी जानकारी बन गई। तो यहाँ यह भी नही है कि सर्वथा असत् तत्त्व हो और उसकी जानकारी बन जाय। जो चीज सर्वथा असत् है, है ही नही, त्रिकाल भी उसकी कभी जानकारी बनती नही, जितनी भी जानकारिया बनती हैं वे पदार्थ हैं तो बनती हैं, जैसे मान लो कि सीपमे इस समय सीपमे हमने चाँदीका ज्ञान कर लिया, पर चाँदी कही न कही है तो सही। जिसका सत्त्व भी नही कहीं। ऐसे पदार्थकी कल्पना भी कौन करता है।

असत्ख्यातिकी असंभवता- यहाँ असत्ख्याति भी नहीं है क्योकि यहाँ सदृशता भी कारण है। सीपमे चाँदी जान लिया इस ज्ञानके करनेमे सादृश्य भी कारण है। असत्ख्यातिमें तो सादृश्य कारण नहीं होता। जो चीज बिल्कुल नही है उसकी जानकारी प्रथम तो होती ही नही है और फिर जबरदस्ती मान भी लें तो उसमे सादृश्यके लिए कोई बात नही मिलती। असत्ख्याति सादृश्यपूर्वक नही होती। जैसे आकाशका फूल। तो आकाशका भी कोई फूल होता है क्या ? फूल तो पेडका होता है। तो आकाशके फूलकी सदृशता क्या कर सकें, कोई चीज ही नही है। और, कोई आकाशमे फूलकी कल्पना भी करे तो कमसे कम इतनी बात तो है कि आकाश भी कुछ होता है और फूल भी कहीं कुछ होता है। भले ही आकाशमे फूल जोड दे मगर यह चीज तो कही न कही है। तब हमे फूलकी कल्पना जगती है। जो चीज सर्वथा असत् है उसके सम्बन्धमे कल्पना तक कहाँ उठती है। यहाँ जो चाँदीका ज्ञान किया जा रहा है सीपमें तो वहाँ जो रजतका आकार मालूम पडा है वह सद्भूत है। कही न कही तो चाँदी होती है फिर उसका ज्ञान होता रहता है।

पुरोवर्ती अर्थमे रजताकारका प्रतिभास—भैया ! ऐसा भी नही है कि

पडी तो है सीप, जान रहे हैं चाँदी तो किसी अर्थका आकार न आया हो ज्ञानमे किन्तु ज्ञानका ही आकार आया हो ऐसी आत्मख्याति भी नही आती है, क्योकि वहाँ सस्कार भी तो कारण है। सस्कारकी सहायता लेकर फिर दोष होनेके कारण पहिले जिसका कभी ज्ञान किया था उस रजतका ही आकार वर्तमानमे पडे हुए सामने पदार्थमे प्रतिभासमे आ रहा है, याने पडी हो सीप जान रहे चाँदी तो यहाँ हो क्या गया ? यहाँ हुआ क्या कि नेत्रोमे कुछ दोष था, कम दिखायी दिया चमकीला दिखाई दिया तो उन दोषोके कारण व भीतर पडा था सस्कार, चाँदीके प्रति रुचि और चाँदीको सीप समझ रखा था सो उस सामने पडे हुए पदार्थमे चाँदीका आकार झलकने लगता है इसीक नाम है विपर्ययज्ञान।

साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे विपर्यय प्रतिभासकी सभवता—ऐसा ज्ञान करनेमे यह भी दोष नही दिया जा सकता तो फिर ऐसा बोध होना चाहिए कि यह चाँदी है, यह चाँदी है यह क्यो ज्ञान होता है। अरे सामने पडी चीज है उसको लक्ष्य करके हम जान रहे हैं इस कारण यह ज्ञान होता है कि यह चादी है। विपर्ययज्ञान तो सब के अनुभवमे आ रहा है। उल्टा ज्ञान कुछ होता कि नही होता ? अब है तो शरीर और जान रहे हैं कि यह मैं जीव हूँ यह तो उल्टा ज्ञान हुआ। लौकिक अनेक मामलो मे उल्टे ज्ञानकी प्रतीति जीवोको होती है, कोई न कोई मिथ्या ज्ञान है। हाँ मिथ्याज्ञानका निवारण तो करे मिथ्याज्ञानसे हित नही है, झूठ ज्ञानसे शल्य ही होता है। मिथ्याज्ञान दूर तो करना चाहिए और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करना चाहिए, पर मिथ्याज्ञानका स्वरूप तो है कुछ। ऐसा तो नही है कि मिथ्याज्ञान कुछ होता नही। कोई पदार्थ है तो दु खका कारण और भ्रम हो गया कि यह सुखका कारण है तो यह भ्रम बुरी चीज है। भ्रम मिटाना चाहिए। तो भ्रम भी कुछ चीज है तभी तो उसे मिटाने की बात कही जाती है और मिटाया जाता है। भला आकाशमे कौन लाठी मारता है ? कभी किसीको आकाशमे लाठी मारते देखा क्या ? तो ऐसे ही भ्रम कुछ चीज न हो तो मिटानेका क्या प्रयत्न किया जाय ? यहाँ आकाश है तो सही मगर लाठी मारने के लायक नही है। तो भ्रम कोई वस्तु है फिर वह है अहितकारी अतएव भ्रमका भी नाश करना चाहिए।

भ्रमका प्रभाव—यह सारा जगत भ्रम-भ्रममे ही तो बरबाद हो रहा है। और, है क्या चीज ? बतलावो इस आत्माका धन वैभव भी कुछ है क्या ? जुदा है। शरीरसे भी निराला प्रभुस्वरूप यह चेतन शरीरके भीतर बँधा पडा है। जैसे कभी कटघरमे शेर बन्द हो जाय तो वह शेर पराधीन हो गया। तो उस कटघरेमे पडा हुआ सिंह परतन्त्र है ऐसे ही शरीर कटघरेमे पडा हुआ यह जीव परतन्त्र है। है सबसे न्यारा अत्यन्त भिन्न, ये धन वैभव, मकान, इज्जत पोजीशन कही कुछ नही हैं लेकिन ये मोही प्राणी मान रहे हैं कि मेरा यह सारा ठाठ है। मैं इतना धनी हूँ, ऐसी पोजीशन

का हूँ तो इसी भ्र ा भ्रममे तो यह जीव मरा जा र ा है, अनेक पापकर्मोका वन्ध हो रहा है, उनके फलमे नाना शरीर धारण करने पडते हैं। तो इतनी विडम्बना इस जीवको जो मिल रही है वह सब भ्रम ज्ञानने कारण मिल रही है। तो दृश्य चीज प्रत्यक्ष तो आयी कि यह है कुछ, पर उसके वारेमे था कुछ जान कुछ लिया, उल्टा ज्ञान वन गया, इसीको विपर्ययज्ञान कहते हैं। तो 'शुक्तिकायां इद रजत' के दृष्टान्तमे भी समझिये कि वहाँ ऐसा ही ज्ञान होता कि यह चांदी है।

पुरोवती अर्थमे विपर्ययज्ञानका रूप स्मृतिप्रमोष वालों के यहा भी तो ऐसा ही ज्ञान हो रहा है कि यह चांदी है। जिसे तुम स्मृतिप्रमोषके नामसे कहते हो कि स्मरण कुछ कुछ आ रहा था मगर गडबड हो गया अथवा मिट गया बस यही स्मृतिप्रमोष है। उसमे भी तो यह चांदी है ऐसा ज्ञान हुआ। जिस प्रकार स्मृतिप्रमोष के सिद्धान्तमे यह रजत है यह ज्ञान हो गया, इसी प्रकार इस सिद्धान्तमे भी चूँकि दोष नेत्रोमे लगा था सो 'यह रजत इन दोनोमे सामानाधिकरण बन गया, एकतामे आ गया तो सामने पडी हुई चीजमे रजतका वर्तमानने आभास हो जाता है। जैसे नेत्रपर कोई हरा चश्मा लगा ले तो क्या सामनेकी चीज न नजर आयगी ? आयगी, पर है तो वह सफेद चीज और दिख रही है हरी चीज तो यह तो एक ऊपरी दोषकी चीज है। यो ही नेत्रमे कोई दोष हो जाय, विकार बन जाय तो उससे विपरीतज्ञान होता है। चीज है तो और भाति, जानने लगे और भाँति यही तो विपर्ययज्ञान है।

भैया ! इन्द्रियज ज्ञान ही विपर्ययज्ञान नही होता, श्रुतज्ञान भी विपर्ययज्ञान होता है। शास्त्रकी किसी लाइनका अर्थ है तो कुछ, लगा रहे हैं कुछ, यह विपर्ययज्ञान है। अवधिज्ञान भी विपर्ययज्ञान होता है। है तो किसी कामकी चीज और मान रहे हैं उल्टी चीज !

विपर्ययज्ञानमे कुबुद्धिकी प्रगति -आदिनाथ भगवानके चरित्रमे उनके बहुत पूर्वभवोमे सबोधनके प्रकरणमे एक कथा आयी है कि राजा अरविन्द था। उसने बहुत वडा आतङ्क कर रखा था जो मनमे आये उसे हठसे पूर्ण करे। एकबार अरविंद राजाको बहुत तेज बुखार हुआ ज्वरकी वेदना न सही जाय। तो जहाँ वह पडा था उस भीटपर दो छिपकली लडने लगी और लडनेमे एक छिपकलीकी पूछ टूट गयी, उससे दो एक बूद खून उस राजाके शरीरपर पड गया। शरीर तो बुखारसे गरम था उस बूंदके गिरनेपर उसे कुछ शीतलता मालूम पडी, तो उस राजाने अपने पुत्रो को हुक्म दिया कि तुम एक खूनकी वावडी बनाओ, उसमें खून भर दो, हम उसमें नहाकर अपने शरीरकी वेदना मेटेंगे। लडके लोग इस वातको सुनकर बहुत घवडाये, सोचा कि कहाँसे इतना खून लायें कि बावडी भरी जाय। लेकिन राजाने हुक्म दिया कि तुम्हें खून लाना ही पडेगा नहीं तो तुम्हे फांसी दी जायगी। आखिर वे दोनों लड़के जंगलकी ओर चल पडे।

विपर्ययज्ञानमे अहितकी ही सूझ राजपुत जब एक जङ्गलमे पहुचे तो वहाँ एक मुनि महाराज मिले। मुनि महाराजने उनसे पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो ? तो उन्होने सारा हाल कह सुनाया। मुनि बोला कि वह राजा विपर्ययज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, उसे सब उल्टा ही सूझता है, उसके कहनेसे तुम क्यो इतने पाप करो ? तो लडके बोले कि हमारा पिता तो अवधिज्ञानी भी है, आगे पीछेकी बात भी बता देता है, आप उसे अज्ञानी क्यो कह रहे हैं ? मुनिराज बोले कि उसको अवधिज्ञान तो है पर खोटा अवधिज्ञान है, और इसकी परीक्षा करना हो तो तुम जावो और उससे पूछो कि किस जङ्गलमे जायें तो खूब जानवर मिलेगे। यद्यपि वह बतायगा इसी जङ्गलको लेकिन और और भी उससे पूछते रहना वह हिरण, खरगोश आदि सभी जानवर तो बता देगा पर यह नही बता सकता कि उसमे मुनि महाराज भी बैठे हैं। वे पुत्र गए राजाके पास और पूछा कि हम किस जगलमे जाये ? उसने वही जगल बता दिया। फिर पूछा कि वहाँ क्या क्या है ? तो बोला— हिरण हैं, खरगोश हैं, और और भी जानवर बताये, पर यह नही बता सका वह राजा कि वहाँ कोई तपस्वी साधु भी विराजे हैं।

विपर्ययज्ञानीकी दुर्गति— तब पुत्रोने यही निर्णय किया कि यह राजा, यह हमारा पिता मिथ्यादृष्टि है, पापी है, अज्ञानी है अतएव पाप कराकर यह हम लोगोको अनर्थके गड्ढेमे गिरा रहा है। मगर राजाका डर तो था। बहुत सा खून लानेका हुक्म दिया है। तो उन पुत्रोने क्या किया कि लाखका रङ्ग भी खूनकी तरह होता है सो बावडीमे लाखका रङ्ग भर दिया। जब राजा उस बावडीमे नहाने गया तो उसे किसी तरहसे मालूम होगया कि यह खून नहीं है तो उसे उन पुत्रोपर क्रोध आया। ओह, यह तो कोरा लाखका रङ्ग है, उन्होने मेरे साथ छल किया है, फिर झट कटारी लेकर उन पुत्रोको मारनेके लिए दौडा। वे दोनो लडके भगे जा रहे थे। राजा उनका पीछा कर रहा था। आखिर हुआ क्या कि राजाके पैरमे एक ऐसी ठोकर लगी कि गिर पडा और उसकी ही कटारी उसके पेटमे घुस गयी। उस राजा का वही मरण हो गया और मरकर नरक गया।

विपर्ययज्ञानकी अहितकारिता विपर्ययज्ञानकी बात कही जा रही है कि प्राणीोका ही विपर्ययज्ञान नही होता, जो जो भी जान रहे हैं श्रुत वगैरहसे मिथ्यात्वमे उनके भी विपर्ययज्ञान होता है। तत्त्व तो कुछ है और चिन्तवन किया जा रहा है और कुछ तो वह विपर्ययज्ञान है। यद्यपि अवधिज्ञानमे जान तो रहे हैं भूत भविष्यकी बातें मगर उसे हितरूपसे नही जान सकते कि इसमे हित क्या है और अहित क्या है ? चीज तो है हितरूप और समझ रहे हैं अहितरूप, अथवा चीज तो है अहितरूप और समझ रहे हैं हितरूप। तो यही तो विपर्ययज्ञान है। यो विपर्ययज्ञानमे ज्ञान उल्टा उल्टा चलता है। विपर्ययज्ञान जीवोंके होता है उसका निषेध नही किया जा सकता। यो विपर्ययज्ञानके स्वरूपका समर्थन किया जा रहा है।

प्रतिभाससंसर्गके विकल्पोकी व्यर्थता—विपर्ययज्ञानको असिद्ध करने वाले इस दार्शनिकने यह आपत्ति उठाई थी कि जैसे पडी तो है सीप और जान रहे हैं कि यह चाँदी है तो इस ज्ञानमे उस पदार्थमे चाँदीका ससर्ग है या नही ? यदि चादीका ससर्ग है और फिर चादीका ज्ञान हो रहा तो झूठा ज्ञान कैसे है ? वह तो सम्यग्ज्ञान हुआ, और यदि उस पदार्थमें चादीका ससर्ग है नही और फिर भी ज्ञान हो रह है तो इससे तो ज्ञानका कोई रूप ही न आ सकेगा, कुछ भी नही है, और प्रतिभास हो जाय तो ज्ञानके सम्यक् मिथ्याका निर्णय क्या ? आचार्यदेव इसपर उत्तर देते है कि यह विकल्पदोष विपर्ययज्ञानमे सम्भव नही है क्योकि यहाँ तो सामने पडे हुए पदार्थमे कुछ दोषके कारण दूसरे पदार्थका प्रतिभास हो रहा है। विपर्ययज्ञानमे ऐसा होता ही है, सामनेकी कोई चीज है, दिख तो रही है पर जान रहे है और कुछ, इसहीका नाम तो विपर्ययज्ञान है।

स्मृतिप्रमोषमे प्रवृत्तिके कारणोके समाधानकी अयुक्तता—स्मृतिप्रमोष मे प्रवृत्ति क्यो होती, इसपर जो स्मृतिप्रमोषवादीका उत्तर था कि सीपको चांदी जान लेनेपर अर्थात् वहाँ अधूरी स्मृति होनेपर या स्मृतिके अभाव होनेपर जो मनुष्य उसे उठानेके लिए जाता है सो सत्य और असत्यका विवेक नही रहा इस कारणसे वह उठाने जाता है, यह भी कहना ठीक नही। प्रवृत्ति जो होती है वह अभेदज्ञानसे होगी है उसमे यह बात नही है कि सत्य और असत्यका विवेक नही रहा इसलिए वह आ रहा है। किन्तु एक ज्ञान हुआ और ज्ञान ऐसा हुआ कि जिससे यह समझमे आया कि यह हमारे हितकी चीज है, हमे प्रवृत्ति कर लेना चाहिए, बस इस ज्ञानके कारण वह उठानेकी प्रवृत्ति करता है जैसे सम्यग्ज्ञानमे भी तो प्रवृत्ति होती है, घडेकी जरूरत है, पानी पीना है, लोटाकी आवश्यकता है तो लोटा देखा और ज्ञान कर लिया कि यह लोटा है फिर उसे उठा लेते हैं। तो यह हमारे हितकी बात है यह समझमे आया तो प्रवृत्ति करते हैं। यह बात अलग है कि कभी झूठे ज्ञानमे भी हमे हितकी बात मालूम होती है सो हम वहाँ भी प्रवृत्ति करते हैं।

स्मृतिप्रमोषमे भेदके अग्रहणकी असिद्धि—यह भी तो सिद्ध नही हो सकता कि सत्य और असत्यमें विवेकके भेदकी अज्ञानकारी है, अग्रहण है, क्योकि यदि यह मालूम पड जाय किसी भी उल्टे ज्ञानमे कि यहाँ सत्य और असत्यका अभेद हो रहा है, विवेक नही हो पा रहा है तो वह झूठ क्या ? और न मालूम पडे तो विवेक की अख्याति क्या ? यह जाना कि यह चाँदी है, थी सीप, तो उसमे जो यह आपत्ति देते हो कि यह चांदी है इसमे यह इतना अश तो है प्रत्यक्षका और चांदी है इतना अश है स्मरणका। यो दो ज्ञान मिले इसका नाम उल्टा ज्ञान है, अन्य कुछ नही, यो वे कह रहे हैं और जैन सिद्धान्त यह कहता है कि दो ज्ञानोंके मिलनेसे उल्टा ज्ञान नही बनता किन्तु सामनेकी चीजको, हमने प्रत्यक्षको ही तो जाना पर दोषोंके कारण

वह ज्ञान और किस्मका बन गया। था चीज थी कुछ ज्ञान करने लगे कुछ तो इकहरा ही ज्ञान है वहा विपर्यय ज्ञानमे। किन्तु, ये स्मृतिप्रमोष वाले यह कह रहे है कि यह चाँदी है ऐसा जो ज्ञान हुआ इसमे "यह" इतना अश तो प्रत्यक्षका है। प्रत्यक्षसे समझा यह फिर ख्याल आयी चाँदी तो ख्यालका और प्रत्यक्षका वहाँ जोड हो रहा है। यह है वहाकी स्थिति विपर्ययज्ञान अलगसे कुछ नही है, यो मान लोगे तो कोई भी सही इकहरा ज्ञान बन नही सकता। जहाँ हम सच्चे भी ज्ञान कर रहे हो जैसे यह कमण्डल है तो यहा भी हम मोटी तुम्हारी जैसी बात लगा देगे कि इसमे यह तो है प्रत्यक्षका रूप और कमण्डल है स्मरणका अश फिर कोई भी ज्ञान शुद्ध नही हो सकते। सब मिलवा ज्ञान कहलायेगे।

इद से किंप्रतिभास प्रष्टव्य—स्मृतिप्रमोषवादियोसे स्याद्वादी कह रहे हैं कि शायद यह कहो कि यह कमण्डल है, इसमे तो कमण्डल ही है और कमण्डलको ही ही जाना इस कारण ज्ञान भेद नही माना गया है किन्तु उल्टे ज्ञानमे थी सीप और जान रहे चादी, इस कारण भेद माना जायगा। सत् पदार्थके ग्रहण करने पर दो ज्ञान नही माने जायेगे कि यह कमण्डल है, इसमे यह तो प्रत्यक्ष हुआ और कमण्डल स्मरण हुआ यह ज्ञान भेद तो विपर्ययज्ञानमे ही सम्भव है। यदि एसा कहते हो तो बात दोनो जगह एक है। यह कमण्डल रखा है और फिर जान रहे कि यह कमण्डल है तो यहा तुम ज्ञान भेद नही मानते ना, ऐसे ही वहा चाँदी तो है नही, है तो सीप, पर जान रहे चादी सो वहा भी दो ज्ञान तो प्रतीतिमे नही आते। वहा ऐसा तो कोई जीव नही सोचता है कि यह रजतमय ख्याल करे, किसी जगह रखी हो चीज फिर उसे जोडे ऐसा तो कोई नही मानता किन्तु सीधे सामने वाले पदार्थमे यो दृढ़तासे मान रहे है कि यह चादी है वहा भी ज्ञान भेद नही है।

साधनगुण दोषसे ज्ञानकी समीचीनावसमीचनताकी सिद्धि—बात यो है कि जैसे इन्द्रियमे कोई दोष न हो गुणवान इन्द्रिय हो तो उनसे इन्द्रियोसे हम सद्भूत पदार्थमे एक ज्ञान उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार इन्द्रियमे यदि दोष हो, आखोमे कोई खराबी हो तो उन सदोष इन्द्रियोंके द्वारा सदृशताकी वजहसे हम असत् पदार्थोंमे भी एक ज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं। यह तो गुण दोषकी बात है। हमारी इन्द्रिय साफ हैं तो हमे सही रूपमें जाननेमे आयगा और इन्द्रियमे दोष है तो कुछका कुछ समझमें आयगा। जहा और कुछ जाननेमे आया वह हे विपर्ययज्ञान और जो सत् पदार्थ है वही जाननेमे आया वह हो गया सम्यग्ज्ञान।

प्रत्यक्ष और स्मरणमे भेदाग्रहणकी असिद्धि—यह स्मृति प्रमोष एक प्रभाकर नामके दार्शनिक मान रहे है। उनके यहा भेदका अग्रहण ही सिद्ध नही होता यो कह रहे हैं कि यह चादी है इस प्रकारका जो ज्ञान हुआ उसमे यह तो प्रत्यक्ष है और है चादी है ऐसा स्मरण हुआ, ये दो ज्ञान हुए तो सही तुम्हारे कहनेके अनुसार किन्तु वह स्वरूपमे आविर्भावसे ही तो बनेगा। यदि ये दो चीजें हैं यह चौकी है। यह

कमण्डल है तो कमण्डलका स्वरूप कमण्डलमे होगा। चौकीका स्वरूप चौकीमे। यह बिल्कुल प्रकट न्यारा-न्यारा स्वरूप समझमे आये तब तो यह कहेंगे कि ये दो चीजे है। एक दूसरेका जहा भेद समझमे आ गया वही तो स्वरूपका आविर्भाव कहा जायगा। कमण्डलका जितना स्वरूप है। जितना पिण्ड है उतना कमण्डलमे ज्ञात हुआ और चौकीका जितना स्वरूप है वह सब चौकीमे ज्ञात हुआ तब तो यह कह सकेंगे कि यहा ये दो पदार्थ हैं और हमको ये दो ज्ञान उत्पन्न हुए हैं तो यह चादी है इसमे जो दो ज्ञान बना रहे हो ये जब दोनो बिल्कुल भिन्न भिन्न साबित हो जायें तभी तो कह सकेंगे और यदि यो बनेंगे तो प्रथक् प्रथक् दो ज्ञान हो गये। तो यो भी स्मृति प्रमोप सिद्ध नही होता स्मृति प्रमोपके पक्षमे यह जो कहा था कि यह चादी है इसमे जो सत्य असत्यका विवेक रहा, सही पदार्थ क्या है और झूठा क्या है इतना बोध नही रहा इसका नाम विवेकाख्यति कहा तो तुम्हारे मतमे भेदका अग्रहण नहीं बनता उससे पहिलेकी स्थितिका नाम विवेकाख्याति है। और, ऐसा अभाव तुम्हारे मतमे नही माना गया।

विपर्ययज्ञान और सम्यग्ज्ञानकी अवस्था—भैया! सीधी सी बात है सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही उसे मान लिया यह तो सम्यग्ज्ञान है और पदार्थको जान तो रहे हैं पर और रूपसे जान रहे हैं इसका नाम मिथ्याज्ञान है। जहा मिथ्या ज्ञान नही होता वह ज्ञान प्रमाण है। जहा विपर्ययज्ञान है वह ज्ञान अप्रमाण है। यो विपर्ययज्ञानका भी स्वरूप कुछ है और सम्यग्ज्ञानका भी स्वरूप कुछ है। दोनो हो तो दोनो बनते हैं। कोई कहे कि दुनियामे विपर्ययज्ञान कुछ नही होता तो सम्यग्ज्ञान भी कुछ न रहेगा। उल्टा ज्ञान तब तो सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बने। और सम्यग्ज्ञान हो तो उल्टे ज्ञानका स्वरूप बने। सच न हो दुनियामे तो झूठ किसका नाम है। और झूठ न हो दुनियामे तो सच किसका नाम है। ये दोनोका जोडा चलता है—जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व। कोई कहे कि मिथ्यात्व कोई चीज ही नही तो हम कहेंगे कि सम्यक्त्व भी कोई चीज नही है। कोई कहे कि सम्यक्त्व कोई चीज नही है तो हम यह कहेगे कि मिथ्यात्व भी कोई चीज नही है। तो विपर्ययज्ञान कुछ होता है और वह प्रमाण नही है ऐसा बतलानेके लिये प्रमाणके स्वरूपमे यह कहा गया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान हो वह प्रमाण होता है।

स्मृतिप्रमोषके विकल्पोमे स्मृतिके अभावरूप विकल्पका निरास—देखिये! स्मृतिप्रमोपका नाम ही सिद्ध नही है, क्योंकि स्मृतिका प्रमोष इसका अर्थ क्या? ये दार्शनिक यहाँ यह मानते हैं कि हमे किसी वस्तुमे उल्टा ज्ञान हुआ तो वह यही है कि हम कुछ ख्याल कर रहे थे और वह ख्याल गडबड हो गया वही स्मृति-प्रमोप है। तो स्मृतिप्रमोष क्या स्मृतिका अभाव है या अन्य पदार्थका अवभास है या

उल्टे आकारका जान ा है यों अतीत कालका वर्तमानरूपसे ग्रहण है या अनुभवके साथ पानी और दूधकी तरह उसकी अविवेकसे उत्पत्ति है ? क्या अर्थ है स्मृतिप्रमोषका ? पडी थी सीप, जान गए चाँदी तो इसमे यह अन्यमती कह रहा है कि चाँदीका ख्याल आ रहा है और ख्याल आते-आते वह कुछ गडबड हो गयी वही बात हुई, और विपर्ययज्ञान कोई चीज नही है तो वहाँ स्मृतिका अन्यन्ताभाव कहते हो तो स्मरणके अभावमे पहिले देखी हुयी चाँदीकी प्रतीति भी नही हो सकती और स्मरणके अभाव का नाम स्मृतिप्रमोष है, विपर्ययज्ञान हैं। एक आदमी बेहोश पडा है या सोया हुआ है और एक पुरुष उल्टा ज्ञान कर रहा है तो उस बेहोश पडे हुए पुरुषमे भी स्मृतिप्रमोष आ जाना चाहिए क्योकि स्मृतिका अभाव तुमने विपर्ययज्ञानमे भी माना है। और, जो थोडी बात है उसमे भी स्मरणका अभाव है। तो उसमे कुछ फर्क है या नही ? एक आदमी सो रहा है, और एक जगता खडा है तो खडा हुआ व्यक्ति रस्सीको साप जान रहा है तो इन दोनो व्यक्तियोंके ज्ञानमे कोई अन्तर है या नही ? स्मरणका अभाव तो उस सोये हुएके है और स्मरणके अभावसे ही तुम रस्सीको सापका ज्ञान मान रहे उस जगने वालेके भी, तो जब स्मरणका अभाव दोनोंमे बराबर है तो ये जुदे-जुदे प्रभाव प्रभाव क्यो हो रहे हैं उन पुरुषोमे ? स्मृतिप्रमोषका नाम विपर्ययज्ञान नही है किन्तु सामने जो नजरमे आया पदार्थ उसको हमने और पदार्थरूपसे जान लिया इसका नाम उल्टा ज्ञान है।

स्मृतिके अभावरूप स्मृतिप्रमोषमे सुप्तजागृतका भेद सिद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास—शायद स्मृतिप्रमोष वाले यह कहें कि सोये हुए मनुष्यमे और उस जगने वाले मनुष्यके ज्ञानमे यह अन्तर है कि जानने वालेको तो 'इदम्' यह बोध हो रहा है कि 'यह है'-और सोने वालेको 'यह' ऐसा बोध ही नही है, इससे अलग-अलग प्रभाव है तो पूछते हैं कि 'यह' इसमे आया क्या, प्रतिभासमे आया क्या ? यदि उस जगने वाले पुरुषको यह है, यह साप है, ऐसा प्रतिभासमे यदि रस्सी ही आई तो रस्सी रस्सीरूपसे ग्रहणमे आयी है या सर्पके सन्निधानके रूपसे ग्रहणमें आयी है। यदि उस जानने वालेके ज्ञानमे रस्सी रस्सीके रूपसे ज्ञानमे आये तो वह स्मृतिप्रमोष नही रहा, सम्यग्ज्ञान ही रहा क्योकि रस्सी पडी थी और रस्सी ही जान लें तो सर्पका स्मरण उसे कैसे हो ? जिससे कि स्मृतिप्रमोष बन जाय। कभी ऐसा तो नही होता कि हम कमण्डलका तो ग्रहण कर रहे और हवाईजहाजका स्मरण करने लगे। जिस चीजका हम ग्रहण करेंगे उसका ही तो स्मरण होगा। विपर्ययज्ञानमे जैसे सीपको चाँदी जाना तो सीपका ग्रहण किया तो चाँदीका क्यों स्मरण हो बैठेगा ? यदि यह कहो कि सीप और चाँदी एक समान हैं अतएव प्रतिभासमे तो सीप ही आ रहा, पर चाँदीका स्मरण हो गया। जैसे रस्सी और सर्प एक समान हैं तो प्रतिभासमे तो रस्सी ही आ रही मगर सांपका स्मरण हो गया ऐसा यदि कहोगे तो यह बात युक्त नही है। यह सदृश्यता अकिञ्चित्कर है क्योकि वहाँ तुम्हें जो रस्सी ज्ञात हो रही है वह रस्सीके

स्वरूपसे ज्ञात हो रही है तो सदृश वस्तुका स्मरण कैसे हो जाय। पूरा पदार्थ हमारे ज्ञानमे आया और किसी अन्य पदार्थका स्मरण बनने लगे यह तो नही होता है।

विपर्ययज्ञानकी स्वरूपसिद्धता—विपर्ययज्ञान वास्तवमें कुछ चीज है। जैसे शरीरको जान लिया कि यह मैं जीव हू तो यहाँ यह बात नही है कि शरीरमें हम आत्माका ख्याल कर रहे हो और वह ख्याल विकल्प किया यह स्मृतिप्रमोष हुआ किंतु जैसे आत्माका अनुभव रखने वाले योगीश्वर आत्माको लक्ष्यमे लेकर यह मैं आत्मा हू ऐसी दृढतापूर्वक ज्ञान करते हैं इसी तरह अज्ञानी पुरुष भी उस शरीरको लक्ष्यमें लेकर यह मैं आत्मा हूँ ऐसा दृढता पूर्वक ज्ञान करता है, इसमें स्मरणकी कोई बात नही है, उल्टा ज्ञान भी एक साक्षात् ज्ञान है। सच्चा ज्ञान भी साक्षात् ज्ञान है। यह देख रहे हो उसमे कुछ ख्याल कर रहे हो, ऐसी बात नही किन्तु सामने आये हुए पदार्थमें हम जो भी ज्ञान कर रहे है, हम यदि वैसा ही ज्ञान करते रहे जैसा कि पदार्थ है तो वह हो जाता है सम्यग्ज्ञान और अन्य पदार्थोंके रूपसे हम ज्ञान करते है तो वह हो जाता मिथ्याज्ञान। मिथ्याज्ञान एक ज्ञान है वह जहाँ न हो वह ज्ञान सच्चा कहलाता है।

स्मृतिप्रमोषमे बाधकप्रत्ययकी असिद्धि—और, देखिये भैया! जब कभी हम कोई झूठ जान रहे हो तो थोडी देर बाद हम उसे यह भी समझ सकते हैं कि जो मैं यह जान रहा था वह झूठ था। तत्त्व तो यह है। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव शरीरको आत्मा मान रहा है, धन वैभवको हितकारी मान रहा है तो जग जानेपर अर्थात् मोहनिद्रा टूटनेपर विवेक सूर्यका उदय होनेपर वह जान लेता है कि मैं जो जान रहा था सब झूठ है, अज्ञान है। जैसे कोई सोया हुआ पुरुष सोयी हुई हालतमे झूठ ज्ञान कर रहा है, न घर है, न जगल है, न साप है, न सिंह है किन्तु दिख रहे हैं ये सब कुछ लो यह सिंह मुझे खानेके लिए आना चाहता है, लो यह सर्प मुझे काटना चाहता है यों सोते हुएमे भी बडी घबडाहट रहती है। किसी भी प्रकार वह जग जाय तो नींद खुलनेपर उसे एक बडा आराम मिलता है, विश्राम मिलता है—ओह! कोई घबडानेकी बात नहीं। यह मैं तो अपने घरमे पडा हू, सब आरामके साधन हैं, यहाँ शेर वगैरह कुछ नही हैं, ऐसे ही जब मोहकी नींदमें, उल्टा ज्ञान हो रहा है तो घबडाहट होती है, मेरा यह सब वैभव है, यो मोहकी नींदमें एक कल्पना जगी। अब वह वैभव कुछ घटता सा है तो क्लेश होता है। कुछ बढता सा है तो कुछ खुशी मानता है। न यहाँ कोई खुशीका आधार है और न कोई क्लेशका आधार है, आत्मा तो अपने प्रदेशमात्र है। जितनेमें प्रदेश है, जितनेमे इसका फैलाव है उतनेमें ही तो उसका स्वरूप है। वह ही तो इसका सब कुछ वैभव है। इसके अतिरिक्त आत्माका अन्य कुछ नही है। लोग पर पदार्थोंमें कल्पना जगानेसे कभी क्लेश मानते हैं और कभी खुशी मानते हैं।

योगीश्वरोकी अर्चाका कारण उनका गुणानुराग—भैया! हम योगीश्वर

के चरणोकी पूजा क्यो करते है ? उनमे कौनसा गुण है ? उनमे यही तो गुण है कि उनके ऐसे सम्यग्ज्ञानका अभ्युदय हुआ और ऐसा सत्य बोध हुआ कि उनके किसी भी कल्पनामे न तो खेद जगता है और न खुशी जगती है। समस्त पदार्थोको अपने आप से न्यारा समझ रहे हैं। मेरा जो कुछ है वह मेरे परिणमनसे है, परका जो कुछ है वह परके परिणमनसे है ऐसा स्पष्ट ज्ञान होनेसे, मोहकी नीद न आनेसे भेदविज्ञान होने के कारण वे प्रसन्न रहा करते है। यह गुण है योगीश्वरोमे, और वैसी प्रसन्नता चाहते है हम तो जिसको योगीश्वरोके गुणोकी मालूमात हो वही पुरुष तो योगीके गुणोमे अनुरक्त होगा। यह चीज ससारके सङ्कटोसे छुटानेका कारण बनती है। विपर्ययज्ञान का जब अभाव होता है तो यह जीव सम्यग्ज्ञानी बनता है फिर रत्नत्रयमे प्रवृत्त होता है। उस रत्नत्रयके द्वारा यह सदा कालके लिए ससारके सङ्कटोसे छूटता है। हम प्रभु की भक्तिमे यह चाहे कि हे प्रभो ! मेरे मिथ्याज्ञानका अभाव हो, सम्यग्ज्ञानका विकास हो और फिर उस सम्यग्ज्ञानको जानते हुए अपने स्वरूपमे अपना अनुभव बनाये रहूँ। जो पथ आपने ग्रहण किया था, जिस रास्तेसे चलकर आपने ससारके सारे सङ्कटोका अभाव कर लिया वह रास्ता मुझे मिले उस रास्तेसे मेरा गमन हो और मैं ससारके समस्त सकटोसे छूट जाऊँ ऐसा मुझमे विवेक प्रकट हो। नाथ ! मैं यही चाहता हूँ प्रभुभक्ति करके इसके अतिरिक्त अन्य कुछ चाहे यह सब मूढता है।

अनाकाक्ष प्रभुभक्तिसे लाभ— भैया ! चाहनेसे मिलता भी नही। प्रभुका नाम जपते रहे और धन वैभव बढनेकी बात खूब सोचें तो सोचनेसे धन वैभव बढ जायगा क्या ? प्रभुभक्ति यदि हमारी निष्कपट चलती है, प्रभुके गुणोका अनुराग करके ही चलती है तो इतना विशिष्ट पुण्यका बध होता है कि जब तक लोकमे रहेगा लौकिक सम्पदा भी आगे बहुत मिलेगी, और यदि इन सासारिक सुखोकी ही चाह करली तो प्रभुभक्ति तो एक ढोग ही रहा। भजन तो उसका हो रहा है जिसकी अन्दरसे चाह है। लोग कहते है कि प्रभुका नाम लेनेसे मनोवाञ्छित वस्तुओकी प्राप्ति होती है, ठीक है पर प्रभुका नाम ले और किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी चाह बना ले, किसी चीजकी तृष्णा बना ले तो वह चीज नही प्राप्त होती है। प्रभुका नाम लेते रहनेसे ही मनोवाञ्छित कार्योकी सिद्धि नही होती है। हे प्रभो ! अनादिकालसे चला आया हुआ परको निज माननेका उल्टा ज्ञान मेरा समाप्त हो और मैं निजको निज परको पर जान लूँ। यहाँ एक कामना रखिये प्रभुभक्तिमे। उससे प्रभुके गुणो का हमारे ज्ञानमे विकास होगा और हमारे गुण भी प्रकट हो जायेंगे। सम्यग्ज्ञानसे ही कल्याण होता है, ऐसा निर्णय करके एक सम्यग्ज्ञानका ही यत्न करना चाहिये।

प्रमाण और प्रमाणभासकी परीक्षा— परीक्षा मुखसूत्र नाम है इस ग्रन्थ का। परीक्षा करनेके लिये यह मुख है। जैसे किसी मनुष्यकी परीक्षा मुखके द्वारा होती है इसी प्रकार समस्त ज्ञानोकी परीक्षा इस ग्रन्थमे बताई गई है। अतएव सम-

स्त ज्ञानोके परिचय पानेके लिये यह एक मुख है। कौन ज्ञान समीचीन होता है कौन ज्ञान झूठा होता है इस बातका इस ग्रन्थमे वर्णन है। समीचीन ज्ञानका नाम है प्रमाण और मिथ्याज्ञानका नाम है प्रमाणाभास। तो इसमे प्रमाण और प्रमाणाभासका वर्णन किया गया है। प्रमाणका स्वरूप यह बताया गया कि जो स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है। अर्थात् जो अपने आपका भी निश्चय रखता है कि मैं सही हूँ और बाह्यमे जाननेमे आये हुए पदार्थका भी निर्णय रखता है कि यह पदार्थ यही है ऐसा जिस ज्ञानमे अपना और बाह्य निर्णय बसा हो उसे प्रमाण कहते हैं। और ऐसा जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह संशय विपर्यय और अनध्यवसायका प्रतिषेध करता है।

विपर्ययज्ञानके स्वरूपकी साधनाका प्रकरण - प्रमाण स्वरूपके सम्बन्ध मे बहुत कुछ वर्णन हो चुका इस प्रसङ्गमे एक दार्शनिक शङ्काकार यह बात रख रहा था कि विपर्ययज्ञान नामक कोई चीज नही है फिर किसका निषेध करनेकी बात तुम व्यवसायात्मक शब्दसे कर रहे हो? अर्थात् यहाँ कुछ दार्शनिक विपर्ययज्ञानका स्वरूप नही बनने देते। जैसे पापका निषेध करना हो तो पापका स्वरूप तो बताना पडेगा ना। पाप बुरा है मगर पापके स्वरूपक तो समर्थन करना ही पडेगा कि इसका नाम पाप है, इसका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानका स्वरूप तो बताना ही पडेगा और भली प्रकार बताना पडेगा जिसमे कोई दोष न आये ऐसा सच बताना पडेगा, तब तो यह कहा जा सकेगा कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय जिस ज्ञानमे नही होते हैं वह ज्ञान प्रमाण होता है।

स्मृति प्रमोषवादके प्रयासका स्थल इस स्थलमे स्मृतिप्रमोषवादी कह रहा है कि विपर्ययज्ञान कुछ चीज नही है। केवल एक स्मृतिप्रमोष होता है। स्मृति मायने स्मरण और प्रमोष मायने अभाव, गडबड, अधूरापन। जैसे सामने पडी तो है सीप और जान गए चादी तो स्याद्वाद यह कहता है कि यह चाँदी है ऐसा जो ज्ञान हुआ वह विपर्ययज्ञान है किन्तु स्मृतिप्रमोषी यह कह रहे हैं कि वह विपर्ययज्ञान नहीं है किन्तु चाँदीका स्मरण हो रहा था और वह स्मरण फिर बीचमे चूँकि किया ऐसी झाँकी बनती है कि यह चाँदी है क्योकि चाँदी वहाँ है नही और चादीका स्मरण पूर्ण नही हो रहा तो उस स्मरणमे जो पूरा रूप नही बन सका जैसा कि स्मरण करता है मैं ठीक स्मरण कर रहा हूँ। चादी है इस प्रकारसे समझते हैं। सीपको चादी जानने वाला क्या यह ख्याल मनमे करता है कि मैं ठीक स्मरण कर रहा हूँ? जिस जिस घटनामे मैं स्मरण कर रहा उसमे मेरा ख्याल सही है, ऐसा तर्क उठे वह तो होता है सच्चा स्मरण ज्ञान लेकिन यहा स्मरण तो हो रहा था, किन्तु पूरा रूप नही बन सका, स्मृतिका अभाव हो गया तो यह हो गया स्मृतिप्रमोष, विपर्ययज्ञान कोई चीज नही है।

स्मृतिके अभावरूप स्मृतिप्रमोषके निराकरणमे इदसे प्रतिभात अर्थके सम्बन्धमे विकल्पोद्घाटन इसका आचार्यदेव निराकरण कर रहे है कि यदि स्मृतिके अभावका नाम ही विपर्ययज्ञान हो तो स्मृतिका अभाव तो सोये हुए मनुष्योके भी है, और जो जान रहे हैं कि यह चाँदी है उसे भी तुम स्मृतिका अभाव ही बता रहे तो फिर इन दोनो पुरुषोमे फर्क क्या रहा ? इसके उत्तरमे शंकाकारने यह कहा कि इस जगते हुए पुरुषको तो इद यह ऐसा अवभास होता है और सोये हुए पुरुषको ऐसा अवभास नही होता यह फर्क है, अर्थात् जगने वाला तो यो समझ रहा कि यह चाँदी है, तो 'यह' रूपसे अगर सोने वाला जागता होता तो कहते कि दोनोमे कोई अन्तर नही है पर सोने वालेको उस रूपका कोई प्रतिभास नही है ? इस उत्तरपर आचार्यदेव विकल्प उठाकर पूछ रहे हैं कि उस जगने वाले पुरुषको, इसमे प्रतिभास क्या हुआ ? सीप प्रतिभासमे आयी या चाँदी प्रतिभासमे आयी ? उस उल्टा ज्ञान करने वालेको क्या प्रतिभासमे आया यह' के सकेतके द्वारा ?

सस्थित अर्थके रूपमे प्रतिभास होनेपर स्मृतिप्रमोषकी अनुपपत्ति— स्मृतिप्रमोषमे यह इस सकेत द्वारा यदि सीप प्रतिभासमे आया तो क्या सीपके धर्मसे युक्त होता हुआ प्रतिभासमे आया या चांदीके सन्निहित रूपसे प्रतिभासमे आया ? अर्थात् इस जगने वाले, उल्टा ज्ञान करने वालेको 'यह' यो जो प्रतिभासमे आ रहा वह सीपके धर्मरूपसे प्रतिभासमे आ रहा क्या ? यदि सीपके ही धर्मरूपसे प्रतिभासमे आ रहा तो वहाँ स्मरणकी गु जाइश ही नही सीप ही पडी है और सीपके ही धर्मरूपसे 'यह' कहकर उसे प्रतिभासमे आ रहा तो स्मृति कहाँ हुई ? फिर स्मृतिका प्रमोष कहाँ रहा ? यदि फिर भी जबरदस्ती स्मृतिका प्रमोष मानोगे तो सभी ज्ञानोंके स्मृतिपना बन बैठेगा। हम जान रहे हैं कि यह चौकी है तो कोई कहेगा कि यह झूठा स्मरण है। किसी भी चीजको फिर हम नही जान सकेंगे। यदि यह कहो कि सामान्य मात्र का ग्रहण वहाँ किया तो यही तो तत्त्व निकला कि सामान्यका प्रतिभास हुआ और असाधारण स्वरूप नही मालूम पडा पर असाधारणस्वरूप उसमे लगा है अन्य वस्तुका प्रतिभासमे इसलिए विपर्ययज्ञान हुआ। "यह" कहकर जो हमने जाना उसमे यदि स्मृतिप्रमोष मानें उस विपर्ययज्ञानमे, तो जो पुरुष जन्मसे तिमिर रोग वाला है, आँखो मे जिसको एक इस प्रकारका रोग है कि उसे दो चन्द्रमा दिखाई देंगे तो 'यह' रूपसे भी देख रहा वह कि यह है चन्द्रमा और उस समय स्मरण कुछ नही हो रहा, क्योकि चन्द्रमा दुनियामे किसीके भण्डारमें नही रखे हैं कि किसी चन्द्रका स्मरण करलें, एक-दम प्रत्यक्ष हो रहा तो वह तुम्हारा सम्यग्ज्ञान बन जाना चाहिए, स्मृतिप्रमोष न रहना चाहिए पर स्याद्वादके यहाँ वह सम्यग्ज्ञान यो नही बनता कि वहाँ दो चन्द्र नही हैं और दो प्रतिभासमे आ रहे हैं। यो यहा भी नही कह सकते कि यह चाँदी है ऐसा जो ज्ञान बना है उसमे सीपके धर्म विशिष्टसे प्रतिभास हुआ है।

अन्यके सन्निहितरूपसे अवभास माननेमे स्मृतिप्रमोषकी असिद्धि—

यदि यह कहो कि वहाँ चाँदीका सन्निधान है चाँदी निकट पडी है तब जाना कि चादी है, निकट कुछ नही पडा है किन्तु एक चर्चा चल रही है, किसी तरह निकट पडी सही, उस भावसे निकट पडी या अन्य प्रकारसे, इस प्रकार अगर स्मृतिप्रमोप कहते हो तो यह बात एक तो यो सही नही कि चाँदीका वहा सन्निधान है ही नही। फिर चाँदीके सन्निधानरूपसे ज्ञान कह कैसे दोगे ? और फिर उसके पासमे जो पडा हो उस रूपमे पदार्थका ज्ञान यदि होता है तो उस सीपके निकट अनेक परमाणु आदिक पडे हैं, उनका प्रतिभास क्यों नही हो जाता । अथवा सीपके निकट अनेक चीजें पडी है, खम्भा भी है, पत्थर भी पडे हैं उन सबके रूपसे क्यो नही प्रतिभास हो जाता ? तो यह बात तुम्हारी युक्त नही है कि स्मृतिका अभावका नाम विपर्ययज्ञान है। विपर्ययज्ञान और कुछ चीज नही है। विपर्ययज्ञान तो ऐसा भ्रान्तिरूपमे दृढ ज्ञान है जैसा कि यथार्थ दृढतामे सम्यग्ज्ञान है। जैसे सम्यग्ज्ञानमे शका नहीं होती है ऐसे ही विपर्ययज्ञानमे भी विपर्यय करने वालेको शका नही होती है। और, जिस सम्यग्ज्ञानमे जो पदार्थ पडा है उसमे पदार्थका बोध हो रहा है ऐसे ही विपर्ययज्ञानमे जो पदार्थ पडा है उसका अन्य पदार्थके रूपसे बोध हो रहा है। विपर्ययज्ञान है, स्मृतिके अभावका नाम विपर्यय नही है।

अन्यावभासरूप स्मृतिप्रमोषकी असिद्धि—यदि यह कहो कि विपर्ययज्ञान और कुछ नही है। एक अन्य पदार्थका अवभास हो गया इसका नाम विपर्ययज्ञान है तो यह बतलावो कि अन्य पदार्थका अवभास उस ही कालमे होता है या उत्तर कालमे होता है ? यदि कहो कि तत्कालभावी अन्यावभासका नाम विपर्ययज्ञान है तो जिस समय पदार्थको देखा जाय कि सीप पडी है और पदार्थको देखते ही चाँदीका ज्ञान किया तो उस ही समयमे अन्यका अविभास हो यो तत्कालभावी, अन्यावभासका नाम यदि स्मृतिप्रमोष रखोगे, अशुद्ध ज्ञान रखोगे तो उस कालमें जो घट पट आदिक पदार्थ पडे हैं उनका भी ज्ञान हो रहा है। जैसे दूरपर एक चटाईपर रस्सी पडी हुई है उसे देखकर सर्पका अगर अवभास हो गया तो अन्यका अवभास तो होता है उस समय पर चटाईका भी तो अवभास हुआ है। तो जैसे रस्सीको निरखकर सर्पके अवभासका नाम स्मृतिप्रमोष कहते हो तो रस्सीको निरखकर भी जो चटाई आदिकका भी अवभास होता है वह भी स्मृतिप्रमोष हो जाय क्योकि अन्यके अवभासका नाम तुमने स्मृतिप्रमोष रखा। इतना कहनेमे क्यो डरते हो कि उस सामने पडे हुए पदार्थमे अन्यका अवभास हो जाय उसका नाम है स्मृतिप्रमोष क्योकि यदि ऐसा कहोगे तो विपर्यय ज्ञानका वही स्वरूप है। तो तत्कालभावी अन्यावभासका नाम स्मृतिप्रमोष नही। यदि यह कहो कि उत्तरकालभावी अन्यावभासका नाम स्मृतिप्रमोष है, तो वडी गडबडी यो होगी कि उत्तरकालमे अन्य पदार्थका अवभास होनेका नाम स्मृतिप्रमोप है तो पूर्वज्ञान को स्मृतिप्रमोप नही कह सकते। यदि पूर्वज्ञानका नाम स्मृतिप्रमोष रखोगे तो जितने भी पहिले ज्ञान हुए वे सब स्मृतिप्रमोष बन जायेंगे, तो अब पूर्वज्ञान जितने हैं वे सब स्मृतिप्रमोष बन गए। चाहे सम्यग्ज्ञान हो चाहे मिथ्याज्ञान हो।

विपर्ययज्ञानके स्वरूपके समर्थनका प्रयोजन —भैया ! चीज तो यों है कि कोई पदार्थ जिसे हमने लक्ष्यमे लिया जाननेके लिये, वह पदार्थ उस रूपसे जानने मे न आये, किन्तु अन्य रूपसे जाननेमे आये तो उसका नाम है विपर्ययज्ञान । जैसे शरीरको आत्मा जानते है तो यह विपर्ययज्ञान है अथवा इस जीवको शरीररूपसे जान रहे है तो वह भी विपर्ययज्ञान है। जीवको शरीररूप समझना विपर्ययज्ञान है, शरीरको जीवरूप समझना विपर्ययज्ञान है। इसमे स्मृतिप्रमोषकी क्या बात है कि किसीका स्मरण हो रहा था और वह अधूरा रह गया वह स्मृतिप्रमोष है। विपर्यय ज्ञान कुछ चीज नही। यह झगडा इस तरहका समझिये कि कोई पापके स्वरूपको मना करे अजी पापका कुछ स्वरूप ही नही बनता। अपनी दलीले दें, अजी पाप क्या चीज है। जो चीजे बनी है, मिली है वे सब भोगनेके लिए मिली है। जैसे बहुतसे लोग कहते है कि ये पदार्थ जो मिले हैं वे उपयोग करनेके लिए मिले है, जो इनका उपयोग न करे वे मूर्ख हैं। जैसे कहते है कि जिन आलू भटा न खाय वे काहेको जगमे आये ? पाप क्या चीज है जो चीज मिली है उसका उपभोग करलो, इसीलिये तो चीज मिली है। यों कहकर कोई पापके स्वरूपको मना करे तो उसने तो धर्मका ही निषेध कर दिया पाप बुरी चीज है पर पापका स्वरूप समझना लाजमी है। पाप का स्वरूप बनाना तो जरूरी है इसी कारण विपर्ययज्ञानके स्वरूपका समर्थन किया जा रहा है।

प्रत्यक्षाकारमे स्मरणकी भी अलब्धि—विपर्ययज्ञान वास्तवमे अपना स्वरूप रखता है। कोई ख्याल ख्यालकी बात नही, कोई स्मृतिप्रमोषकी बात नही, अन्यावभास भी नही है। क्योकि अन्य पदार्थका अवभास हो रहा है इसे तुम स्मृति-प्रमोष कहते हो तो यह तो बतावो कि वह जो अन्यावभास हो रहा है अर्थात् पडी है सीप, जान रहे है चाँदी और उस चाँदीकी जानकारी बन रही है तो वह बिल्कुल स्पष्ट बन रही है या नही ? यदि स्पष्ट बन रही है तो फिर चाँदीके ज्ञानमे स्मृति-प्रमोष क्यो कहते ? जब सामने वाली चीजका हम सामनेके रूपसे ही ज्ञान करते है उसका नाम तो स्मरण नही, स्मरण तो असमक्ष चीजका होता है, जो सामने न हो। और जब स्मरण होता है तो तत् रूपसे स्मरण होता है वह है चीज। और कदाचित् यह रूपसे भी हो तो यों कहेंगे कि यह है वह चीज ! तो स्मरणमे 'वह' जरूर लगा रहता है, चाहे उसे बोलें अथवा न बोले। यहाँ जब 'यह' शब्दसे जो जाना जा रहा है और उसमे रजतका जो प्रतिभास है वह है बिल्कुल स्पष्ट। तो स्मृतिप्रमोषकी गुञ्जा-इस नही, नही तो समस्त जितने भी प्रतिभास, जानकारी है सब स्मृतिप्रमोष बन जायेंगे। इससे कोई ख्यालके भूलका नाम विपर्ययज्ञान नही किन्तु विपर्ययज्ञान कुछ चीज है। समक्ष उपस्थित पदार्थमे अन्यरूपसे अन्य आकार आ जाय, उसका नाम विपर्ययज्ञान है।

स्मृतिप्रमोषके विकल्पोमे विपरीताकारवेदित्वका विचार—क्या इसका

नाम विपर्ययज्ञान कहते हो कि विपरीत आकार जाननेमे आ गया, यदि ऐसा कहते हो तं बिल्कुल सही बात है इसीका नाम है विपर्ययज्ञान । पदार्थ कुछ है और विपरीत आकार जाननेमे आ गया और यह भी देखलो कि जो विपरीत आकार ज्ञानमे आया है वह बिल्कुल स्पष्ट अर्थका प्रतिभासरूपसे आया है या नही ? यदि स्पष्टरूपसे आया है तो वह तो प्रत्यक्षका आकार है स्मृतिका आकार नही । तो जो चीज हमारे लक्ष्यमे है जिसके बारेमे हम कुछ जान रहे हैं, यदि हम उसे अन्य रूपसे जान जायें तो उसका नाम विपर्ययज्ञान है । जहाँ विपर्ययज्ञान नही होता वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, निश्चयात्मक है, प्रमाणभूत है । विपर्ययज्ञानके निषेध करनेके लिये इस प्रथम सूत्रमे व्यवसायात्मक शब्द दिया है ।

प्रमाणमे स्वपरव्यवसायात्मकता व हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थता– जो अपना निर्णय करे और परपदार्थोंका भी निर्णय करे उसका नाम है प्रमाण, सम्यग्ज्ञान । सम्यग्ज्ञानमे यह तारीफ होती है कि वह हितकी प्राप्ति कराये और अहित का परिहार कराये । और, कभी कभी ऐसा भी ज्ञान होता है कि जो जान तो ले, पर न वह कुछ प्राप्ति कराता है और न किसी चीजका त्याग कराता है, होता है ऐसा ज्ञान कि जिसमें केवल उपेक्षा भर रह जाती है, जानकारीमे आ गए पर न मतलब ग्रहणसे है न मतलब त्यागसे है, केवल उपेक्षा रह जाती है । तो भाई, उपेक्षा करना यह भी हितकी प्राप्ति है । सम्यग्ज्ञान जितने होते हैं उन सबमें यह विशेषता है कि हितकी तो प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये ।

प्रभुस्वरूपके निर्दोष ज्ञानका प्रभाव –जब हम प्रभुके स्वरूपका निर्णय करते हैं तो उसमे यदि संशय हो जाय कि उससे तो हितकी प्राप्ति नहीं होती अथवा विपर्ययज्ञान हो जाय तो उससे भी हितकी प्राप्ति नही और अनध्यवसाय रह जाय कुछ तो उस ओर मुडे पर विकल्पमें कुछ न आये और ग्रहण करनेकी मनमे चाह भी नही है, जैसे कोई अधसोया सा रहता है, मालूम पडना न पडना सब बराबर सा रहता है, यो समारोपोंसे रहित प्रभुस्वरूपका निर्णय हो उसमे हित है । जैसे प्रभुज्ञान मे न तो संशय है न विपर्यय है, न अनध्यवसाय है वह ज्ञान प्रमाण है । प्रभु है केवल ज्ञानभाव और आनन्दभावका पुञ्ज । अब देखिये ! भगवानका ऐसा स्वरूप समझनेमे आनेपर कितना प्रभाव अपने आपमे आता है । प्रभु है केवल ज्ञान और आनन्दका पुञ्ज । जब हम किसी तत्त्वका ज्ञान बनाते हैं तो यह हमारा ज्ञान भी उस आकाररूप परिणम जाता है तब ज्ञान बनता है । जैसे हम चौकीको जान रहे तो यह ज्ञान चूकि ज्ञेयाकार बना । जब हम ज्ञानानन्दमय प्रभुस्वरूपको जानेंगे तो हमारा उपयोग ज्ञानानन्दमयका बनेगा, जब हम प्रभुस्वरूपको समझ सकेंगे तो जब हमारा ज्ञान ज्ञानानन्दमयाकार बना उस कालमे विकल्प नही रहे, आकुलता नही रही तत्काल प्रभाव हमपर पडा और हमने अपना वहाँ हित पाया और अहितका परिहार कर लिया । कोई पुरुष प्रभुस्वरूपको 'ये धन देते हैं, यह अमुक काम करा देते हैं, ये हमे

पैदा करते हैं, मारते हैं" इस तरहसे प्रभुका स्वरूप जानें तो हमारा ज्ञान इसी आकाररूप रहा। तो यह ज्ञान अपनेको न छू सका। है कोई ऐसा प्रभु जो हमे पैदा कर देगा? यदि इस ओर ही दृष्टि रही तो समझो कि हमने अपना कुछ हित नही पाया।

अयथार्थ ज्ञानके खण्डनमे ज्ञान स्वरूपके निर्णयका मुख्य आधार—जो पदार्थ जैसा हैं उसे उसी प्रकार जाननेसे हित मिलता है। तो जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कराये उस ज्ञानका नाम प्रमाण है। और तत्त्वके निर्णयके प्रसगमे दार्शनिक क्षेत्रमे जो आपसमे वाद विवाद होता है स्वरूप निर्णयके लिये वह स्वरूप निर्णय तब सम्भव है जब हम पहिले ज्ञानके स्वरूपका तो निर्णय करलें। क्योकि लोग किसी दूसरेसे झगड़ते हैं तो किसी चीजपर नही झगडते हैं किन्तु ज्ञानपर और अक्ल पर झगड़ते हैं। और कभी कभी कह भी दें कि हमने जो ऐस ज्ञान बनाया यह झूठ है। चीजको झूठ कोई नही कहता क्योकि चीज ऐसी है तो झूठ क्या कहे, और चीज नही है तो झूठ क्या कहे? चीज तो चीजकी जगह है। केवल उस वस्तुके विषयमे जो जानकारी बनायी जाती है विकल्प आकार बनता है उसका खण्डन किया जाता तो वाद विवादमे शब्दायमे न तो ईश्वरका खण्डन किया जाता न किसी अन्य पदार्थ का खण्डन किया जाता, किन्तु बोलने वालेकी जानकारीका खण्डन किया जाता कि तुम इस समयमें जो ऐसा अपना ज्ञान बना रहे हो वह झूठ है। तो किसी ज्ञानको झूठ साबित करनेके लिये ज्ञानके स्वरूपको तो हमे समझना होगा कि ऐसी बात जिस ज्ञानमे न मिले उस जानको हम झूठ कह सकेंगे।

समारोपविरोधी ज्ञानके प्रमाणत्वकी व्यवस्था—यो प्रमाणके स्वरूपमें यह समर्थन किया जा रहा है कि जो ज्ञान सन्देहसे रहित हो उसमे उल्टा ज्ञान न कर रहे हो और जिसके विषयमे कुछ निश्चय और निर्णय बना हो वह ज्ञान प्रमाण होता है। इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपकी सिद्धिमे यह स्मृति प्रमोपका खण्डन किया जा रहा है कि स्मृतिप्रमोष नामका कोई ज्ञान नही किन्तु वह विपर्ययज्ञान है। और जो विपर्यय ज्ञानको हटा दे जो उल्टे ज्ञानको दूर कर दे उस ज्ञानका नाम है सम्यग्ज्ञान और वह प्रमाणभूत है। प्रमाणभूत अनुमान, तर्क आदिसे सत्य सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की जाती है। सत्य सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा करना इस कारण अतीव आवश्यक है कि विश्वके मानव सत्य तत्त्वस्वरूप जानकर सत्पथसे चलकर समस्त सांसारिक सकटोसे मुक्त हो जावें।

विपरीताकारवेदित्वमे स्मृति प्रमोषरूपताकी असिद्धि—विपर्ययज्ञानके स्वरूपके खण्डनमें स्मृतिप्रमोपवादी अब यह विकल्प रख रहें हैं कि विपरीत आकार का ज्ञानमे आना इसका नाम स्मृतिप्रमोप है। इसपर आचार्यदेय कहते हैं कि यह बात तो युक्त ही है और इस हीका नाम विपरीत ख्याति है। विपरीत आकार जानने

में आना यही तो विपर्ययज्ञान है। अब जरा यह बतलावो कि विपरीत आकारका अर्थ क्या ? और उस विपरीत आकारके ज्ञानमे स्पष्ट अर्थका अवभास हो रहा है या नहीं ? जैसे पडी तो है सीप जान रहे चादी तो यहाँ जो अर्थमे विपरीत चांदीका आकार जाननेमे आ रहा है वह स्पष्ट अवभासरूपमे आ रहा है या नहीं ? स्पष्टरूपमे अवभासमे आ ही रहा है। जो जान रहा है उसको स्पष्ट समझमे है कि यह चांदी है तो जब स्पष्ट अर्थका अवभास है तो उसमें स्मृतिका सम्बन्ध कैसे कह सकते। स्पष्ट जो प्रत्यक्षमे झलक रहा है उसका स्मरण तो नही किया जा सकता, क्योंकि इस ज्ञानमें तो प्रत्यक्षका आकार है, प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण है अथवा स्मृतिके सम्बन्धके नाम लेनेकी हठ न छोडे तो भी स्वरूप जब स्पष्ट अवभासका मान लिया तो यह स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही तो रहा, इसमें स्मृतिरूपता नही रही। इस कारण विपरीताकारवेदित्व याने विपरीत आकारको जाना जाना, इस रूप भी तुम्हारा विकल्प तुम्हारे मन्तव्यको सिद्ध नही करता।

अतीतकालका वर्तमानमे ग्रहण होनेके अविवेकका स्मृतिप्रमोषमे पूर्व-पक्ष— अब चौथा विकल्प रखा जा रहा है इस प्रसङ्गमे कि देखो हुआ क्या ? जैसे पडी तो है रस्सी जान लिया सर्प, तो इस जानकारीके सिलसिलेमे होता है यह कि अतीतकालकी चीज वर्तमान कालमे ग्रहण आ रही है। इससे अतिरिक्त अन्य कुछ ज्ञान नही है, यही स्मृतिप्रमोष है। सर्पको पहिले देखा था, उसका वर्तमान रूपसे ग्रहण बन रहा कि यह सर्प है, इस ही का नाम स्मृतिप्रमोष है। देखिये विपर्ययज्ञानका स्वरूप मिटानेकी हठमे विपर्ययज्ञानके बारेमे क्या-क्या तर्क वितर्क सोचे जा रहे हैं। यह सर्प है ऐसा जो जाना सो स्मृतिप्रमोषवादी कह रहे हैं कि यह विपर्ययज्ञान नही है किन्तु पहिले सर्पको जाना था उस ही ज्ञानका, उस ही पदार्थका यह वर्तमान रूपसे ग्रहण किया जा रहा है कि यह है सर्प। सर्प तो अतीतकालमे था जबकि हमने देखा था, उस अतीतमें देखे हुए पदार्थका हम वर्तमानरूपमे ग्रहण कर रहे हैं बस यह बात है, विपर्ययज्ञान और कुछ चीज नही है।

अतीतकालका वर्तमानकालमे ग्रहण माननेपर स्पष्टवेदनके अभावका प्रसङ्ग—आचार्यदेव कहते हैं कि यदि अतीतकालका वर्तमानरूपसे ग्रहण होनेका ही नाम स्मृतिप्रमोष है, विपर्ययज्ञान है, तो जैसे अन्य-अन्य भी स्मरणमे आते हैं तो स्मरणमे आये हुए पदार्थका एक ऐसा प्रत्यक्ष स्पष्ट जानकारी तो नही हुई ना। जैसे आपका कोई भाई बम्बईमे काम करता है, आप यहाँ बैठे हुए उस भाईका स्मरण करोगे तो स्पष्ट वेदन तो न होगा। एक परोक्षरूपमे, ख्यालरूप विकल्प बनेगा। एक मित्रको सामने देख रहे हैं तो सामने बैठे हुएको देखनेमे जैसी स्पष्ट जानकारी बनती है ऐसा क्या ख्यालमे आने वाले पदार्थकी इतनी स्पष्ट जानकारी होती है ? नही होती है। लेकिन यहाँ जो रस्सीको साँप जान रहे हैं तो इस सर्पज्ञानकी तो स्पष्ट जानकारी बन

रही है, स्मरणकी तरह अस्पष्ट जा:कारी नही है। त। यदि अतीतलकामे वर्तमानरूप से ग्रहणका नाम स्मृतिप्रमोप हो तो उसका स्पष्ट वेदन न होना चाहिए लेकिन वेदन स्पष्ट होता है।

अतीन्द्रिय ज्ञानमे स्पष्टता माननेसे सर्वज्ञताकी सिद्धि - शायद यह कहो कि इस विपर्ययज्ञानमे इस स्मृतिप्रमोषके प्रसङ्गमे ऐसी ही विलक्षणता है कि अतीत कालकी बातोका स्पष्टरूपसे अधिक जानकारी बन रही है अर्थात् वहाँ सर्पका तो स्मरण है। उसे देखा था १० दिन पहिले, किन्तु उस भूतकालमे जाने हुए पदार्थकी आज सामने अधिक स्पष्ट जानकारी बन रही है। तो कहते है कि इस तरह तो सर्वज्ञसिद्धि हो जायगी। ये स्मृतिप्रमोषवादी प्रभाकर सर्वज्ञ नही मानते जब स्मरणमे भी इन्द्रिय का उल्लघन करके स्पष्ट सम्वेदन हो गया तो भूतकालके जितने भी पदार्थ हैं, भविष्य मे जितने भी होगे उनका भी यदि किसीको प्रत्यक्ष स्पष्ट सम्वेदन होता है तो उसका निपेध क्यो करते ? क्योकि जैसे यहाँ पर सर्पकी स्मृतिमे भी जब इन्द्रियके विना एक स्पष्टता आ गयी तो सर्वज्ञदेवके इन्द्रियाँ है नही तो अतीतकाल और भविष्यकालके पदार्थोकी जानकारीकी स्पष्टता आ जाना चाहिए। यदि यह कहो कि इस विपर्ययज्ञान मे तो परम्परासे इन्द्रियके ही कारण वैशद्य ह ता रहता है तो यह बात यो युक्त नही कि इसी प्रकार तो सभी हमारी स्मृतियाँ है, सबमे परम्परा इन्द्रियका सम्बन्ध है तो उसका भी स्पष्ट सम्वेदन हो जाना चाहिए। यो स्मृतिप्रमोष तुम्हारा सिद्ध नही होता।

अनुभवके साथ क्षीरोदकवत् अविवेकसे उत्पाद माननेका पूर्वपक्ष और उसके विकल्प - अब अन्तिम विकल्प है यह कि अनुभवके साथ पानी और दूधकी अविवेककी उत्पत्ति हो इसका नाम स्मृतिप्रमोष है। जैसे पानी और दूध मिल जाये तो उसमे एकताका अनुभव जगने लगना, अविवेक हो जाना, पानी कहाँ है, दूध कहाँ ऐसा अलग-अलग विवेक नही बनता इसी प्रकार यह चाँदी है इस प्रकारका जो विपर्ययज्ञान हुआ उसमे भी यह और चाँदी इन दोनो ज्ञानोका अविवेकमे एकमेकपना बन गया है तो पूछते हैं कि अविवेक नाम किसका है ? क्या भिन्न-भिन्न दो सत् पदार्थो का अभेदसे ग्रहण हो जानेका नाम अविवेक है ? या ने भिन्न-भिन्न सत् दो ज्ञानोका अभेदसे ग्रहण हो जानेका नाम अविवेक है या भिन्न-भिन्न सत् दो ज्ञानोका सयोग हो जानेका नाम अविवेक है ? अथवा एक ज्ञानके बाद अन्तरङ्ग हुए बिना दूसरा ज्ञान जग जानेका नाम अविवेक है ? यहाँ तीन विकल्प रखे है। अर्थात् जैसे वहाँ सीपको यह चादी है ऐसा ज्ञान किया तो स्मृतिप्रमोपवादियोका कहना यह है कि वहाँ हुए तो दो ज्ञान हैं- एक तो यह और दूसरा ज्ञान यह हुआ कि चाँदी है तो "यह" तो प्रत्यक्ष आया और चाँदीका स्मरण आया। यो जो दो ज्ञान होते हैं उन दो ज्ञानोका जहाँ अभेदरूपसे ग्रहण हो गया उसका नाम स्मृतिप्रमोष है, यदि अलग-अलग ही ये ज्ञान रहते तो एक कहलाता प्रत्यक्ष और एक कहलाता स्मृति, लेकिन इनका तो अभेदरूपसे

ग्रहण बन रहा। यह चांदी है, दो ज्ञान भिन्न नहीं दिख रहे किन्तु दो ज्ञानोंका एक बन रहा है।

क्षीरोदकवत् अविवेकसे उत्पादकके विकल्पोंका निरसन --अब यहाँ समाधानमें कहते हैं कि क्या वे दो ज्ञान भिन्न भिन्न हैं ? और, फिर अभेदका ग्रहण हो रहा क्या ? यदि ऐसा है तो इसका ही नाम विपरीत ख्याति है। दो ज्ञानोंमे सश्लेश होनेका नाम अविवेक कहा सो भी युक्त नहीं। ज्ञानोंमे सश्लेष तो बन ही नहीं सकता। जो मूर्त पदार्थ हो उनका सम्बन्ध हुआ करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान हो वह भी ज्ञान है, स्मरण ज्ञान हो वह भी ज्ञान और ज्ञानका सम्बन्ध क्या ? आकाशका सम्बन्ध क्या ! तो ज्ञानोंमे सयोग सिद्ध नहीं होता। सयोग तो मूर्तिक पदार्थोंमे ही हुआ करता है। इस कारण यह भी पक्ष तुम्हारा सही नहीं है। अब अतिम बात कही जा रही है कि यदि यह मानो कि बिना अन्तरालके तुरन्त ही नया ज्ञान बन गया। इसका नाम स्मृति प्रमोष है याने जैसे आँखें खोलकर देखा और यह ज्ञान हो गया कि यह चांदी है तो पहिले तो हुआ ज्ञान 'यह" और ठीक अनन्तर तुरन्त ज्ञान हुआ कि चांदी है तो यह बिना अन्तरालके तुरन्त अनन्तर दूसरा ज्ञान बन गया इस का नाम स्मृति प्रमोष है। यदि यो कहते हो कि अनन्तर ज्ञान बन जानेसे स्मृतिप्र-मोष बन जाता तो समस्त स्मरणोके बाद होने वाले जितने भी ज्ञान हैं सबको स्मृति प्रमोष कह दो। जैसे जब हम अग्निका अनुमान कर रहे हैं कि इस पर्वतमे अग्नि होना चाहिये धुवा होनेसे। तो उस अनुमेय अग्निका पहिले कुछ स्मरण किया फिर उसका अर्थ किया। फिर थोडी देरमे अग्निको प्रत्यक्ष देख लें तो उस ही अग्निके स्म-रणके बाद कितने ज्ञान होते चले जा रहे हैं। तो वे सबके सब ज्ञान स्मृतिप्रमोष बन जायेंगे। केवल ख्याति बन जाय, झूठ बन जाय सो ऐसा तो है नहीं। तब आपका स्मृतिप्रमोष सिद्ध नहीं है।

विपर्ययज्ञानकी सीधी नीति--बात यह है कि कभी कभी इन्द्रियमे दोष होनेके कारण पदार्थका और प्रकारसे ज्ञान हो जाता है। किसीको कम दिखता हो या अन्यरूपसे दिखता हो कम चमत्कृत वस्तु भी अधिक चमत्कृत दिखती हो, ऐसे दोषकी स्थितिमे सीप चांदीरूपसे जाननेमे आ रही है यह है विपर्ययज्ञान और उस विपर्ययज्ञानके प्रतिषेधके लिए प्रमाणके स्वरूपमे व्यवसायात्मक शब्द दिया है। जो ज्ञान व्यवसायात्मक हो वह ज्ञान प्रमाण होता है। यह बात विपर्ययज्ञानके स्वरूपके समर्थनमें कही जा रही है।

द्विचन्द्रवेदनमे स्मृतिप्रमोषकी असिद्धि --इस प्रसङ्गमे एक निर्णयकी बात और रखी थी --यदि उल्टे ज्ञानमे स्मरणका सम्बन्ध माना जावे तो जब कोई जन्मसे नेत्रका दोष वाला पुरुष किसी चन्द्रको निरखता है तो दो चन्द्र दीखते हैं तो वहाँ स्मरण किसका हुआ ? किसीका नहीं ना। तो उसको कैसे स्मृतिप्रमोष सिद्ध करोगे?

इसके उत्तरमे यदि शङ्काकार यह कहे कि दो चन्द्रका जो वेदन होता है वह स्मरण ही है। दो चन्द्रका ज्ञान हो जाना यह सीधा स्मरण है। तो फिर इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियसे उस ज्ञानका कोई ताल्लुक नही रहा, आप देख लो जितने भी स्मरण ज्ञान होते हैं उन ज्ञानोमे क्या कान करते है? आपको बम्बईमे रहने वाले किसी मित्रकी याद आयी तो क्या इस स्मरणज्ञानमे आपके नेत्र, कान जिह्वा अथवा नासिका वगैरह इन्द्रिया काम करती हैं? ये कोई इन्द्रिया काम नही करती है। तो आखो से देखा चन्द्रमा और नेत्रोके दोपसे वहाँ दिख गए दो चन्द्रम तो उन दो चन्द्रमावोके दिखनेका नाम यदि स्मरण कह रहे हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि दो चन्द्रमाका ज्ञान करनेमे इन्द्रियका कोई ताल्लुक नही रहना चाहिये, पर ताल्लुक है। और, इस इन्द्रियके ताल्लुक वाले इस कल्पित स्मरण मे तुम इन्द्रियका सम्बन्ध मानो तो सारे स्मरणमे इन्द्रियका सम्बन्ध बनना चाहिए अन्यथा इस द्विचन्द्र वेदनमे भी इन्द्रियसम्बन्ध नही होना चाहिये पर ऐसा तो देखा नहीं गया है। यहा तो नेत्रसे देखते है तो दो चन्द्र दीखा करते हैं। और, इसी कारण फिर इन्द्रियका विकार भी सिद्ध नही होता। यदि स्मरणसे दो चन्द्र दिख गए तो स्मरणमे इन्द्रिया कोई काम नही करती यह नियम है न नेत्र, न कर्ण, आदि फिर उसमे विकारकी बात ही क्या रही? तो यह भी सिद्धि नहीं बनती कि दो चन्द्रका वेदन होना ही स्मरण है।

विपर्यय ज्ञानमे स्मृतिका असहयोग—भैया! सीधी सी तो बात है। जैसे दो चन्द्रमा दिखे तो यह भी उल्टा ज्ञान बना। जैसे रस्सीको सर्प जाना तो यह भी उल्टा ज्ञान है, सीपको चाँदी जाना तो यह भी उल्टा ज्ञान है, सीपको चाँदी जाना तो यह भी उल्टा ज्ञान है, शरीरको जीव जाना तो यह भी उल्टा ज्ञान है, जीव ज्ञान है, ये सब मिथ्याज्ञान है, इसमे स्मरणकी कौनसी बात है। लक्ष्यमे जो चीज सामने आयी, जाना तो उसे ही ना। तो उस ही रूपसे जान लेते तब तो वह सम्यग्ज्ञान था, पर अन्यरूपसे जान लिया तो उसका नाम मिथ्याज्ञान हो गया।

प्रत्यक्षाकारोको स्मृतिरूप माननेपर सभी ज्ञानोमे सदेहकी आपत्ति—देखिये इन प्रत्यक्षाकारोको भी स्मृतिया माननेपर तो किसी भी बातमे हम प्रमाणत्व नही स्थापित कर सकते। यदि कही चादी भी पडी है और उसे चाँदी है यह जान लिया तो इसमे भी यह बात आ सकेगी कि क्या हमारा यह ज्ञान स्मृतिमे स्मृतिप्रमोष है। या सत्य प्रतिभासमे स्मृतिप्रमोष है क्योकि स्मृति माननेके लिए उत्तरकालमें प्रत्यय हुआ करता है। जैसे जाना कि यह चाँदी है, थोडी देरमे यह जाना कि अरे यह! चाँदी नहीं है। तो जो उत्तरकाल यथार्थ ज्ञान किया वह बाधक ज्ञान बना तब यह चित्तमे बैठा कि वह स्मृति प्रमोष था। तो जब हम किसी भी सही पदार्थको जान रहे हो तो जब हम किसी भी सही पदार्थको जान रहे हो तो जब तक यह निश्चय न हो जाय कि अब इस ज्ञानके बाद इस ज्ञानको झुठला देने वाला दूसरा ज्ञान नहीं बनेगा तब वह सही माना जायगा। तो यो तो सभी ज्ञानोमे प्रमाणता नही आ सकती,

जिस चाहेकी हम शङ्का कर बैठेंगे। बिल्कुल निकट यह चौकी है इसे जान लिया कि यह चौकी है। कुछ हम इसमे यह बाट देखें कि इस ज्ञानमे बाधा देने वाला दूसरा ज्ञान न हो तो हम जान सकेंगे कि यह चौकी है इतनी बाट हेरनेकी क्या जरूरत पडती है ? सीधा है, प्रत्यक्ष देखा और जान गए। पदार्थको यदि अन्य रूपसे जाना तो विपर्ययज्ञान है और उस ही रूपसे जाना तो वह सम्यग्ज्ञान है। तो विपर्ययज्ञानकी मनाई नही कर सकते। और, न यह कह सकते कि उल्टे ज्ञानमे दो ज्ञानोका सम्बन्ध है, यह चादी है यह भी ज्ञानमे आया और चांदी है यह स्मरण ज्ञानमें आया, यों दो ज्ञानोका नाम स्मृति नही है इस कारण यह बात बिल्कुल ही ठीक कही गई कि विपर्ययज्ञानका निराकरण व्यवसायात्मक विशेषणसे होता है।

अपूर्वार्थविशेषणसे धारावाही ज्ञानके प्रमाणत्वका निराकरण—अब स्वरूपको पुन समझ लीजिए। आचार्यदेवने प्रमाणका स्वरूप यह कहा है—जो निज का और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। ऐसा स्वरूप बतानेमें सब दोष टल गए एक ज्ञान होता है धारावाही। धारावाही ज्ञान उसे कहते कि किसी एक पदार्थको जाना और जितने रूपसे जाना, उतने ही रूपसे उस पदार्थको बराबर जानते रहे तो उसका नाम धारावाही ज्ञान है। वही वही लगातार जाना जा रहा है उसे धारावाही कहते हैं। वह ज्ञान प्रमाण नही माना जाता है जैसे कोई पागल पुरुष किसी एक ही शब्दको ५० बार बोलता रहता है तो उसकी कोई कीमत भी समझता है क्या ? उसकी कोई कीमत नही है। इसी प्रकार जो पदार्थ हमारे एक बार जानने में आ गया, जाननरूपसे आ गया उससे कुछ भी न बढकर उस ही रूपसे पचासो बार जानना यह धारावाही ज्ञान प्रमाणभूत नही माना है। जैसे जान लिया कि यह चौकी है। अब इसे १०-२० बार बोलते जायें—यह चौकी है यह चौकी है, यह चौकी है यो कोई बार-बार वही शब्द बोलता जाय तो लोग तो सुनकर उसे ऊब जायेंगे। और, बादमे उस बोलने वालेको मूढ भी बतावेंगे। आज इसका चित्त क्या बन गया, तो एक ही पदार्थको बराबर उस ही रूपमे जानते जाये वह धारावाही ज्ञान है, वह प्रमाण नही है, यह बात इससे सिद्ध है कि इस स्वरूपमे अपूर्व विशेषण दिया है जो अपूर्व अर्थको जाने वह प्रमाण है। धारावाही ज्ञान अपूर्व अर्थको नही जानता जो पूर्वअर्थको जाने, एक उस ही एकको जाने, एक ही जाने वह प्रमाण नही है। अपूर्व अर्थ यह विशेषण देनेसे धारावाही ज्ञानकी प्रमाणताका निराकरण होता है, और व्यवसायात्मक शब्द देनेसे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन कुज्ञानोका निराकरण होता है।

अपूर्वार्थके प्रस्तावमे शका—बात यह ज्ञानके स्वरूपकी कही जा रही है। ज्ञान कैसा होना चाहिए कि वह सम्यक् माना जा सके। इस प्रसङ्गमे यह बात कही जा रही है कि जो ज्ञान नये-नये पदार्थको जाने, नई-नई जानकारी किया करे वह

ज्ञान प्रमाण है। जिसे एक बार जान लिया उसे ही ५० बार जानते रहे उसे प्रमाण नही कहा। इस बातको सुनकर एक शंकाकार यह कहता है तो लोकमे प्रायः सभी मनुष्य एक पदार्थका बारबार ज्ञान करते दिखाई देते है तो फिर क्या वे सब अप्रमाण रूप हो जायेंगे। ऐसा तो नही है, क्योंकि वहाँ भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो फिर इस तरह तुम्हारी बात यहाँ कैसे सिद्ध हो। जैसे जो भोजन आज जाना वही कल भी जाना था, वही रोज-रोज जानते है इसी प्रकार आगे भी वे सारे पदार्थ वैसेके ही वैसे जानें जायेंगे जैसा कि पहिले ज्ञान बना था। तो अपूर्व अर्थका जानना प्रमाण है ऐसा कहनेपर तो ये सब अप्रमाण बन जायेंगे। कल तो जान रहे थे कि यह दूकान हमारी है और आज भी जान रहे कि यह दूकान हमारी है तो बराबर उसी ज्ञानको जाननेका नाम प्रमाण नही रखा, इसे अप्रमाण कह दिया तो हम जो यह बराबर जान रहे हैं क्या यह प्रमाण नही है ?

अर्थपरिच्छित्तिविशेषसे अपूर्वार्थताका परिचय—इसपर आचार्यदेव उत्तर देते है कि यहा ये सब प्रमाण है क्योकि इन ज्ञानोसे हमारी प्रवृत्तियाँ भी बनती हैं वही भोजन आज जाना और हम खाने लगे, तो प्रवृत्ति प्रमाणमे ही तो होती है। सो वह सब प्रमाण तो यों बना कि कलका खाया हम भूल गये। कल जो बात हुई थी वह पुरानी बन गई। अब उसीको आज नये ढङ्गसे जान रहे हैं। जैसे वही भोजन आपने कल किया मान लीजिए, वही आज खानेको बैठेंगे तो आपको वहा कुछ अपूर्व मानना पड़ेगा, हम कुछ नई चीज खा रहे है, नया स्वाद ले रहे हैं, नया ज्ञान कर रहे है। यह चीज वही है यद्यपि, लेकिन समय गुजर जानेके बाद फिर उस ही पदार्थको जानने लगनेमे वह नई चीज सी बन जाती है। अर्थका हमने परिज्ञान किया वहा हमने विशेष बात जाना और लगातार जाने हुए पदार्थमे कुछ विशेष-विशेष जानते रहे तो यह भी प्रमाणभूत है। जैसे वृक्षको देखा पहिले तो यह जाना कि यह वृक्ष है, फिर जाना कि यह बडका वृक्ष है तो उस ही वृक्षको हमने अब भी जाना पर कुछ विशेष जाना। यह घडी है, फिर जाना कि यह अमुक कम्पनीकी है, यह ऐसी बढिया चलती है अथवा इतनी घटिया है। उस ही बारेमे कुछ विशेष बात जानते रहे तो तो यह सब प्रमाणभूत है।

प्रमाणका प्रभाव—प्रमाणका यह प्रभाव होता है कि वह किसी न किसी प्रकारकी प्रवृत्ति हितप्राप्ति, अहित परिहार या उपेक्षा बना दे। जैसे एक आत्माको हमने जाना तो पहिले सामान्यरूपसे जाना, आत्मा है, दर्शन है, चारित्र है, शरीरसे न्यारा है तो विशेष-विशेष जानना वह तो प्रमाणभूत है और उससे कुछ नई-नई बातें जानते हैं तो उसमें उमङ्ग बढती है और बडा संतोष उत्पन्न होता है। इतनी ही बात हमने कल जानी थी, वहीकी वही बात हम आज भी जान रहे है, जिन बातोंको पहिले जाना था अब भी हम उन ही बातोंको जान रहे हैं तो भी वही चीज कहला-

येगी पुरानी चीज न कहलायेगी। एक बार जाननेके बाद भी उसका विस्मरण हो जाय या उसके बाद अन्य अन्य जानकारी होने लगे और तब फिर हम पुरानी ही बात को यदि जाने तो उसे भी हम अपूर्व अर्थका ज्ञान कहेंगे।

प्रमाणका फल और लाभ—भैया ! अपूर्व पदार्थका ज्ञान होना यह प्रमाण है और इस ज्ञानमे प्रसन्नता है, हितकी प्राप्ति है, अहितका परिहार है और जहाँ उपेक्षा करने योग्य है वहाँ उसकी उपेक्षा रूप परिणमन है वही हित प्राप्ति है। यों सम्यग्ज्ञान संशय विपर्यय अनध्यवसाय तीन ज्ञानोका प्रतिषेध करता है। जो इस दोष से रहित हो ऐसा जो सच्चा निर्णय करने वाला ज्ञान है वह प्रमाणभूत होता है। इस ज्ञानकी परीक्षामे जो असत्यवादोके पक्ष आयेंगे उनका खण्डन किया जायगा। तुम्हारा यह ज्ञान यों सही नही है। इस प्रकार ज्ञानके दोष क्या हुए, ज्ञानके गुण क्या हुए इसकी परीक्षा कर लेना एक बहुत अधिक न्यायसे और दृढतासे ज्ञान करनेकी इच्छा करने वालेको पहिले आवश्यक है कि वह ज्ञानके गुण और ज्ञानके दोष समझले कि ऐसा गुण हो तो वह ज्ञान सही है और यदि दोष हैं तो वह ज्ञान झूठा है उस ही ज्ञानकी यहाँ परीक्षा की जा रही है।

अपूर्वार्थका विवरण—स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। इस प्रमाणके स्वरूपमे अब अपूर्व अर्थका विवरण चल रहा है। अपूर्व अर्थ सीधा भाव यह है कि जिसे नही जाना उसे जानना। जाने हुएको जानते रहना प्रमाण नही कहा गया है। जो पदार्थ एक बार जान लिया उस ही को बराबर जानते रहना इसमे प्रमाणका कोई फल नही है। प्रमाणका फल है हितकी प्राप्ति करना और अहित का परिहार करना, या उपेक्षा भाव करना और अज्ञान दूर होना। ज्ञानके ४ फल है तो जिस पदार्थको एक बार जान लिया उसको निरन्तर दुहरानेसे, जानते रहनेसे न तो हितकी प्राप्ति और न अहितका परिहार है वह तो एक उन्मत्त जैसी चेष्टा है। तथा उपेक्षा भाव भी नही आता है, और न अज्ञान निवृत्तिका फल है क्योंकि प्रथम बारके जान लेनेसे ही अज्ञान निवृत्ति हो गयी थी। तो ज्ञात अर्थको पूर्व अर्थ कहते हैं और अज्ञात पदार्थको अपूर्व अर्थ कहते हैं। जो नही जाना गया उसका जानना सो सम्यक् ज्ञान है और प्रमाण है। इस ही अपूर्व अर्थकी व्याख्या सूत्र द्वारा कर रहे हैं।

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

अपूर्वार्थ शब्दका क्षेत्र—जो अपने स्वरूपसे या आकार विशेष रूपसे अवगत न हो, अनवगत है ऐसा सब कुछ अपूर्व है। जो ज्ञान द्वारा समझा न हो वह सब-अपूर्व अर्थ है। इसमे यह जानना कि अपूर्व अर्थका एकाग्र हठ नही है। ज्ञात अर्थको फिरसे भी जानते रहना यद्यपि अप्रमाण है। मगर ज्ञात अर्थसे कुछ विशेषताको लेकर जानना, कुछ प्रयोजनको लेकर जानना सो प्रमाण है। जैसे आत्माका ज्ञान कर लिया

अब उस आत्माका ज्ञान कर लिया तो उस आत्माका ज्ञान निरन्तर करते रहना योग्य है। उसकी दृष्टि बनाये रहे तो उस ज्ञानने एक प्रयोजन बनाया बीच मे उपयोग बिगड़नेकी सम्भावना है रागादिक होनेकी सम्भावना है, उनके निराकरणका वहाँ प्रयोजन बना हुआ है और फिर बारबर आत्माके जानते रहनेसे विशुद्ध आनन्द होता है कुछ विशेष विशेष अन्त प्रवृत्तियाँ चलती रहती है और फिर लोकव्यवहारमे जिस किसी को भी जाना कि यह कोई मनुष्य आ रहा, फिर जाना कि यह अमुक आदमी है, इस तरह कुछ विशेषताको लेकर जानते रहे तो वह भी अपूर्व अर्थकी तरह है। ऐसा भी भाव अपूर्व अथमे भरा होता है। ऐसे अपूर्व अर्थका व्यवसाय करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है।

प्रमाणस्वरूपमे अपूर्वार्थ विशेषण देनेसे धारावाही ज्ञानके प्रमाणत्वका निरसन – अपूर्व अर्थ शब्द देनेसे केवल उस ज्ञानका निराकरण किया है जो ज्ञान निष्प्रयोजन जाने हुएको ही उतनेके ही उतने रूपमे बराबर जानता रहे, न उसका कोई प्रयोजन है, ऐसे धारावाही ज्ञानकी प्रमाणता नही है। उसका निराकरण करनेके लिए अपूर्व अर्थ विशेषण दिया है। अब किन किन दशाओमे जाने हुए भी पदार्थ अज्ञातकी तरह है, अपूर्वकी तरह हो जाते हैं, उन स्थितियोको बतानेके लिए ५ वाँ सूत्र कह रहे है।

दृष्टोऽपि समारोपात्ताहक् ॥ ५ ॥

ज्ञात पदार्थकी भी समारोपके सम्बन्धसे अज्ञातसमता – 'दृष्ट अपि समारोपात् तादृग् भवति' प्रतिपन्न अर्थ भी, देखा जाता हुआ पदार्थ भी समारोप आ जानेके कारण न जानेकी तरह, अदृष्टकी तरह हो जाता है। किसी भी पदार्थको जान लिया था। बीचमे सशय हो गया या मिथ्याज्ञान बन गया या अनध्यवसाय बन गया तो फिर वह उसे जाने तो अपूर्व अर्थ है वह। जैसे कल भी भोजन किया था, आज भी भोजन करेंगे। तो ऐसा भोजन अनेक बार किया गया पर बीचमे अनध्यवसाय हो गया था। उसकी ओरसे चित्त हट गया था। तो जो कल खा चुकनेके बाद तुरन्त जो स्थिति थी वह अब तो आज नही है। जैसे मानो कल १० बजे भोजन किया था, आज भी उसी स्थितिमे वही भोजन करे तो उसमे क्या फर्क रहा? सिर्फ स्थिति बदल गयी, अनध्यवसाय हो गया था, बल्कि यहाँ तक हो गया कि बिना खाये उस भोजनके रसका भी परिज्ञान नहीं हो सक रहा है। जैसे कल भी खाया था तो ऐसी जब स्थितियाँ बन जाती हैं तो ज्ञात किए हुए भी पदार्थ अज्ञातकी तरह हो जाते हैं।

आत्माके निरन्तर ज्ञानमें ज्ञानफल—कल आत्माकी निरन्तर बात सुनी थी, अब २३ घटा समय गुजर जानेपर आत्माकी ही बात फिर सुनी जा रही है। तो

क ई कहे कि यह क्या रोज–रोज आत्मा–आत्माका ही व्याख्यान दिया जा रहा है। तो उससे यह कहो कि यह क्या रोज–रोज ऊधम मचा रखा है कि वही द ल रोटी जो कल खाया था आज भी वही खाया, जब देखो तब वही दा न रोटी खाते, यह क्या ऊधम सा मचा रक्खा है ? तो वहाँ तो यह समाधान मिल जाता कि हमारा यह ऊधम नही है, क्षुधा है वेदना है, उसके बिना शरीर चलता नही है वह ऊधम नहीं है। तो ऐसे आत्माका भी यह बारबारका परिज्ञान यह सब सप्रयोजन है और इतना सप्रयोजन हैं कि होना तो यह चाहिए कि निरन्तर बिना अन्तराल अधिकसे अधिक समय आत्माका निर्विकल्परूपसे एक स्वरूप परिज्ञान चलता रहे, उसका फल यह हूं गा कि सदाके लिये ससारके सकटोसे छूट जायेंगे, निर्वाण प्राप्त होगा।

अपूर्व अर्थके ऐकान्तिक अर्थका निषेध— तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ एक बार जान लिया वह भी अज्ञातकी तरह हो जाता है यदि सशय विपर्यय और अनध्यवसाय वहाँ आ जाय। केवल अज्ञात अर्थका ही नाम अपूर्व अर्थ नहीं है किन्तु ज्ञात भी अर्थ हो और उसमे सशय आदिक आ जाये तो वह भी अज्ञात अर्थात् अपूर्व अर्थ हो जाता है। जैसे कि जिन शास्त्रोका अध्ययन किया है, पढ चुके हैं, पर बीचमे अभ्यास छ ट जानेसे वे शास्त्र भी न पढेकी तरह हो जाते हैं, इस प्रकार भी अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाले जितने भी ज्ञान है वे सब ज्ञानप्रमाणरूप हैं। तब यह बात सामान्यरूपसे तो कहना चाहिये कि अज्ञात अर्थको जानसे वाला ज्ञान प्रमाण है पर इसमे अज्ञातका अर्थ लगानेमे सर्वथा एकान्त हठ न करना चाहिए। ज्ञात अर्थ भी समारोप होनेके कारण अर्थात् सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ज्ञान आ जानेके कारण अज्ञात हो जाता है और फिर उसका ज्ञान प्रमाणभूत हो जाता है। चाहे वस्तु जान ली गई हो अथवा न जानी गई हो, जिसमे निर्दोष अर्थ परिच्छेद बने, पदार्थका विज्ञान बने कुछ अपूर्व तत्त्वकी झाँकी आये तो वह प्रमाणभूत है, उसमे कोई दोष नही आता।

विशेष अर्थ परिच्छित्तिसे अपूर्वार्थका निर्णय—कोई यह पूछे कि जो पदार्थ जान लिया गया है। उस ज्ञात पदार्थमे जो दूसरा ज्ञान बनाया है तो कौनसी विशेषता कर रहा है जिससे वह प्रमाण बन जाय ? एक बार जिस पदार्थको जान लिया उसे फिर दुबारा जान लिया तो इस द्वितीय ज्ञानने कौनसी विशेषता उत्पन्न कर दी जिससे वह प्रमाण कहा जाने लगा ? उत्तर यह देख लीजिये, अगर विशिष्ट प्रमा उत्पन्न हुई है अर्थात् पदार्थका कोई विशेष मर्म ज्ञात हुआ है तो उसे प्रमाण मान लीजिये और वरीना वही बिना प्रयोजन उतने ही रूपमे बारबार ज्ञान कररहा हो कोई तो वह मान लीजिये। यो समझ लीजिये कि जिसे बिना प्रयोजन बिना किसी परिणामके उन्मत्त पुरुष पचासो बार कहता रहता है उनका कोई फल नही मिलता ऐसे ही जो जाने वह तो अप्रमाणभूत है। और विशेष विशेष अर्थका मर्म जानते जायें तो वह सब ज्ञान कार्यकारी है और प्रमाणभूत है, हाँ विशिष्ट उसमे कुछ परिच्छेदन हो

ज्ञान हो तो वह प्रमाण है। न हो विशेषज्ञान तो वह प्रमाण नही है। विशेषज्ञान होनेपर भी अधिगत जाने हुए पदार्थमे भी यदि यह कहने लगे कि कुछ नही किया तो, जो नही जाना गया है उसमे भी विशेष जानकारी बने तो वहाँ भी कुछ नही किया समझिये। सो कुछ विशेष जानकारी आ जाय वही ज्ञानका करना कहलाया। चाहे जाने हुए पदार्थमे विशेष जानकारी आये चाहे न जानेमे विशेष जानकारी आवे, जहाँ विशेष तत्त्वकी जानकारी बनती उसे प्रमाण कहते हैं।

केवलज्ञानके प्रमाणत्वका शकासमाधान अब यहाँ यह शका हुई है कि केवलज्ञान तो ज्ञात-ज्ञातको ही बारबार जानता रहता है उसे प्रमाण कैसे माना जाय ? उसे धारावाही ज्ञान मान लेना चाहिये क्योकि जो जाना था उसीको बारबार जाना गया ना। उत्तर - प्रथम बात तो यह है कि दार्शनिक क्षेत्रकी कोटिमे केवलज्ञानमे न हम प्रमाणताका ख्याल करे, न अप्रमाणताका ख्याल करें, जहाँ पदार्थका निर्णय किया जा रहा है वहा प्रमाणताका और अप्रमाणताका दार्शनिक क्षेत्रमे विश्लेषण किया जाता है और फिर केवलज्ञानमे उस ही पदार्थको बारबार जानते रहने का फल वहा अनन्त आनन्द पडा ही हुआ है। ऐसा फल यहा धारावाही ज्ञान करने वालेको नही मिलता। एक वहा ऐसी स्वाभाविक बात है, उनका वह अनन्त आनन्द अविशेष आनन्द है, विशिष्ट आनन्द नही किन्तु व्यापक सामान्य आनन्द है। विशिष्ट आनन्दका अर्थ है तरगित आनन्द। जिसमे चढाव उतार हो, विषय बदले वहा जो आनन्द होता है उसे तो समझिये विशिष्ट आनन्द और जहा चढाव उतार नही, परका विषय नही, परका आश्रय नही वहा यद्यपि वह आनन्द सब आनन्दोसे विलक्षण है लेकिन उसे विशिष्ट नही कहा किन्तु एक सामान्य कहा। जो कि अनन्त काल तक वहीका वही बना रहेगा। ऐसे विलक्षण व्यापक सामान्य एक स्वरूप आनन्दकी प्राप्ति मे समर्थ ऐसा ही यह ज्ञान हो रहा है।

सर्वज्ञदेवका विलक्षण अविशिष्ट ज्ञानानन्द— सर्वज्ञदेवका आनन्द विशिष्ट आनन्द नही है और उनका ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान नही है, विलक्षण ज्ञान जरूर है। जैसा कि साधारण समस्त ससारी जीवोमे नही पाया जाता ऐसा अलौकिक विलक्षण ज्ञान है किन्तु उस ज्ञानको हम विशिष्ट यो कहते कि जिस ज्ञानमे चढाव उतार नही है, जिस ज्ञानमे विषयकी बदल नही है, अब कुछ जाना फिर कुछ जाना, जिस ज्ञान परिवर्तन भी नही चलते ऐसा एकस्वरूपज्ञान सामान्यज्ञान है। और, यही कारण है कि केवलज्ञान जैसी परिणतिकी ज्ञानस्वभावमे मग्नता हो जाती है। हम लोगोका स्वभाव है एकस्वरूप। और, ज्ञान चल रहा है नानारूप। हमारे ज्ञानस्वभावमे जो एक रसता और साम्य है, हमारी वर्तमान ज्ञानपरिणतिमे एकरसता और साम्य नही है तो हम लोगोके ज्ञान और आनन्द तो विशिष्ट होते है, पर भगवानका ज्ञान और आनद अविशिष्ट है। अविशिष्ट ज्ञान और आनन्दमे निराकुलता है और विशिष्टज्ञान और

आनन्दने क्षोभ भरा हुआ है। लोकमें विशेषका महत्त्व है, पर अध्यात्ममे सामान्यका महत्त्व है। किसी मनुष्यका परिचय देनेके लिए लोग यदि उसका महत्त्व न माने देना चाहे तो कहते—अजी यह तो साधारण मनुष्य है, और किसीका महत्त्व बढाना हो तो कहते कि साहब यह तो हमारे गावके विशिष्ट पुरुष है। लोकमे विशिष्टताका महत्त्व बढाया जाता है, पर अध्यात्मक्षेत्रमे कुछ भी विशिष्टताकी बात बनाये तो वह तो वह तरङ्ग है, औपाधिक है, स्वभावके प्रतिकूल है, एक फिट होने वाली बात नही, मग्नताके प्रतिकूल है अतएव सब विशिष्ट परिणतियाँ महत्त्वहीन हैं।

विशिष्ट प्रमासे प्रमाणत्वकी व्यवस्था यहा दार्शनिक क्षेत्रमे प्रमाणकी व्यवस्था की जा रही है। उत्सर्ग रूपमे यह बात रखी है कि जो अज्ञात अर्थका ज्ञान करे वह ज्ञान प्रमाण है पर इससे सर्वथा अज्ञात न ले लेना। अज्ञात अर्थका ज्ञान करना भी प्रमाण है, और ज्ञात अर्थमे, जाने हुए अर्थमे, कुछ विशेष ज्ञान करना सो भी प्रमाण है और जाना हुआ अर्थ यदि भूल जायें, उस बीच संशय आ जाय, विपर्यय आ जाय या कुछ अनध्यवसाय हो जाय तो उसका भी ज्ञान करना प्रमाणभूत है।

अपूर्वार्थके अज्ञातैकान्तवादमे अप्रमाणसे प्रमाणव्यवस्थाकी आपत्ति—एकान्तसें यदि अनधिगत अर्थको जानने वाले ज्ञानको ही प्रमाण माना जाय तो यह बात सिद्ध यो न होगी कि देखिये किसी भी पदार्थका हमने ज्ञान किया तो यह ज्ञान किया तो यह ज्ञान हमारा प्रमाणभूत है ऐसा निश्चय होता है सम्वादसे। सम्वादका अर्थ है कि उस ज्ञानकी मजबूतीके लिए जो एक और नई झलक बनी जिसमे विसम्वाद हट गया उस सम्वाद ज्ञानसे निश्चय होता है कि यह ज्ञान सही है, वहाँ अपने आपके लिए सो जिस समय ज्ञान हुआ उस ही समय वह ज्ञान सम्वाद कर लेता, निर्णय रख लेता कि मैं सही हू। पर जब कोई विसम्वादकी कोटिमे रख दे कि तुम्हारा ज्ञान सही है क्या, जरा निर्णय करो तो उसके निर्णयके लिए दूसरा ज्ञान बनता कि नही बनता। तो प्रमाणकी प्रमाणता द्वितीय सम्वादी ज्ञानसे होती है। तो द्वितीय जो निर्णय करने वाला ज्ञान बना, उसने किसके बारेमे निर्णय किया ? ज्ञात पदार्थके बारेमे, और ज्ञात पदार्थके बारेमे निर्णय करने वालेको तुम सर्वथा अप्रमाण कर रहे तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमाणकी प्रमाणताका निर्णय करने वाला अप्रमाण ज्ञान है। तो भला अप्रमाणसे प्रमाणका कोई निर्णय भी बन सकता है ? कितनी सूक्ष्मता के साथ बात रखी गई है। इससे यह हल न करें कि सर्वथा अज्ञात अर्थको ही जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणका यह अर्थ रखिये, स्वरूप बनाइये कि विशिष्ट अर्थका जो जानन करे वह प्रमाण है। चाहे अज्ञात अर्थमे कुछ विशेष मर्मको जनाया हो चाहे ज्ञात अर्थमें कुछ विशेष मर्मको जनाया हो, विशेष अर्थको जो जाने उसे प्रमाण कहते हैं।

आत्मलाभहेतुतासे सम्यग्ज्ञानकी व्यवस्थाकी एक दृष्टि—यहाँ तक यह

बात कही गई है कि देखिये प्रमाण करना क्यो जरूरी है ? सच्चा ज्ञान बनानेसे लाभ क्या होता है ? वह लाभ जहाँ जहाँ मिले उससे तो निश्चय करिये कि यह सम्यग्ज्ञान है। प्रयोजनीभूत ज्ञान है। सम्यक् जा निज आत्मा हो उसका सम्यक् करनेके लिये भला करनेके लिये जो ज्ञान बनता है वह सम्यक् ज्ञान है, इस तरह भी अर्थ कर दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसमे थोडा यह तो कहा जा सकता कि लोक व्यवहारमे तो लाभ और किस्मके भी माने जाते और मोक्ष मार्गमे लाभ और किस्मके माने जाते। तो भाई जहाँ सुखप्राप्ति होती हो और जिस ढङ्गसे होती हो उस ढङ्गके लिए वहाँ वहाँ वे सब ज्ञान प्रमाण हैं।

सत्यके विशिष्ट कक्षोका एक उदाहरण— देखिये जैसे सत्यके बारेमे चार जगह वर्णन किया है, सत्य महाव्रत, भाषासमिति, उत्तम सत्य और वचन गुप्ति, इन चारका प्रयोजन सत्यसे है, और इन चारमे सत्यकी प्रतिष्ठा बढती जाती है। महाव्रतसे भाषासमितिमे, उससे बढकर उत्तम सत्यने, उससे बढकर वचनगुप्तिमे, सत्य महाव्रतमे सत्य बोलना है इतना नियन्त्रण है। चाहे वहाँ किसी भी बारेमे बोला जाय, सत्य महाव्रतका उद्देश्य नही मिटा, पर भाषा समितिमे नियन्त्रण और बढ गया कि आप सत्य महाव्रतके अन्तर्गत सत्य तो बोलिये किन्तु परिमित वचनोसे बोलिये और प्रिय वचनोसे बोलिये और हितके प्रसङ्गमे बोलिये। उत्तम सत्यमे अब और नियन्त्रण बढा कि केवल आत्महितमे ही बोलिये। जितना मात्र आत्मासे सम्बन्ध हो उतना बोलिये, उत्तम सत्यका यह नियन्त्रण और बढ गया। और वचनगुप्तिमे समस्त नियन्त्रण हो गया कि बोलिये ही नही, मौनपूर्वक रहिये।

सम्यक् असम्यक्की किन्ही स्थितियोमे उपेक्षाकृत भी व्यवस्था— जैसे चार प्रकारोमे सत्यके दर्जे बढ गए और इन दर्जोके मुकाबलेमे कोई गृहस्थ अपना व्यापार दूकान बिल्कुल सत्य बोलकर करता है, एक दाम बोलेगा वही लिखा पढी करेगा जो गृहस्थीमे सत्य कहा जाता है। पूर्ण सत्यके साथ अपना व्यापार करता है लेकिन वे आत्माके ससर्गी वचन नही हैं। वे लोक व्यवहार और आजीविकाके वचन हैं अतएव असत्य हैं। सत्य बोलकर भी व्यापारके वचन असत्य कहलाते है। जहाँ आत्मलाभ होता हो बस उन ज्ञानको ज्ञान कहा है और प्रमाणभूत कहा है। ऐसे ज्ञानके फलमे ४ बातें ही हुआ करती हैं अज्ञानका विनाश हो जाना, यह तो लाजमी रहता है। इसके अतिरिक्त फिर तीन बाते ऐसी है कि किसीके तीन भी हो जाये, किसीके दो भी हो जायें और किसी के एक भी रहे। वह है हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार और उपेक्षा भाव, ये चार परिपाक सम्यग्ज्ञानके होते है इसको दृष्टिमे रखतेहुए प्रमाणके स्वरूपकी यहाँ व्यवस्था की जारही है और यह समर्थन किया जा रहा है कि जो अपूर्व अर्थ का परिज्ञान करे वह ज्ञान प्रमाण होता है।

अपूर्व अर्थकी दृष्टान्तपूर्वक व्याख्या—प्रकरण यह चल रहा है कि अपूर्व

अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण तो है, किन्तु उसका सर्वथा अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला यह अर्थ न लगाना चाहिए। जाना हुआ भी पदार्थ बीचमे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय हो जानेसे न जाने हुएकी तरह हो जाता है और जाने हुए पदार्थमे भी कुछ और विशेषता मर्मकी जानकारी बननेपर वह भी अपूर्व अर्थ कहलाता है इस कारण सर्वथा अज्ञान करना यह इसका भाव नही है। और, भी देखिये जैसे पहिले वृक्षको जाना फिर थोडी देर बाद जाना कि यह बडका वृक्ष है तो यह वड है इस तरहका ज्ञान ज्ञात अर्थमे हुआ या अज्ञात अर्थमे ? सर्वथा एकान्तवादी तो यह कह रहे है कि वह ज्ञात अर्थमे हो गया तो क्या वह अप्रमाण हैं। किसीने पहिले अज्ञातदशाके अनन्तर ही वृक्षमे जाना जब भी वह प्रमाण ज्ञान है। पश्चात् उस ज्ञात वृक्षमे वटवृक्ष है ऐसा जाना तब भी वह प्रमाण है। वृक्ष है यह तो सामान्य ज्ञान हुआ और वटवृक्ष है यह विशेष ज्ञान हुआ।

सामान्य विशेषका तादात्म्य होनेसे अपूर्वार्थं विशेषणकी व्यापक क्षेत्रता—और भी सोचिये वृक्षमे और वटमे सामान्य विशेषका परस्पर तादात्म्य है या नही कि वृक्ष अलग पडा है और वट अलग खडा है ? उस ही पदार्थमे सामान्य ज्ञान तो बना वृक्ष और विशेषज्ञान बना यह वट वृक्ष है। तो सामान्य और विशेषका तादात्म्य हुआ ना ? तो जब सामान्य विशेषका तादात्म्य हुआ तो सामान्य जान लिया गया था पहिले। तो ज्ञान अर्थका ही ज्ञान अर्थका निश्चय करनेको ही प्रमाण कहते हैं, यह बात युक्त नही बैठती। उस ही वृक्षमें पहिले यह जान लिया कि यह वृक्ष है तो पूर्व ज्ञानमे तो वृक्षका अस्तित्व आया और पश्चात् जाना कि यह वट है सो उत्तर ज्ञानमे वटका अस्तित्व आया तो इस समयका अस्तित्व याने वटका अस्तित्व पूर्वके अस्तित्वसे भिन्न है या अभिन्न है भिन्न तो नही है, उस ही वृक्षमे वह वटपना है और वह पहिले जान लिया था तो इससे यह निश्चय करिये कि चाहे वस्तु पहिले जान ली हो अथवा न जान ली हो उसमे किसी विशेष तत्त्वका, पदार्थका परिज्ञान हो तो वह अपूर्व अर्थका ही परिज्ञान है। यदि ऐसा कहो कि कथचित अज्ञात हो गया, था तो वह ज्ञात ही मगर किसी दृष्टिसे अज्ञात बन गया तो यही तो स्याद्वादमत है। वह ज्ञात भी है और अज्ञात भी है। सामान्यरूपसे जाना हुआ है, विशेषरूपसे नही जाना हुआ है तो अपूर्व अर्थका यह भाव समझना कि कोई विशेष जानकारी बने उसका नाम प्रमाण है।

निश्चयान्तरोकी भी सप्रयोजनता—भैया ! इस प्रसगमे यह भी नही कह सकते कि जो पदार्थ एक बार निश्चित हो चुका उसमे फिर अन्य निश्चय करनेसे क्या प्रयोजन है अर्थात् जो एक बार जान लिया गया फिर उसका और और निश्चय करनेसे क्या लाभ है, यह तो एक मूर्खता भरी बात बनेगी, यह भी नहीं कह सकते क्योकि किसी पदार्थका दुबारा निश्चय करनेपर दृढ आदिककी साधकता बनती है।

जैसे पहिले तो वस्तुमात्रका निश्चय किया और फिर बादमे निश्चय और करते हैं तो यह सुखका साधन है या दु खका साधन है इस प्रकारका और विशेष निश्चय बनता है और इस निश्चयके बाद फिर यदि दु खका कारणभूत है-तो उसको छोड दिया है और सुखका साधनभूत है तो उसे ग्रहणकर लिया जाता है। प्रमाणके स्वरूपमे यह बात बताई जा रही है कि कुछ नवीन मर्मका ज्ञान हो वह प्रमाण है और उस नवीन मर्मके ज्ञानके साथ हित प्राप्ति अहित परिहार ये लगे हुए है और इसीसे वह सुखका अथवा दु खका साधन है यह भी निर्णय बन जाता है। तो किसी पदार्थको बारबार जानना कोई दोष नही है लेकिन कुछ न कुछ विशेषताके लेकर जाननेसे यहाँ प्रमाणता आती। सुखका साधन जानकर सुखमे प्रवृत्त हुई, दु खका साधन जान कर उसका परिहार हुआ तो बारबार समझना, निश्चय करना यह प्रयोजन नही है।

निश्चयान्तरोकी मान्यता बिना विपर्ययज्ञानसे भी हिताहितप्राप्ति-परिहारका प्रसङ्ग—अन्य अन्य निश्चय न मानेगे तो विपर्ययज्ञानके द्वारा भी इष्टका उपादान और अनिष्टका परिहार करनेका प्रसङ्ग आ जायगा। जैसे पडी तो थी सीप जान लिया चाँदी, एक बार जान लिया दुबारा जाननेकी जरूरत नही समझते तो जाननेपर फिर चाँदी उठा ली तो क्या चाँदी मिल जायगी ? तो विपर्ययज्ञानसे भी इष्टका उपादान और अनिष्टके त्याग बन जानेका प्रसङ्ग आ जायगा। तो अपूर्व अर्थसे मतलब है कोई नये तत्त्वकी झलक बनना, नई पद्धतिसे जानकारी बनना। इष्टका ग्रहण अनिष्टका परिहार हो जाय यह सब अपूर्व अर्थ ही कहलाता है। और, देखिये यह तो जानने वाले लोगोकी विशेषता है। किसीको एकबारके देखनेमे ही पदार्थका पूर्ण पुष्ट ज्ञान हो जाता है और किसीको उस पदार्थके जाननेमे अनेक ज्ञान जगते है तब उसका निश्चय होता है। तो अनेक ज्ञान जगें इससे कही भी सब ज्ञान अप्रमाण न बन जायेंगे। उन सब ज्ञानोमे उत्तरोत्तर कुछ विशेषताकी जानकारी चल रही है।

एक पदार्थमे उत्तरोत्तर अनेक ज्ञानोकी प्रवृत्ति—जैसे किसी पर्वतमे धुवाँ उठता है तो उसे देखकर जाना कि यह अग्नि है। तो सर्वप्रथम तो एक व्याप्ति ज्ञानमे इस तरह अग्निका स्मरण बनता है कि देखो जहाँ धुवाँ होता है वहाँ अग्नि पायी जाती है और जहाँ अग्नि है वहाँ धुवाँ पाया जाता है, अग्नि न हो तो धुवा नही होता, धुवा नही हो तो अग्नि नही होती। इस तरहसे अग्निका एक सामान्य रूपसे परिज्ञान बना ना, फिर उसका इस पर्वतमे अग्नि है ऐसे किसी क्षेत्रका सम्बन्ध जुडा कर अग्निका ज्ञान बना और फिर प्रचुर मात्रामे है या कम रूपमे है इस प्रकारके आकारको लेकर ज्ञान बना और जब आगे जाकर वहा अग्निको देख लिया तो प्रत्यक्ष आकारमे वहाँ अग्निका ज्ञान बना। एक ही पदार्थमे जो उत्तरोत्तर विशेष पद्धति लेकर ज्ञान बनता गया वह ज्ञान प्रमाण है। अत. जो सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान है वह प्रमाण है ऐसा कहना युक्त नही है। यद्यपि प्रमाणभूत ज्ञान अपूर्व अर्थ सम्बन्धी होता

है, बाधासे रहित होता है, लेकिन उसमे सर्वथा एकान्तवाद कर लीजिए कि जो बिल्कुल ही अज्ञान हो अब तक न जाना गया हो, उसका ज्ञान प्रमाणभूत है ऐसा एकान्त न कर सकेंगे।

प्रत्यभिज्ञानमे ज्ञात अर्थका विज्ञान—और भी देखिये - एक ज्ञान होता है प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यक्षसे कुछ चीज देखी और उसके सम्बन्धमें यह ख्याल आया कि वह वही चीज है जिसे हमने कल निरखा था या अमुक देशमे देखा था तो यहाँ जो यह प्रत्यभिज्ञान हुआ यह तो जाने हुए पदार्थके बारेमे ही ज्ञान हुआ तो प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो जाना चाहिए। किसी मनुष्यको आपने कलकत्तामे देखा था, आज वह सामने आया तो उसको निरखकर यह ज्ञान बनता कि हमने उसे कलकत्तामें निरखा था तो यह ज्ञान सही ही तो है। लेकिन जाने हुए पदार्थका ही तो ज्ञान किया ना। और तुम यह एकान्त कर रहे हो कि जाने हुए पदार्थका ज्ञान करना प्रमाण नही है। जो न जाना हो उसे जानना प्रमाण है। जब प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण बन बैठेगा तो किसी पदार्थको तुम नित्य नही सिद्ध कर सकते। आत्मा नित्य है यह कब सिद्ध कर सकेंगे ? आत्मा यह वही है जो पहिलेसे था ऐसा वर्तमान अवस्थामे और पूर्व अवस्थावोंमें एकत्वका ज्ञान बनेगा तभी तो नित्यता सिद्ध होगी। यह सर्वथा अपूर्व अर्थको जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहने वाले नित्यवादी सिद्धान्तके हैं तो सर्वथा अज्ञात अर्थको प्रमाण माननेपर फिर नित्यताकी सिद्धि नहीं बन सकती। तो नित्य तो तब माना जायगा जब यह ध्यान आये कि यह पहिलेसे चला आया आगे तक रहेगा तो पूर्व और उत्तर अवस्थावोमे रहने वाले एकत्वका परिज्ञान होनेसे नित्य समझा था। तब ज्ञात अर्थकी जानकारी भी प्रमाण है यह भी तो सिद्ध हुआ और इसमे अपूर्व अर्थ भी बसा हुआ है और ज्ञात अर्थको भी जाना है।

एकत्व सादृश्य आदि प्रत्यभिज्ञानोमे ज्ञात अर्थके ज्ञानकी प्रमाणता—कलकत्तामे निरखा था जिस पुरुषको उसका स्मरण हुआ यही हुआ एक पूर्व अवस्था का बोध और वर्तमानमे निरख रहे हैं कि यह है यह हुआ प्रत्यक्ष। अब इन दोनो अवस्थावोमे कुछ एकत्वका ज्ञान किया जा रहा यह वही है, यह हुआ अपूर्व अर्थ। ज्ञात भी अर्थ हुआ किन्तु उसके सम्बन्धमे अपूर्व अर्थका ज्ञान हो तो वह प्रमाण होता ही है। सर्वथा अपूर्व अर्थकी बात युक्त नही बैठ सकती। प्रत्यभिज्ञान तो अनुभूत अर्थको ग्रहण करता है। जैसे जङ्गलमे जा रहे हैं वहाँ रोझ देखा, रोझको देखकर यह ज्ञान किया कि यह तो गायके समान जानवर है तो यहा यह रोझ है यह जाना और गायके समान है यह जाना तो इसमें प्रत्यक्षमे आया हुआ है रोझ और उसमें उस स्मरण किये हुए गायकी सदृशता बैठायी गयी है। तो इसमे रोझको एक बार देख लिया तब तो वह ज्ञात हो गया ना और गायको पहिले देखा ही था वह भी ज्ञात है तो ज्ञात अर्थको जाननेपर भी यह उसके समान है ऐसा जो परिज्ञान है वह तो बराबर

प्रमाणभूत है। उसमे अपूर्व अर्थ भरा है प्रत्यक्षमे स्मृतिकीका सादृश्य।

प्रत्यक्ष और स्मरणसे ज्ञात अर्थमे ही प्रत्यभिज्ञानकी उद्भूति—अनुभूत अर्थको ही ग्रहण करता है यह प्रत्यभिज्ञान क्योकि जो स्मरणसे और प्रत्यक्षसे जाना गया है उस ही पदार्थमे प्रत्ययभिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। न प्रत्यक्षमे आया हो न स्मरणमे आया हो वहाँ तो प्रत्यभिज्ञान नही बनता क्योकि विना प्रत्यक्षके, विना स्मरणके यदि प्रत्यभिज्ञान बन जाय तो जैसे हम यहाँके भाईमे यह ज्ञान करते है कि यह आदमी वह है जिसे कलकत्तामे निरखा था तो इसी प्रकार मेरु आदिकमे भी प्रत्यभिज्ञान करलें जिसका न कभी प्रत्यक्ष हुआ, न स्मरण हुआ उसको भी प्रत्यभिज्ञानसे जान लें। यो अटपट अनेक प्रत्यभिज्ञान होने लगेगे। इस कारण यह ठीक ही है कि प्रत्यभिज्ञान अनुभूतमे, जाने हुए पदार्थमे ही होता है।

प्रत्यभिज्ञानके विषयको अज्ञात बतानेका प्रयास और निराकरण— शायद यह कहो कि पूर्व अवस्था और वर्तमान अवस्थामे रहने वाला जो एकत्व है उस एकत्वको जाना प्रत्यभिज्ञानने। जाने हुएको नही जाना, जानी हुई तो प्रथम अवस्था है और उत्तर अवस्था है, प्रत्यभिज्ञानने न तो प्रथम अवस्थाको जाना और न उत्तर अवस्थाको जाना किन्तु उन दोनो अवस्थावोमे जो एकत्व है उसको जाना। इस कारणसे यहाँ यह दोष न लग सकेगा कि ज्ञातको जाना। अज्ञातको ही नही जाना गया है। तो उत्तरमे पूछा जा रहा है कि पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्थामे रहने वाला जो एकत्व है, वह एकत्व उन दोनो अवस्थावोसे न्यारा है अथवा अभिन्न है? यदि कहे न्यारा है तो यह बात तो अयुक्त है। कहाँ न्यारा है? पूर्व और उत्तर अवस्थाओसे न्यारे किसी एकत्वमे प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति नही हो सकती क्योकि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष और स्मरणको जाने गए पदार्थके सम्बन्धमे ही हो रहा है। अन्यथा याने यदि पूर्व और उत्तर अवस्थासे जुदा कही एकत्व है और उसका प्रत्यभिज्ञान किया तो किसी अन्य पदार्थमे क्यो नही एकत्व जोड दिया? यह मनुष्य वही है जिसे कलकत्तामे देखा था ऐसा जो एकत्व जोडा जा रहा है वह एकत्व उस कलकत्तामे दृष्ट अवस्थासे जुदा है और वर्तमानमे देखी गई अवस्थासे भी जुदा है तो कोई तीसरा चौथा आदमी है वह भी उन अवस्थावोसे जुदा है तो अन्य मनुष्यमे क्यो न एकत्व जोड दिया, उसमे ही क्यो एकत्व जाना जा रहा जिसे पहिले देखा था और अब देखा जा रहा है, इस तरह एकत्व भिन्न नही है। तो यह मानना होगा कि वह एकत्व अभिन्न है। यदि प्रत्यभिज्ञानने ज्ञातको जाना यह सिद्ध हो गया तब दोनो अवस्थावोसे वह एकत्व कथंचित् अभेद सिद्ध हो गया तो यह बात आयगी कि अनुभूत अर्थको ग्रहण किया प्रत्यभिज्ञानने। अत. यह बात नही कहना था कि जो सर्वथा अज्ञात हो उस ही पदार्थको जानना प्रमाण है न ज्ञात हो फिर भी उसमें कुछ नवीन-नवीन बात समझी जाय अथवा विशेष सुखका साधन बने इस शैलीसे समझा जाय तो वह सब ज्ञान प्रमाण है।

सर्वथा अज्ञात अर्थके ज्ञानको ही प्रमाण माननेपर अनुमान ज्ञानकी अप्रमाणताका प्रसङ्ग—यदि सर्वथा अज्ञात अर्थको ही जाननेसे प्रमाणता मानोगे तो जितने अनुमान हैं वे सब अप्रमाण बन जायेंगे, क्योंकि अनुमान जितने बनते हैं वे व्याप्तिज्ञानपूर्वक बनते है। जैसे जाना कि इस पर्वतमे अग्नि है धुवां होनेसे, यह बात तब जानी गयी जब चित्तमे यह निर्णय बना है कि जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धुवां नही होता और जहाँ धुवां है वहाँ अग्नि होती है। व्याप्तिज्ञानके बाद अनुमान बन सकेगा तो उस अग्निका ज्ञान पहिले भी तो तर्कके रूपमे कर लिया गया था। अब उस अग्निको अनुमान ज्ञानने जाना तो ज्ञात अर्थका ज्ञान बन गया। तो क्या वह अप्रमाण बन बैठेगा ? नही, ज्ञात अर्थ भी जाननेसे अप्रमाण नहीं है किन्तु संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय रूपमे पदार्थका जान लेना यह अप्रमाण है अथवा जिसमे कुछ फल नही है, उन्मत्त पुरुषोकी भाति एक जाने हुए पदार्थको जितना जाना था उतने रूपमे निरन्तर रटना धारावाही ज्ञान होना यह अप्रमाण है, तो इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि जो स्वका और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह प्रमाण होता है।

सर्वथा अपूर्वार्थके एकान्तकी अनुपपत्ति—इस सम्बन्धमे यदि सर्वथा अपूर्ववादी यह कहे कि प्रत्यभिज्ञानसे शब्द और आत्माकी नित्यता तो जानी गई है वहाँ यद्यपि ज्ञात अर्थको जाना है तिसपर भी चूँकि बीचमे संशय आ गया था, विपर्यय आ गया था अथवा कोई वादविवाद कर रहा था, किसीको समझाना था इस कारणसे वह प्रत्यभिज्ञान उन संशय आदिकका व्यवच्छेद करनेके लिए हुआ अतएव प्रमाण है। तो कहते है कि यह बात तो स्याद्वादमे है, एकान्तका त्याग तो हो ही गया। जो सर्वथा अज्ञात हो, कभी न जाना हो वह प्रमाण है यह बात तो नही बन सकती। ज्ञातका ज्ञान हो अथवा अज्ञातका ज्ञान हो जिसमे कोई समारोप बसा हो वह अप्रमाण है। इस प्रत्यभिज्ञानको यदि प्रमाण सिद्ध करना चाहो तो इस एकान्तका त्याग करना होगा कि अज्ञात अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है, क्योकि स्मरण उसी चीजका होता है, जो जाना हुआ है और तुम ज्ञानज्ञानको अप्रमाण कहते हो। जिसे कभी जाना नही था और स्मरण करलें, यो किसी असत् पदार्थका भी स्मरण होता है क्या ? तो सर्वथा अज्ञात पदार्थका तो स्मरण नही होता ना ? ज्ञातका होता। तो स्मरण या तो अप्रमाण बन बैठेगा या ज्ञात अर्थका ज्ञान करना भी प्रमाण है यह मानना पडेगा जो कि मानना ही ठीक है।

अधिगत अर्थके अधिगन्तास्मरण ज्ञानके प्रामाण्यकी सिद्धि—भैया ! स्मृति अप्रमाण नही है क्योकि स्मृतिको अप्रमाण माननेसे तो सब लोक व्यवस्था मिट जायगी। यदि स्मरण अप्रमाण हो जायगा तो रिस्तेदारी, व्यापार आदिके सभी काम कैसे चल पायेगे। आप अभी यहाँ बैठे है। अभी अपने घर जायेंगे, वहाँ आपको यह स्मरण है कि यह मेरा ही घर है, और आपने स्मरणको मान रखा है अप्रमाण

तो फिर यह घरमे रहनेका काम कैसे चल पायगा ? स्मरणको अप्रमाण माननेसे कोई वातचीत न ी चल सकी । बातचीतके प्रसगमे भी शब्दो तक के स्मरण रहते है, जैसे क ई विवरणकी बात कही गई, वाक्य ब ल रहे हैं तो यद्यपि शब्द कुछ जल्दी बोल दिये जायें और उसमे यह विकल्प भी न करे कि इस शब्दको बोला, लेकिन स्मरण बराबर बनता रहता है कि इस शब्दके बाद इस शब्दको ब ला था, और अब यह बोलना है इस प्रक रका स्मरण भी भाषण करने वालेको रखना पडता है । नही तो वह कुछ ब ल ही नही सकता, उससे कुछ वाक्य ही नही बनेंगे । तो इस स्मरण ज्ञानको न माननेपर बातचीत खाना पीना, घरमे रहना, व्यापार करना ये सभी बातें भग हो जायेंगी । और स्मरणमे ज्ञात अर्थका ही ज्ञान किया गया, इससे यह बात तो नही रही कि ज्ञात अर्थको जानना अप्रमाण हुआ करता है । स्मरण ज्ञान ज्ञात अर्थको ही जानता ।

प्रमाणभूत तर्क ज्ञानमे भी अधिगत अर्थका अधिगन्तृत्व— इसी प्रकार तर्क ज्ञान भी ग्रहीत अर्थका ज्ञान करने वाला है । जैसे यहाँ बैठे हुए ही यह व्याप्ति बनी रहती है कि जहाँ जहाँ धुवाँ ह ता है वहाँ वहा अग्नि हुआ करती है । जहाँ अग्नि नही ह ती वहाँ धुवाँ भी नही होता । यह जो तर्क उटा रहे हैं व्याप्ति बन ही है यह तब बन रही है जब पहिलेसे हमे ज्ञान है कि धुवाँ यह कहलाता और अग्नि यह कहलाती जिस धुवाँ और अग्निको हमने पहिले देखा था, पहिले जाना था, उसी दृष्ट और ज्ञात अर्थकी ही तो व्याप्ति बनायी जा रही है । सो ज्ञात अर्थका ज्ञान किया जाना यदि अप्रमाण ही मान लिया जाय तो तर्क ज्ञान भी नही बन सकता क्योकि ये सब ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानकी तरह ज्ञात अर्थको जानते हैं । और साथ ही इसमे कुछ विशेष परिज्ञान ये सब बराबर बसे हुए हैं इस कारण अपूर्व अर्थ वे कहलाते हैं । धुवा और अग्निको पहिले नाना स्थलपर जाना, अब य ाँ उसकी अविनाभावतारूपसे जानते जा रहा है, यह न हो तो ऐसा नही होता, ऐसी अविनाभावरूपता से जाननेपर वह अपूर्व अर्थ भी बन गया, तो ज्ञात अर्थकी परिस्थिति भी अपूर्व अर्थमे होती है और अज्ञातअर्थमे भी अपूर्वअर्थता ह ती है ।

समारोपविरोधी ज्ञानमे प्रमाणत्वकी व्यवस्था केवल अज्ञान अर्थको ही अपूर्व अर्थ न समझिये । और, यदि सर्वथा ही अज्ञात अर्थको प्रमाण मानोगे तो जिसको जन्मसे तिमिर रोग है उसको दो चन्द्र दिखते हैं तो दो चन्द्रमाओका जो ज्ञान है उसके लिए तो अपूर्व अर्थ है सो वह भी प्रमाण बन जायगा, तो सर्वथा अपूर्वअर्थको जान लेना यह प्रमाण नही है किन्तु उसके सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदिक दोषोसे रहित रूपसे परिज्ञान करना सो प्रमाणभूत होता है और ऐसा निर्णय करना, निश्चय करना प्रथम तो इन अपूर्वार्थके पक्षकारोके मतमे कठिन है क्योकि यह परोक्ष ज्ञानवादी है, सम्भव ही नही होता । जो ज्ञान परोक्ष भी हो, वह ज्ञान मेरे लिए

प्रत्यक्ष है। परोक्ष तो यो कहलाता है ज्ञान कि पर इन्द्रिय और पदार्थ आदिकका आश्रय करके निमित्त करके वह ज्ञान उत्पन्न होता है तो बाह्य दृष्टिकी अपेक्षा तो ज्ञान परोक्ष होता है पर जो भी ज्ञान होता है वह जानन है ज्ञान है, जानने वालेके ज्ञानमे तो स्पष्ट है और ज्ञाताके लिए परोक्ष नही रहता है। यो यह समझना चाहिए कि वही ज्ञान प्रमाण होता है जिस ज्ञानमे न सशय रहता न विपर्यय होता और न अनध्यवसाय रहता, यथार्थ निर्णय रखता है वह ज्ञान प्रमाण है और वह स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक होता ही है, इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपकी सिद्धि की जा रही है। प्रमाणका स्वरूप जाने बिना हम किसी सिद्धान्तको सिद्ध नही कर सकते और किसी अन्य सिद्धान्तको हम दूर नही कर सकते। इसी कारण इस ग्रन्थमे प्रमाणके स्वरूपकी परीक्षा मुख्यतया की जा रही है।

सर्वथा अपूर्व अर्थके ज्ञानकी प्रमाणताका सिद्धान्त सर्वथा अपूर्व अर्थके ज्ञानको ही प्रमाण मानने वाले दार्शनिक अपना सिद्धान्त यो रख रहे है कि ऐसे अपूर्व अर्थका विज्ञान जिसमे बाधा न आये जो निर्दोष कारणोसे उत्पन्न किया गया हो और लोगोसे सम्मत है, सब लोग जिसे मान जायें ऐसे अपूर्व अर्थका ज्ञान होना प्रमाण है। देखिये सुननेमे कुछ बुरा तो नही लग रहा। ठीक ही कह रहे कि जिसमे बाधा न आये, बाधाका जहाँ अभाव हो और दोषरहित कारणोसे रचा हो और सब लोग जिसे मान जाये इन तीन विशेषणो करके युक्त फिर जो अपूर्व अर्थका विज्ञान है वह प्रमाण है। बात सही होनेपर भी एक सर्वथा शब्द लगा देनेसे वे सब विशेषण भी प्रश्न करने योग्य बन जाते हैं सर्वथा अज्ञात अर्थका ज्ञान करना प्रमाण है और इसी विषय पर बात चल रही है। पीछे इन तीन विशेषणोका भी विचार चलेगा। सर्वथा अपूर्व अर्थको मानने वालोके यहाँ ये तीन विशेषण भी सही न बन पायेंगे।

द्विचन्द्रादि प्रत्ययकी प्रमाणताके प्रसगके निवारणार्थ पूर्वपक्षकार द्वारा बाधाविरह विशेषणकी पुष्टि - सर्वथा अपूर्व अर्थके विज्ञानमे यह आपत्ति प्रसक्त की गई थी कि सर्वथा अज्ञात अर्थको प्रमाण माननेपर जिस किसी पुरुषको दो चन्द्र दिखते हैं किसी दोषके कारण तो दो चन्द्रका दिख जाना भी प्रमाण बन जायगा। इस आपत्तिके निवारणके लिए पूर्वपक्षकारने बाधाविरह शब्द दिया है। जिसमे बाधा न आये वह ज्ञान प्रमाण है, पर दो चन्द्रका दिखना इस ज्ञानमे तो बाधा आती है अतएव यह प्रमाण नही है। जहाँ बाधाका विरह हो वह ज्ञान प्रमाण होता है और यहाँ दो चन्द्र तो दीखे मगर दूसरेने तो यो समझा नही है और वह भी अपनी आँखो मे और अधिक सम्हाल कर निहारे तो वह भी जान जायगा कि दो चन्द्र नही है एक है। नेत्रके रोगकी बात तो दूर जाने दो। कभी-कभी हम आपको भी दो चन्द्र दिख जाते हैं। कोई ढङ्ग देखनेका ऐसा बैठ जाता है कि दो चन्द्र दिख जाते है लेकिन बाद मे उस ज्ञानमे बाधा आ जाती है। ये दो चन्द्र नही है ऐसा जो दिखा है वह मिथ्या

है। तो जहा बाधा विरह हो वह प्रमाण है। अतएव अपूर्व अर्थके ज्ञानकी प्रमाणतामे दोष नही दे सकते ऐसा पूर्वपक्षकारोने अपना बचाव किया।

सर्वथा अपूर्वार्थवादियोके तत्कालभावी बाधाविरहकी अयुक्तता - अब बाधाविरहके सम्बन्धमे सर्वथा अपूर्वार्थवादियोके प्रति आचार्यदेव कह रहे है, बाधाविरहका ही निरूपण कर रहे है। बाधाका जो विरह होता है वह तत्कालभावी है या उत्तरकालभावी है। जिस समयमे दो चन्द्र दीखे उसी समयमे बाधाका विरह बना या उत्तरकालमे बना। ये दो विकल्प रखे हे। उस ही कालमे बाधाविरह हो यह बात तो युक्त नही है कि किसी-किसी मिथ्याज्ञानमे भी बाधाविरह मालूम पडता है और ऐसा विचार बनता ही हे। जिस समय हम उल्टा ज्ञान कर रहे है, पडी तो है सीप, जान रहे है चादी, तो चांदीका ज्ञान करते समय उसमे उसके ज्ञानमे बाधाविरह भी तो है। बाधा उसके ज्ञानमे नही। वह सही रूपमे जान रहा है ठीक चांदी ही तो है। तो तत्कालभावी बाधाविरह तो मिथ्याज्ञानमे भी है। तब मिथ्याज्ञान भी प्रमाण बन जायगा अर्थात् जिस समय जिस पदार्थका जैसा ज्ञान कर रहे है उस समय उसके खिलाफ दूसरा ज्ञान नही बन रहा, तो फिर सारे ज्ञान प्रमाण हो गए, चाहे झूठा हो चाहे सच्चा हो, इसमे तत्कालभावी बाधाविरह तो आता नही।

सर्वथा अपूर्वार्थवादियोके उत्तरकालभावी बाधाविरहकी असगतता— यदि कहो कि ज्ञानकी सम्यक्ताके निर्णयका हेतु उत्तरकालभावी बाधाविरह है, याने आगामी कालमे बाधा न आये तो यह ज्ञान प्रमाण है और यदि आगामी कालमे उस ज्ञानको झुठला देने वाला बाधक ज्ञान बनता है तो प्रमाण नही है ऐसा उत्तरकालभावी बाधाविरह मानोगे तो इसमे यह पूछते है कि वह उत्तरकालभावी बाधाविरह ज्ञात होकर काम करता है या अज्ञात होकर प्रमाणताका निश्चय करता है। अज्ञात तो हो नही सकता। जो जाना ही नही गया जो बाधाविरह अभी ज्ञात ही नही हुआ वह कैसे प्रमाणताका निश्चय करा दे? बाधाये न आना यह बात बने तो पूर्वज्ञान प्रमाण माना है, उस सम्बन्धमे विकल्प कह रहे है कि जिस समय जो ज्ञान किया जा रहा है उस कालमे तो बाधा विरह है नही, क्योकि वह तो जान ही रहा सत्य अपनी समझमे। बाधाका अभाव उत्तरकालमे आयगा। जैसे रस्सीमे जाना कि यह साप है तो यह कब समझमे आयगा कि यह साप नही है? उसके बाद जबकि भली प्रकार उसका परीक्षण करे और जान गए कि यह रस्सी है तो बाधा आयगी कि नही? पूर्वज्ञानसे जो हम जान रहे थे उस जानकारीको झुठला देने वाले ज्ञानका नाम है बाधकज्ञान। बाधा देने वाले ज्ञानका अभाव हो तो प्रमाण है, बाध...न बने...
कालमे, जिस कालमे हम झूठ जान रहे है, दो चन्द्र
जान रहे हैं उस कालमे बाधाविरह कहा?

सर्वथा अपूर्वार्थवादकी मान्यताके सं

पत्ति –भैया ! जहाँ बाधा न आये वह ज्ञान प्रमाण है यह तो अच्छी बात है लेकिन सर्वथा अपूर्वार्थवादी कह रहे हैं यहा कि जहाँ बाधा न आये वह प्रमाण है तो उसकी बाधा न आनेके विशेषणको भी गलत साबित किया जा रहा है। झूठके साथ एक सत्य बात भी जोडे तो वह भी झूठ होगा क्योकि झूठके साथ लग रहा है। सत्य के साथ सत्य लगे उनका खण्डन नही किया जा सकता, पर किसी झूठके साथ सत्य लग जाय तो वह सत्य भी खण्डन के योग्य है। तो यह यह पूछा जा रहा है कि बाधा का अभाव यदि जान गए तो पहिले ज्ञानसे जाना या उत्तरज्ञानसे ? जैसे रस्सीको हमने साँप समझ लिया अब बादमे फिर हमने जाना कि यह रस्सी है तब ही ना प्रथम ज्ञान झूठ बना। यदि उस रस्सीको रस्सी जाना और बादमे भी रस्सी जाना तो वह बाधाविरह कहलाता है। उस ज्ञानमे कोई बाधा नही आयी। सही ज्ञान किया उसके बादमें बाधा आयी तो वह जो बाधा है वह पूर्व ज्ञानसे जानी गई तो यह तो बिल्कुल असङ्गत है। रस्सीको साँप जानना इस ज्ञानके द्वारा क्या यह भी जान लिया जायगा कि उत्तरकालमे बाधक ज्ञान भी न बनेगा ऐसा क्या पूर्व ज्ञान जानता है। रस्सीको साँप जानते समय साँप जानने वालेके चित्तमे क्या यह बात भी आती है कि इस ज्ञानको झुठना देने वाला एक ज्ञान अभी और आयगा। इसका तो सीधा हिसाब है कि पहिले बाधक ज्ञान नही बनता और उत्तरकालमे ही बाधा आती है तब वह बाधावर्जित नही रहा। सो बाधाविरहपना पूर्वज्ञानसे तो जाना नही गया।

सर्वथा अपूर्वार्थवादियोंके उत्तरज्ञानसे बाधाविरहकी अनुपपत्ति— यदि कहो कि बाधाविरहपनेको हम अगले ज्ञानसे जानेगे अत वह अप्रमाण है। रस्सीको सर्प समझा और उसके बाद फिर दूसरा ज्ञान जो बनेगा कि यह सर्प नही है, यह तो रस्सी ही है तो ऐसे उत्तरकालमे जो बाधक ज्ञान बनेगा वह उत्तरकालके ज्ञान से जाना गया, ऐसा यदि कहते हो तो उस समयकी बात उस समय होगी। पहिले तो उल्टा ज्ञान प्रमाण बन बैठेगा, बादमे जब बाधक ज्ञान आयेगा तब कहेंगे कि यह पूर्वज्ञान प्रमाण नही है और दूसरी आपत्ति यह है कि जब वह उत्तरज्ञान बनेगा जो कि सही निर्णय कराये उससे पहिले पूर्वज्ञानका तो नाश ही हो गया, फिर जो ज्ञान नष्ट हो गया उस ज्ञानने बाधाविरहकी चिन्ता करना यह तो इस तरह है कि जैसे कहावतमे कहते हैं कि साँप तो गया अब उसकी लकीर पीट रहे हैं। जिस समयमे वह मिथ्याज्ञान बना, पूर्वज्ञान बना उस समय तो था वह। जब बाधक ज्ञान बना तब वह ज्ञान रहा नही तो अब किसको पीटें ? वर्तमानमे दोनो ज्ञान बने और कोई उसका विरोध करे तो बाधकता बने ! नष्टकी, बाधाविरहकी चिन्ता कौन करता है ? करे तो वह मूढ है।

बाधाविरहकी सत्यासत्यका अनिर्णय—और फिर भैया ! मान भी लो बाधा न आये ऐसा जान लिया तो ऐसा जाननेपर भी यह सत्य ही है यह कैसे निर्णय

हो ? रस्सीको रस्सी ही जाना, अब कोई बाधा नही आयी ऐसा भी हमने वहाँ समझा और रस्सीको सर्प समझा और वहाँ मालूम पड रहा कि बाधा नही आती, यह ज्ञान ठीक है तो उसे भी सत्य समझ लिया जायगा। केवल जानने मात्रसे सच्चाई नही होती। कभी कभी आकाशकी तरफ देखते है तो ऐसा लगता है कि कुछ पतले पतले यहाँ केश भी लटक रहे हैं अथवा बहुत छोटे छोटे भुनगे चल रहे हैं। और जान दो, कभी कभी अपनी आखोसे ऐसा सामने नजर आता है कि लो यह कीडा गया, वह कीडा गया, आखोकी किसी स्थितिसे कुछ ऐसा भी प्रतीत होने लगता है, तो ऐसी बहुतसी चीजें जानी जाती हैं उनके सत्य और असत्यका कैसे निर्णय हो ?

बाधाविरहके निर्णयमे अन्योन्याश्रय व अनवस्था दोपकी प्रसक्ति-- यदि कहो कि मेरा ज्ञान सत्य है इसलिये सत्य कहलाया तो उसीका ही तो विवाद चल रहा है, उनमे सत्यता कैसे आयगी ? हमने जो कुछ भी जाना, रस्सीको साँप जाना तो, या रस्सीको रस्सी जाना तो, उसकी सच्चाईका हेतु क्या है ? यदि कहो कि पदार्थ सत्य है, जैसा जाना तैसा पदार्थ है इससे जाना गया कि यह ज्ञान सत्य है तो इसमे अन्योन्याश्रय दोप हो गया। जब ज्ञानकी सच्चाई निश्चित हो तो पदार्थकी सच्चाई जानी जाय। जब पदार्थकी सच्चाई निश्चित हो तो ज्ञानकी सच्चाई निश्चित जानी जाय। यदि यह कहो कि उस ज्ञानमे सही निर्णय करने वाले ज्ञानसे कोई बाधा न आये तो वह प्रमाण है तो वह बाधा विरह वाला ज्ञान कैसे प्रमाण है ? उसके लिए अन्य बाधा विरह चाहिए। यो अनवस्था दोष आयगा और, जब बाधा विरहोके जाननेमे ही हम अपना समय लगायेंगे और कही अन्त न आयगा तो हम कुछ भी निर्णय नही कर सकेंगे। शायद यह कहो कि सम्वादसे विनिश्चयसे उत्तरकाल भावी बाधा विरह सत्य है ऐसा हम समझ लेंगे तो वह सम्वाद भी वह ज्ञानका रूपक भी यदि उत्तर सम्वादसे बना, अन्य अन्य सम्वादोसे तो वहाँ भी अनवस्था दोष है इस कारण बाधाविरह हेतु देकर द्विचन्द्र प्रत्ययको अप्रमाण साबित करते बनता नही है।

अपूर्वार्थवादियोके बाधा विरहकी असिद्धिकी अन्य युक्तियां—शायद यह कहो कि इसका अर्थ यह है कि कही किसी समय किसीको बाधा न आये तो वह ज्ञानकी प्रमाणताका कारण है। यह बात तो सम्भव मिथ्याज्ञानमे भी है। कुछ लोगो को रस्सीका साँप दिख रहा और वे साँप जान रहे उसमे झूटला देने वाला उनका नया ज्ञान नही बन रहा वह भी प्रमाण बन जायगा क्या ? यदि यह कहो कि जिस पदार्थके ज्ञानमे सभी पुरुषोको सभी समयोमे कोई बाधा न आये वह ज्ञान प्रमाण है बाधा न आये वह ज्ञान प्रमाण है तो यह बात तो सर्वज्ञकी बात हो सकती है। छद्-मस्थ जीवोमे यह कैसे हो सकता कि किसी पदार्थके विषयमे सभी जगह सभी समय सबको बाधा न मिलती हो और यथार्थ जान रहे हो तो बाधा विरह विशेष देकर सर्वथा अर्थके ज्ञानको प्रमाण कहना युग नही बैठता। बात सही है। जिस ज्ञानमे

बाधा न आये वह ज्ञान प्रमाण है। किन्, जब मूलमें सर्वथा ज्ञात अर्थके ज्ञानको ही प्रमाण माननेका हठ किया तो बाधा विरहका स्वरूप भी नही बन सक रहा है। अथवा यों कहो कि साफ साफ सीधा बोले तो उसे छेड़ना क्या ? जो असत्य बोले तो किसी भी शब्दसे वह सिद्ध करना चाहे उस सिद्धको मिटाया जा सकता है।

सर्वथा अपूर्वार्थवादियोंके अदुष्टकारणारब्धत्व विशेषणकी असगतता अब दूसरा जो यह विशेषण है कि वह अपूर्व अर्थका विज्ञान निर्दोष कारणमे बना है, अदुष्टकारणारब्ध है ऐसा माननेसे यह ज्ञान तैयार होता है अतएव वह प्रमाण है तो 'निर्दोष कारणसे रचा गया है" यह ज्ञान अज्ञात हुआ ही ज्ञानकी प्रमाणताका कारण है या ज्ञान होकर ज्ञानकी प्रमाणताका कारण है। अज्ञात तो अयुक्त है। उस मे तो कुछ बात ही नही बनती, उसके सत्त्वमे ही सन्देह है। यदि कहे कि ज्ञात होकर अर्थात् नेत्रमे कोई भी दोष नही है ऐसे निर्दोष कारणोसे यह ज्ञान रचा गया है, ऐसा ज्ञान हुआ यह प्रमाणताका कारण है तो निर्दोष कारणोसे रचा गया है ज्ञान यह बात तुमने जानली क्या ? अरे नेत्र इन्द्रियमे जो कुछ है उसे तुमने कैसे जाना ? अथवा उसकी जो अन्त शक्ति है इन्द्रियकी कुशलता आदिक हैं वे तो अतीन्द्रिय हैं उनका इन्द्रियसे ज्ञान होना असम्भव है। अतीन्द्रियका ज्ञान तो तुम्हारे सिद्धान्तमे हो ही नही सकता, तो इन्द्रियमे जो शक्ति है वह अतीन्द्रिय नही है।

इन्द्रियादिकोंकी निर्दोषशक्तिके परिचयकी इन्द्रियागोचरता - थोड़ी देर को पुद्गलमे एक चर्चा उठाइये। इसमे जो काला, नीला, पीला आदि रूप दिखता है यह तो पर्याय है। और, रूप गुण क्या है। जैसे एक शक्तिका काला, नीला, पीला, लाल, सफेद परिणमन बना उस शक्तिका नाम है रूपगुण। तब भला बतलावो कि जिस तरह हम इन्द्रियसे रूपकी पर्यायोको जान लेते हैं उस प्रकार रूप शक्तिको भी तो स्पष्ट जान लिया जाय। जब उसकी स्वरूप चर्चामे चलेंगे तो ऐसा लगेगा कि भले ही ये काले पीले आदिक इन्द्रियगम्य माने हैं, मगर रूपशक्ति तो अतीन्द्रिय है। रूपकी पर्याय इन्द्रियगम्य है पर रूपगुण इन्द्रियगम्य नही है। तो यो ये ऊपरकी जो रचनाएँ हैं इन्द्रियकी ये किसी प्रकार इन्द्रियगम्य हो जाये मगर इन इन्द्रियोमे निर्दोष शक्ति है ऐसी उन शक्तियोका ज्ञान इन्द्रियसे नही होता। फिर यह तुम सिद्ध ही नही कर सकते कि यह ज्ञान हमारा निर्दोष कारणोसे रचा गया है।

अदुष्टकारणारब्धत्वके निर्णयमे अनवस्था - अथवा मान लो यह ज्ञान हो कि हमने जो जाना है वह निर्दोष कारणोसे जाना है। मान लो यह ज्ञान भी हो जाय तो यह ज्ञान निर्दोष कारणसे बना है यह किसी अन्य ज्ञानसे जाना या सम्वाद प्रत्यय से जाना। सम्वाद प्रत्ययका अर्थ है विश्लेषकज्ञान। यदि कहो कि अदुष्टकारणारब्धता जानी गई है अन्यज्ञानसे तो इस तरह अन्य-अन्य ज्ञानोसे सिद्ध करते जानेकी डोर लग

जायगी, अनवस्थादोष बनेगा। यदि कहो कि सम्वादप्रत्ययसे जाना तो उस सम्वादी-ज्ञानमें याने स्पष्ट करने वाले उस ज्ञानमें भी यह निर्दोष कारणोंसे रचा गया है यह तो सिद्ध करना हुआ ना? तो वह होगा अन्यज्ञानसे। वहाँपर भी अनवस्था होगी। तुम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि मेरा यह ज्ञान निर्दोष कारणोंसे रचा गया है।

स्याद्वादमें अभ्यस्तज्ञानसे सम्वादप्रत्ययकी सिद्धि—यदि तुम कहते कि स्याद्वादियोंसे भी हम कहेंगे यही सब बात तो। देखो ज्ञान तो कितनी सच है कि निर्दोष इन्द्रियसे जो ज्ञान बनेगा वह सच बनेगा और तुम विमाड़ रहे हो इस कथनको तो जैनियोंके प्रति भी तो हम यह कह सकते हैं कि तुम कैसे सिद्ध करोगे कि निर्दोष कारणसे यह ज्ञान होता है? तो स्याद्वादी उत्तर देते हैं कि यथावत् जैसा कि है पदार्थ, उस पदार्थका निश्चय कराने वाला जो ज्ञान है तो उस ज्ञानकी सच्चाई निर्णीत की जानेकी स्थितियाँ दो तरहकी होती है। एक अभ्यासदशा और एक अनभ्यास-दशा। हमने जाना कि यह खम्भा है, यह तुरन्त प्रमाण बन गया क्योंकि हम रोज वहाँ आते हैं, रोज निरखते हैं। उसका अभ्यास हमें है। बहुत भली भाँति परिचय है अतएव वह सम्यक् बन गया और कभी अनभ्यासदशाकी भी स्थिति हो तो वहाँपर हम जो निश्चय करेंगे तो किसी दूसरे अभ्यस्त ज्ञानके द्वारा निश्चय कर लेंगे। यहाँ अनवस्थादोष यों न आयगा कि किसी भी ज्ञानको सत्य समझनेके लिए भले ही अन्य ज्ञान बना डालें, और वह ज्ञान भी यदि सत्य समझमें न आये तो उसकी सच्चाईके लिए भी अन्य ज्ञान बना डालें, किन्तु जहाँ अभ्यस्तज्ञान आ जायगा वहींसे अनवस्था समाप्त होगी।

सर्वथा अपूर्वार्थके ज्ञानके प्रामाण्यमे लोकसम्मतिकी असिद्धि— बाधावर्जित और अदुष्टकारणारब्ध ये दोनो विशेषण तुम्हारे तो बनते नही और तृतीय जो यह विशेषण था कि सर्व लोग जिसे मान जायें वह ज्ञान प्रमाण है। तो सर्व लोग मान जायें इसका अर्थ ही यह है कि जैसी वस्तु है वैसा वस्तुके स्वरूपका निश्चय बने वही लोकसम्मत कहलाता है। तो यो सर्वथा अपूर्व अर्थका ज्ञान प्रमाण है, यह बात नही कहा जा सकती किन्तु जिस ज्ञानमे कुछ भी अपूर्व मर्म समझमे आया वह ज्ञान प्रमाण है। इस तरह यहाँ तक अपूर्व अर्थ विशेषणकी व्याख्या की गई है। इससे यह निश्चय करना चाहिये कि वस्तु चाहे ज्ञात हो गई हो अथवा न ज्ञात हुई हो दोनोमे अर्थात् अधिगत व अनधिगत पदार्थमे विशेष अर्थ परिच्छेदन हो और उसमे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय न हो तो वह ज्ञान प्रमाणरूप है। यही ज्ञान बाधावर्जित है, यह निर्दोष है, यही लोकसम्मत है। सर्वथा अपूर्वार्थके ही ज्ञानकी प्रमाणता होती है यह एकान्त युक्त नही है।



परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[चतुर्थ भाग]

पदार्थभेदोका निषेधक ब्रह्माद्वैतवाद—प्रमाणके स्वरूपमे बताया गया है कि जो निजका और अपूर्व अर्थका निर्णय कराने ऐसा ज्ञान प्रमाण होता है। इस स्वरूप के प्रसङ्गमे ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे है कि अपूर्व अर्थका निर्णय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है यह बात ठीक नही बैठती कारण यह है कि ये सारे पदार्थ जिनके ज्ञानको तुम प्रमाण कहते हो ये तो सब मिथ्या है और इसी कारण इन मिथ्याभूत मायारूप पदार्थोंका व्यवसाय करने वाले ज्ञान भी मिथ्यारूप हैं। अतएव अर्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण नही है, किन्तु परमात्मस्वरूपको, आत्माद्वैतको ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य हैं। ब्रह्माद्वैतवादमे केवल एक ही ब्रह्ममात्र है अन्य कुछ सत् नही है ऐसा माना गया है, और जितने भी अन्य पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मके विकार है, मायारूप हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, वे वास्तविक सत् नही है। वास्तविक सत् तो एक ब्रह्म है। अथवा सर्वव्यापी आत्मा है। उसीको लक्ष्यमे लेकर ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे है कि पदार्थका निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण है यह तो ठीक नही किन्तु यह स्वरूप ठीक रहेगा कि परमात्मस्वरूपका जानने वाला ज्ञान प्रमाण है।

अभेदब्रह्मस्वरूपकी ही तात्त्विकता बतानेका प्रयास - भैया! यह प्रकरण बहुत लम्बा है और केवल ब्रह्माद्वैतवादी अपना स्वरूप रखते जा रहे है। अत इस प्रकरणको सुनते हुए यह दृष्टि रखना चाहिए कि यह ब्रह्माद्वैतवादका मतव्य है क्योंकि बहुत विस्तारसे ब्रह्माद्वैतवादको रखते जानेपर यह शङ्का बीचमे हो सकेगी क्या ऐसा स्वरूप है? वह स्वरूप सब पूर्वपक्षकारका है। ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे है कि वस्तुका स्वरूप तो वह है जो इन्द्रियके खोलनेके अनन्तर, नेत्रके खोलनेके अनन्तर ही तुरन्त निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा सर्वथा एकत्वकी प्रतीति होती है। अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा न रखकर शीघ्र ही प्रथम क्षण जो ज्ञान होता है वह तो है वस्तुस्वरूप और उसके बाद फिर जो भेद ज्ञानमे आने लगता है यह पत्थर है, चौकी है, खम्भा है आदिक जो भेद ज्ञानमे आने लगते है ये सब अज्ञानके कारण ज्ञात होते है। यही स्वरूप तो यह है कि आखे खुलने के बाद तुरन्त ही भेद जाननेसे पहिले भिन्न-भिन्न आकार प्रकार। व्यक्ति सत्त्व जाननेसे पहिले शीघ्र जो कुछ निर्विकल्परूपमे झलक होती है वह है वस्तुका स्वरूप और उसको जाननेवाला जो ज्ञान है वह प्रमाण है।

अज्ञानवासनासे अनेक पदार्थोंके निर्णयका कथन—घट पट मकान आदिक अनेक पदार्थोंका निर्णय करने वाला ज्ञान तो अज्ञानरूप है। ये नाना प्रकारके पदार्थ क्यो विज्ञात होने लगते उसका कारण यह है कि अविद्याकी वासना लगी हुई है और उस हीके सकेतका स्मरण बनता है उससे विकल्पकी प्रतीति होने लगती है और फिर यह अन्यकी अपेक्षा रखकर प्रतीतिमे आता है, यह वास्तविक वस्तुस्वरूप नही है। जब अन्य अस्तित्त्वकी अपेक्षा न रखकर अन्य पदार्थकी कल्पनाएँ न बनाकर जो कुछ प्रतिभास हो वह है वस्तुका स्वरूप। और पदार्थमात्र उतना ही है। यह बहुत लम्बे समय तक याद रखना होगा कि जो कुछ कहा जा रहा है वह ब्रह्माद्वैतका स्वरूप कहा जा रहा है और इस ही दृष्टिसे सुनना।

सर्व विश्वको प्रतिभासान्त प्रविष्टका कथन—जो कुछ प्रतिभास हो रहा है वह सब प्रतिभास हो रहा है वह सब प्रतिभास स्वरूप जब कभी अपने आपका ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे आता है तो वह ज्ञानमें आता है तो वह ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे ही तो प्रविष्ट है बाहर तो नही है। इस प्रकार जो जो कुछ भी प्रतिभासमे आ रहा है वह सब प्रतिभासके अन्तरङ्गमे ही प्रविष्ट है, बाह्य अथ कुछ नही है। जो कुछ दिख रहा है, अज्ञात हो रहा है यह सब मायारूप है। परमार्थवस्तुभूत तत्त्व तो एक ब्रह्म ही है। जो जो प्रतिभास होता है वह सब प्रतिभासके अन्दर ही प्रविष्ट है। जैसे प्रतिभास का खुदका स्वरूप प्रतिभासमे आता है तो वह प्रतिभासमे ही प्रविष्ट है। जो जो कुछ ज्ञानमे आता है वह सब ज्ञानमे ही प्रविष्ट है। और यह सर्व चेतन अचेतनरूप समग्र-वस्तु प्रतिभासमे आ रहा है अत सब प्रतिभासान्त प्रविष्ट है, इस अनुमानसे भी आत्माद्वैतकी सिद्धि होती है।

विश्वकी प्रतिभासमात्रात्मताका अनुमान—ब्रह्माद्वैत कहो, आत्माद्वैत कहो एक ही बात है। एक ब्रह्मके सिवाय इस लोकमे अन्य कुछ तत्त्व नही है। यहाँ यह अनुमान बनाया गया है कि सर्व पदार्थ ज्ञानमे ही गर्भित हैं, क्योकि ज्ञात होनेसे। यह हेतु असिद्ध नही है क्योकि सभी पदार्थोंका साक्षात् अथवा असाक्षात् कुछ भी प्रतिभास न हो तो किसी सत्यके विकल्पकी व्यवहारकी उत्पत्ति ही न होगी और कहा भी न जा सकेगा। सब कुछ प्रथम ज्ञानमे आता है और वह ज्ञानरूप ही है वास्तवमे भेद कल्पना करके अज्ञानकी वासनाके कारण सब कुछ भिन्न भिन्न समझमे आता है। ब्रह्माद्वैतके सिद्धान्तमे सीधीसी बात उन्होने यह रखी है कि सब कुछ एक ब्रह्म है और उसकी ही ये नाना सृष्टिया हैं। तो यह सब उसका ही बाग है, सब उसका ही प्रसार है वैभव है ये सब चीजें कुछ नही हैं।

ब्रह्माद्वैतवादके आगमवाक्योसे अभेद सृष्टिमूल ब्रह्मका समर्थन—इस बातको आगममे भी लिखा है ऐसा वे ब्रह्माद्वैतवादी ही अपना आगम रख रहे हैं—

सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चन

ऐसा हमारे आगममे लिखा है । कि जगतमे जो कुछ है वह समस्त पदार्थ ब्रह्म है । ये नाना कुछ भी चीजे नही हैं और लोग जो कुछ निरखते हैं, उस एक ब्रह्म के आरामको, बागको फैलावको ही निरखते हैं, उस ब्रह्मको कोई नही देखता । और, भी बताया गया है 'पुरुष एवैत सर्वं यद्भुत यच्च भाव्य स एव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतु ।'' यह सब कुछ जो अब तक हुआ जो आगे होगा वह सब एक यह ब्रह्म ही है, एक सर्वव्यापक आत्मा ही है और वह ही समस्त जगतकी सृष्टि स्थिति और प्रलयका कारणभूत है । जैसे कि मकडी जालकी सृष्टि रचती है तो वह जाल क्या मकडीसे जुदा है ? लोगोको जुदा मालूम देती है उस जालकी व्यक्ति होनेपर यह लगने लगता है कि यह जाल पूरा गया है और देखो इसमे यह मकडी फसी है वह जाल न्यारा है । मकडी न्यारी है और वह फसी है यो लोग देखते है पर वास्तविकता क्या है । वह जाल मकडीकी रचना है, मकडीसे ही उत्पन्न हुई है और वह मकडी उस जालके बीच रह रही है । वहाँ दो चीज क्या है ? सब कुछ एक ही वस्तु है । इसी तरह यह सारा जगत एक ब्रह्म ही है ब्रह्मसे ही यह सृजित हुआ है और व्यक्तरूप हो जानेपर यह सब माया है और इस मायाके बीच यह ब्रह्म रह रहा है, सब कुछ वही एक ब्रह्म है, वही रचनाका, ठहरनेका और विनाशका कारण बन रहा है अथवा जैसे चन्द्रकान्तमणिसे जल निकलता है तो उस जलकी रचनाका मूल हेतु तो चन्द्रकान्तमणि है इसी तरह यह सब व्यक्त दृष्टिगोचर हो रहा है पर इस समस्त लोकका कारणभूत इसकी रचनाका साधन एक परम ब्रह्म ही है । अथवा जैसे वटका बीज अकुरोका कारणभूत है । वे अकुर क्या बीजसे न्यारे हैं ? वह एक बीजका ही फैलाव है । इसी प्रकार यह सारा जगत ब्रह्मका ही फैलाव है । जितने भी जीव है जन्ममरण करने वाले समस्त प्राणियोका कारणभूम यह ब्रह्म ही है ।

ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानकी प्रमाणता व कल्याणकारिताका कथन—इस ब्रह्मस्वरूपका ग्रहण करने वाला जो ज्ञान है वह तो प्रमाण है और सब पदार्थोका ग्रहण करने वाले ये सब ज्ञान अप्रमाण हैं क्योकि ये सारे पदार्थ ही मिथ्या है । तो मिथ्या पदार्थको सम्यक् रूपसे जाने वह ज्ञान मिथ्या है और अप्रमाण है । अभेद ही एक तत्त्व है । भेद तो विकल्प और मूढतामें प्रकट होता है । जो इस जगतको, जो इस समग्र लोकको भेदरूपसे देखा करते हैं उनकी तो निन्दा की गई है । 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।' उपनिषदमे यह बताया है कि वह पुरुष मृत्युके द्वारा मृत्युको प्राप्त होता है जो यहाँ कुछ भी नाना निरखता है, जो भेदरूपसे नाना रूपमे इस लोकको निरखता है, उसकी मृत्यु होती रहती है । इसका तात्पर्य यह है कि जो एक अभेद चैतन्यमात्र ब्रह्मस्वरूपको देखता है वह तो मृत्युसे बचता है, अमर होता

प्रसङ्गमे थोडा स्याद्वादीकी भी बात सुनिये। स्याद्वादी नय विभागके कारण इस ही चीजको उनमे भी और अधिक ऊँचे ले जा सकते हैं। चैतन्यस्वरूप एक है, किन्तु स्याद्वादवादी कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप एक है ऐसा गुरूपना लादेनेसे भी चैतन्यस्वरूप बिगड जाता है। वह तो केवल अनुभूतिका तत्त्व है, अनुभव करिये उसके बारेमें वह चैतन्यस्वरूप एक है अथवा नाना है ऐसी जीभ मत हिलावो। उस ही चैतन्यस्वरूपका लक्ष्य करके एक ब्रह्माद्वैतका सिद्धान्त प्रकट हुआ है।

देशभेदसे पदार्थभेद करनेकी अशक्यताका प्रदर्शन प्रकरणमे यह कहा जा रहा है कि लोगोको जो ये पदार्थ भिन्न-भिन्न नजर आते हैं, नाना नजर आते है क्या यह देशके भेदसे इन पदार्थोंका भेद है ? देशभेदसे तो भेद करना मिथ्या है, क्योंकि जैसे एक आकाश है, स्वरूपसे अभिन्न है उस आकाशमे यह भेद करना कि यह इनके घरका आकाश है, यह मेरे घरका आकाश है, तो ऐसा कह भले ही लो, किन्तु ऐसा श्रद्धान करना मिथ्या है। आकाश तो स्वरूपसे अभिन्न है फिर घर भींट आदिकके भेदसे आकाशमे भेद न पड जायगा, क्योकि भींटका भेद आकाशमें न प्रवेश करेगा। इस प्रकार देशका भेद अर्थोंमें प्रवेश नही कर सकता। देश न्यारे-न्यारे हैं। तो रहें देशके भेदसे अर्थमे भेद नही बनता। इसे यो समझिये थोडा जैनसिद्धान्तका एक दृष्टान्त लेकर। जिस जिस स्थानमे जीव हैं उसी उसी स्थानमे पुद्गल हैं। धर्म, अधर्म आकाश,काल ये ६ प्रकारके द्रव्य हैं। तो एक जगह इतने पदार्थ आ जानेसे क्या वे एक हो गए ? देशका अभेद होनेसे पदार्थ एक तो नही हो जाता। तो इसी प्रकार देशका भेद होनेसे भी वे पदार्थ अनेक नही हुए।

देशभेदकी साधनामे विकल्पोका उत्थापन ब्रह्माद्वैतवादी कर रहे हैं— अच्छा बताओ यह देशभेद हो कैसे गया ? क्या अन्य देशके भेदसे देशभेद हुआ या स्वत हुआ ? पूछा यह गया था कि ये पदार्थ जो नाना नजर आ रहे हैं ये भिन्न भिन्न क्यों नजर आ रहे हैं ? क्या देशके भेदसे भिन्न-भिन्न नजर आ रहे हैं ? तो देश भी तो भिन्न-भिन्न नजर आ रहे हैं यह अमुक स्थान है, यह अमुक स्थान है, ये भी क्यो नजर आ रहे हैं ? इसमें कारण अन्य देशभेद मानोगे तब तो अनवस्था दोष आयगा। फिर वह देशभेद अन्य देशभेदसे हुआ, फिर वे भिन्न-भिन्न स्थान अन्य देशभेदसे हुए। और, यदि स्वत. ही मानते हो तो इन पदार्थोंको भिन्न-भिन्न समझानेके लिए देशभेदसे ही बताना किन्तु सीधा ही भाव भेद माननेकी बात न बोलना। भेदकी कल्पना करनेका प्रयास ही क्यो करे ? इस कारण यह बात युक्त है कि ये जो पदार्थोंमे भेद नजर आ रहे हैं यह सब मिथ्या है। ये पदार्थ देशभेदके कारण भी भिन्न-भिन्न नही बन सकते हैं।

कालभेदसे पदार्थभेद न होनेका मन्तव्य—कालभेदसे भी भिन्न-भिन्न नही

बन सकते जैसे कालभेदसे लाग भिन्न–भिन्न कहा करते हैं कि यह चीज कल हुई थी अब यह चीज आज नही है, यह कल हो जायगी इसप्रकार जो समयके भेदसे पदार्थोंमे भेद माना है तो वह भी पूरा नही पड़ सकता, क्योकि कालका भेद ही प्रत्यक्षसे सिद्ध नही है। प्रत्यक्ष तो केवल सामने रहने वाली वस्तुमात्रको, अस्तित्व मात्रको जानता है, इसमे कालभेद नही है। प्रत्यक्षसे गई गुजरी वात जाननेमे नही आया करती। प्रत्यक्षका विषय प्रतीत भविष्यकाल नही है अथवा उन कालोमे रहने वाले जो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं उनका भेद प्रत्यक्षका विषय नही है, अतएव कालभेदसे भी हम इन पदार्थोंको भिन्न–भिन्न नही मान सकते।

आकारभेदसे भी पदार्थभेदकी अमान्यता - इसी तरह आकारभेदसे भी हम इन पदार्थोंको भिन्न–भिन्न नही कह सकते। आकारभेद पदार्थोंका भेदक है क्या यह किसी भिन्न प्रमाणसे जाना जाता है ? अन्तर्वस्तु और बाह्यवस्तु इनके सिवाय और कुछ भी प्रतिभासमान नही होता है। न अन्य कोई प्रमाणका स्वरूप है। जो कुछ भी ज्ञानमे आता है वह सब एक प्रतिभासमय एक ब्रह्मका ही स्वरूप है, अतएव न आकारभेदसे भी अर्थका भेद नजर आता है। जितने भी भिन्न–भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर होते है वे सब मिथ्या है और मिथ्याका ज्ञान करना अप्रमाण है। एक परमात्मस्वरूपका ही ज्ञान करने वाला जो ज्ञान है वही प्रमाणभूत है, इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी अपूर्व अर्थके ज्ञानकी प्रमाणताका खण्डन कर रहे हैं। इस अद्वैतवादके सिद्धान्तमे दृश्यमान, तर्क्यमाण समस्त पदार्थ मिथ्या है, मिथ्या ही नही, असत् हैं एक अभेद निरंश नित्य अपरिणामी आत्मा है, ब्रह्म है। उस अभेद परमात्मस्वमात्र तत्त्वकी सिद्धि इसलिये एक दार्शनिक द्वारा की जा रही है कि उसे प्रमाणके स्वरूपमें दिये गये "अपूर्व अर्थ" इस विशेषणसे विरोध है, क्योंकि यह दार्शनिक सर्वथा अभेदवादी है।

वस्तुस्वरूपकी निर्दोष व्यवस्था —वस्तु स्वरूपकी निर्दोष व्यवस्था तो यह है कि एक पदार्थ इतना हुआ करता है जितना कि वह अपनेमे अखण्ड हो। और, अखण्ड होनेके प्रतिफलस्वरूप अपनेमे अपने आपका परिणमन करता हो। अपनेसे बाहर कही परिणमन न हो, बाहरसे किसी ओरसे अपनेमे परिणमन न आये केवल अपने आप जितने प्रदेशमे हैं उतनेको एक वस्तु कहते हैं इस दृष्टिसे जगतमें अनन्त वस्तुयें हैं। जिन सब वस्तुवोंको हम जातिरूपसे विभाजित करें तो उन सबकी ६ जातियां बनती हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिनमे चेतना पायी जाय, जो जानन देखनहार हो ऐसे जितने पदार्थ हैं वे सब जीव कहलाते हैं। जिनमे चेतना नहीं है, और रूप, रस, गंध, स्पर्श है वे सब पुद्गल जातिमे गिने जाते हैं। ये दो जातिके पदार्थ तो व्यवहारमे बहुत आते हैं। इनके अतिरिक्त ४ जातियां और हैं एक धर्मद्रव्य – जो जीव और पुद्गलके चलनेमें सहायक हो, निमित्त कारण हो वह एक ही है। एक अधर्म द्रव्य जो जीव और पुद्गलके ठहरनेमे निमित्त कारण

हो, एक आकाश द्रव्य जिसमे पदार्थ रहा करे और एक कालद्रव्य जिसमे असख्यात कालद्रव्य हैं, वे लोकालोकके एक-एक प्रदेशपर अवस्थित हैं और अपने प्रदेशपर जो भी पदार्थ स्थित हो उसके परिणमनके कारण है। इस तरह छः जातिके पदार्थ हैं।

प्रतिव्यक्तिगत भेदका प्रकाश—जीव और पुद्गलमे तो अनन्त व्यक्तिया स्पष्ट ही है अनन्त जीव है और अनन्त पुद्गल है। वस्तुस्वरूपकी व्यवस्था तो ऐसी है, किन्तु ब्रह्माद्वैतवादी यहाँ यह कह रहे है कि ये भिन्न भिन्न पदार्थ मालूम हुए ना, यह सब अज्ञानसे प्रतीत होता है। वास्तवमे तो एक ब्रह्मस्वरूप ही है। वह ब्रह्मस्वरूप निर्विकल्प हैं, एक सत्तामात्र है। जैसा कि कुछ भी जानते समयसे पहिले जो कुछ एक सामान्य प्रतिभास होता है उस रूप यह एक ब्रह्म है। इस सिद्धिके सिलसिले मे ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे है कि यदि कोई लोग जैन या अन्य कोई भेदवादी लोग यह कहे कि हमे भेद सही तो मालूम पड रहा है जैसे अपने आप जीवोके सबन्धमे अहका प्रत्यय हुआ करता है मै हूँ। मैं तो इस प्रकार मैं मैं के ज्ञानमें भेद तो पडा हुआ है।

अद्वैतवादमे अह प्रत्ययसे भी परमार्थ सत्के अलक्ष्यका प्रतिपादन — इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी यह उत्तर दे रहे है कि यह बात सही नही है क्योकि बहुतसे लोग जो अह अह कहकर अपना अलग अलग अस्तित्व समझ रहे है उसमे शुद्ध बोध का प्रतिभास नही है। जिसको अह करके माना है वह स्वय माया है। मैं सुखी हूँ। मैं दुखी हू। मै मोटा हूँ, मैं दुबला हु आदिक रूपने जो हम लोग मैं मैं का अनुभव करते है तो वह मुख आदिकका या शरीरका आलम्बन करके अनुभव करते है। जो ज्ञानमय ब्रह्मस्वरूप है उसका आश्रय करके उसका लक्ष्य लेकर लोग अह अह नही बोलते तो यहा अभेद तत्त्व सिद्ध किया जा रहा है। अहसे जो कुछ भी लोग ख्याल करते हैं वह किसी अन्य पदार्थका ख्याल करके अह बोला करते है, उसअहमे ब्रह्मतत्त्वपरमात्मस्वरूप नही पकडा जा रहा है। मैं सुखी हूँ तो सुखपर लक्ष्य देकर सुख रूप जो परिणमने वाला है इस तरह विकल्प और कल्पनाओमे जो रमने वाला है वह मैं हूँ तो ऐसा वह मैं मायारूप हू, शुद्ध ब्रह्म नही हू। बोध स्वरूपका आलम्बन करके उसका कोई अनुभव नही करता। वहा तो निर्विकल्पता आती है। जैसे कि जैन लोग भी तो मिथ्यात्वके उदयमें जीव जिस जिसको अहं अह से ग्रहण करते हैं वे सब भी तो पर्याय हैं, मिथ्या हैं। तो यहाँ ब्रह्माद्वैतवादमे जिस-जिस को जुदा-जुदा व्यक्तिरूपमे मैं-मैं अनुभव करते हैं वह सब भेद है, मिथ्या है।

आकारभेदसे भी पदार्थोंके भेदके अभावका कथन— यहाँ ब्रह्मवादी भेदवादियोमे पूछ रहे हैं कि तुम क्या आकारभेदसे पदार्थोंमे भेद मालूम करते हो तो आकार भेदपरसे जाना जाता है या स्वत जाना जाता है? परसे जाना जाता है इस विषयमे यहाँ तक ये आपत्तियाँ दी। यदि यह कहो कि ये पदार्थ सभीके सभी तो अपना-अपना जुदा-जुदा आकार लिए हुआ है स्वय अपने आकारभेदको जानते रहते हैं

यदि ऐसा कहो तो ब्रह्मवादी कह रहे हैं कि इस तरहसे तो समस्त पदार्थ अपने ही प्रकाशमे नियत है यह आपत्ति आयगी । और ऐसा होनेपर तो जिसे हम चस्मा कह कह रहे है, उसके स्वरूपने अपने आकार और स्वरूपको जाना ! जिसे मैं कह रहा हूँ उसने स्वय अपने आपके आकारको जाना । तव कोई भी पदार्थ किसी दूसरेको जान तो न सका । हम आप परपदार्थोंके सम्बन्धमे कुछ निर्णय चाह रहे हैं और हम केवल अपने तक ही जान पाते है तो फिर निर्णय कैसे बनेगा, आकारभेद कैसे सिद्ध होगा ? यो देशभेद कालभेदसे और आकारभेदसे भी पदार्थोंमे भेद सिद्ध नही होता । एक अभेद ही तत्त्व है ।

समयानुरूप द्वैत और अद्वैतके कथनका व्यवहार—देखिये ! आज कल इस सिद्धान्तका प्रचार तो वहुत है, पर कुछ ऐसे अटपटे ढङ्गमे है कि वही पुरुष पहिले बडा भेद सिद्ध कर रहा और थोडी देर वादमे उसका दिमाग वदल जाता है तो अभेदको सिद्ध करने लगता, इस तरह भी परम्परासे और रूढिसे अद्वैतके मानने वाले आज भी है । जैसे अभी चर्चा कर रहे हो कि एक ईश्वरने इन सब जीवोको वनाया, ये सव न्यारे-न्यारे है, पुद्गल न्यारे-न्यारे है । ये सव पदार्थ सत्त्व गुण, रजोगुण, तमोगुणकर सहित है । सबकी जुदी-जुदी खूव सत्ता मानने जैसी बात कहते है । थोडी ही देरमे खबर आ जाय कि पडिताई तो इसमे और ज्यादा समझी जाती है कि एक ब्रह्म है अन्य कुछ नही है ऐसा कहना चाहिए तो इस बुद्धिमे प्रेरित होकर फिर यो वाजने लगते है । वहुत वडी पडिताई बुद्धिमानीकी वात मानी जाती है । तो इस कथनमे मान ली जाती है । जैसे कि अभी कहा है सव कुछ एक ही अभेदस्वरूप ब्रह्म है और कहते ही है सव । सव कुछ एक परमात्मतत्त्व है, अन्य तो सव उसकी माया है । इस अभेदवादको यहाँ सिद्ध किया जा रहा है ।

अविद्यारूप शास्त्र विद्याप्राप्तिके हेतुपर आशङ्का भैया ! जितने भी कथन इस प्रसङ्गमे अभी कहे जा रहे है वे सव एक ब्रह्माद्वैतवादीके है । वे दूसरोकी ओरसे एक शङ्का उठाते हैं कि यदि जैन आदिक भेद मानने वाले दार्शनिक ऐसा कहे कि तुम्हारा यह सर्व विश्व एकस्वरूप ब्रह्म, यदि विद्यास्वभावरूप है ज्ञानरूप, वोध स्वभाव है और वही है सव यह ससारमे बंधस्वरूप । ब्रह्मके अतिरिक्त तो कुछ ससार नाना नही तो जव विद्यारूप ही हैं तो फिर इन जीवोको मोक्षके लिए शास्त्रोंमे प्रवृत्ति क्यों करायी जाती है ? जव हम सव ज्ञानरूप ही हैं, वोधरूप ही है, ब्रह्म ही हैं तो फिर शास्त्रोकी प्रवृत्ति व्यर्थ बन जायगी । क्योंकि शास्त्रोकी प्रवृत्ति तो तव करे जव अविद्यासे हटनेका और विद्यामे लगनेका स्वभाव पडा हो या हम लोगोको जरूरत हो, हम सब तो विद्यारूप है और शास्त्र हैं अविद्यारूप और अविद्यारूप शास्त्र विद्यारूप ब्रह्मको कैसे प्राप्त करा दें ? एक ब्रह्म है उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है मायारूप है, शास्त्र भी मायारूप हो गये और सारे उपदेश भी मायारूप है, समस्त

व्यवहार माया है। तो शास्त्रोकी प्रवृत्ति फिर क्यो की जाय ? कही अविद्यासे विद्या भी मिला करती है ?

अद्वैतवादमे शास्त्रकी अव्यर्थताका समाधान—इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी उत्तर देते हैं कि विद्यास्वभाव होनेपर भी शास्त्रादिककी व्यर्थता नही है। शास्त्र विद्यामे नही लगाते है, किन्तु जितना अज्ञान बसा हुआ है उसका परिहार कराते हैं। यदि यह मैं विद्यास्वभाव न होता तो अनेक प्रयत्न करनेपर भी अविद्याका परिहार नही हो सकता था। हूँ मैं विद्यास्वभाव लेकिन शास्त्रकी प्रवृत्ति हमे यो करनी पडती कि अविद्याकी प्रवृत्तियोका, अज्ञानके परिणमनोका परिहार हो जाय। अज्ञान हटानेके लिए हम शास्त्र पढते हैं, ज्ञान बनानेके लिए हम शास्त्र नही पढते। ऐसा ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे हैं क्योंकि यदि यह कह बैठें कि हम ज्ञान पैदा करनेके लिए शास्त्र पढते है तो इसका अर्थ यह हो जायगा कि हम ज्ञानरूप नहीं हैं। शास्त्रोका हम ज्ञान बनाते है तो शास्त्रोकी प्रवृत्ति ज्ञानविकासमे कारण नही है किन्तु अज्ञानके हटानेमे कारण है, क्यो कि अविद्या ब्रह्मसे अलग वास्तवमे कुछ नही है। अविद्याकी मायाकी सत्ता नही हुआ करती इस कारण यह अविद्या दूर हो जाती है। यदि वास्तवमे अविद्याका सद्भाव मान लें जैसा कि ब्रह्मस्वरूप है, परमात्मस्वरूप है उसी तरह माया भी कुछ होती है यो यदि सत्ता मान लें तो फिर उसे कभी हटाया हो न जा सकेगा। किसी भी सत्ता का अभाव कभी नही हुआ करता। इस कारण शास्त्रोकी प्रवृत्ति अविद्याके हटानेके लिए है और ऐसा तो सभी दार्शनिक मानते है कि मुमुक्षुवोका जितना भी प्रयत्न है, निर्वाण प्राप्त करने वालोका जितना भी प्रयत्न है वह सब अविद्याके उच्छेदके लिए है। मोह रागद्वेष अज्ञान जो कि अतात्त्विक है उनके विनाशके लिए है।

अद्वैतवादका प्रयोजन—भैया ! बहुत कुछ अशो तक ब्रह्माद्वैतवादमे हम अपना दिमाग लगायें, उसकी बातको मानकर चलें तो तत्काल फायदा तो जरूर होता है कि बहुतसे विकल्प हमारे हटने लगते है। जब हम जानें कि यह मायारूप है। वास्तविक नही है, किन्तु एक अकल्पनीय ब्रह्मस्वरूप है वह ही सबका मूल है, इसतरह जब हम एक अकल्पनीय ब्रह्मस्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो ये सब विकल्प हमारे शान्तसे होने लगते है, लेकिन ऐसा उपयोग बदल लेना, इस तरहका शान्त हो लेना यह देर तक नही टिक पाता है तथा अन्ततो गत्वा आत्ममग्न नही कर सकता। यो तो जैसे किसी लडकेको हुचकी आ रही हो और उसको कोई अचम्भे वाली बात कोई सुना दे या उसके ही लिए कोई ऐसा सुना दे कि तुम उसके घरमे क्यो सूनेमे गये थे, तुम वहाँ क्यो चोरी करने गए थे। तो उसका कुछ उपयोग बदल जाता है और उसकी हिचकी थोडी देरको बन्द हो जाती है। और, ऐसा लोग करते भी हैं। कुछ देर बादमे फिर वह हिचकी चलने लगती है, वह तो रोग ही है। इसीतरह समस्त सत्पदार्थोका अभाव मान लेनेपर और मात्र एक कोई ब्रह्म मान लेनेपर कुछ कल्पनाएँ तो शान्त हो

जाती है कुछ अतिव्यक्त मोह रागद्वेषकी परिणतिया मिट तो जाती है पर वहा फिट यो नही बैठ पाता है कि ऐसा सोचनेमे सोचने वालेने स्वमे अपने ज्ञानको नही पाया। यदि उस ही ब्रह्मस्वरूपको केवल एक अपने आपमे इस स्वभावको सोचता कि मैं तो चैतन्यमात्र हू और जो कुछ भी यहाँ परिणमन बनता है वह सब मायारूप है इस प्रकार अपने आपकी इन विभाव सृष्टियोको मायारूप समझकर उनसे अपनेको हटाकर अपने एक ज्ञानस्वभावमे चित्त देता तो सोचने वाला भी यही है और अपने आपके मूलकी बात सोची तो यह इसमे मग्न हो जाता। हम उस स्वरूपको समझनेके लिए अपनेसे भिन्न अन्यत्र दृष्टि लगायें कि इन सबका उपादानभूत कोई एक ब्रह्म है तो अन्यत्र दृष्टि लगानेसे अपने आपमे स्वरूपमग्नता नही हो पाती है इतना अन्तर है।

अनादि अविद्याके उच्छेदका तर्क—इस प्रसङ्गमे ब्रह्माद्वैतसे कोई प्रश्न कर रहा है कि अविद्या भी तो अनादिकालसे चली आयी है। जैसे ब्रह्मस्वरूप अनादि है तो यह विद्या भी अनादि है और अनादिमे चली आयी हुई अविद्याका उच्छेद कैसे हो सकता है। इसपर ब्रह्माद्वैतवादने उत्तर दिया कि देखो तुम्हारे यहाँ भी तो प्रागभाव अनादिसे चला आया है, उसका भी तो विनाश होता है। कैसी सुन्दर युक्तिसे उत्तर दे रहे है। प्रागभावका अर्थ है जो चीज बनती है उससे पहिले वह चीज नही रहती ऐसा तो सर्वत्र है ही। जैसे आज यह घडा बन रहा है तो इस घडेका आजमे पहिले अनन्तकाल तक अभाव था। तो प्रागभावका समय है अनन्तकाल अर्थात् प्रागभाव अनादिसे है। सो वहाँ भी जब घडा बन गया तो प्रागभाव मिट गया। जो इस समय रोटी बनायी जा रही हो उस रोटीका पहिले अभाव है कि नही ? तो कब तक अभाव रहा ? आज जो ८ बजे रोटी बन रही है उसका अभाव ७ बजे है कि नही ? ७ बजे रोटी तो न थी। इसीप्रकार १० वर्ष पहिले, सैकडोसागर पहिले, और अनन्तकाल पहिले कभी भी उस रोटीका सद्भाव न था, अब बन रही है रोटी। तो रोटीका प्रागभाव रहा अनन्तकाल तक। रोटी बननेपर अनादिसे चला हुआ रोटीका प्रागभाव मिट जाता ना। इस तरह अनादिकालसे चली आयी हुई अविद्याका भी विनाश हो जाता है, और जैसे यो समझिये कि घडा बना तो घडेसे पहिले घटेका प्रागभाव था तो उस प्रागभावका नाम रख दीजिए अघट। घट तो हुआ एक मिनटमे और अघट रहा अनन्तकाल तक। तो उस घटका सद्भाव अलगसे क्या है ? घटका प्रागभाव ही अघट है इसीतरह अविद्याका सद्भाव और कुछ नही है, विद्याका प्रागभाव ही अविद्या है। जब तत्त्वज्ञानरूप विद्याकी उत्पत्ति होती है तो अविद्या अपने आप नष्ट हो जाती है जैसे कि घडा बननेपर घडेका अभाव अपने आप दूर हो जाता है।

ब्रह्म और अविद्यामें भिन्नाभिन्नादि विचार— अद्वैतवादी कह रहे हैं कि जो भेदवादने यह पूछा था कि अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है कि भिन्न है, सो भिन्न अभिन्न के विकल्प वस्तुमे हुआ करते है। अविद्या तो अवस्तु है, इसमे भिन्न अभिन्नका विकल्प

करना बुद्धिमानी नहीं है। सर्वथा अनुनय प्रक्रियामें ये विकल्प नहीं उठाये जा सकते, यह सब कुछ अविद्या माया है, मिथ्याप्रतिभास है। जैन सिद्धान्तमे भी तो आप शरीरको मायारूप बताते, औपाधिक चीज बताते, निमित्त और उपादानपर दृष्टि दें तो न जीव की यह चीज है न पुद्गलकी यह चीज है। जीव और पुद्गलके परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावसे यह सारा संसार दिख रहा है। तो हम इन सबको किसी एककी बात नहीं कह सकते।

भैया ! जैन सिद्धान्तमे तो नय विभाग है। द्रव्य गुण पर्यायकी व्यवस्था है किन्तु अद्वैतवादीसिद्धान्तमे द्रव्य गुण पर्यायकी व्यवस्था नहीं है। जो ब्रह्म है वह सर्वथा अपरिणामी है। अ.उनका यह सब कुछ परिणमन नहीं है, किन्तु मायाका है, प्रकृतिका है, यह सब परिणमन झूठ है, इन सबकी सत्ता मिथ्या है, एक ब्रह्मस्वरूप है इसप्रकार अपरिणामी नित्य निरंश एक स्वभावी ब्रह्मतत्त्वकी सिद्धि की जा रही है।

शास्त्रमननादिकी अविद्यामे स्वपरअविद्याके प्रशमनके सामर्थ्यका मन्तव्य—अद्वैतवादीसे अब भेदवादी पूछ रहे हैं कि हम जो आत्माकी बात सुनते हैं, आत्मतत्त्वका मनन करते हैं, आत्मतत्त्वका ध्यान करते हैं यह तो ब्रह्मसे भिन्न है ना? हाँ ब्रह्मसे भिन्न है। तो यह अविद्यारूप हुआ ना। आत्माकी कथनी सुनना, चर्चा करना, आत्माका मनन करना, ध्यान करना जब ये सब अविद्या हैं तो उन अविद्यास्वभावी प्रयत्नोसे विद्याकी प्राप्ति कैसे बन सकेगी? ब्रह्माद्वैतवादी इसपर उत्तर देते हैं और कितने तर्कके साथ उत्तर देते हैं। आप यह समझेंगे कि ठीक ही तो कह रहे हैं। उनका उत्तर है कि जैसे किसी पानीमे गदापन है, कीचड भरा हुआ है, धूलका विशेष सम्बन्ध है ऐसे उस कलुषित जलमे जब कोई निर्मली, चूर्ण वगैरह डालते हैं जो कि उस पानीको साफ करती है तो वहाँ वह चूर्ण उस धूलको भी नीचे दबा देता है और वह चूर्ण खुद भी नीचे दब जाता है। तो जो गन्दे जलके उस कीचको दबाने के लिए एक दवाई डालते हैं तो उस दवाईका यह काम है कि धूलको नीचे दबाकर खुद भी नीचे दब जाय। इसी तरह ये आत्माके ध्यान मनन आदिक तो जरूर हैं किन्तु इस अविद्याका इतना काम है कि भिन्न पदार्थ निरखनेकी अविद्याको दबाकर खुद दब जाय।

स्वपरप्रशामनपर विषका एक और उदाहरण—और भी देखिये किसी विषको दूर करनेके लिए विष डालते हैं, विषैली चीजका विष दूर करनेके लिए विष प्रयोग करते हैं तो उस विषका यह काम है कि दूसरे विषको शान्त कर दे और खुद भी शान्त हो जाय। तो जैसे विष खुद शान्त होकर दूसरे विषको शान्त कर देता है इसीप्रकार यह अविद्या भी ज्ञानध्यान स्वाध्याय ये सब भेदभावको शान्त कराकर खुद शान्त हो जाती है। ऐसा इस अविद्यामे प्रभाव है। यह अविद्या अपने आपमे उत्पन्न हुआ जो भाव है, अनेक प्रकारके जो दुराग्रह है, यह चौकी है, यह कमण्डल है, यह

पुरुष है, यह पक्षी है आदिक जो भेद डालनेके आग्रह हैं उनको भी यह स्वाध्यायरूपी अविद्या शान्त कर देती है और यह अविद्या स्वय शान्त हो जाती है। और यह जीव यह ब्रह्म अपने स्वरूपमे अवस्थित हो जाता है। तो अविद्याका यह काम है। यह शका नही कर सकते कि फिर शास्त्र पढना व्यर्थ है। शास्त्र पढनेका जो ज्ञान है इसे भी ब्रह्म वादने अज्ञान माना है। यह शास्त्र पढनेका अज्ञान इन भिन्न भिन्न चीजोको समझानेका जो अज्ञान लगा है इस अज्ञानको नष्ट कर देता है और खुद नष्ट हो जाता है।

स्वपरविकल्पप्रशामनपर एक और दृष्टान्त— जैसे जैन सिद्धान्तका एक दृष्टान्त लो—दो नय होते है—निश्चयनय और व्यवहारनय। व्यवहारनय तो अन्य वस्तुमे अन्य वस्तुका सम्बन्ध जोडना कहलाता है और निश्चयनयमे एक ही वस्तुमे एक ही वस्तुके सहजस्वरूपको देखनेका काम बना रहता है। अब विकल्पकी दृष्टिसे देखिये तो व्यवहारनय भी विकल्प है और निश्चयनय भी विकल्प है। जब ध्यानी पुरुष अपने शुद्ध आत्मतत्त्वमे मग्न होना चाहता है तो भले ही व्यवहारनय पहिले साधक रहे लेकिन उस निर्विकल्प दशासे पहिले समयपर तो निश्चयनय साधक बनता है। वहाँ यदि कोई प्रश्न कर बैठे कि निश्चयनय भी विकल्प है, वह विकल्प अविकल्प दशाका कारण कैसे बन जाता है ? तो जैसे वहा यही उत्तर दिया जा सकता है कि उस शुद्ध निश्चयनयके विकल्पमे यह प्रभाव है कि बडे बडे व्यवहारनयके विकल्पोको समाप्त करते हुए खुद भी समाप्त हो जाता है और वहा निर्विकल्प दशा जगती है। इसीतरह हमारा ब्रह्माद्वैतवाद है। उस ब्रह्मस्वरूपमे मग्न होनेके लिए जो शास्त्र अध्ययन आदिक करते हैं, आत्मध्यान आत्ममननका उपाय बनता है, यद्यपि ये उपाय भी सब मिटते हैं, विद्यास्वरूप तो एक अकल्पनीय अनिर्वचनीय स्वरूप है लेकिन यह आत्मध्यान आदिककी अविद्या भी इन बडी बडी अविद्यावोसे, भिन्न–भिन्न चीज मानने हठको, अज्ञानको समाप्त करते हुए खुद भी समाप्त हो जाता है। यो शास्त्रकी प्रवृत्ति व्यर्थ नही है और फिर भेदको बताने वाली जो यह अविद्या है इसका जब बिनाश हो जाता है तो एकस्वरूप स्वय अवस्थित हो जाता है।

अभेदब्रह्मकी सिद्धिमे अभेद आकाशका उदाहरण—जैसे ५० घडे रखे है, जब हम भेददृष्टि रखते हैं यह घडा है, यह घडा है तो हमे वहाँ आकाशका भी भेद नजर आता है, इस घडेका आकाश इस घडेमे है, इस घडेका आकाश इस घडेमे है। यदि हम घडेके भेदको बताने वाली अविद्याको समाप्त कर दें तब एक शुद्ध आकाश रहता है इसीतरह जब हम इस भेदको दूर कर दे तो एक दृष्टि रहती है। इसप्रकार ब्रह्मवाद अभेदकी सिद्ध कर रहा है। एक शुद्ध ब्रह्म ही तत्त्व है। जैसे आकाश एक है, अखण्ड है, नित्य है, अपरिणामी है, इसी प्रकार ब्रह्म (आत्मा) एक है, अखण्ड है, नित्य है, अपरिणामी है इस परमात्मरूपका ग्राहक ज्ञान ही प्रमाण है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, अत अपूर्व अर्थोंका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है यह कथन युक्त नही है।

समारोपित भेदसे लोकव्यवहारका अद्वैतवादमे कथन –लोकमे पदार्थ हैं तो अनन्तानन्त, किन्तु उनकी जातिका भी भेद न करके और उन सब पदार्थोंके एक सामान्य सत्त्वस्वरूपका ही आग्रह करके अद्वैतवादी कह रहे है कि ये जितने भी पदार्थ दिखते है ये वास्तवमें कुछ नही है, एक अद्वैतब्रह्म ही तत्त्व है । इसपर यह शका की जा सकती है कि अद्वैत मानने पर फिर सुख दुख बन्ध मोक्ष आदिक कुछ भी भेदकी व्यवस्था न रह सकेगी क्योकि ये सब भेदमे हैं । इसके उत्तरमें अद्वैतवादी कहते हैं कि कल्पितभेदसे भी सुख दुःख बन्ध मोक्ष आदिकके भेदकी व्यवस्था बन सकती है । जैसे भेदवादी भी यह कहा करते हैं कि मेरे शिरमे पीडा है, मेरे पैरमे वेदना है । क्या शिरमे पीडा होती है ? अथवा पैरमे वेदना होती है । वेदना तो जीव मे होती है । शिर और पैर तो भौतिक चीज हैं फिर भी जीवमे होने वाली वेदनाको उपचारसे अपनी कल्पनाके अनुसार पैर और शिरमे कह देते है तो कल्पितभेदसे भी भेद हो जाता है । इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादमे भी यह बताया गया है कि जितने लोक मे ये भेद देखे जा रहे हैं, भिन्न–भिन्न पदार्थ माने जा रहे है, ये सब भेदकी कल्पनासे होते हैं, वास्तविक कुछ भी भेद नही है ।

लोकव्यवहारमे समारोपित भेदका शङ्कापरिहारपूर्वक समर्थन – यदि इसके उत्तरमे जैन आदिक यह कहे कि पैर आदिकमे पीडा तो नही है पर वेदना का अधिकरण जरूर है अर्थात् पैर शिरमें कुछ रोग हो जानेके निमित्तसे आत्मामे पीडाका अनुभव होता है, तो कुछ तो सम्बन्ध है इस कारण उसके भेदमे भेदकी व्यवस्था बन सकती है । इसके उत्तरमे अद्वैतवादी कहते हैं कि यह भी युक्त नही हैं। क्योकि शिर और पैर तो कुछ तत्त्व ही नही हैं, ये क्या वेदनाका कुछ अनुभव कर लेंगे ? यदि शिर पैर अनुभव करलें तो यह नास्तिक मत हो गया कि जीव कुछ नही है जो यह शरीर है, ढांचा है यही है जीव और यही जानता है, यही भोगता है । इस शरीरके अतिरिक्त जीव कुछ नही है यही प्रसङ्ग आ जायगा । तो इस तरह ब्रह्माद्वैतवादी कहते जा रहे हैं कि एकत्व ही वास्तवमे सिद्ध है । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे ब्रह्मवाद ही तत्त्व सिद्ध होता है, भिन्न–भिन्न पदार्थ कोई तत्त्व नही है, ऐसा ब्रह्माद्वैतवादीने इसलिए यह प्रकरण रखा कि प्रमाणका स्वरूप कहा जा रहा था कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय कराये वह ज्ञान प्रमाण है, तो अद्वैतवाद दर्शनका कथन है कि अर्थ तो अपूर्व और भिन्न–भिन्न कुछ होता ही नही । केवल एक ब्रह्म ही सत् है और ये सब पदार्थ मिथ्या हैं तब इसका ज्ञान करना कैसे सत्य कहलायेगा ? इस प्रकार अद्वैतवादने अपना पक्ष रखा ।

एक ब्रह्मसाधक प्रमाणके विकल्पोकी मीमासा—अब अद्वैत तत्त्वके सम्बन्धमे आचार्यदेव कहते हैं कि सारा विश्व एक है, अभेद है ऐसा अभेद जो सिद्ध कर रहे हो, क्या इस वजहसे कर रहे हो कि अभेदको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण है,

अथवा इस कारण कह रहे हो कि भेदको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण ही नही है भेदमे बाधा डालने वाला कोई प्रमाण है। दोनो बातोंसे भी अभेदकी सिद्धि की नही जा सकती है, जिसमे यह तो कहना युक्त है नही कि भेदकी सिद्धि प्रमाणसे नही है इस कारण एक अभेद ही-ब्रह्म है। यह बात तो तुम्हारी इस कारण अयुक्त है क्योकि प्रत्यक्ष आदिक भेदके अनुकूल ही पड रहे हैं। हम आखसे या इन्द्रियसे जो कुछ भी जानते है प्रत्यक्षसे स्पष्ट यह सब जुदा जुदा मालूम पड रहा है और फिर भेद माने बिना तो यह भी व्यवस्था नही कर सकते कि कौन प्रमाण होता है कौन अप्रमाण होता है। जैसे अभेद प्रमाण है और भेद अप्रमाण है यह कहा तो कुछ प्रमाण होना कुछ अप्रमाण होना ये दो चीजे है क्या ? यदि कहो कि ये दो चीजें हैं तो अभेद कहाँ रहा, अद्वैत कहाँ रहा ? फिर दो बातें हो गई। यदि कहो कि नही दो बात नही हैं तो प्रमाणकी अप्रमाण बताये विना सिद्ध नही और अप्रमाणका प्रमाण बताये बिना सिद्धि नही। तो भेद माने विना तो हम कोई भी मनुष्य अपना सिद्धान्त रख ही नही सकते। आखिर यह तो समझना ही होगा कि मेरी बात प्रमाणभूत है इसके अतिरिक्त अन्य अप्रमाण है। भेद, अपेक्षा, प्रतिपक्ष धर्म ये तो प्रत्येक तत्त्वके साथ जुडे हुए हैं। जहाँ मुहसे "यह है" इतना भी निकला कि उसमे ही यह जुडा हुआ है कि यह और कुछ चीज नही है। तो है और नही, इनका भेद तो प्रत्येक कथनमे जुडा ही रहता है। कोई कहे कि मेरी बात सच है इसका क्या यह अर्थ नही है कि मेरी बात झूठ नही है ? तो सत्य असत्य, भेद अभेद, सुख दु.ख बध मोक्ष सब कुछ हैं, द्वैतका निषेध नही कर सकते।

सर्वाभेदसाधक प्रमाणका अभाव—यदि कहो कि अभेदका साधक प्रमाण मौजूद है इस कारण हम अभेद सिद्ध करते हैं तो पहिली बात तो यह है कि जो सिद्ध करना चाहे और कोई प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहे तो जो प्रमाण देंगे वे तो कहलायेगे साधक और जिस बातको सिद्ध करेंगे वह कहलायगा साध्य। यो साध्य और साधकका भेद तो मानना ही पडेगा। साध्य साधक भेद भावके बिना निर्णय ही सम्भव नही फिर अभेद साधक प्रमाणके समान लोगे ? यदि है अभेद साधक प्रमाण तो अभेद हुआ साध्य और प्रमाण हुआ साधक। तो यो अभेद आ गया। भेद के बिना तो कुछ सिद्ध नही किया जा सकता।

अभेदके एक व्यक्तिगतत्व व अनेक व्यक्तिगतत्वका विकल्प—आवान्तरसत्तावादी कह रहे हैं कि जो तुमने यह कहा था कि सर्वप्रथम निर्विकल्प प्रत्यक्षमे एकत्व ही ज्ञात होता है कहा था ना, कि जब नेत्र खुले, तो खुलनेके साथ ही सर्वप्रथम जब कि कुछ व्यक्तिगत सत्ता विदित होती है उससे भी पहिले कुछ प्रकाश सा विदित होता है वह परमार्थ सत् है, ब्रह्म है ऐसा जो कहा है तो हमे बतलावो कि वहा जो एकत्व विदित होता है वह एक व्यक्तिमे रहने वाला विदित होता है या अनेक व्य-

क्तियोमे रहनेवाला एकत्व ज्ञात होता है या व्यक्तिमात्रमे रहने वाला एकत्व ज्ञात होता है। यहा प्रश्न यह किया गया है कि जो कोई यह मानता है कि जब हम कुछ भी जानते हैं तो उस जाननेमे सर्वप्रथम अभेद एक निर्विकल्प प्रकाश ज्ञात होता है। तो वह एकत्व वह प्रकाश जिसे तुमने एक माना है वह क्या एक व्यक्तिमे नजर आया या अनेक व्यक्तियोमे या व्यक्तिमात्रमें ?

एकव्यक्तिगत अभेदके प्ररूपणसे सर्वाद्वैतकी असिद्धि - उस एकत्वको यदि एक व्यक्तिगत मानोगे तो यह बतलावो कि वह एकत्व फिर सर्वव्यापक है या उस ही एक व्यक्तिमे व्यापक है ? जो एकत्व नजर आया वह उस ही एक व्यक्तिमे व्यापक है तो विश्वरूप एकत्व कहाँ रहा ? यों वह एक वस्तु विदित हुई सो समस्त वस्तुओमे एक-एक व्यक्तिगत एकत्व निरखे तब वे सब प्रत्येक पदार्थ न्यारे-न्यारे हुए यदि कहो कि नही, एकत्व एक व्यक्तिगत तो दीखा, पर वह सर्वव्यापक दीखा, तो यह तो परस्पर विरुद्ध बात है। सर्वव्यापक हो और फिर एक व्यक्तिमे बंधा हुआ हो यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? तो इससे तुम्हारे अभेद की सिद्धि नही हो सकती है।

अनेक व्यक्तिगत अभेदके प्ररूपणसे सर्वाद्वैतकी असिद्धि— यदि यह कहो कि अनेक व्यक्तियोमें पाया जाने वाला एक अभेद एकत्व एक स्वरूप जाना तो यह बतलावो कि वह एकत्व व्यक्तियोके आधार रूपमे प्रतिभास होता है, ज्ञानमे आता है या व्यक्तियोका आधार न करके स्वय ही केवल एकत्व, ब्रह्म ज्ञात होता है। जिस ब्रह्मकी सिद्धि कर रहे हो वह ब्रह्म अनेक व्यक्तियोमे पाया जाता है ऐसा मानते हो तो वह ब्रह्म व्यक्तियोके आधारमे रहता हुआ मालूम होता है या किसी भी व्यक्तिके आधारसे न रहकर स्वतन्त्र स्वच्छन्द रहता हुआ मालूम होता है। यदि कहो कि व्यक्तियो आधारमे रहता है वह ब्रह्म, तब तो भेद सिद्ध हो गया, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियोमें वह ब्रह्म रहा आया। व्यक्ति अधिकरण हैं एकत्व अथवा ब्रह्म आधेय है, जिसे सर्वव्यापी कह रहे हो, लो यो भी यह भेद हुआ और अनेक व्यक्तियोसे भी भेद हुआ

भेदकी प्रत्यक्षसिद्धता—किन्ही भी व्यक्तियोका आधार न करके ब्रह्म अपने आप सर्वत्र मौजूद है यह मानोगे तब तो बीचमें, अन्तरालमे वह ब्रह्म प्रतीत होना चाहिए। एक व्यक्ति यहा बैठा एक दो गज दूर बैठा तो बीचमे यह अन्तर क्यो आ जाता। जब ब्रह्म सर्वव्यापी है तो वह आत्मा सर्वत्र रहना चाहिए। तो इस प्रकार भेद तो प्रत्यक्षके ही विरुद्ध है। जो सीधी सी बात है उसका निषेध करके एक कल्पित अभेदकी ओर ले जाना यह कहाकी बुद्धिमानी है। और, देखिये जितने भी कार्य होते हैं वे सब व्यक्तियोंसे होते हैं, भेदसे या जाति। नहीं होते। जैसे कोई कहे कि यह काम जल्दी कराओ। कैसे करावे ? इसे मनुष्य जातिसे करावो। तो मनुष्य जाति इस कार्यको करेगी क्या ? अरे इसे तो मनुष्य करेगा। तो जो काम मनुष्योंसे होगा

उस काममे तुमने मनुष्य जातिकी कल्पना की । व्यक्तिकी कल्पना नही होती है कल्पना होती है जातिको अर्थक्रिया याने कार्यका होना व्यक्तिसे होता है जातिसे नहीं होता। कोई कहे कि जावो मनभर दूध लावो । कहांसे लायें ? अरे गौ जातिसे दूध लावो। भला बतलावो गौ जातिसे भी दूध निकलता है क्या ? अरे दूध तो गायोसे निकाला जायगा । तो कोई भी काम हो वह पदार्थसे बनता है, व्यक्तिसे बनता है जातिकी तो सदृशतासे कल्पनाकी जाती है । तो इस प्रकार समस्त पदार्थोमे जो एक सत् स्वरूपकी कल्पना की जाती है वह सदृशतासे की जाती है ।

अर्थक्रियासे पदार्थके अस्तित्वकी प्रसिद्धि भैया ! चू कि सभी पदार्थ अपना अपना अस्तित्व रखते है अतएव अस्तित्वका स्वरूप लेकर एक ऐसी जाति बन गई कि सत् एकस्वरूप है । केवल अस्तित्वमे भेद क्या ? आपके शरीरमे, हाथ पैरमे आपके भीतरके कषाय आदिक भावोमे फर्क है लेकिन कुछ भी होता है है मात्रमे क्या फर्क है ? तो वह है' मात्र जब सब पदार्थोमे एक समान है तो इस सदृशताको लेकर एक सत् स्वरूप माना जा सकता है । प्रत्येक पदार्थकी व्यवस्था जातिमे भी नही होती किन्तु परिणमनसे होती है । अर्थ क्रिया अर्थसे होती है । प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप लिये हुए है, अपने ही प्रदेशमे रहता है, उसका गुण शाश्वत है । वह भी उस पदार्थमे है, उसकी पर्यायें परिणत होती हैं वे भी उस पदार्थके प्रदेशमे हैं पदार्थसे बाहर पदार्थका कोई काम नही है । परिणमनका ही नाम अर्थक्रिया है । जो परिणमन जितनेमे होना ही पडे, जितनेसे बाहर कभी न हो बस उसका नाम एक पदार्थ है । पदार्थकी मर्यादाका कारण भी परिणमन है । जैसे मेरे क्रोधादिक परिणमन मेरे ही प्रदेशमे हो सकते हैं और मेरेसे बाहर एक प्रदेशमात्र भी अन्यत्र नही हो सकते, इस कारण यह मैं एक हू । इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थोमे भी यही बात है । इससे तो पदार्थ ज्ञात होते है, पर जातिसे पदार्थकी व्यवस्था नही है । जाति कल्पित है, व्यक्ति कल्पित नही है ।

सिद्धान्तका मौलिक प्रयोजन यद्यपि ब्रह्माद्वैतवादका प्रयोजन भी यही है कि किसी प्रकार रागद्वेष मोह छूटे, रागद्वेष मोहकी वेदना ही वास्तविक विपदा है । जीवोपर और कुछ विपदा नही है । ये बाह्य पदार्थ हैं, आज कोई अपने पास है, कल रहे या न रहे, यह जीवपर कोई विपदाकी बात नही है । परपदार्थमे जो मोहभाव बना, अज्ञान बना, रागद्वेष बना यह ही एक विपदा है । इस विपदासे बचना सभी दार्शनिकोने इष्ट माना है । किन्हीने ईश्वरकी कृपापर अपनी विपदाका छूटना माना है तो ईश्वर भक्तिमे ही इस शैलीसे तन्मय होते है कि हे प्रभो ! तू ही मेरा पिता है रक्षक है । मेरी खबर ले इस प्रकार भक्तिमे लीन होते है । यहाँ इस ब्रह्माद्वैत सिद्धान्तमे मोह रागद्वेष दूर करनेका यह उपाय सोचा गया है कि यह मानें कि दुनियामे ये सब पदार्थ कुछ है ही नही, मायारूप है, इन्द्र-जाल है, जब ये कोई वास्तविक चीज नही है तो फिर इनसे रागद्वेष मोह क्यो किया जायगा ? और, ऐसे इन पदार्थोसे

अपना चित्त हटानेके लिये कुछ तो आधार चाहिए जिसमे अपना चित्त लगायें। तो जिसमें उपयोग देनेपर इन बाह्य पदार्थोंसे हमारा उपयोग हट जाय, ऐसा कोई बताना अवश्य पडेगा। यह उपयोग हटने-हटनेका ही काम नही करता बल्कि एक दृष्टिमे यो देखिये कि उपयोगका काम हटना नही है किन्तु लगना ही है। जिस ओर यह उपयोग लगा उसका ही नाम है दूसरी जगहसे हटना कहलाया। उपयोगका हटना काम नही है, लगना काम है। तो इन भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे उपयोग हटाये इसके लिए एक अद्वैत सत्स्वरूप अनिर्वचनीय ब्रह्म है, ऐसे अद्भुत, अजानी, अविकल्प पदार्थोंकी ओर उपयोगको ले गए तो वहाँ उपयोग ले जाकर फिर ये भेदवादके उपयोग न टिक सकेंगे यद्यपि उद्देश्य तो अद्वैतवादका भी उत्तम है' कौन जीव सुख नही चाहता ? प्रत्येक जीव सुख चाहता है और जो जितने प्रयत्न करता है वह अपने सुखके लिए करता है, किन्तु बात यह देखना होगा कि जो प्रयत्न किये जा रहे है वे सही है अथवा नही है।

बाह्यके उपयोगमे निर्विकल्प स्थितिकी असभवता—अब इस प्रसङ्गमे निरखिये—जो सत् नही है उसका कुछ भी परिणमन नही होता, न मायारूप न परमार्थरूप। मैं हूँ ऐसा अपने आपमे अपना निर्णय है, यह मै निर्विकल्प होना चाहूँ तो कुछ अपने आपमे ही ऐसा परमार्थतत्त्व खोजना होगा कि जिसमे लगनेपर फिर विकल्प सब समाप्त हो जाये। यो अपने आपमें चैतन्य ब्रह्म परम ब्रह्मस्वरूपको निरखा जाय तो खुद ज्ञान हो और खुदके सहजस्वरूपमे मग्न होना चाहे तो यह बात तो चिग सकनेकी बन जाय। लेकिन हम सारे विश्वका ठेका लें, इन सब पदार्थोंका मूल कोई एक ब्रह्म है ऐसा निरखकर हम सारे लोकमे एक ब्रह्म है ऐसा निरखें तो स्वसे दूर ही रहे। चाहे किसी रूपमे तत्त्वको रखें। जब हमारा चित्त हमारा उपयोग हममे न रह सका, बाहर रहा तो ऐसे उपायसे निर्विकल्प स्थितिकी आशा करना असम्भव है। निर्विकल्प स्थिति नही बन सकती है।

यहाँ आत्माद्वैतवादी यह कह रहे हैं कि लोकमे सब कुछ एक ब्रह्म ही है। जो कुछ ये भेद नजर आ रहे है ये सब कल्पित है, मायारूप हैं। तब उनसे पूछा जा रहा है कि यह जो एकत्व है, जो एकाकारता है वह एक व्यक्तिके जाननेके माध्यमसे जाना जा रहा है या समस्त व्यक्तियोका हम ग्रहण करके जान रहे है कि यह ब्रह्म, यह एकत्व समस्त पदार्थोंमे मौजूद है। यदि कहोगे कि हम एक व्यक्तिको ग्रहण करके ही इस लोकव्यापी एकत्वको जान जायेंगे तो यह विरोधकी बात है कि हम एक व्यक्तिको ग्रहण करें और सर्वव्यापक एकत्वको जान जायें। एकाकारता तो उसका नाम है कि अनेक व्यक्तियोमे कुछ एकरूप हो उसे ही कह सकेंगे सर्वव्यापक एक। पर तुम तो एक व्यक्तिको ग्रहण कर रहे तो अनेक व्यक्तियोमे अनुयायीरूपसे रह सकने वाला कोई एकत्व एक व्यक्तिको ग्रहण करनेसे कैसे जान सकेगा। जैसे एक गौको देखनेसे उसकी एक जातिका ज्ञान नही हो सकता क्योकि गौ जातिका अर्थ क्या है कि समस्त गायोमे

रहने वाला जो एक सादृश्य है उसका नाम है गौ जाति। तो एक व्यक्तिका ग्रहण करनेपर हम सर्वव्यापी एकत्वको नहीं जान सकते हैं। यदि कहो कि हम समस्त व्यक्तियोका ग्रहण करके एकत्वको जान रहे हैं तो यह बात तो सब झूठ है। समस्त व्यक्तियोको जान कौन रहा है ? यदि कोई जान जाए तो वह सर्वज्ञ हो गया। तो सकल व्यक्तियोके जाननेके द्वारसे भी यदि एकत्वकी प्रतीति मानोगे तो सभी लोगोको उसका गहण सम्भव हो जायगा अथवा किसी एकको भी न विदित हो और यो भेद आ जायगा।

सर्वव्यक्तिगत अभेदकी सिद्धिमे भेदवादकी स्पष्ट झलक – देखिये समस्त व्यक्तियोमे रहने वाला एकत्व आ गया ना कि व्यक्ति हैं सब और उनकी सदृशता को लेकर एक बात रखी। भेद तो अपने आप ही सिद्ध हो गया। सीधी बात तो यह है कि अनन्त जीव है। सबका अपना-अपना सुख दु ख, सबकी जान, सबकी करनी अपनी-अपनी न्यारी है और अपनी-अपनी करनीसे कमाये हुए पुण्य पापके द्वारा इस लोकमे सुख दु ख भोगते हैं, नाना शरीर धारण करते है। समस्त जीवोमे, सबमे पाया जाने वाला एक स्वरूप है चैतन्य। तो पदार्थ जातिकी अपेक्षा सब जीव एक माने गए हैं पर ऐसा नही है कि वे सब एक अनुभवमे भी हो। यदि सब कुछ एक मान लिया जाय तो एक जीवको सुख हो तो सभी जीवोको एक साथ सुख होना चाहिए। किसी एक जीवको दु ख हो तो सब जीवोको एक साथ दु ख होना चाहिए, किन्तु ऐसा तो है नही। कोई जीव सुखी है कोई दु खी है। जब यह अनुभवभेद है, वे परिणमनभेद हैं तो उन सब पदार्थोमे भी भेद है, वे सब जीव न्यारे-न्यारे है।

एकत्वदर्शनमे आत्मलाभका प्रयोजन – भैया ! स्वभावदृष्टिसे, जातिसे तो सब जीव समान हैं और गमाधिके प्रयोगमे इनका बडा आदर किया जाता है। हम सब जीवोमे एक चैतन्यस्वरूपको निरखे। यह आदर भी इसलिए नही किया गया कि तुम सब जीवोमे चैतन्यस्वरूपको निरखते रहो और अपने आपमे कुछ भी प्रकाश न लावो। सब जीवोमे चैतन्यस्वरूपको निरखनेसे, केवल चैतन्यस्वरूप ज्ञानमे रहनेसे उन सब जीवोका आधार छूट जाता है। और जब सब जीवोका आधार छूट गया, ज्ञानमे केवल चैतन्यस्वरूप ही प्रतिभासमे आया तो स्वय तो स्वय है ही। यह आधार तो कभी छूट ही नही सकता। सो निज आधारमे चैतन्यस्वरूपका अनुभव होने लगता है। तो सब जीवोमे चैतन्यस्वरूप एक जाति है।

पुद्गलोंका अनन्त व्यक्तित्व – जीवोकी भाति जितने भी पुद्गल है वे सब भी स्वतत्र अनन्त हैं। समस्त पुद्गल रूप रस, गन्ध, स्पर्श वाले है, वे अपना-अपना पृथक्-पृथक् परिणमन करते है। ये देखनेमे जितने स्कध आ रहे है ये विशुद्ध पुद्गल नही है। पुद्गल तो केवल एक अणु-अणु मात्र है। अनेक अणुवोका स्कध हो जाना, मिल जाना यही है स्कध। तो इन स्कधोमे जो एक-एक अणु है उनपर दृष्टि दूर

देख लो, प्रत्येक अणुका परिणमन उस ही का उसमें है। किसी भी अणुका परिणमन किसी दूसरे अणुमें अथवा जीवादिकमें नहीं पहुँचता है। यों अनन्त अणु हैं किन्तु समस्त अणुवोंमें मूर्तिमत्ताका होना एक समान है। प्रत्येक अणु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्त है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सभीमें ये चार तत्त्व पाये जाते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। प्रत्येक पदार्थ जो मूर्तिमान हैं, इस मूर्तिकलाकी दृष्टिसे एक स्वरूप वाले हैं।

पदार्थोंकी स्वरूपसिद्धता व प्रमाणस्वरूपकी निर्दोषता—इस विश्वमें जो ६ जातिके पदार्थ पाये जाते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन समस्त पदार्थोंको एक सत्त्व सामान्यकी दृष्टिसे निरखा जाय तो प्रत्येक पदार्थ सत् है। यों जातिकी अपेक्षा महासत्ता सिद्ध होती है, लेकिन महासत्तासे परिणति नहीं हुआ करती। परिणति होती है प्रत्येक पदार्थकी अपने आपमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र। इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ अनन्तानन्त हैं। एक ही आत्मा हो और कुछ भी न हो यह बात सिद्ध नहीं होती। इसी कारण प्रमाणका स्वरूप यह बिल्कुल सही कहा गया कि जो अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है।

विविध भेदसिद्धि—यहाँ एक विकल्प यह रखा जा रहा है कि जो यह कह रहे हो कि सारा विश्व एक ब्रह्म है तो यह ब्रह्म अथवा एकत्व क्या अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाला है? यदि वह एकत्व अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाला है तो प्रथम तो अनेक व्यक्ति ही मान लिये गये, और फिर दूसरी तरह भेद नहीं माननेकी हठ ही करोगे तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि अनेक व्यक्ति हैं आधार और एकत्व है आधेय। इस प्रकार आधार और आधेयका भेद हो गया और दूसरा भेद यह हो जायगा कि अनेक व्यक्ति तो बन गए विशेषण और एकत्व बन गया विशेष्य, अथवा उन अनेक व्यक्तियोंके विशेषणरूपसे यह एकत्व प्रतिभासमान हुआ। यों विशेषण और विशेष्यका भेद बन गया।

सर्वाभेदकी अपरमार्थता—अब यह बतलावो कि अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाला एक ब्रह्म अनेक व्यक्तियोंसे भिन्न है या अभिन्न है याने अनेक व्यक्तिमें एकमेक है या उनसे ब्रह्म जुदा पदार्थ है? यदि कहोगे कि उन अनेक व्यक्तियोंमें एकमेक है तो इसका मतलब भेद हो ही गया। एकत्व और अनेक व्यक्ति सब अभिन्न हैं सो अनेक व्यक्ति हैं तो ब्रह्म भी अनेक हो गए क्योंकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके साथ अन्वय नहीं रखता। जैसे एक जीव अपने भूत भविष्य वर्तमानकी सब पर्यायोंमें अन्वय रखता है अर्थात् उन प्रति परिणतियोंमें रहता है इसीप्रकार व्यक्ति प्रतिव्यक्तियोंमें नहीं रहता है। तो फिर एक ब्रह्म भी अनेक व्यक्तियोंमें कैसे रह जायगा। कोई एक वस्तु यदि सद्भूत है तो अन्यमें नहीं रह सकता है। यदि कहोगे कि यह ब्रह्म उन अनेक परिणतियोंसे जुदा है तो फिर नानात्वकी सिद्धि हो गई। वे अनेक व्यक्ति

अच्छी तरह सत् हैं और ब्रह्म भी सत् है तो अनेक पदार्थ हो गए। इस कारण यह मानना युक्त नहीं है कि सारा विश्व एक ब्रह्म स्वरूप है।

एक जातिमे अनन्त पदार्थ -भैया! पदार्थ तो ये सब अनन्तानन्त हैं, भले ही जीव जीवमे, जीव जातिकी अपेक्षा एक आत्मस्वरूप कह लो तो पुद्गल पुद्गलमे, इन भौतिक पदार्थोंमे एक जातिकी अपेक्षा एक मूर्तिपना कह लेना चाहिए। यो जाति की अपेक्षा होते है विश्वके छ भेद और व्यक्तियोकी अपेक्षा ये सब हैं अनन्तानन्त पदार्थ। और, विश्व ही नाम किसका है? विश्व नाम है सबका। विश्व, सर्व, सकल, अखिल आदि शब्द सब एक ही पर्यायवाची शब्द हैं। सबका जो समूह है उसका ही नाम विश्व रखा गया है। तो यह ही विश्व शब्द सिद्ध कर रहा है कि पदार्थ अनेकानेक है और उनका यह समूह है। यो सब पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने नामके स्वरूपमे रहने वाले सिद्ध होते है और इस मार्गसे ज्ञान बनायें तो भेदविज्ञान बनता है।

सर्वकी सर्वविविक्तता —प्रत्येक पदार्थ जुदे-जुदे हैं, एक अणुका किसी दूसरे अणुके साथ भी तादात्म्य नही है, चाहे वे एक ही स्कन्धमे बद्ध पडे हैं। जैसे चौकी यदि सरकाई तो सारे अणु सरक गये। फिर भी प्रत्येक अणुका परिणमन परके स्वरूपमे है भले ही स्कन्ध पदार्थमे कुछ विलक्षण परिणमन होता है लेकिन इसमे वस्तु की स्वरूपसत्ताका विघात नही है। प्रत्येक अणु प्रत्येक अन्य पदार्थोंसे जुदा है। प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीवसे और समस्त पदार्थोंसे जुदा है। इस प्रकार सबसे विविक्त जब केवल अपने आपको निरखा जाता है, केवल इस आत्मतत्त्वका ज्ञान किया जाता है और इसी कारण आत्मदृष्टिमे विलक्षण आनन्द उत्पन्न होता है। अतएव इसमे रुचि जगती है। रुचि जगने भरकी देर है फिर यह आत्मा चू कि धुन वाला है तो फिर रुचि के द्वारा अपना कार्य बना लेता है। यो पदार्थोंके नाना माननेहर भेदविज्ञान बनता है और उस भेदविज्ञानके प्रतापसे ग्रहण किया गया, ज्ञानमे लिया गया जो आत्मस्वरूप है, यह जीव उस आत्मस्वरूपमे मग्न हो जाता है, तो एक इस आत्ममग्नताके लिए पदार्थके नानात्वका विरोध करना और एक ब्रह्ममात्र आत्ममात्रका सिद्धान्त बनाना युक्त नही बैठता।

अनुगत और व्यावृत्त प्रत्यय होनेके कारण अभेद व भेद दोनोकी सिद्धि- और भी सुनिये। सारे विश्वमे एक ब्रह्म माननेकी, एकत्वकी कल्पना करनेकी बात इसी कारण तो उठी कि समस्त पदार्थोंमे अनुगत प्रत्यय होता है कि यह है, यह भी है, तो समस्त पदार्थोंमे जो एक साधारण धर्मका ज्ञान हुआ उस प्रत्ययका जनक होने से यदि इन समस्त व्यक्तियोंमें एकत्वकी कल्पना करते हो तो जैसे अनुगत प्रत्यय होता है सबमे जो मौजूद है ऐसा एक निर्णय होकर तो व्यावृत्तिका प्रत्यय भी होता है। यह आत्मा न्यारा है, स्वतन्त्र है, जुदा है इस प्रकार व्यावृत्त प्रत्यय भी होता है। यह है सो यह नही है, चोकी है सो दरी नहीं है ऐसा व्यावृत्त प्रत्यय भी होता है।

तो व्यावृत्त प्रत्ययका जनक होनेसे नानात्व क्यों नही मान लिया जाता। यदि सर्व पदार्थोंमे एक साधारण धर्म देखकर एकत्वका कल्पना करते हो तो समस्त पदार्थोंमे एक प्रतिविशिष्ट धर्म निरखकर नानात्वको क्यो नही मानते हो ? और, फिर भैया ! देखो एकत्व तो नानात्वकी सिद्धि किए बिना नही बनता। जैसे कि नानात्व किसी हद तक एकत्वको माने बिना नही बनता। यह तो बहुत कुछ सम्भव है कि एकत्वको गौण करके नानात्वको हम जाना करें पर नानात्वका निषेध करके एकत्व नही ज्ञानमे आ सकता इस कारण यह सगत ही है कि समस्त वस्तु भिन्न-भिन्न अपना-अपना स्वरूप लिए हुए हैं।

स्वैकत्वदर्शनका लाभ प्रत्येक जीव अपने ही परिणामसे अपना बन्धन बनाता है और अपने ही परिणामसे अपनी मुक्ति बनाता है। इस मुक्तिका मार्ग यह जरूर है कि अपने आपमे अपना सहज स्वरूप दिख जाय। किसी परकी इसमे अपेक्षा नही करना है, वह अनादिसे अपनेमे है, स्वभावभूत है, अपना परमार्थप्राणभूत है ऐसा चैतन्यस्वरूप दिखे तो उस अविशिष्ट चैतन्यस्वरूप। निरखनेसे एक निर्विकल्प दशा होनी है। बजाय इसके कि तिर्यक्रूपसे देखकर हम अविशिष्टपना देखें अर्थात् इन सब व्यक्तियोपर नजर दे देकर फिर हम इसमे कोई मर्म देखें बजाय इसके अपने आपकी समस्त परिणतियोमे हम कोई एकपना देखें तो यह हमारे लिए लाभकर होगा। तिर्यक सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य ये दो तरहके सामान्य होते हैं। ये कल्याणके लिए भी बहुत अधिक जानने योग्य तत्त्व हैं, ध्यानमे सुनियेगा।

तिर्यक्सामान्य व ऊर्ध्वतासामान्यका विवरण—जैसे सब मनुष्य बैठे हैं, सभी वर्गके बैठे है तो इन प्रत्येक मनुष्योमे मनुष्यपना पाया जा रहा है यो एक मनुष्यत्व हुआ। मनुष्य हैं हजारो लाखो और उनमे मनुष्यत्व एक अविशिष्ट है अर्थात सामान्यरूप है। एक तो यो एक मनुष्यत्व निरखना यह तो है तिर्यक्सामान्यका उदाहरण और एक यो कि हम ही एक मनुष्य हैं, अन्य मनुष्योपर दृष्टि न देकर हम अपने आपमे यह देखे कि यह मैं बालक था, फिर किशोर हुआ, फिर जवान हुआ, अब बूढा हुआ, इस तरह सर्वत्रमे मनुष्य ही मनुष्य रहा। जन्मसे लेकर अन्तिम अवस्था तक प्रत्येक दिन प्रत्येक समयमे और उन-उन समयोमे जब-जब मैं जो-जो मनुष्य रहा उस-उसके अनुरूप जुदी-जुदी परिणतियाँ हुई। जब मैं बालक था तो किसीकी परवाह न रखता था, एक बालककी जो स्थितियाँ होती हैं उनमे रहता था। जवान होने पर अन्यरूप परिणतियाँ बनी। वृद्ध होनेपर अन्य परिणतियाँ बनी। तो यहाँ सर्वत्र मैं प्रतिदिन, प्रतिक्षण मनुष्य रहा, उन सब मनुष्योमे मनुष्यत्व तो एक है। यह है ऊर्ध्वता सामान्यका दृष्टान्त। और, अनेक मनुष्योमे एक मनुष्यत्व देखना यह है तिर्यक् सामान्यका दृष्टान्त।

अद्वैतवाद व सम्यक् रागाथिमार्गमे अन्तर अद्वैतवादमे और स्याद्वादमे

इस समाधि मार्गमे यह अन्तर है जब कि अद्वैतवाद भिन्न–भिन्न जगह पडे हुए अनेक पदार्थोंमे एकत्व खोजता है और उस एकत्वका आदर करता है। इतना अधिक आदर करता है कि फिर यह कल्पना कर लेता है कि पदार्थ सद्भूत ही नही है। इसकी सत्ता का भी लोप कर देता है जबकि स्याद्वादका यह समाधिमार्ग एक ही जीवकी अनेक परिणतियोमे अन्वयरूपसे रहने वाला जो एक जीव वस्तु है, चैतन्यस्वरूप है, उसका आदर करता है और इतना अधिक आदर करता है कि उस चैतन्यस्वरूपमे ऐसा मग्न बन जाता कि यह मैं हूँ, इस प्रकारका भी विकल्प समाप्त हो जाता है। यह है अद्वैत-वाद और स्याद्वादके समाधिमार्गका अन्तर। अब फिरसे अद्वैत और द्वैतकी बात सुनिये

एकत्वका नानात्वसे अविनाभाव होनेसे भी भेदकी सिद्धि - अद्वैत सिद्धान्तमे यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि विश्वमे जितने भी जो कुछ पदार्थ है उन सब पदार्थोंमे केवल एक एकत्व, एक आत्मतत्व ही परमार्थ सत् है और ये सब जो दृश्यमान नाना पदार्थ हैं वे असत् है, इसपर आचार्यदेव एक अनुमान बना कर यह सिद्ध कर रहे है कि एकत्व नियमसे नानात्वका अविनाभावी होता है। जिस एकत्वको आप सिद्ध करना चाहते हैं यह विवादास्पद एकत्व परमार्थभूत नानापनका अविना-भावी ही होता है क्योंकि एकान्तसे एकत्वकी उपलब्धि नही होती है। जैसे घट सकोरा मटका आदि मिट्टीके बर्तन है, उन घट आदिकके भेदसे अविनाभूत मिट्टी द्रव्य है तो उन सब घडोमे जो इस मिट्टीके रूपसे एकत्व निरखता है सब ही मिट्टी है तो वह एकत्व घट आदिक उन अनेक बर्तनोमे अविनाभूत है। नानापनोसे सम्बद्ध है। क्या उन घट आदिक बर्तनोको छोडकर मिट्टी अलग वस्तु है ? इसीप्रकार इन सब दृश्यमान अनेक पदार्थोंको छोडकर उन पदार्थोंका सत्त्व क्या कहीं अलग रखा हुआ है ? यह एकत्व नानात्वका ही अविनाभावी है इस कारण न तो एक व्यक्तिगत होकर यह एकत्व प्रतीत होता है और न अनेक व्यक्तिगत होकर यह एकत्व प्रतीत होता है अर्थात् यह ब्रह्म न तो एक व्यक्तिमे नजर आता और न नाना व्यक्तियोमे सिद्ध होता है। शायद यह कहो कि हम न एक व्यक्तिकी बात करते है न अनेककी, किन्तु व्यक्ति मात्रमे वह एक ब्रह्मस्वरूप है तो व्यक्तिमात्र एक अनेक व्यक्तिको छोडकर और कुछ चीज ही नही है।

स्वरूपके अवधारणमे अन्यकी अपेक्षाका अभाव - प्रत्येक जीवजुदा जुदा है। प्रत्येक आत्माओका परिणमन कर्तृत्व भोक्तृत्व अनुभवन सब कुछ उनका अपना अपना है। केवल एक सब आत्मावोमे जो एक समान स्वरूप पाया जाता है उस एक समान स्वरूपको निरखकर सब जीवोको केवल एक ही कह देना यह तो युक्ति सङ्गत नही है। और, जो अद्वैतवादियोने कहा था कि ये पदार्थ जो न्यारे–न्यारे नजर आ रहे हे ये तो कल्पनासे नजर आते है, प्रत्यक्षसे तो जब देखा तुरन्त एक अस्तित्व समझमे आया बादमे फिर कल्पना बनी, यह चौकी है, यह पुस्तक है, यह दरी है, यो कल्प-

नाओके विषयभूत होकर यह भेद बना है जो कि अन्यकी अपेक्षा रखता है। तो भेद अन्यकी अपेक्षा रखनेके कारण कल्पनाके विषय है, वास्तविक नही हैं ऐसा जो कहा वह भी केवल कथन मात्र है। क्योकि तुम तो कहते हो कि अन्यकी अपेक्षासे एकत्व की कल्पना हुई। ब्रह्मवादी यह कहते हैं कि ये जो पदार्थ भिन्न-भिन्न नजर आते हैं ये अन्यकी अपेक्षा रखकर नजर आ रहे हैं लेकिन बात यह है कि इन सब पदार्थोंमे जो एकत्वको सोचा जा रहा है उस एक की अपेक्षा रखकर सोचा जा रहा है।

जातिरूप एकत्वमे ही अन्यापेक्षता—जैसे गाय-गाय सब भिन्न-भिन्न है पीली हो, नीली हो, भुण्डी हो, काली हो, बिना पूछकी हो, लम्बी पूछकी हो समस्त गायें ये सब भिन्न-भिन्न हैं। अब उन समस्त गायोमे हम एक गौ जातिकी कल्पना करें तो उन समस्त गायोकी अपेक्षा रखकर की जाती है। जो समस्त गायोमे रहे ऐसा जो स्वरूप है उसका नाम है गौ जाति। तो गौ जातिने अन्यकी अपेक्षा रखी, उन खडी हुई समस्त गायोने अन्यकी अपेक्षा नही रखी। वे तो अपने आप खडी है। अब उन सबमे जो एक गौत्वकी कल्पना करे तो वह एकत्व अन्यकी अपेक्षासे कल्पित हुआ। जैसे सेनामे अनेक डिवीजन होते है, मान लो १० सिपाहियोका एक छोटा मण्डल। ऐसे-ऐसे १० मण्डलोका एक महामण्डल, ऐसे-ऐसे १०० महामण्डलोका एक डिवीजन। कैसी ही व्यवस्था बनाये तो ये जो डिवीजन बने हैं ये कल्पनासे बने हैं या एक एक जो सिपाही है वे कल्पनासे बने हैं? एक-एक सिपाहीका अस्तित्व कल्पनामे नही बनता, किन्तु उन सिपाहियोमें जो एक मण्डल सोचा गया बस कल्पनासे बना।

जातिकृत एकत्वमे अन्यापेक्षताके समर्थनपूर्वक व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी सिद्धि—जैसे चार पैसेका एक आना होता है, १६ आनेका एक रुपया होता है, १०० रुपयेका एक सैकडा होता है तो रुपया आना ये कल्पनाके विषय है या एक-एक पैसा कल्पनाका विषय है? एक-एक पैसा तो सही मायनेमे साफ-साफ है। अब उनमे यह कल्पना की कि चार पैसेका एक आना होता है तो यह कल्पनाका विषय हो गया तो जो मूलमे एक एकत्व होता है, जो कुछ भी एक अविभाज्य पदार्थ होता है वह तो कल्पित नही है किन्तु उनके समूहमे कुछ जाति समझना यह कल्पित है। तभी तो आज कल आना मिट गए क्योकि यह कल्पनाकी चीज थी, पर पैसा नही मिटा। भले ही पैसेका छोटा पैसा बना दिया और चाहे उस पैसेका नाम बदलकर और कुछ नाम रखलें, किन्तु मूलभूत जो एक है कुछ भी वह कल्पित नहीं है, उसे मानकर ही आगे चलना होगा। इस तरह एकत्व तो अन्यकी अपेक्षा रखनेसे कल्पनाका विषय है, पर यह प्रतिव्यक्ति नानापन यह कल्पनाका विषय नही है क्योकि एकत्व अनेक व्यक्तियोंके अधिकरणसे होता है और भेद प्रतिव्यक्तियोके स्वरूप हैं, वे प्रत्यक्षसे ज्ञात होते हैं। देखते ही सब चटाई, दरी इत्यादि जुदे-जुदे प्रतिभास होते हैं।

स्वरूपके अवधारणमे अन्यापेक्षाका अभाव—यदि अन्यकी अपेक्षासे कल्पित ज्ञान बनाकर अनुयायी रूपसे व्यवहार करते हों अर्थात् जो सबमें रहे वह एक

सद्ब्रह्म है इसप्रकार अनुयायीरूपमे कल्पना करते हो तो भेद भी प्रत्यक्षसे सीधा जाना जाकर फिर अन्यकी अपेक्षा रखकर विकल्पज्ञानसे व्यावृत्तिरूपमे परिज्ञात करे। जैसे कि जो एक सबमे रहता है वह एक ब्रह्मस्वरूप है ऐसी कल्पना करके तुम एकत्व मानते हो और अनुगतप्रत्यय याने सबमे रहने वाला है ऐसा ज्ञान करते हो ऐसे ही यह उससे पृथक् है यह इससे पृथक् है यो निरखकर व्यावृत्त प्रत्यय मान लो, प्रथम तो बिना ही कल्पनाके ये सब पदार्थ प्रतिव्यक्ति एक-एक जुदा जुदा जाने गये। अब हटने की कल्पना हम बना लें। यह आत्मा उससे हटा हुआ है यह आत्मा इससे न्यारा है ऐसे हटावकी जुदाई देखनेमे अन्यकी अपेक्षा होती है पर अस्तित्वमे अन्यकी अपेक्षा नही है जैसे ये सौ मनुष्य बैठे है, प्रत्येक मनुष्यका अस्तित्व किसी दूसरेकी अपेक्षा नही है। ये ९९ हैं तब यह एक है ऐसा नही है। ९९ चले जायें तो क्या एक आदमी का भी आधा हो जायगा ? तो जैसे वे प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना अस्तित्व रखते है, उसमे कल्पनाकी बात नही है, पर जब यो देखने लगें कि हमसे ये न्यारे हैं, यह चीज यो जुदा है यह यो जुदा है यो तो अन्यकी अपेक्षा व्यवहार किया है, पर पदार्थ का अस्तित्व अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। तो इस कारण यह कहना अयुक्त है कि अन्यकी अपेक्षासे कल्पनासे हमने नानापन देखा।

भेदकी कल्पनाके स्वरूपमे छः विकल्प अब यह भी बतावो कि कल्पना का अर्थ क्या है ? जिस कल्पनासे तुम पदार्थका भेद बताते हो कि पदार्थ जुदे-जुदे हैं ऐसा कल्पनासे ही ज्ञात होता है तो उस कल्पनाका स्वरूप क्या है ? क्या कल्पना इस का नाम है कि स्मरणके बादमे ज्ञान हुआ ? क्या कल्पना इसका नाम है कि शब्दोके आकारमे ज्ञान अनुबद्ध है ? जैसे जब हम कल्पनाएँ उठाते है तो भीतरमे शब्द और वाक्योके अर्थ बनते हैं। क्या कल्पना इसका नाम है कि वह शब्दोके द्वारा रचित है ? अथवा क्या जाति आदिकका उल्लेख कर देनेका काम कल्पना है ? अथवा जो सत् पदार्थ है, हैं ही नही उनका विषय करना क्या उसका नाम कल्पना है ? जैसे कि माता अपने बच्चेको डरानेके लिए हौवा-हौवा कहा करती है तो उस हौवाको क्या किसीने देखा है ? उसके कितने हाथ पैर होते हैं कैसा मुख होता है ? अरे हौवा कोई चीज ही नही है, वह तो एक कल्पनाकी बात है तो चीज कुछ भी नही है और उसका विषय करके जाने इसका नाम कल्पना है क्या ? अथवा अन्य पदार्थकी अपेक्षासे पदार्थके स्वरूपका निश्चय करना इसका नाम कल्पना है क्या जैसे बहुत ही मोटेरूपमे शीघ्रतासे लोग यो कहते हैं कि जो चले फिरे खाये पिये उसका नाम जीव है तो क्या जीवका यही स्वरूप है ? है तो नही, लेकिन एक शरीरकी अपेक्षा रखकर जीवके स्वरूपका निश्चय कराया गया है। जो चलता फिरता है, जो खाता पीता है वह जीव है। तो अन्यकी अपेक्षा रखकर अन्यके स्वरूपका निश्चय करना क्या इसका नाम कल्पना है ? अथवा केवल उपचार मात्रका नाम कल्पना है ? यो कल्पनाका स्वरूप ६ विकल्पोमें पूछा गया है।

ज्ञानका स्मरणके अनन्तर होनेरूप कल्पनाकी मीमासा—उनमेसे प्रथम विकल्प है कि स्मरणके बाद ज्ञानके होनेका नाम कल्पना है यह तो युक्त नही है क्या कि स्मरणके बाद अभेदज्ञान भी हुआ करता है। जैसे स्मरणके बाद ये नाना पदार्थ ज्ञात हुआ करते हैं इसी प्रकार स्मरणके बाद अभेद भी ज्ञात होता है। बल्कि नाना नाना पदार्थोके ज्ञान करनेमे स्मरणकी आवश्यकता नही पडती। जैसा सामने है तैसा जान लिया, लो इन समस्त गायोका गोत्व जाति एक है इसप्रकारके एकत्वका ज्ञान करनेके लिए स्मरणकी जरुरत पडती है। तो स्मरणके अनन्तर ज्ञानके होनेका नाम कल्पना नही कह सकते। अन्यथा तुम्हारा यह अभेद भी कल्पनाका विषय बन जायगा।

शब्दाकारानुविद्धतारूप कल्पनाकी मीमासा—यह भी नही कह सकते कि जो ज्ञान शब्दकी रचनाओसे रचा गया हो उसका नाम कल्पना है क्योकि ज्ञान जुदी चीज है। ज्ञान शब्दो द्वारा रचा गया नही है। जब कभी भी किसी पदार्थका ज्ञान करना हो तो शब्द रचना भी नही करते और सामान्यरूपसे ज्ञान हो जाता है। ऐसा भी नही है कि यह सारा भेद प्रतिभास शब्दपूर्वक होता हो, क्योकि शब्दोके अभावमे भी भेद प्रतिभास होता है। जैसे बहुत रग बिरगे फूलोका बाग है और ऐसे फूल हैं कि एक ही फूलमे ७–७ तरहके रङ्ग पाये जाते है और यो नाना प्रकारके फूल हैं उनपर दृष्टि डालते ही हमे ज्ञान तो सब हो जाता है मगर जितना ज्ञान होता है जिस–जिस पदार्थका ज्ञान होता है उस–उस पदार्थके सम्बन्धमे शब्द रचना नही बनती। यो अनेक बार ऐसा होता है और जो अनुभवात्मक ज्ञान है उसमे तो शब्द-रचनाका सवाल ही नही है। यो शब्दरचनाके अभावमे भी भेद प्रतिभास होता है। इस कारण यदि शब्दानुविद्धताके कारण कल्पना मानेंगे तो अभेदका जब हम ज्ञान करते हैं तो वहाँ भी शब्दरचना होती है। सो यो अभेद, एकत्व भी कल्पनाका विषय हो जायगा। जैसे हम जुदे जुदे मनुष्योको जान रहे हो तो उस ज्ञानमे हमारे अन्तरमे शब्द उठते है तो इन मनुष्योमे एक मनुष्यत्व है ऐसा हम अभेद जानेंगे तो उस जानने के साथ भी शब्द उठ सकते हैं और प्राय उठा करते है तो वह भी एक कल्पनाका विषय बन जायगा।

पदार्थोंके अस्तित्वकी व्यवस्था—भैया ! न तो भेद प्रतिभासमें स्मरणा-न्तरभावित्वका नियम है और न शब्दानुविद्धताका नियम है, इससे इस भेद प्रतिभास को कल्पनाकी चीज न मानें। ये सबके सब जुदे हैं, अपनी करनी करते हैं, भरनी भोगते हैं सबका अस्तित्व न्यारा–न्यारा है, सबसे मेरा स्वरूप न्यारा है, इन सबसे अपनेको न्यारा निरख लें। अपनेमे जितनी भी परिणतियाँ होती हैं उनमे भी न्यारा अपने सहज शाश्वत चैतन्यस्वरूपको निरख ले। इस प्रकार इस चित्स्वरूपमे आनेपर तो सर्वविविक्त एकत्वके ज्ञानमे तो कल्याण है, किन्तु समस्त पदार्थोका एकत्व निरख कर एक कल्पना करें उसमे हमारा कल्याण नही है।

ज्ञानकी शब्दाकारानुविद्धताके कारण कल्पना अङ्गीकार करनेपर सदा कल्पनाकी उद्भूतिका प्रसङ्ग—अद्वैतवादने यह कहा था कि जो कुछ ये सब जुदे-पदार्थ प्रतीत होते हैं वे सब कल्पनासे मालूम होते है, परमार्थसे तो तत्त्व एक ब्रह्म ही है, आत्मस्वरूप ही है। उसके उत्तरमे यह पूछा गया था कि कल्पनाका अर्थ क्या है? क्या कल्पनाका स्वरूप यह है कि शब्दसे रचा हुआ ज्ञान होना। किसी भी ज्ञानमे शब्द रचे ही जाते हो ऐसा नियम तो नही है। यदि यह कहो कि जितने भी सब भेदप्रतिभास होते हैं वे शब्दपूर्वक होते हैं। अन्तरमे ये शब्द उठते है भीट, दरी, घडी आदि तो ये भिन्न-भिन्न मालूम होने लगते हैं। यो शब्दसे उत्पन्न होकर भेदप्रतिभास होनेका नाम कल्पना है अर्थात् जितने भी ये विकल्प होते है वे शब्दपूर्वक होते है। शब्द उनके कारण हैं और जुदे-जुदे पदार्थ मालूम होना यह कार्य है। यह बात यो युक्त नही है कि यदि समस्त विकल्पोका कारण शब्द होता तो शब्द तो नित्य है, सदा ही रहता है इस अद्वैतवादके सिद्धान्तमे तो सदैव विकल्प होते रहना चाहिए। किन्तु, कही-कही ज्ञान तो हो जाता है किन्तु शब्द नही उठा करते इस कारण शब्दपूर्वक भेदप्रतिभास होता हो यह बात युक्त नही है।

शब्द और भेदप्रतिभासकी कार्यकारणताका दो विकल्पोमे प्रश्न—अथवा मान भी लो कि शब्दसे भेद प्रतिभास हुआ है अथवा शब्दका और विकल्पका कार्यकारण भाव है तो क्या उसका यह अर्थ है कि शब्दसे भेदप्रतिभास हुआ या भेद-प्रतिभाससे शब्द बना। यहाँ दो प्रश्न यो पूछे जा रहे हैं कि भीत मे भीट चौकी आदिक शब्द उठे तब ये पदार्थ भिन्न-भिन्न जाने गये या पदार्थ भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं तब अन्तरमे उस प्रकारके भिन्न-भिन्न शब्द उठते हैं। ये दो प्रश्न किये गए। यदि यह कहो कि शब्दसे भेदका प्रतिभास होता है तो क्या इसका यह तात्पर्य है कि शब्द से ही भिन्न-भिन्न बात मालूम होती है या यह तात्पर्य है कि शब्दसे भिन्न-भिन्न बात मालूम होती ही है नियम कहाँ लगा है? शब्दके साथ नियम है या भेदप्रतिभासके साथ एकाकार है? यदि कहो कि शब्दसे ही भेदप्रतिभास होता है तो प्रथम ही प्रथम आँखें खोलनेके बाद जब कभी चित्र विचित्र नक्शोका या फूलोका ज्ञान होता है तो वहाँ फिर भेदप्रतिभास न होना चाहिए, किन्तु होता तो है, उस समय जो नाना चित्रित नक्शा अथवा बाग देखा गया है, तो देखनेके साथ भेद तो मालूम हो गया, पर शब्द भीतरमे नही उठे। तो शब्दसे ही भेदप्रतिभास होता है ऐसा जो तुम्हारा हठ है वह सिद्ध नही होता, शब्द न उठे तो भेदप्रतिभास नही होता ऐसी बात होती तो चित्रपट आदिकमे भेदप्रतिभास न होना चाहिए।

ज्ञानके पश्चात् शब्दोत्पत्ति होनेसे ज्ञानकी शब्दपूर्वकताका अभाव—और भी देखिये किसी पदार्थको जिस समय हम निर्विकल्प रूपसे जानते है तो उस पदार्थके जाननेकी कितनी देर बाद शब्द उठा करते है। यद्यपि कुछ ज्यादा अन्तर

नही मालूम होता, एक उसकी धुन लगनेके कारण किन्तु पदार्थका ज्ञान करनेके बाद फिर होता है सकेतका स्मरण, उसके बाद होती है कहनेकी इच्छा, उसके बाद बनता है प्रयत्न और उसके बाद तालु ओठ जिह्वा आदिका इन सबका होना है हलन चलन तब जाकर शब्द उत्पन्न होते है। तो पदार्थके ज्ञानके बाद शब्द हुआ करते हैं। लोगो को एक कल्पनाकी धुन और अभ्यास बनाये रहनेके कारण यह अन्तर शीघ्र विदित नही होता फिर। युक्तिपूर्वक समझ लो, ज्ञान करनेके बाद जब तक उस पदार्थके सकेत का स्मरण न होगा और फिर कहनेकी इच्छा न जगेगी तो प्रयत्न और तालु आदिक के व्यापार न बनेगे देख लो, सोच लो ज्ञानकी उद्भूतिके बाद इतने विलम्बसे तो शब्दोत्पत्ति होती है और तुम कहते हो कि शब्दसे ही यह भेदप्रतिभास होता है इस कारण यह कहना ठीक नहीं है कि शब्दसे ही ये समस्त पदार्थ जुदे-जुदे मालूम होते हैं।

शब्दसे भेदप्रतिभासकी असिद्धि—प्रसङ्ग यह चल रहा है कि ये सब जुदी-जुदी चीजें ज्ञात होती हैं ये क्यो ज्ञात होती हैं ? यदि एक ही ब्रह्म माना जाय तो ये सब पदार्थ न्यारे-न्यारे अपने ज्ञानमे क्यो आते हैं। इसके उत्तरमे शङ्काकारने यह कहा था कि शब्द उठते हैं अन्दरमे ये भीट, चटाई, दरी आदि ये शब्द भीतरमें जगनेके कारण भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं। तो भला सोचो तो सही कि ज्ञान पहिले होता है या शब्द पहिले उठते हैं ? खूब विचार करनेपर यह उत्तर मिलेगा कि ज्ञान पहिले जगता है, फिर उसके सकेतका ख्याल होता, उस प्रकारके बोलनेका भाव होता तब ये शब्द उठते हैं। इस कारण यह कहना अयुक्त है कि शब्दसे ही यह भेद प्रतिभास होता है ।

शब्दसे भेदप्रतिभासकी अनिवार्यताकी असिद्धि—यदि यह कहो कि हम तो यह मानते है कि शब्दसे भेदप्रतिभास होता ही है तो देखिये इन दो विकल्पोमे कितना अन्तर है। पहिले विकल्पमे तो शब्द पहिले हुआ और ज्ञान पीछे हुआ यह सिद्ध किया था शङ्काकारने। इन विकल्पोंमे पहिले पीछेकी बात कुछ नही रखना है। यहाँ शब्द आते हैं तो भेदप्रतिभास होता ही है और बिना शब्दके वह प्रतिभास होता ही है, पर बिना शब्दके जो प्रतिभास होता है वह एक स्वरूप होता है ऐसा अभिप्राय रखकर इस विकल्पने यह कहा कि शब्दसे भिन्न-भिन्न चीज ज्ञात होती ही है। हम दरी, चौकी ऐसे न्यारे-न्यारे शब्द भीतरमे उठायें तो उनके कारण ये भिन्न-भिन्न जचते ही है। इस विकल्पमे उसके उत्तरमे यह कहा जा रहा है कि शब्दसे यदि भेद-प्रतिभास होता ही है तो तुम जो यह बोल रहे हो कि एक ही ब्रह्म स्वरूप है तो इन शब्दोसे भी भिन्न-भिन्न ज्ञान होता कि नही, भेदप्रतिभास होता या नही ? होता है, क्योकि शब्दसे तुम भेदप्रतिभास होनेका नियम मानते ही हो तब तुम्हारे आगमसे एकत्वका ज्ञान नही हुआ। नानापनका ज्ञान हो गया, नही तो गुमसुम बैठो। अगर कुछ बोलोगे तो भेद सिद्ध हो जायगा। तुम अपने शास्त्रकी बात बतावोगे तो शब्द ही

तो बोलेंगे अथवा उन अक्षरोके रूपमे शब्द ही तो आये। और शब्दसे तुमने भेद प्रति-भासका नियम कर लिया तो फिर आगमसे भी एक ब्रह्मस्वरूपकी सिद्धि नही होनी है।

यदि यह कहो कि शब्दसे भेदप्रतिभास नही होता, किन्तु भेदप्रतिभाससे शब्द होता है, भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे पदार्थका ज्ञान होता है तो उससे शब्दकी उत्पत्ति होती है तो इसमे अन्योन्याश्रय दोष हो गया। शब्द उठे तो भेदप्रतिभास जगे, भेदप्रतिभास बने तो शब्द उत्पन्न हो। इसकारण शब्दके आकारसे यह ज्ञान बीधा हुआ है ऐसा कल्पनाका लक्षण करना ठीक नही है।

जात्यादिके उल्लेखरूप कल्पनाकी मीमांसा—क्या कल्पनाका यह लक्षण है कि जिसमे जाति आदिकका उल्लेख हो सो कल्पना है? जैसे यह घडा है, यह घडी है, यह चौकी है इस प्रकारकी जातिका उल्लेख करके जो ज्ञान बनता है उसका नाम कल्पना है क्या तुम्हारा यह मन्तव्य है? यदि जाति आदिकके उल्लेखका नाम कल्पना रख लिया जाय और उस कल्पनासे भेदका प्रतिभास होता है यो माना जाय तो अभेद ज्ञानमे भी कल्पना ही बनेगी। जैसे घट पट आदिक इन आवान्तर जातियोका उल्लेख करनेसे कल्पना मान ली है तो समस्त पदार्थोंमे एक सत् यह भी तो जाति हुआ। उस जातिसे कल्पना बन बैठी। तो अभेदज्ञान भी कल्पनाका विषय हो गया इस कारण यह भी तुम्हारा पक्ष ठीक नही है कि जिसके जाति आदिकका उल्लेख हो उसे कल्पना कहते हैं। इस पक्षसे तो तुम्हारे ही सिद्धान्तका घात हो जाता है।

असत् अर्थके विषय करने रूप कल्पनाकी मीमांसा—क्या कल्पना इस का नाम है कि असत् अर्थका विषय करे, जो नहीं है ऐसे असत् अर्थको जाने उसका नाम कल्पना है क्या यह कल्पनाका अर्थ है? यह तो एकदम अयुक्त है। क्योकि, असत् अर्थ तो वह एक सत्स्वरूप ब्रह्म है जिसके नाना पदार्थोंने साधारण धर्म देखकर कल्पना किया गया है किन्तु यह भेदप्रतिभास पदार्थ जुदे-जुदे ज्ञानमे आ रहे हैं यह तो एकदम सत्य है, वस्तुभूत है और अर्थकार्य भी उत्पन्न होता है। देखिये काम जो निक-लेगा वह वस्तुसे निकलेगा अवस्तुसे न निकलेगा कोई कहे कि तुमको अमुक रोग है तो अच्छा देखो आकाशकी पत्तीको व धुवाकी छालको गधेके सींगसे रगड़कर पी लेना तो तुम्हारा रोग अच्छा हो जायगा। अरे भाई न तो गधेके सींग होते, न आकाशके पत्ते होते और न धुवांकी छाल होती पर ऐसा कोई कहे तो उसका अर्थ है असत अर्थको विषय किया। इस प्रकार जो यहां भिन्न-भिन्न चीज जानते हैं क्या यह भी असत् अर्थ का विषय करता है।

सर्वथा असत् अर्थमें व्यवहारका भी अभाव—जो असत् अर्थ होता है उससे काम नही बनता है। गधेकी सीग, धुवांकी छाल आदिसे कोई काम भी बनता है क्या? अरे जो चीज है नही उसका नाम भी नही रखा जा सकता। यहाँ तो नाम

भी इसलिए रख रहे हैं कि छाल कुछ होती ही तो है, ध्वा कुछ होता ही तो है, ध्वा के छाल नही है पर न्यारे-न्यारे दो पदार्थ तो हैं, सत् है तब उसका नाम भी है। अटपट कोई नाम जोड दे यह हुई भूल। तो सर्वथा जो असत् अर्थ है उसका तो नाम तक भी नही होता। अर्थ कार्य होनेकी बात तो दूर रहो। तो जिससे काम होता है, अर्थकी क्रिया होती है, परिणमन बनता है उसे तुम असत् अर्थ कहते हो यह ता अत्यन्त अयुक्त है। वस्तुभूत तत्त्व अर्थ ही लोगोको प्रतिभासमे आता है इस कारण यह विकल्प भी ठीक नही कि असत् अर्थको विषय करनी हैं कल्पना और उस कल्पनासे जाने जाते हैं ये समस्त भिन्न-भिन्न पदार्थ। अतएव यह सब मिथ्या है और एक ब्रह्म ही सत्य है, ऐसा कहना सिद्ध नही होता।

अन्यापेक्षासे स्वरूपके अवधारण करने रूप कल्पनाकी मीमासा—अब कल्पनाके स्वरूपके बारेमे यह ५ वा विकल्प पूछा जा रहा है। क्या कल्पनाका यह अर्थ है कि अन्यकी अपेक्षा रखकर पदार्थके स्वरूपका निर्णय बना। यह बात भी युक्त नही है क्योंकि अन्यकी अपेक्षा रखकर व्यवहार तो किया जाता, पर स्वरूपका अवधारण नही किया जाता। जैसे यहाँ बहुत मनुष्य बैठे हुए हैं तो प्रत्येक मनुष्यके स्वरूपका अवधारण किसी दूसरे मनुष्यकी अपेक्षा रखकर नहीं हो रहा। हाँ वहाँ यह छोटा है, यह बडा है यह समझदार है आदिक व्यवहारकी कल्पना तो अपेक्षा रखकर हो गया, पर स्वरूपका अवधारण अन्य पदार्थकी अपेक्षा रखकर नही होता। जैसे एक बार अकबर बादशाहने एक सींक लेकर लोगोसे कहा एक इस सीकको बिना तोडे छोटी बना दो। और लोग तो सुनकर आश्चर्य मे पडे कि बिना तोडे यह सीक छोटी कैसे हो जायगी, पर बीरबलने दूसरी बडी सीकको उसके सङ्गमे धर करके कहा, देखो महाराज ? अब यह सीक छोटी हो गई। अभी अपन लोग यहाँ बैठे है किसीसे कहा जाय कि अपनी किनारे वाली अगुलीको छोटी कर दो तो क्या वह उसे काटकर छोटी करेगा ? यदि वह समझदार है तो बगलकी दूसरी बडी अगुली लगाकर कह देगा लो यह किनारे वाली अगुली छोटी हो गयी। तो यह छोटा बडापनका व्यवहार तो अन्य की अपेक्षासे हो जायगा, मगर किसी भी वस्तुके स्वरूपका निर्णय अन्यकी अपेक्षासे नही होता। अतएव कल्पनाका यह अर्थ भी नही है कि अन्यकी अपेक्षासे पदार्थका निर्णय करना कल्पना है।

भेदप्रतिभासके उपचारकी कल्पनाकी असिद्धि—अब कल्पनाके स्वरूपके बारेमे अन्तिम विकल्प आ रहा है। अद्वैतवादीका यह कहना था कि उपचारसे यह सब भेदप्रतिभास हो रहा है निश्चयमे नही। उपचारका नाम है कल्पना। उस कल्पना मे ये सब भिन्नभिन्न पदार्थ जाननेमे आ रहे हैं। तो भला यह तो बतलावो कि उपचार भी किया जाता है तो कोई पदार्थ मुख्य हो तभी तो किया जाता है। जैसे किसी बालकको यह कहें कि यह तो सिंह है यह उपचार किया गया ना। कोई बालक शेर

तो नही है, पर कहा जाय उसे शेर तो क्या उसने एकदम सत्य बात कही ? क्या वह नर हो गया ? यदि हो गया तो फिर लोग उसे झट पकड़कर सरकसमे क्यो नही भेज देते ? तो उसे जो शेर कहा गया वह उपचारसे है वास्तवमे शेर नहीं है। तो ऐसा उपचार करना तो तब सम्भव है जब दुनियामे कही सिंह हुआ करते हैं। यदि सिंह ही कोई न हो तो उपचार क्या किया जाय ? मुख्य हो तब उपचार बनता है। तो क्या यहाँ जो कुछ भी है घडी है, दरी है आदिक जो भिन्न भिन्न ज्ञान किये जा रहे है उपचारसे किये जारहे हैं उपचारमे किये जारहे है ? तो इनका कोई मुख्य है कि नही ? अभेदवादने तो सिवाय एक ब्रह्माद्वैतस्वरूपके और कुछ कहना ही नही, तो मुख्य नहीं हुआ सो मुख्यके अभावमे उपचार भी नही बन सकता है। यदि मुख्य कुछ मान ले तो सिद्धान्त ही तुम्हारा लुप्त हो जायगा इस कारण कल्पनामे आ रहे है ये सब जुदे जुदे पदार्थ इस कारण ये जुदे जुदे हैं यह बात कहना तुम्हारी सगत नही है।

प्रतिभासमान हेतुसे अद्वैत सिद्ध करनेके अनुमानकी मीमासा—ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त ने एक ही मनहज विश्वको ब्रह्मस्वरूप माना है, अन्य कुछ नही है और इसकी सिद्धि उन्होने एक अनुमानसे की थी कि विश्वमे जो जो कुछ प्रतिभासमान होता है वह सब प्रतिभासके अन्तर्गत है, और प्रतिभासका ही नाम ब्रह्म है, आत्म स्वरूप है। तो जो जो भी प्रतिभासमान होता है वह प्रतिभासके अत. प्रविष्ट है। जैसे कि ज्ञान ज्ञानप्रतिभासमे आ रहा ना, तो वह प्रतिभासके अन्तर्गत है इसी प्रकार ये घट पट आदिक पदार्थ प्रतिभासमान हो रहे हैं। प्रतिभासका अर्थ है जानकारी। जो जो जाना जाता है वह सब ज्ञानके अन्तर्गत है। तो ये घट पट आदिक भी जाने जा रहे हैं सो यह भी ज्ञानके अन्तर्गत है। ये पदार्थ स्वय अपना कोई स्वतत्र अस्तित्व नही रखते। यो आत्म द्वैतकी सिद्धिमे जो अनुमान बनाता था और उसमें प्रतिभासमान होनेसे इतना हेतु दिया गया था उस हेतुके बारेमे यह पूछा जा रहा है कि क्या स्वत: प्रतिभासमान होनेसे यह तुम हेतुका मतलब कहते हो या परसे प्रतिभासमान होनेसे यह तात्पर्य कहते हो। जो यह कहा है कि यह पदार्थ प्रतिभासमे समाया हुआ है क्योकि प्रतिभासमान होनेसे, तो क्या स्वत: प्रतिभासमान हेतु दिया है या किसी परसे प्रतिभासमान हेतु दिया ? स्वत तो प्रतिभासमान है नहीं क्योकि यह वादीको इष्ट नहीं और परसे यदि प्रतिभासमान कहते हो तो इनमें तो भेद सिद्ध हो गया क्योंकि परको माना। जहाँपर आधार माना वहाँ भिन्न भिन्न बात ही तो आनी है।

पदार्थोंको जाने वह है विषयी। तो इसका जो ज्ञान धर्म है उसका उपचार पदार्थमे किया है और उपचारका भी कारण यह है कि ज्ञानका विषयभूत है वह। कुछ सम्बध है तब उपचार हुआ करता है। जैसे किसी बालकको कह दिया कि यह सिंह है तो क्या कोई ऐसे बालको सिंह बोल देता है कि जिसकी हड्डी तो निकली हुई हो, नाक भी बह रही हो। मक्खियाँ भी नाकपर भिनक रही हो, और उन मक्खियोसे घबडा कर वह रोने भी लगे क्या ऐसे बालकको कोई शेर कहेगा ? अरे जो स्वय कुछ थोडा ताकतवर हो, किसी भी कामको अपने बलसे बहुत ही शीघ्र कर लेता हो ऐसे बालक को सिंह कहा करते हैं लोग। तो कुछ थोडा बहुत सदृशताका, आधारका, प्रयोजनका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो तो उपचारकी बात चलती है। ये घट पट आदिक पदार्थ प्रतिभासमान हो रहे हैं ऐसा जो उपचार किया जा रहा है इसका कारण यह है कि ज्ञानके ये अधिकरण हैं, विषय हैं, आधार हैं। इतना जाना जा रहा है तो यों यह कह देते कि ये प्रतिभासमान हो रहे हैं।

स्वपरप्रतिभासनकी स्पष्ट प्रतीति — भैया ! जैसे कि मैं पदार्थको जानता हू यह एक ज्ञान हुआ मैं चौकीको जानता हूँ तो ऐसा जाननेमें अहका भी निर्णय हुआ कि नही भीतर ! मैं चौकीको जानता हूँ ऐसा कहनेमे मैं का भी प्रतिभास हुआ और चौकीका भी प्रतिभास हुआ। अद्वैतवाद यह कहता है कि एक सर्वव्यापक मै का तो प्रतिभास हुआ किन्तु चौकीका प्रतिभास नही हुआ, लेकिन मैं पदार्थको जानता हूँ ऐसा ज्ञान बननेमे अन्तरङ्गमें प्रकाशमय अनन्त पर्यायात्मक जैसे चेतन द्रव्यका प्रतिभास हुआ, ज्ञान हुआ उस ही प्रकार बाहरमे प्रकाशमान अनन्त पर्यायात्मक अचेतन द्रव्यका भी प्रतिभास मानना चाहिए। सब कुछ है, मैं भी हूँ और मेरी तरह ये सब अनन्त जीव भी हैं और ये सब जाननहार हैं। जो–जो कुछ भी पदार्थ प्रतिभासमे आ रहे हैं वे सब भी हैं। इन पदार्थोंको मना करके फिर रागद्वेष मिटानेकी तरकीब बनाना यह तो टेढा काम बनेगा। सीधा कार्य तो यह है कि हम सबको मान लें कि मैं भी हू और ये सब पदार्थ भी हैं। लेकिन, स्वरूपनिर्णय कर ले वह उस ही स्वरूप है, ये सब पदार्थ अपने–अपने स्वरूप हैं और इस प्रकार अपने स्वरूपरूप सबके होनेपर यह निर्णय हो जाता है कि मैं इन सब पदार्थोंसे न्यारा एक आत्मतत्त्व हूँ। एक अपने निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपपर आनेके लिए जो इतना कठिन प्रयत्न किया जा रहा है सो भैया ! जो यथार्थ नही है उसका प्रतिषेध करके जो कुछ वास्तवमे है ही नहीं उसकी कल्पना करके रागद्वेषको मिटानेका उपाय ठीक न बैठेगा, किन्तु जो पदार्थ उनके स्वरूपका अवधारण करके फिर उनसे अपनेको न्यारा समझले, और वे सब मेरे लिए हितरूप नहीं हैं ऐसा निर्णय करके उनकी उपेक्षा करदें और एक ज्ञानस्वरूप निज अतस्तत्त्वके दर्शनमे ही रहे, यही होगा कल्याणका उपाय। कल्याणार्थी पुरुषको सभी पदार्थ वैसे ही मानना चाहिए जैसे कि वे अपने–अपने स्वरूपसे हैं।

सर्वथा अद्वैतमे निर्णय, सर्जन, प्रलय आदिकी असिद्धि — जो ये आगम

के वचन आदि कहे है, सर्वं वैखल्विदब्रह्म जो कुछ जगतमे है वह सब एक ब्रह्ममात्र है। यह आगम भी तुम्हारे अभेदको सिद्ध नही करता क्योकि अभेदवादमे भेद तो कुछ है नही, प्रतिपादक और प्रतिपाद्यका भी भेद नही। यह समझाने वाला है और यह समझने वाला है क्या ऐसा प्रतिपाद्य पतिपादकका भेद है ? गुरु शिष्य भी नही है अद्वैतवादमे। जब भेद ही सम्भव नही है तब फिर आगमसे भी अभेद कैसे सिद्ध सिद्ध होता है और फिर यह भी कहा कि आत्मा ही समस्त विश्वकी रक्षा करता है, प्रलय करता है और स्थिति बनाये रहता है यह भी अभेदवादमे सम्भव नही है क्योकि अद्वैत एकान्त, केवल एक ही तत्त्व जहाँ माना गया है वहाँ कारण कार्यका भेद नही हो सकता। भला बतलावो उस एक अद्वैतब्रह्मसे यदि जगतकी उत्पत्ति हो गई तो कार्य क्या बना और कारण क्या हुआ ? है ना कुछ कार्य कारण। तो लो यह द्वैत हो गया। दो चीजे तो हो गयी। एक कार्य है और एक कारण है। कार्य कारणकी सिद्धि द्वैतसे हुआ करती है। द्वैत बिना कार्य कारण भेद बनता ही नही है और फिर नित्य एक किसी भी तत्त्वमे उसे आत्मा कहो, ब्रह्म कहो जो अपरिणामी नित्य तत्त्व है उससे कुछ कार्य बन ही नही सकता है। कोई परिणमन शील हो तो उसमे तो कार्य सम्भव है, पर नित्य एक ब्रह्ममे कार्य कारण सिद्ध नही हो सकता अतएव यह कहना भी सङ्गत नही होता कि वही एक परमात्मस्वरूप समस्त विश्वकी रचनाका और विश्वकी स्थितिका कारण है।

वास्तविकता यह है कि ये समस्त पदार्थ हैं और स्वभावसे परिणमनशील है, अतएव प्रतिसमय अपनी योग्यताके अनुसार बाह्यका निमित्त पाकर निरन्तर परिणमते रहते हैं। यह तो है सर्जनका स्वरूप, पर कोई एक अद्वैत ब्रह्म है और वही सत् है, वही सबकी रचनाका कारण है यह बात युक्त नही होती। यह भी यो कहा जा रहा है कि प्रमाणका जो स्वरूप बताया कि स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय करना सो प्रमाण है वह सिद्ध शुद्ध स्वरूप है, समस्त पदार्थ है और उनका विधिवत् निर्णय करना सो प्रमाण है।

स्रष्टत्वके प्रयोजनकी पृच्छना— अद्वैतवादमे एक ब्रह्मको जगतकी सृष्टिका कारण कहा है। इस प्रसङ्गमे यह पूछा जा रहा हैकि ब्रह्म या ब्रह्मा अथवा परमात्मस्वरूप या कोई प्रभु जगतकी विचित्रताको किसलिए बनाता है अथवा नानारूपोमे जो जगतकी सृष्टि करता है उसका प्रयोजन क्या है ? यदि किसी प्रयोजनके बिना सृष्टि बनाने लगे तो प्रयोजनके बिना तो मंदबुद्धि वाले तक भी प्रवृत्ति नही करते। बिना प्रयोजन ही अटपट प्रवृत्ति करने वालेको तो लोकमे उन्मत्त कहा करते हैं। तो प्रत्येक कार्यमे विवेकियोका कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। तो जगतकी इतनी बडी सृष्टि बनानेका कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए। क्या यह प्रभु व्यसन होनेसे सृष्टिको रचता है ? व्यसन उसे कहते हैं कि जो फलके बिना प्रवृत्ति की जाय। यो तो व्यसनके कारण

प्रयोजनके बिना ही प्रवृत्तिमे तो मूर्खताका प्रसङ्ग होता है। जितनी बुद्धिमानी सहित प्रवृत्तियाँ होती हैं वे सब प्रयोजनसे व्याप्त हैं। प्रयोजन बिना बुद्धिमानोकी प्रवृत्ति नहीं होती अतएव केवल व्यसनवश जगतकी सृष्टि कोई कर देता हो यह बात तो कुछ शोभा युक्त नही है और न ऐसा सम्भव है।

कृपावश सर्जनकी असिद्धि – यदि कहा जाय कि कृपावश होकर परके उपकारके लिए ब्रह्म सृष्टिको बनाता है तो भला बतावो उस ब्रह्मके अतिरिक्त पर तो कुछ चीज थी ही नही। किसके उपकारके लिए सृष्टि बनायी गई। कृपा तो तब सम्भव है जब कोई कृपा किये जानेके लिये हो तो सही। जब कृपायोग्य पुरुष हों तो उनका आश्रय करके कृपाका भाव बनता है। जब केवल एक ब्रह्म ही तत्त्व है तो परके अभाव होनेसे कृपा किसपर करेगा अथवा मान लो कि पर था जिसपर कृपा की तो कृपाका तो अर्थ यह है कि उनपर दया करें, उन्हे सुखी करे। दुःख न होने दे फिर नरक आदिकके दुःखोका पुरुषोंके लिए विधान क्यो बनाया, फिर तो कोई दुःखी न रहना चाहिए था अर्थात् यदि प्रभु कृपाके वश होकर सृष्टि करता है तब तो जगतमे कोई दुःखी न रहना चाहिए। सारा जगत एकान्तसे नियमत सुखी होना चाहिए था। वह यदि कृपालु है तो सब जीवोंको सुखी ही बनाये। और, बात यह है कि सृष्टिसे पहिले अनुकम्पा किये जाने योग्य याने जिनपर दया की जानी चाहिए ऐसे पुरुषोका जब अभाव है तो किसका आलम्बन करके उस ब्रह्मके अनुकम्पा जगी जिसके कृपाके वश इसे स्रष्टा मान लिया जाय? यदि अनुकम्प्य जीव ये देव मनुष्यादि अभ्युदयवाद विभूतिवान तब तो उनका कभी प्रलय न करना चाहिए। जो सुखी जीव हैं उनका विनाश न करना चाहिए, केवल दुःखी जीवोका ही प्रलय करना चाहिए ताकि उनका दुःख दूर हो, और जो सुखी हो उनके प्रलयसे उसे क्या लाभ है बल्कि इसमे अदयाका दोष लगता है। इस कारण कृपाके वश होकर प्रभु सृष्टि रचता हो यह बात तो बनती नही है।

वस्तुकी वास्तविकता – तत्त्व तो यह है कि जगतमे समस्त पदार्थ अनादि से अनन्तकाल तक अपना सत्त्व लिए हुए है। जो है उसका परिणमन होता है, जो नही है उसके परिणमनका अवकाश क्या ? है ही नही तो उसकी क्या दशा ? और, जो है केवल परिणमनशील है। अब जैसे कि प्रत्यक्ष भी विदित होता है, एक पदार्थ दूसरे पदार्थका निमित्त पाकर अपनी योग्यताके अनुसार अपना परिणमन बनाने लगता है तो इसीप्रकार निमित्त नैमित्तिक योगसे यह समस्त जगत बना हुआ है। कोई अलग से इन पदार्थोको रचता रहता हो ऐसी बात नहीं है। पदार्थ स्वय सत् है और वे परिणमते रहते हैं, इसके विरुद्ध पक्षमे अर्थात् यदि पदार्थकी रचना करने वाला कोई माना जाता है तो वहाँ प्रश्न यह होना चाहिए कि जगतकी सृष्टिको कोई किसलिए करता है ? व्यसनके वश होकर और कृपाके वश होकर सृष्टिकी बात तो सङ्गत बैठी नही।

सृष्टिमे अदृष्टापेक्षता होनेपर स्वतन्त्रताका घात—यदि यह कहा जाय कि करता तो है वह कृपाके वशसे ही जगतके जीवोकी सृष्टि लेकिन प्राणियोका जैसा उनका भाग्य है, जैसी उनकी करनी है उसकी अपेक्षा रखकर ही यह प्रभु इस जगतको सुख और दु खसे युक्त बना देता है। यह भी बात सङ्गत नही है क्योकि अदृष्टकी अपेक्षा रखकर याने जिसका जैसा भाग्य है उसके अनुकूल जीवोको सुखी अथवा दुःखी बनानेमे तो प्रभुकी स्वतन्त्रताका घात हो गया, फिर स्वतन्त्रता क्या रही। जो नित्य एकरूप वस्तु होती है जैसा कि ब्रह्म एक विराट् काल्पनिक सर्वव्यापक कोई सत्त्व या शक्ति यानी ऐसा कोई कुछ यदि नित्य होकर दूसरेकी अपेक्षा रखने लगे तो फिर सत्ता ही क्या रही ? जो नित्य एकरूप वस्तु है तो चाहे समर्थ स्वभाव हो चाहे असमर्थ स्वभाव हो पर दूसरेकी अपेक्षा उसमे सम्भव नही है।

पदार्थोके अस्तित्व और वर्तनामे अन्यापेक्षताका अभाव—वास्तविकता तो यह है कि कोई भी सत् अपने सत्त्वके लिए अपनी परिणतिके लिए दूसरेको अपेक्षा नही रखतो। यहाँ तक कि जो औपाधिक हैं, परका निमित्त पाकर विकाररूप परिणमन करता है, तो सन्निधान तो जरूर है उसका, जिसका निमित्त पाकर उपादानमे विकार जगा है, पर यह उपादान अपने परिणमनको जगानेमे स्वतन्त्र है, विकाररूप परिणमन मे भी परिणमन दृष्टिसे परतन्त्र नही है, क्योकि परिणमतेमे परका वश, न परिणमते को पर करेगा क्या ?

अथवा यो समझ लीजिए कि अपेक्षा हुआ करती है जीवोमे। जीव ही तो किसीकी अपेक्षा रखेगा। जो अचेतन है वह अपेक्षाका परिणाम तो रख नही सकता। तो जैसे अग्निका सन्निधान हुए चूल्हेपर पानी भरी बटलोही चढी है, सन्निधान तो है अग्निका अब वहा ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि वह जल उष्णतारूप परिणाम जाता। तो जलका जो उष्णतारूप परिणाम है उसकी जलवस्तुमे ही निगरानी करे वह जल उष्णतारूप परिणमनेमे किसीकी अपेक्षा नही रख रहा है। मोटेरूपमे वस्तुकी स्थूल दृष्टिमे तो यह जच रहा है कि जलके गर्म होनेमे अग्निकी अपेक्षा है। है, फिर भी जल जो अपने ही प्रदेशमे मग्न जो-जो उष्णतारूप परिणमता रहता है उस परिणमनमात्रमे अन्यकी अपेक्षा नही पडती।

पदार्थोकी वर्तनामे अन्यापेक्षताके अभावका एक दृष्टान्त—इसे एक दृष्टान्तसे और समझिये। जैसे जहाँ पूछा जाता है कि भगवानकी दिव्यध्वनिको कौन बनाता है, तो उत्तर यह देते हैं कि जैसे मेघोकी गर्जना स्वभावत होनी है ऐसे ही प्रभुकी दिव्यध्वनि स्वभावत होती है। जैसे मेघोके गरजनेमे किसीकी अपेक्षा नही रहती है ऐसे ही प्रभुकी दिव्यध्वनिमे अन्यकी अपेक्षा नही रहती और उसके लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे मृदङ्ग बजाने वाला पुरुष उस मृदङ्गपर हाथ मारता है उस पर हाथ मारा लेकिन मृदङ्ग जो एक आवाज अपनी उत्पन्न करता है उसे उत्पन्न करने

मे वह मृदङ्ग किसीकी अपेक्षा नही रखता। इसको एक बहुत सूक्ष्म प्रज्ञाके साथ विचारना होगा। अपेक्षा रखकर भी परिणतिके कालमे परिणमनके सिलसिलेमे परिणमनके लिए अपेक्षा नही होती है।

स्रष्टाकी अदृष्टापेक्षतामे विडम्बना—वस्तुकी आन्तरिक निरपेक्षता समझनेकी एक सूक्ष्म बात है और फिर यहाँ तो बहुत मोटी बात कही जा रही है। जो पदार्थ नित्य है, एक स्वरूप है ऐसे उस ब्रह्म वस्तुके प्राणियोके अदृष्टकी अपेक्षा नही बन सकती है। यदि वह रचना है तो यथेष्ट रचता चला जाय, और यदि प्राणियोके भाग्यके कारण प्राणियोकी विचित्र-विचित्र रचना होती है, तो यह क्या एक अन्तर्गडु लगा दिया जैसे कहते हैं ना कि यह क्या बीचमे एक लाठी अडा दी, बीचमे क्या निपोर कर दिया। जब प्राणियोका सुख दु ख सब कुछ प्राणियोके भाग्यसे हो रहा है। उसके खिलाफ ब्रह्म अथवा प्रभु कुछ नही कर पा रहा है। तब फिर सीधा अदृष्टके कारण ही प्राणियोका सुख दु ख मान लीजिए। बीचमे एक शल्य बनाने वाला, विवाद उत्पन्न करने वाला, पीडाकारी यह अन्तरर्गडु क्यो माना जा रहा है।

अदृष्टापेक्षतामे स्रष्टाकी अवधीरणा और फिर भला बतलावो कोई प्रभु अपना कार्य करनेमे किसी प्राणीके भाग्यकी अपेक्षा करने लगे तो इसमे प्रभुका सम्मान हुआ कि तिरस्कार ? तिरस्कार हुआ। जैसे आपको कोई छोटा काम करना है, आप मालिक है और किसी एक छोटे नौकरकी बाट जोहते हुए बैठे रहें तो इसमे आपका बडप्पन बना कि तिरस्कार ? यह तो तिरस्कार हुआ। तो यो ही कोई ब्रह्म अथवा प्रभु यदि जगतकी विचित्र सृष्टि बनानेमे किसीको सुखी किसीको दु खी बनानेमे प्राणियोके भाग्यकी अपेक्षा रखे तो इसमे तो प्रभुका अपमान हुआ। और, अपेक्षा रख रहे हैं तो दयालुता नही रही। जो समर्थ प्राणी है, जिसे सुखी कर सकते हैं और उसे सुखी करनेके लिए किसीकी विवशता बन जाय तो दयालुता कहाँ रही। समर्थ होकर भी यदि दया नही रख सकते है तो कृपा कुछ नही रही। कृपालु पुरुष किसीको दु ख देनेकी चाह नही करता है। उसकी चाह यही रहती है कि किसी तरहसे दूसरोका दु ख दूर हो। तो यह भी कहना कि जगतमे एक ब्रह्मतत्त्व है और वह जगतकी सृष्टि का कारण है तो सृष्टिका कारणभूत यह ब्रह्म सिद्ध नही होता।

सर्जनके उदाहरणमे मकडीके दृष्टान्तकी विरुद्धता—यदि यह कहा जाय कि जैसे मकडी जालेके पूरनेमे स्वभावसे ही परिणति कर लेती है इसीप्रकार यह आत्मा यह ब्रह्म इस जकतके रचनेमे स्वत ही परिणति करने लगता है। देखा ही होगा सबने कि मकडी कैसा स्वतन्त्र जालपूरणका काम करती रहती है, यहाँसे वहाँ तक जाल पूरती चली जाती है। तो जैसे मकडी जालके बनानेमे स्वभावसे परिणति करती है इसीप्रकार ब्रह्म भी नानाप्रकारके जगतके विधान करनेमे स्वत ही परिणति

करता है, तो यह बात ठीक यो नही बैठती क्योकि मकडी स्वभावमे परिणति नही करती। किन्तु प्राणियोके भक्षणकी लम्पटतासे करती है और प्रतिनियत कारणसे उत्पत्ति होनेके कारण वह प्रवृत्ति कादाचित्क है जो ब्रह्मको स्वभावत जगत सृष्टिमे कारणको सिद्ध करनेके लिए मकडीका दृष्टान्त दिया गया है। उसमे तो सभी बातें असिद्ध है। प्रथम तो मकडी स्वभावत परिणति नही करती किन्तु उसे क्षुधा होती कि वेदनासे पीडित होकर वह जाल पूरती है और प्राणियोके भक्षणमे लम्पटता उसके साथ लगी है तिसपर भी उसकी प्रवृत्ति कादाचित्क है। जब उसके भूख लगी, प्राणि-भक्षणकी चाह जगी तो वह एक जाल पूरती है।

मकडीके जालपूरणमे मायाचार—देखिये मकडी मायाचारसे प्राणियोको खाती है। ये हिंसक जीवोकी दशायें देखिये। बिल्ली बहुत मायाचारसे चूहोको पकडती है, कबूतरोको ऐसे मायाचारसे पकडती कि उन्हे पता ही नही पडता कि यहा कोई हमारा भक्षक है। चुपचाप बैठी रहे, मरी सी पड जाय, जब दाव लगे तो झट पकड लेती है। उन सबसे भी अधिक मायाचार इस मकडीमे पाया जा रहा है। यह कैसा विकट जाल पूरती है कि वैसा जाल कोई सूतका पूरना चाहे तो कठिन पड जाय। उसमे कोई मक्खी आदिक फस जाय तो फसी ही रहे। भाग ही न सके। जैसे लोग घरमे अनाज भर लेते है और जब चाहे निकाल-निकालकर खाते रहते हैं इसी प्रकार वह मकडी जब चाहे तब उन मक्खियोको निकाल-निकालकर खाती रहती है। ऐसा दृष्टान्त इस ब्रह्मको सृष्टिका कारण बनानेमे दिया है, इसमे पक्षकारको कुछ सकोच नही होता क्या ?

अद्वैतविरोधके निन्दावादकी अयुक्तता—अद्वैतके समर्थनमे जो यह कहा था कि जो अद्वैत नही मानता, द्वैत देखता है, इस जगतको नानारूप निरखता है उसकी अपने आगममे निन्दा की गई है कि वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है जो इस जगतमे इन पदार्थोंको नानारूपोमे तकता है। तो यह निन्दावाद भी तुम्हारा ठीक नही है क्योकि वह तो पक्षकारकी अपनी चीज है, अपने शास्त्र है, कुछ भी लिख डालो लेकिन समस्त प्राणियोको जितने भी प्रमाण होते हैं वे सब भेदके ग्राहकरूपसे होते है। हर एक कोई प्रत्यक्षसे निरखकर समस्त पदार्थोको भिन्न-भिन्न निरखता है और ऐसा भिन्न-भिन्न यो निरखा जाता है कि जिस पदार्थसे जो परिणतियाँ बन सकती हैं उस प्रकारकी परिणति हुआ करती है। गायको निरखकर गायका दूध दुह लेना, घोडेको देखकर उसपर सवारी करके यथेष्ट जगहपर पहुच जाना ये सब भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे नियत-नियत भिन्न-भिन्न तरहकी परिणतियाँ भी की जा रही है और फिर फिर भी कहते हो कि यह सब झूठ है। और, जो सब पदार्थोंमे एक कल्पनाके द्वारा माना गया एकत्व है उस एकत्वकी ही सत्यताकी हठ बना रहे हो तो तुम्हारा यह निन्दावाद बिलकुल अयुक्त है।

प्रत्यक्षके विधातृत्वके विकल्प— सर्वाद्वैतके समर्थनमें जो यह कहा गया है कि प्रत्यक्ष जो है वह केवल विधिरूपको ही ग्रहण करता है, निषेधरूपसे नहीं ग्रहण करता। निषेधरूप ग्रहण करनेमें आये तो पदार्थ नाना बनेंगे। जैसा यह पदार्थ है सो यह नही है, जो यह है सो अमुक नहीं है इसप्रकार यदि निषेधको ग्रहण करे प्रत्यक्ष तब तो नानापन बने, पर निषेधको प्रत्यक्ष ग्रहण ही नही करता। प्रत्यक्ष तो विधिका ग्रहण करता है, इसके पोषणमें यह भी कहा था कि आँखें खुलनेके बाद सर्वप्रथम कल्पनायें जगनेसे पहिले जो कुछ विदित होता है वह एक प्रकाशरूपमें विदित होता है। वह है प्रत्यक्षका असली कार्य। बादमें माना जाता है कि यह अमुक चीज है यह अमुक चीज है इसप्रकार तुमने प्रत्यक्षको विधिपरक बताया है। तो वहाँ हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष विधिका साधक है तो प्रत्यक्षके इस विधातृत्वका नाम क्या है ? क्या विधातृत्वका अर्थ इतना है कि सत्ता मात्रका ज्ञान करने अर्थात् प्रत्यक्षसे सत्मात्रका ज्ञान कर लेनेका नाम ही क्या विधिप्रतिपादन है अथवा पदार्थमें रहने वाले साधारण वस्तु के स्वरूपका ज्ञान कर लेनेका नाम विधातृत्व है, अर्थात् प्रत्यक्ष 'है' को ग्रहण करता है 'न' को नही, तो वह किस 'है' को ग्रहण करता ? क्या साधारण अस्तित्व मात्र है को ग्रहण करता ? जिस किसी वस्तुका नाम न जुड़े क्या इस प्रकारकी है को ग्रहण करता है अथवा पदार्थोंमें पदार्थका जो असाधारण स्वरूप बना हुआ है अर्थात् विशेष विशेष स्वरूप जो दूसरे पदार्थमें न मिले क्या ऐसे असाधारण स्वरूपको ग्रहण करने का नाम 'है' का जानना है, ये दो विकल्प किये गए।

प्रत्यक्षमें सत्तामात्रके अवबोधकी मान्यताकी अयुक्तता— इनमेंसे प्रथम विकल्प तो यों अयुक्त है अर्थात् सत्तामात्रका अवबोध करना प्रत्यक्षका काम है। यह बात इसलिए खण्डित है कि जो नित्य है व्यापी है विशेषमें निरपेक्ष है ऐसी सत्ता मात्रकी प्रतीति तो स्वप्नमें भी नही होती। जो बात है ही नही उसका भी क्या स्वप्न हुआ करता है ? जैसे किसी स्वप्नमें क्या गधेका सींग भी दिखता है ? कदाचित् यह भी कह सकते हो कि स्वप्नमें भी कभी ऐसा गधा दिख जायगा कि जिसके भैंसकी तरह खूब लम्बे सींग हों। तो स्वप्नमें ऐसी भी बात तो दिख सकती है, लेकिन स्वप्न मे वही चीज दिखेगी जो सत् हो कही न कही। मान लो स्वप्नमें एक अच्छी सींग वाला गधा देख लिया तो दुनियामें कही न कही गधे तो हैं ही और सींग भी हैं। जो पदार्थ बिल्कुल न हो उस पदार्थका मूल भी स्वप्नमें नहीं देखा जा सकता। जो सर्वथा असत् है, है ही नही उसकी कल्पना कौन कर सके। न जागृत अवस्थामें असत्की कल्पना उठती और न सोई हुई अवस्थामें कल्पना उठती। अथवा सोई हुई और जागी हुई हालतमें कहीं कल्पनाओंका अन्तर भी नही होता। कोई स्वप्नमें कुछसे कुछ कल्पनाएँ बनाता है तो कोई जागृत अवस्थामें, कल्पनायें बना लेता है। बल्कि जागृत अवस्थामें लोग बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ बना डालते है तो यह तो मनकी कल्पनाओंकी बात है। तो इसीप्रकार जो अपरिणामी हो, नित्य हो, निरंश हो, विशेषकी अपेक्षा न

रखे। भला ऐसी भी कोई चीज होती है जो सदा रहती है, उसमे कभी भी परिणमन नही होता और फिर वह निरश है। उसमे कोई डिग्री नही, कोई नाप तौल नही और फिर व्यापी हो तिसपर भी विशेषकी अपेक्षा न रखता हो ऐसी सत्ता स्वप्नमे भी प्रतीत नही होती। जैसे खरगोशका सीग असत् है इसीप्रकार विशेष निरपेक्ष एकत्व, ब्रह्म, यह भी असत् है।

असाधारणवस्तुस्वरूपके अवबोधरूप विधातृत्वमे नाना पदार्थोकी सिद्धि—यदि कहो कि हम सत्तामात्रका अवबोध नही करते किन्तु असाधारण वस्तु-स्वरूपका परिच्छेद करते हैं तो ठीक है, हमारा तुम्हारा फिर विवाद क्या रहा। हम भी पदार्थ नाना मान रहे और पदार्थका यह नानापन तब बनता है जब सब पदार्थो का अपना-अपना विशेष-विशेष स्वरूप हो और प्रत्यक्षके द्वारा यदि असाधारण स्व-रूप जाना गया है तो उससे तो भेद सिद्ध हो गया, फिर तुम्हारा अद्वैतका प्रतिपादन करने वाला जो आगम है उसमे प्रत्यक्षसे बाधा हो गयी। देखो ऐसी कोई बात सिद्ध नही हो सकती जिसको आगममे भी लिख दिया जाय लेकिन प्रत्यक्षसे बाधा आये तो वह बात मानी नही जा सकती है। कोई यो अनुमान बना ले कि पापकर्म सुख देता है क्योकि जो-जो कर्म होते हैं वे सुख दिया करते है जैसे पुण्यकर्म। पुण्य भी कर्म है और वह सुख देता है यो पाप भी कर्म है वह भी सुख देगा, कोई ऐसा अनुमान कदा-चित् बना ले कई किताबे भी ऐसी लिख डाले लेकिन ऐसी रचना कर देनेसे सिद्धि तो न हो जायगी बात, क्योकि वह अनुभवसे बाधित है, या कोई ऐसा ही अनुमान करेगे लगे कि अग्नि ठडी होती है क्योकि पदार्थ होनेसे। जो-जो पदार्थ होते है वे ठण्डे होते हैं। तो अग्नि भी पदार्थ है इसलिए अग्नि भी ठण्डी होनी चाहिए। ऐसा कोई अनुमान करे तो उसकी यह बात निभ नही सकती। यदि वह हठ करे तो उसके हाथमे चमीटे से आग उठाकर धर दो तो उसे पता पड जायगा कि आग गर्म होती है या ठण्डी। और, फिर यह देख लीजिये कि जितने भी प्रत्यक्ष ज्ञान होते है वे सब भिन्न-भिन्नरूपसे ग्रहण करनेकी शैलीसे ही प्रवृत्त होते हैं। विधातृत्वका जो यह लक्षण माना है कि जो असाधारण वस्तुके स्वरूपका ज्ञान करे वह विधाता प्रत्यक्ष है। तो जगत नानारूप है। यहाँ पदार्थ भिन्न-भिन्न है, अनन्त है, इस बातको प्रत्यक्ष ही सिद्ध कर रहा है अत यह बात मानना असङ्गत है कि जगतमे एक ब्रह्मस्वरूप है और पदार्थ अन्य कुछ चीज नही है।

अपूर्व अर्थोके व्यवसायक ज्ञानमे प्रमाणत्वकी युक्तता—जब निर्विशेष एकत्व कुछ चीज नही रहा तो निर्विशेष एकत्वको, ब्रह्मको मानने वाला ज्ञान प्रमाण है यह बात ठीक नही बैठती। पदार्थ हैं और उनका सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय-रहित जो परिज्ञान होता है वह प्रमाण है, किन्तु यह एकत्व समस्त पदार्थोंमे अनुगत अथवा समस्त पदार्थोंकी दृष्टिका मूलभूत कोई एक ब्रह्म है यह बात प्रत्यक्षसे ज्ञात होती

कल्पना करना व्यर्थ है। जितने शब्दोमे तुमने इन तीन विकल्पोसे पदार्थोकी भिन्नता का निराकरण किया था उतने ही प्रतिपक्षी शब्दोसे पदार्थोके अभेदका निराकरण होता है। इसी प्रकार कालके अभेदसे यदि पदार्थोका अभेद मानते हो तो अतीतकाल और अनागतकाल इनका तो अभेद हो ही नही सकता। आकारके अभेदसे भी अभेद मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

सामान्यविशेषात्मकताके निर्णयसे भेद व अभेदकी सिद्धि--भैया! यह ही युक्तिसे सिद्ध है कि सर्वत्र पदार्थोमे सामान्य धर्म भी है, विशेष धर्म भी है। जब हम सामान्य धर्मकी मुख्यतासे देखते हैं तो अभेद नजर आता है और विशेषकी मुख्यतासे देखते है तो भेद प्रतीत होता है और यह सामान्य और विशेष पदार्थोसे भिन्न है अथवा अभिन्न है? ऐसा प्रश्न यदि करो तो उसका उत्तर यह है कि भिन्न भी है, अभिन्न भी है यह। केवल एक समझनेके लिए प्रतिपाद्य प्रतिपादकका भेद डालकर सज्ञाविशेष नामके भेदसे भेद है, किन्तु वस्तुमे सामान्य अभेदरूपसे रह रहा है और विशेष भी अभेदरूपसे रहता है। अत समस्त पदार्थ हैं, अपने-अपने स्वरूपसे हैं, उनमे जातिकी कल्पना करके एकत्व स्थापित किया जाता है, पर पदार्थ तो सभी अपने अपने प्रदेशोमे अपने स्वरूपसे स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत् हैं। प्रतिव्यक्ति वस्तुओका भेद काल्पनिक नही है किन्तु अभेद काल्पनिक है।

अभेदवादमे अविद्याकी निवृत्तिकी असभवता -- जो यह कहा था कि यह सब अविद्यासे नजर आता है और अविद्या कोई वास्तविक चीज नही है क्योकि वह ब्रह्मसे अर्थान्तरभूत वास्तविक कोई सत् नही है, इसी कारण इस अविद्याका हटाव हो जाता है यह भी सारहीन कथन है। तुम तो यह कहते हो कि अविद्या वास्तवमे कुछ चीज नही है इसलिए अविद्या अलग हो जाती है अगर वास्तवमे होती तो अलग नही हो सकती थी, परन्तु बात यहाँ यो है कि यदि अविद्या वास्तवमे अवस्तुभूत है तो जो अवस्तुभूत है तो वह प्रयत्नसे हटाया नही जाता। जैसे खरगोशके सीग अवस्तुभूत हैं तो क्या उसकी कोई निवृत्ति करेगा? जो असत् है वह नही हटाया जा सकता। हटाया जाने योग्य तो सत् हुआ करता हैं। दूसरी बात यदि अविद्या वास्तवमे है तो वह भी हटायी नही जा सकती। अविद्या यदि असत् है तो प्रयत्नसे हटाते किसे हो? और जो सत् है उसका विनाश किसी तरह किया ही नही जा सकता है। जो तत्त्वत सत् हैं उनका भी यदि विनाश कर दिया जाने लगा, हटाया किया जाने लगा तो घट पट आदिक तो सत् पदार्थ हैं उनकी भी निवृत्ति हो जाय अथवा जो घट आदिक सत् पदार्थ है उनका एक देशसे दूसरे देशमे हटाव किया जा सकता है। अविद्या यदि असत् है तो उसका हटाव सम्भव नही है। अत यह कहना कि अविद्या ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नही है इसी कारण यह हटा दिया जाता है यह बात अयुक्त है।

विकारोका कथञ्चित् सत्त्व और असत्त्व-- वास्तवमे तो यह है कि

आत्माके जो अज्ञान रागद्वेष विकार उत्पन्न हुए हैं वे विकार न तो सर्वथा सत् हैं और न सर्वथा असत् हैं, किन्तु इस दृष्टिसे तो वे विकार सत्त हैं कि वे आखिर आत्माके ही परिणमन हैं, वस्तुमे पाये जाते हैं। परिणमन न हो वस्तुमे ऐसी बात होती ही नही है। और असत् यो कहा जाता है कि वे कोई शाश्वत चीज नही हैं, जो शाश्वत हो वही परमार्थ सत् होता है। तो अविद्या सद्भूत भी है असद्भूत भी है। यदि सर्वथा सत् हो तो नही हट सकता, सर्वथा असत् हो तो हटाया कैसे जाय? यो अविद्या भी है, विद्या भी है, एकत्व भी है, नानात्व भी है, यह सब स्याद्वादसे सिद्ध हो जाता है। यदि यह कहो कि घट पट घर बाग आदिक ये सारे पदार्थ अविद्यासे रचे गये है इस कारण ये भी वास्तवमे सत् नही है तो इसमे अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो जाय कि घट आदिक पदार्थ अविद्यासे रचे गए हैं तब तो यह माना जायगा कि इसका सत्त्व नही है और जब यह समझमे आया कि इसका सत्त्व वास्तवमे नही है तब यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये सब अविद्यासे रचे गए है और यो तो इनके प्रतिपक्षमे यो इनसे पूछ बैठे कोई कि क्या अभेद विद्यासे रचा गया है। यदि अभेद विद्यासे रचा गया है तो उसमे भी यही अन्योन्याश्रय दोष है। जब विद्यासे रचा गया यह ब्रह्म है यह सिद्ध हो तब तो ब्रह्मकी सत्ता बने और जब ब्रह्म परमार्थ सत् है यह समझमे आये तब यह सिद्ध कर सकेंगे कि ब्रह्म विद्यासे रचा गया है।

अविद्याके विनाशमे प्रागभावके दृष्टान्तकी असङ्गतता—जितनी भी युक्तियाँ अद्वैतके समर्थनमे दी थी उनकी क्रमश मीमासा की जा रही है। अनादि अविद्याके विनाशकी सिद्धि करनेमे एक प्रागभावका दृष्टान्त दिया था। जैसे यह घडी बनी तो जब भी बनी उससे पहिले तो घडी न थी और उससे पहिले कब तक घडी न थी? अनन्तकाल तक। तो अनादिकालसे उस घडीका प्रागभाव चल रहा था। जब अनादिकालसे चल रहे हुए प्रागभावका भी विनाश हो सकता है अर्थात् घडी बन गयी तो घडीका अभाव तं। नष्ट हो गया ना तो इसीतरह अनादिकालसे अविद्या चल रही थी उसका भी विनाश हो जाता है। ऐसा प्रागभावका दृष्टान्त देना यो ठीक नही बैठता कि प्रागभाव वस्तुको छोडकर अन्य कुछ नही है। घडीका प्रागभाव घडीकी अवस्थासे पहिले जो जो अवस्थायें रही हैं उन स्कधोसे बना है अथवा घडी अवस्थासे प्राक् जो जो भी अवस्थाएँ हैं उनका नाम है घडीका प्रागभाव, तुच्छ स्वभाव वाला अभेद नही माना गया है, पर यहाँ अविद्या तो तुम तुच्छ स्वभाववाला मानते हो, उसका उच्छेद कैसे सम्भव है इस कारण यह मानो कि पदार्थ सब हैं, जीव सब हैं, उन सब जीवोंका कभी विकाररूप परिणमन चलता है और उपाधिका सम्बन्ध मिटनेपर उनका स्वभाव रूप परिणमन हो जाता है।

अभेदवादमे अविद्याको विद्याका प्रागभाव माननेकी असङ्गतता—इसी सिलसिलेमे जो यह भी कहा था कि अविद्या और कुछ चीज नही है, तत्त्वज्ञानका जो

प्रागभाव है उसका ही नाम अविद्या है अर्थात् विद्याका प्रागभाव अविद्या कहलाता है यह भी कथनमात्र है। अविद्याको यदि तत्त्वज्ञानका प्रागभावरूप मान लोगे तो प्रागभाव भेदविज्ञानरूप कार्यको नही कर सकता। देखिये बडे कामकी एक स्थिति समझ मे आती है कि किसी भी पदार्थका प्रागभाव पदार्थको उत्पन्न नही करता। इतना तो कहा जा सकता कि प्रागभावके विनाशके बिना कार्य नही होता यह तो बताया जा सकता, पर प्रागभावकी कार्यकी उत्पत्तिमे सामर्थ्य नही है। क्या घटका प्रागभाव घट को बना देता है ? हां घटके प्रागभावके विनाशके बिना घट नही बन सका यह बात तो सही है, पर घटका प्रागभाव घटको बना दे यह सम्भव नही है।

कार्यमें प्रागभावके कारणत्वकी असिद्धि— कार्यकी अगर सूक्ष्म दृष्टि लेना चाहते हो तो ऋजुसूत्रनयपर दृष्टि दीजिये ऋजुसूत्रनय वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है। यह नय उस पर्यायसे एक भी समय पहिले अतीत पर्यायको निरखता ही नही है और न भविष्यकी अतिनिकटवर्ती पर्यायको भी निरखता। केवल एक वर्तमान पर्यायको देखता है। वह वर्तमान पर्याय क्या पूर्व पर्यायमे उत्पन्न हुई है ? वैसा कार्य कारणके प्रकरणमे बताया तो यह जरूरी है क्या कि वर्तमान पर्यायका उपादान पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य है लेकिन ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे जब हम देखने चलते हैं तो अतीत पर्याय वर्तमान पर्यायका कारण नही है। तो फिर क्या कारण है ? यदि यह पूछा जाय तो ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे यह उत्तर मिलेगा कि ऋजुसूत्रनयमे जगतमे कही कार्य कारणका विधान नहीं है। न कोई पदार्थ कार्य है और न कारण है। प्रत्येक पर्याय अपने ही समयमे अपने कारणमे उत्पन्न होता है यह एक ऋजुसूत्रनयका विषय है। इसका एकान्त करके कही अध्यात्ममे अन्य शैली बना लेना तो युक्त नही बैठता, वह हठवाद हो जायगा। और, इससे ही नये तरहका निश्चय एकान्त निकाला गया है। तो ऐसे घटका प्रागभाव घटकार्यको उत्पन्न नही करता, उसमे सामर्थ्य ही नही है कि कार्य बना दे। यह बात अवश्य है कि घटके प्रागभावके विनाशके बिना वह घट कार्य उत्पन्न नही हो पाता। ऐसे ही विद्याका प्रागभाव जो अविद्या है तत्त्वज्ञानका प्रागभाव रूप अविद्यारूप ज्ञानकर्मको उत्पन्न करनेमे समर्थ नही है। हां इतनी बात है कि तत्त्वज्ञानके प्रागभावरूप अविद्याके विनाशके बिना तत्त्वज्ञानरूप कार्य नही बन सका।

वह भेदज्ञान स्वभावरूप ही है। ऐसा यदि अद्वैतवादी मानें तो इसके मायने यह हुआ कि तत्त्वज्ञानके प्रागभावरूप अविद्यामे भेदज्ञानका स्वभावरूप हो गया। इसमें तो अद्वैत सिद्धान्तका यो भी निराकरण है कि इस सिद्धान्तमे अभेद किसी अन्य स्वभाव रूप नही माना गया किन्तु कुछ न होना इस प्रकार तुच्छ स्वभावरूप माना गया है।

अभेद या भेदके ग्रहण विद्या या अविद्याकी उत्पत्तिकी असिद्धि— बात यो है कि पदार्थमे भेद ग्रहण करे तो अविद्या बन जाय और अभेद ग्रहण करे तो विद्या बन जाय यह व्यवस्था नही है। अद्वैतवादी तो यो कहते हैं कि तुम्हें यदि एकत्व समझमे आया तो समझो कि हम विद्यामे आ गए और पदार्थ नाना समझमे आये कि यह जीव है यह पुद्गल है इत्यादि तो समझलो कि तुम अविद्यामें आ गए। तो भेद ग्रहण करनेसे अविद्या बन जाय और अभेद ग्रहण करनेसे विद्या बन जाय ऐसी व्यवस्था नही है। किन्तु, जिसमे सम्वाद हो वह तो सत्य है और जिसमे विसम्वाद हो वह असत्य है। विसम्वादको तो सब लोग जानते हैं। जिसमे विवाद खड़ा हो जाय, दूसरा बाधक प्रमाणभूत ज्ञान बने समझो कि वह विसम्वाद है। जहाँ विसम्वाद है वह ज्ञान असत्य है व जहाँ सवाद है। वह ज्ञान सत्य है। सही तौरसे एक दम निर्दोष निर्णय हो, जहाँ विवाद न उठ सके वह सम्वाद है और सम्वादसे सत्य ज्ञान माना जाता है। अब देखिये सम्वाद ही वस्तुमे अभेद बताता है। इसलिए भेदकी बातकी बात कहना भी सत्य है और अभेदकी बात कहना भी सत्य है पर सद्भूत क्या है। प्रत्येक पदार्थ न्यारे न्यारे स्वतत्र स्वतत्र अपने आपमे सद्भूत हैं। इन पदार्थोंका अपह्लव करना युक्त नही है।

अविद्याकी अवस्तुभूतताकी मीमासा—और भी देखिये! जो बात कही गयी थी कि जब यह अद्वैतवादीसे पूछा था कि अविद्या ब्रह्मसे भिन्न चीज है या अभिन्न चीज है? तब अद्वैतवादीने यह उत्तर बोला था कि भिन्न और अभिन्नका विचार वस्तुमे किया जाता है, अविद्या तो वस्तु ही नही है उसमे भिन्न अभिन्न आदिकका विचार नही बनता। तो इसमे यह पूछा जा रहा है कि क्या अविद्या विचारके अगोचर है, विचारणीय नही है? क्या इसलिए अविद्या अवस्तु है? अथवा अविद्या अवस्तु है अत. विचारके अगोचर है? यहाँ दो विकल्प किए गए। देखिये! यह तो कोई नियम नही है कि जो–जो अवस्तु होता है उसका विचार नही किया जा सकता। जैसे— इतरेतराभाव अवस्तु है फिर भी उसका विचार तर्क–वितर्क चलता है। जैसे घड़ीमें चौकी नही है, यह जो परस्परमे एक दूसरेका अभाव है यह अभाव अवस्तु है या वस्तु? अवस्तु है, पर विचार तो हर एक कोई उसका कर सकता है। तो यह भी एकान्त नही है कि जो–जो जितने अवस्तु हैं वे विचार नही किये जा सकते हैं। इतरेतराभाव आदिक अनेक अवस्तु हैं फिर भी यह ऐसा है, यह ऐसा है यो उनके सम्बन्धमे अनेक तरहके विचार बनाये जा सकते है। शाब्दिक और प्रतिभासमें आने

वाले विचार बनते हैं इस कारण यह नही कह सकते कि अवस्तु होनेसे अविद्याके सम्बन्धमें भिन्न है या अभिन्न है यह विचार नही उठाया जा सकता।

विचारागोचर होनेसे अवस्तुभूताकी सिद्धिका प्रतिषेध—यह भी नही कह सकते कि अविद्या विचारके विषयभूत नही है इसलिए अवस्तु है। अनेक पदार्थ ऐसे होते है जिनका विचार तो नही किया जा सकता और है वस्तु। विचारमे न आ सकनेसे कोई अवस्तु बन ही जाय यह ठीक नही है। जैसे गुडकी मिठाई, मिश्रीकी मिठाई, गन्नेकी मिठाई इनमे कुछ तारतम्य है कि नही ? गुडकी मधुराई और किस्म की है और गन्नेकी मधुराई और किस्मकी है, सभी लोग प्राय बोल देंगे कि इनकी मधुराईमे अन्तर है। उन सबकी मधुराईके विषयमे यो शब्द तो सभी बोल देंगे, पर और विशेष बात क्या कर सकते है ? तो मधुराई सबकी अलग अलग है लेकिन तारतम्य है अवश्य और उस तारतम्यका प्रतिपादन भी नही किया जा सकता। तो यह भी नही कहा जा सकता कि विचारके अगोचर होनेसे अविद्या अवस्तु बन जाय और इन पदार्थोंके खाने-पीनेसे उत्पन्न हुए जो सुख है उनमे भी तारतम्य है। मिश्री चख कर जो मौज माना है उसमे भी तारतम्य है मगर उन तारतम्योको कोई दूसरे पुरुष के लिए बना भी सकता है यह तो ऐसा है और यह ऐसा है तो यह जैसे तारतम्य दूसरेको नही बताया जा सकता फिर भी वस्तुस्वरूप है, तारतम्य है, स्वभावभेद है, इसी प्रकार चाहे अविद्या भी विचारके अगोचर हो फिर भी वह एक भाव है, विचार के अगोचर होनेसे अविद्या अवस्तुक बन जाती, यह कहना युक्त नही है।

अवस्तुभूतके प्रभाव और अभावकी विचारासहता—और, फिर यह भी बताओ कि भिन्न है या अभिन्न है, ऐसा विचार बनाना यह प्रमाणभूत है या नही ? पहिले तो यह निर्णय बता दो। किसी भी पदार्थमे हम ऐसा विचार यदि कर ले कि ये भिन्न है या अभिन्न है ? अथवा इस प्रसङ्गमें जो यह प्रश्न उठाया गया था कि यह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? जैसे ब्रह्मको तो सद्भूत माना था अद्वैतवादने और सब दृश्यमान पदार्थोंको मिथ्या माना, तो यह पूछा गया कि यह माया ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? तो भिन्न और अभिन्नका विचार करना प्रमाणभूत होता है या नही ? यदि प्रमाणभूत है, ऐसा मानते हो तो प्रमाणके जो विषयमे आता है उस अविद्याका असत्त्व कैसे रहा ? और जब अविद्या सत् ही नही है तो मोक्षकी इच्छा करने वाले साधु सतोका उस अविद्याके विनाशके लिए प्रयास करना सफल कैसे है ? क्या कोई आकाशमे भी लाठी मारा करता है ? आकाश यद्यपि सत् है पर अमूर्त है, उसपर कोई लाठी मारेगा क्या ? जो अवस्तु है, सर्वथा असत् है उसके उच्छेदके लिए प्रयास करना फलवान नही है। यदि कहो कि भिन्न अभिन्न आदिकका विचार करना अप्रमाण है तो फिर वह वस्तुका विषय कैसे बन सका जिससे कि फिर तुम्हारा यह कहना बने कि भिन्न और अभिन्नका विचार वस्तुमे होता है। तो यह बात

तुम्हारी युक्त नही है कि सारा विश्व एक स्वरूप है एक ही सत् है और ये सब जो कुछ नजर आते है माया हैं अथवा उसका ही यह सब भाग है, यह बात शोभा नही देती है।

अर्थक्रियाकारी पदार्थोंकी अप्रतिषेध्यता—पदार्थ सब अपने आप अपने ही स्वरूपसे है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको लिए हुए हैं। सबका परिणमन उनका अपने अपने प्रदेशोमे ही हो रहा है और इसी कारण यह सब जगत चल रहा है। किसी एक जगहसे कोई काम नही निकला करता, काम तो पदार्थसे बनता है। ये समस्त पदार्थ न्यारे न्यारे है। अनन्तानन्त तो जीव हैं और इससे भी अनन्तानन्त गुने पुद्गल परमाणु है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असख्यात कालद्रव्य है और लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर कालाणु अवस्थित है। यो असख्यात कालद्रव्य हैं। ये सब अपने अपने परिणमनमें स्वतत्र है। कोई किसी दूसरे पदार्थकी परिणति लेकर नही परिणमता। इन समस्त पदार्थोंमे त्रिकाल एक दूसरेका अभाव है। कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप नही बन सकता। सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे न्यारे न्यारे हैं, उनके अस्तित्वका कभी निषेध नही किया जा सकता।

अविद्यासे अविद्याकी शान्तिकी असगतता—अद्वैतवादने यह कहा था कि जैसे कीचडसे मलिन जलको शान्त (स्वच्छ) करनेके लिये कोई विशेष चूर्ण डाला जाता है तो वह चूर्ण उस धूलको भी दबा देता है और खुद भी दब जाता है। उसके दुहरे काम होते हैं, इसी प्रकार शास्त्राध्ययन मनन सत्सग ये भी सब यद्यपि है तो अविद्या क्योकि एक अभेद ब्रह्मस्वरूपको छोडकर शेष सब अविद्या है लेकिन अविद्या याने भेद जानना कि अविद्यासे पदार्थोंको नाना माना यह भ्रमरूप अविद्याको शान्त कर देती है और यह शास्त्र श्रवण आदिक रूप अविद्या भी खुद शान्त हो जाती है यह कहना भी ठीक नही है। इसका कारण यह है कि धूल तो सद्भूत वस्तु है और उस को शान्त करने वाला चूर्ण भी सद्भूत है तो जो सद्भूत होते हैं उनमे तो बाधक बन जाता है। चूर्ण डाला तो बाधक बन गया और पानीका कीचड बाध्य हो गया तो जो सत् है उनमें तो बाध्य बाधक भाव बनता है पर जो सद्भूत ही नहीं है तो असत्का सत्के साथ बाध्यबाधक भाव नही चल सकता। दोनों ही सत् हो तो उनमे बाध्यबाधकपना चल सकेगा। जैसे साप और नेवला इनमे परस्पर वैर हो तो ये सत् है तभी ना। कही खरगोशके सीग और घोडाके सीगमे तो विरोध नही बन जाता। एक असत् हो एक सत् हो उनमे भी विरोध नही बनता। यह जो चूर्ण है वह भी एक धूल है सो वह सो दूसरी धूल वे जो कि पानीको मलिन कर रही है तो वह चूर्ण उस दूसरी धूलकी सामर्थ्यका अपनयन कर देती है सामर्थ्यको निकाल देती है और इस तरहसे यह चूर्ण उस कीचडका बाधक बन गया।

विष द्रव्यके दृष्टान्तसे अविद्या दार्ष्टान्तिकी विषमता—अथवा विष

द्रव्य दूसरे विषको मारनेके लिये डाला जाता है। एक विषमे दूसरा विष डालनेसे विष समाप्त हो जाता है। तो वह विष द्रव्य योग्य विष द्रव्यके सामर्थ्यसे हट सकता है पर किसी अन्य कार्यको न करेगा, और ये सद्भूत है दोनो। यह विष भी जो विष मारनेके लिए किया गया है और वह विष भी दोनो सत् है तो बाध्य बाधक भाव बनता है पर अविद्यामे और भेदवादके उच्छेदमे बाध्य बाधक भाव नही बन सकता, सारे पदार्थ ये भिन्न-भिन्न स्पष्ट नजर आते है। जैसे अभेद वस्तुका स्वभाव है, उसे कोई मिटा न सकेगा ऐसे ही भेद भी वस्तुका स्वभाव है। अनेक पदार्थोमे अभेद करना यह वस्तुका स्वभाव नही। यह तो कल्पनाकी चीज है पर प्रत्येक वस्तुमे उनके ही गुण पर्यायका अभेद जो ज्ञात होता है यह वस्तुका स्वभाव है। तो जैसे अभेद वस्तुका स्वभाव होनेसे दूर नही किया जा सकता इसी प्रकार भेद भी प्रतिव्यक्ति स्वरूप रहना यह भी मिटाया नही जा सकता।

समस्त पदार्थोकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्तासे लोकव्यवस्था—भैया! समस्त पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए है। सारा विश्व एक ब्रह्म-स्वरूप हो और उसकी परिणतियाँ हो, उसका बगीचा हो ऐसा नही है किन्तु सभी पदार्थ हैं और वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमते रहते हैं। तभी विश्वकी व्यवस्थामे अन्तर नही आता। कोई एक बनाने वाला हो विश्वको तो आज कही काम चल रहा है, कल कही चल रहा हैं तो कोई पदार्थ परिणमन करनेसे रुक भी जाय लेकिन जितने पदार्थ हैं वे सब सत् है और उनका निरन्तर परिणमनेका स्वभाव है। एक समय भी अन्यरूप न परिणम सके, स्वत. ही जैसी योग्यता है उसके अनुसार वह परका निमित्त पाकर अथवा असाधारण परको निमित्त न किए बिना परिणमता रहता है। वस्तु है और वह परिणमनशील है इस कारण जगतकी व्यवस्था बनी है।

समस्त पदार्थोमे अस्तित्व और वस्तुत्व गुणका भाव—भैया! पदार्थ व्यवस्था यो यथार्थ रूपमे मान लीजिए इस तरह है कि प्रत्येक पदार्थ हैं तो जरूर। यदि न होते तो फिर चर्चा किसकी की जाती। सबका अस्तित्व है अब इसके पश्चात् यह भी बात देखी जाती है कि किसी पदार्थका अस्तित्व किसी दूसरे पदार्थरूप नही है तभी तो हम कहेगे कि घडी लावो तो घडी ही उठाकर लावोगे, चौकी साथमे न उठा लावोगे। तो प्रत्येक पदार्थका स्वरूप अपना-अपना न्यारा है इसीका नाम है वस्तुत्व गुण। जैसे 'है' को मान लिया कि सर्वत्र है पर 'है' यदि स्वच्छन्द बन जाय, एक पदार्थका 'है' दूसरे पदार्थके 'है' रूप बन जाय तो पदार्थ भी न रहेगा। यदि चौकी घडी बन जाय तो न चौकी रही न घडी रही। घडी चौकी बन बैठी। तो प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नही है। यह हुआ यह हुआ वस्तुत्व गुण। अब यहाँ तक दो बातें तो आ गयी है और अपने ही स्वरूपसे हैं दूसरेके स्वरूपसे नही हैं

समस्त पदार्थोमे द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व गुणका भाव—कोई भी वस्तु

हो, पर है ही है निरन्तर एक समान बना रहे यह बात कल्पनामे नही आती। कोई भी पदार्थ है तो उसमे अवस्थाएँ बदलती रहती है। अवस्था कुछ न बने और 'है' हो जाय यह हो ही नही सकता। चाहे कोई अवस्थाएँ समान भी हो, पर प्रतिसमयमे परिणमन जरूर होगा तब है रह सकता है तब उसकी सत्ता बन सकती है। तो निरन्तर अवस्थाएँ बनाते रहना यह भी गुण प्रत्येक पदार्थमे है, इसका नाम है द्रव्यत्व गुण। अब यहाँ तक तीन बातें मान ली गई, अस्तित्व अर्थात् पदार्थ है वस्तुत्व अर्थात् यह पदार्थ अपने स्वरूपसे है दूसरेके पिण्डसे नही है, चौकीका पिण्ड चौकीमे ही है घडीका पिण्ड घडीमे ही है। यह भी गुण प्रत्येक पदार्थमे बना हुआ है कि वह अपने ही रूपमे रहेगा, दूसरेके रूप न बन जायगा। फिर चौथी बात यह भी है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिणमती रहती है। अब यहाँ द्रव्यत्व गुण ऐसी स्वच्छन्दता करने लगे कि हमको तो ऐसा हुक्म मिला है कि परिणमता रहू। चाहे जिस रूप परिणम जाय तो यो न बन सकेगा। परिणमेगा प्रत्येक पदार्थ पर अपने ही स्वरूपमे प्रदेशमे पिण्डमे परिणमेगा। यह हुआ अगुरुलघुत्व गुण। तो कोई पदार्थ न वजनदार और न हल्का बन जायगा। इसका अर्थ यह लेना कि कोई पदार्थ किसी दूसरेके गुणको लेले तो वजनदार हो जायगा। किसी पदार्थका गुण पर्याय निकलकर दूसरेमे चला जाय तो हल्का हो गया। अगुरुलघुत्व शब्दका यह अर्थ करना है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे के गुण पर्यायको नही लेता। प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुण पर्यायरूपमे परिणमता है। ये चार बातें प्रत्येक पदार्थमे मिलती हैं।

समस्त पदार्थोंमे प्रदेशत्व और प्रमेयत्व गुणका भाव—अब यह सोचिये कि पदार्थका कोई आकार ही न हो, प्रदेश ही न हो तो यह है पना और परिणमन किसमे बोला जायगा। प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना प्रदेश है, अपना एरिया है कुछ न कुछ। तो यही हुआ प्रदेशत्व गुण और एक बात प्रमेयत्वकी भी पायी जाती है, जो पदार्थ है वह किसी न किसी ज्ञानके द्वारा प्रमेय है। मानलो पदार्थ हो सभी और वे किसीके जाननेमे न आये तो हम क्या समझे, क्या व्यवस्था बनाये और फिर आत्मा जब निर्दोष हो जाता है तो उसका ज्ञान इतना विशाल बनता है कि जो भी सत् हो वह नियमसे उसके ज्ञानमे ज्ञात होता है। यो पदार्थमे ये ६ साधारण गुण हैं।

समस्त पदार्थोंमे असाधारण गुणका भाव—साधारण गुणोसे भी अभी पदार्थ व्यवस्था नही बनी। पदार्थमे कोई गुण विशेष होना चाहिए ताकि यह जान सकें कि यह चौकी है, यह घडी है। तो यह कहलाता है असाधारण लक्षण। जैसे जीवमे है चेतन गुण, पुद्गलमे है मूर्तिकता रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। ये पुद्गलके गुण हैं धर्मद्रव्यमे है गतिहेतुपना जीव और पुद्गल गमन करे तो उसमे निमित्त कारण बने। अधर्मद्रव्यमे गुण है स्थितिहेतुभूत, जो चलते हुए जीव पुद्गल ठहरें तो उनकी स्थितिमे

निमित्त कारण है अधर्मद्रव्य। आकाश द्रव्यका गुण है अवगाहनहैतुत्व जहाँ सभी पदार्थ ठहर जाये। और, काल द्रव्यका साधारण लक्षण है द्रव्यके परिणमन होनेका कारण यों विशेष लक्षण भी है। वस्तुव्यवस्था इस तरह है और इस दृष्टिसे ज्ञात कर लीजिये कि अनन्तानन्त जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल है। एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य है। ये सभी पदार्थ अपने अपने प्रदेशमे है और निरन्तर परिणमते रहते हैं।

स्वरूपास्तित्वके विज्ञानमे कल्याण लाभ—समस्त पदार्थोमे साधारणधर्म देखकर उसकी जाति बनी तो यह एक कल्पनाकी चीज हो गयी मगर यह प्रमाणीक कल्पना है। यो समस्त पदार्थ अनन्त है। कोई एक पदार्थ सत् ब्रह्म हो और सभी पदार्थ मिथ्या हो ऐसी बात नही है। ऐसा ज्ञान करनेसे लाभ क्या होता है? जब हम यह जान जायेंगे कि प्रत्येक पदार्थ अपना अपना ही स्वरूप लिए हुए है परिणमन लिए हुए है तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि मेरा काम मैं ही कर सकता हू और दृश्यमान इन सभी पदार्थोंके काम ये ही सब कर पायेंगे। अतएव मेरा किसी पर अधिकार नही है प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपके स्वामी हैं एसा ज्ञान होनेसे मोह टलता है। मोहके दूर होनेसे कल्याणका मार्ग मिलेगा। जीवका वैरी केवल एक मोह भाव ही है। इस जीवका किसी पदार्थसे कुछ लेना देना नही है कुछ सम्बन्ध भी नही है सदा सयोग भी नही रहता और जब तक सयोग है तब तक भी सभी अपने अपने मे परिणमन रहे है किसीका कोई दूसरा सहयोगी नही बन रहा है फिर भी जीव पर पदार्थोमे मोह बनाये तो समझ लीजिये कि कितनी यह अयथार्थ वृत्ति है और विपदा है। यह मोहकी विपदा तत्त्वज्ञानसे समाप्त होती है। यो कहो कि सारे सकट ज्ञानसे दूर होते है। सर्व सकट विनाशी तो एक ज्ञान प्रज्ञा ही है।

भेदकी पारमार्थिकता—अद्वैतवादीने यह भी कहा था कि जैसे स्वप्न अवस्थामे पदार्थ भिन्न भिन्न नजर आते हैं और अवस्थाभेद है नही अर्थात् कुछ वस्तु है नही और फिर भी भेदप्रतिभास होता है, इससे मालूम पडता है कि भेद पारमार्थिक नही है अथवा भिन्न भिन्न प्रतिभास होना कोई पारमार्थिक नही है। जैसे स्वप्न आया, तो स्वप्नमे जङ्गल, शेर, हाथी, हिरण आदि सभी दीखते है। यो ही जगतमे सभीका अलग अलग ज्ञान बनता है तो क्या यह सही है? सो आचार्यदेव कहते है कि ऐसा परिणमन अभेदवादमे भी लाया जा सकता हैं। तो जैसे विशेषका अभाव है स्वप्न दशामे ऐसे ही अभेदका भी तो अभाव है। विशेषका व्यापक सामान्य भी तो नही रहा। जब विशेष नहीं रहा तो फिर सामान्य कहाँ रहा? यदि विशेषके विना सामान्य हो जाय, मनुष्य सामान्य तो होता नहीं कोई और मनुष्यत्व वहाँ वैठा रहे इस तरह यदि विशेषके अभावमे भी सामान्य बन जाय तो कछुवेके रोम तो हैं नहीं और उसमे रोमपनेका सत्त्व बन जाय, ऐसा तो होता नही है। कोई वस्तु है नही और उसे

है मान लिया जाय यह तो एक सामान्य बात हो गयी। कहीं १०–२० आदमी खड़े है और उन्हें मान लिया कि ये तो १०–२० खम्मे खड़े हुए हैं, सो यदि विशेष के बिना सामान्य मान लें तो उन खम्भोमे भी मनुष्यत्व हो जाय ऐसा होता नही है। इस कारण यह कहना कि स्वप्न दशामे भेद नही है और भेद प्रतिभास होता है इस लिए भेद प्रतिभास झूठ है तो यो अभेद भी नही है और अभेद प्रतिभास भी न हो सकेगा। जब स्वप्नमे सिंह, आदमी, खम्भा आदिक दिख रहे है तो कभी ऐसा भी स्वप्नमे ख्याल हो जाता कि यह तो स्वप्न है मैं जागकर तो देखूं, स्वप्नमे ही जगकर देखता है तो वहा सिंह, खम्भा, आदमी आदिक कुछ नही है, इतनी यक बात स्वप्नमे हो जाती है तो जहाँ स्वप्नमे विशेष और भेद ज्ञान हो सकता है वहाँ सामान्य भी ज्ञात हो सकता है। जैसे जगते हुए मे पूजन, प्रवचन, तपश्चरण आदिक किए जाते हैं ऐसे ही स्वप्नमे भी तो किए जाते हैं। तो स्वप्नमे विशेष नही हैं और सामान्य ज्ञान हो जाता है तो विशेषके अभावमे सामान्यका भी असत्त्व है।

स्वरूप दृष्टिसे ही सत्यासत्यका निर्णय—अच्छा यह बात बतलावो कि स्वप्नकी दशामे भेद कैसे नही है, भिन्न भिन्न पदार्थ कैसे नही हैं। सायद कहो कि जग जानेपर वह सब झूठ लगता है इससे मालूम होता कि स्वप्नकी बात झूठ है। स्वप्नमे जो पदार्थ भिन्न भिन्न दिख गए वे झूठ है ऐसा अद्वैतवादीने कह डाला। बस बातपर उन्हे यह जवाब दिया जा सकता है कि स्वप्नमे जो भिन्न भिन्न पदार्थ दिख रहे हैं वे जगनेपर नही दिखते अत सब झूठ है तो जगनेपर भी तो जो सब पदार्थ भिन्न भिन्न दिखते हैं। वे सोनेपर नही दिखते तो जाग्रत दशामे नानारूपसे देखे गये सो वे भी सब झूठ हो जायेंगे। तुम्हारा कहनेका जो यह मतव्य है कि जैसे स्वप्नमें देखी हुई सारी बातें झूठ हैं ऐसे ही जगती हुई हालतमे भी देखी हुई सारी बातें झूठ है, पर बात यह है कि कोई भी बात एक जगह असत्य हो जाय तो दूसरी जगह भी वह बात असत्य ही हो जाय ऐसा तो नही होता। यदि एक जगह झूठ हो जानेपर सब जगह तुम झूठ मान लोगे तो देखो प्रात काल घूमनेके समय सडकपर किसी जगह कोई ठूठ दिखा और उसको पुरुष समझ लिया। कुछ अंधेरा उजेला था इस कारण, जब उसके पास पहुँच गए तो समझ लिया ओह जो पहिले हमने ज्ञान किया था वह झूठ था, यह ठूठ पुरुष नही है, यह तो ठूठ है। तो यदि एक ठूठ है। तो यदि एक ठूठमे पुरुषका भ्रम हो गया और पुरुषका ज्ञान झूंठ हो गया तो इसके मायने क्या यह है कि अपने गाँव घरके जितने भी मनुष्य हैं उनको भी झूठ कह दें? यह मनुष्य नही है, यह मनुष्य नही है क्योकि हमने ठूठमे मनुष्य जाना था, वह झूठ था। एक जगह झूठा ज्ञान बन जाय तो इसका अर्थ यह नही है कि सब जगहका ज्ञान झूठा हो गया? स्वप्नमे देखी हुई बात यदि झूठ है तो इसका अर्थ यह नही है कि जाग्रत अवस्थाका, अच्छे दिमागकी हालतका भी ज्ञान झूठा हो गया। जैसे जिस ज्ञानमे कोई दूसरा बाधक ज्ञान न बन पाये तो वह सत्य है और जहाँ बाधक ज्ञान बन गया वह झूठ है।

जैसे घूमते हुएमे ठूठको मनुष्य जान लिया। उस ज्ञानके बाद फिर यह ज्ञान बना कि यह मनुष्य नही है यह तो ठूठ ही है। तो यह झूठा ज्ञान कैसे हुआ ? यह तो सत्य ज्ञान हुआ। तो जिस ज्ञानमे दूसरे ज्ञानसे बाधा न आये, वह तो सत्यज्ञान है और जिस ज्ञानमे दूसरे ज्ञानसे बाधा आये वह असत्य ज्ञान है। यह सिद्धान्त आचार्यदेवने रखा है।

पूर्वपक्षकार द्वारा बाधकप्रत्ययके निराकरणका उपहास—अब बाधक ज्ञानकी मान्यताके प्रतिपक्षमे शङ्काकार द्वारा कुछ युक्तियाँ चलेंगी उन्हे ध्यानसे सुनना कि वह कैसी युक्ति देकर सही बातको भी झूठ साबित करना चाहता है। सिद्धान्त यह रखा गया है कि जिस ज्ञानके पश्चात् बाधक ज्ञान नही बनता वह तो सत्य है और जिस ज्ञानके पश्चात् बाधक ज्ञान बनता है वह असत्य है। शङ्काकार पूछ रहा है कि इस बाधक ज्ञानने हर क्या लिया ? जैसे एक दृष्टान्त रख लो किसी ठूठको कुछ अँधेरे उजेलेमे मनुष्य समझ लिया और बादमे कुछ उसके निकट जानेपर यह ज्ञान बना कि यह मनुष्य नही है, यह तो ठूठ है, तो यह जो दूसरा बाधक ज्ञान बना इसने वहाँ हर क्या लिया ? इस बाधक ज्ञानने ज्ञानका अपहरण तो किया नही क्योकि वह ज्ञान तो प्रतिभात हो चुका। वह तो जब जाननेमे आया था तब आ गया था अब यह दूसरा ज्ञान है। अपहरण तो तब हो जब कुछ हो। वह तो पूर्व ज्ञान था, यह उत्तर ज्ञान बना। तो बाधकज्ञानने ज्ञानका अपहरण नही किया। फिर एक चुटकुलेमे शङ्काकार कहता है कि विषयापहार करना तो राजावोका धर्म है और फिर अमूर्त ज्ञान विषयोका कैसे अपहार करे। तो विषयका भी इस बाधक ज्ञानने अपहरण नही किया, और फलका भी ज्ञानने अपहरण नही किया। जैसे मरुस्थलमे दूर चमकती हुई रेतमे जलका भ्रम हो गया और कुछ उसके निकट जानेपर यह ख्याल बना कि यह जल नही है यह तो रेतीली जमीन है तो इस बाधक ज्ञानने फलका अपहरण क्या किया ?

पूर्वपक्षकार द्वारा पदार्थ या ज्ञानकी बाधकताका विकल्प—शकाकार ही बाधक प्रत्ययके निराकरणमे एक दूसरी बात यह पूछ रहा है कि अच्छा अब यह बतलावो कि बाधक भी जो बना वह ज्ञान बना कि पदार्थ बना ? जो पहिले झूठा ज्ञान बना था ठूठमें कि यह पुरुष है तो वह बाधक ज्ञान बना कि पदार्थ बाधक बना ? वह ज्ञान बाधक होता होगा, क्यो जी पदार्थ तो बाधक होनेमे समर्थ नही हुआ करता है। जैसे पहिले जाना कि यह घट है और बादमे जाना कि यह कपडा है तो वह कपडा पदार्थ बाधक हुआ या ज्ञान बाधक हुआ ? पदार्थ बाधक नही हुआ, बाधक हुआ ज्ञान यदि पदार्थको बाधक मानोगे तो कोई व्यवस्था ही न बन पायेगी। हाँ यदि पदार्थ प्रतिभासमे आ गया तो बाधक हुआ और सत्यता उसने कायम करदी। तो प्रतिभात अर्थ तो अपने ज्ञानकी सत्यता ही बनाता है। यदि कहो कि बिना ही प्रतिभासमे आये हुए पदार्थ बाधक बन जाता तो यह तो परस्परमे बडा विरोध है। क्या जो

पदार्थ नही है यह भी किसीका बाधक होता है ? जो असत् है, अप्रतिभात है वह तो किसीका बाधक बनना ही नही । इस कारण बाधक ज्ञान कुछ चीज नही ।

शंकाकार द्वारा क्षेत्र काल व जीवोके आश्रय बाध्यबाधक भावका विकल्प— अब फिर और पूछा जा रहा है शङ्काकार द्वारा ही जरा कि यह तो बतवो कि किसी समय किसी जगह किसी आदमीका बाध्यबाधक भाव बननेमे ज्ञानकी सत्यासत्यताकी व्यवस्था बनती है या सब जगह सब जीवोंमे बाध्यबाधक भाव बननेसे व्यवस्था बनती है । इसमे दो विकल्प रखे यदि कहो कि कभी कही किसीके बाध्य-बाधक ज्ञानसे सत्यासत्यताका परिचय हो जायगा तो यह व्यभिचारी और बात है । किसीको कभी कही बाध्य बाधकताका ज्ञान हो और किसीको सत्यासत्यताका निर्णय हो या उसे ही अन्यत्र अन्यदा निर्णय हो यह तो पोची बात है इस हेतुसे तो मिथ्या-ज्ञानमे भी प्रमाणता हो बैठेगी । यदि कहो कि सर्वदा सर्वत्र सबको बाध्यबाधक भाव का अव बोध होनेपर सत्यासत्यताका निर्णय होता है तो यह तो बिल्कुल ही कठिन बात है । यह तो होता भी नही कि सर्वदा सर्वत्र सबको बाध्यबाधक भावका निर्णय हो कदाचित् मान भी लो कि ऐसा हो भी गया तो हम आप कोई छद्मस्था तो निर्णय कर ही नही सकता कि सर्वत्र सर्वदा सबको बाध्यबाधक ज्ञानका निश्चय हो गया है । कोई जान ले तो वह वीतराग सर्वज्ञ होगा उसे निर्णयका विकल्प करनेकी आवश्यकता क्या है । यथार्थ बात तो यह है कि ज्ञानमे प्रमाणता अपने स्वपरव्यवसायित्व स्वरूपके कारण है ।

ज्ञानकी बाध्यबाधकताकी असिद्धिका शङ्काकार द्वारा प्रयत्न— यह सिद्धान्त रखा गया था कि जिस ज्ञानपर बाधक ज्ञान बने वह ज्ञान तो असत्य है और जिस ज्ञानपर बाधक ज्ञान न आये उस ज्ञानको सत्य ज्ञान कहते हैं । जैसे सीपको चाँदी जाना, इसके बाद परीक्षा करने से जो कुछ और विशेष निर्णयरूपसे ज्ञान होता है कि यह तो सीप है, चाँदी नही है । तो पहिले जो ज्ञान हुआ था उस ज्ञानमे बाधा आ गयी अब । द्वितीय ज्ञान बाधक बना और प्रथम ज्ञान बाध्य हुआ । वह ज्ञान असत्य हुआ । जो बाधक ज्ञान बना वह सत्य है । जैसे जितने मनुष्योको निरखते हैं उनमेसे किसीको पहिले जाना कि यह फलाने हैं और बादमे जाना कि यह फलाने नही हैं तो यह सत्य ज्ञान है । इसपर शङ्काकारने कुछ विकल्प बनाकर उसको बिगाडनेका प्रयास किया कि बाधक ज्ञान के द्वारा हरा क्या जाता है ? ज्ञान विषय अथवा फल ? और इसके अतिरिक्त यह बात रख रहा है कि सब जगह सब पुरुषोको बाधक ज्ञान बने तब पूर्व ज्ञान सत्य कहलायेगा या किसी पुरुषको किसी समय बाधक ज्ञान बने तो सत्य कहलायेगा । जैसे सीपको चाँदी जाना तो एक दो पुरुषोका ही बाधक ज्ञान बन कि यह चाँदी नही है सीप ही है । क्या इतने मात्रसे सत्यकी व्यवस्था होगी या उस पूरेमे सब देशके लोग सब समय सभी लोग उसे जान जायें कि यह चाँदी नही है, सीप

है ऐसा बाधक ज्ञान बने तो असत्य है। दो प्रश्न रखे गए थे। कभी किसी समय किसी के बाधक ज्ञान बनानेकी व्यवस्था करोगे तो किसीके बाधक ज्ञान बनता है किसीके नही बनता तो इसमे सत्य और असत्यकी व्यवस्थाका मिश्रण हो जायगा और यदि सब लोग उसमे बाधक बनें तब सत्यकी व्यवस्था हो तो यह तो यहाँ असम्भव है कि सब लोग जान जायें कि यह चाँदी नही है सीप है जब हमारा ज्ञान मिथ्या कहलाया तो यह तो असम्भव है। और, जो जान गया वह सर्वज्ञ है, उसका यहाँ व्यवहार नही अतएव बाधक ज्ञानकी सिद्धि नही होती।

बाध्यबाधक ज्ञानकी असिद्धिके पक्षके समाधानमे विषयकी एकता व भिन्नताका विवरण—शङ्काकारने बाध्य बाधक ज्ञानकी असिद्धिके लिये अपना पक्ष रखा था। उसके उत्तरमे आचार्यदेव कहते हैं कि इतने विकल्प उठाये वह सब गहन अधकारका विलास है। एक सच बातको तोडनेके लिए बाधा उठाई गई है। वहाँ भी किसीकी बातका तोड मरोड करना हो तो उसमे कई प्रश्न कर डालें, यह उपाय है। तो विकल्पोसे एक उलझन पैदा कर दी जाती है। यह विकल्पोकी उलझन डालना गहन अज्ञानका फल है, क्योकि स्पष्ट सबको अनुभव होता है कि जो सीपको चाँदीका ज्ञान किया था उसके बाद फिर सीपके रूपसे जो ज्ञान बनता है वह उसको ही विषय कर रहा है और वह रजत ज्ञान बाध्य हो गया, और यह जो सीप है ऐसा उत्तर ज्ञान बना वह बाधक बन गया। विषय एक ही रहा प्रत्यक्षमे आखोसे दिखने वाली वस्तुके ही बारेमे पहिले विपर्ययज्ञान हुआ था और उस ही वस्तुके बारेमे अब सत्यज्ञान बना है तो इसमे बाध्य बाधकपनेके जो विकल्प बने वे सब तुम्हारे वितडावाद हैं। ज्ञान ही ऐसा बना जो पूर्वमे जाना है उसके विपरीत अर्थको बतावे तो विपरीतसे विपरीतको बतादे उसीके मायने है बाधक ज्ञान। कुछ पहिले जाना था उल्टा अब उससे भी उल्टा जान ले ऐसा ज्ञान बने तो उसे कहते हैं बाधक ज्ञान और पूर्वज्ञानमे जो इस बातका प्रतिप दन बना कि यह था असत् था इसीके मायने हुआ बाध्यज्ञान। तो यो भेद है, सब पदार्थ न्यारे-न्यारे है। ऐसा नही है कि जगतमे कोई एक ही ब्रह्मतत्त्व है और ये पदार्थ कुछ भी नही हैं यह बात कुछ नही है। सर्व पदार्थ उन सब पदार्थोमे हम एक साधारण धर्म देखकर अभेदका ज्ञान कर लेते हैं और जब स्वरूपका अवधारण करते, सबके स्वरूपका निश्चय बनाते तो सब भिन्न-भिन्न ज्ञान होते ही हैं।

बाध्यबाधकपनेकी सभवता व प्रयोजन—अब शङ्काकार यह कह रहा है कि जो पहिले सीपको चादी जाना था और उसके बाद यह ज्ञान बना कि यह चाँदी नही है, यह तो सीप है तो यहाँ जो पहिले च.दीका ज्ञान हो गया था वह तो उत्पन्न हो गया। जो उत्पन्न होकर अपना काम कर गया, नष्ट हो गया, अब जो ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो गया उसके बारेमे फिर बाधक बाध्य ज्ञान कहना यह तो ऐसा है कि जैसे साँप निकल गया और लकीर पीट रहे हैं। जो ज्ञान पहिले हो गया था वह होकर

नष्ट हो गया। अब दूसरा ज्ञान नष्ट हुआ है तो अब इस ज्ञानने उस ज्ञानमें बाधा डालना एक सांपकी पीटनेकी तरह है। अब जो ज्ञान गुजर गया उसको मिथ्या कह देना इसमें क्या फायदा है? इसका उत्तर देते हैं कि यह फायदा क्या है, जो ज्ञान गुजर गया उसे मिथ्या ज्ञानको मिथ्या बता देना यह बाध्यपना है और प्राप्तलाभ यह है कि फिर यथार्थ प्रवृत्ति बनेगी, विरुद्ध प्रवृत्ति न बनेगी। सीपको चांदी जान लिया था और अब जान गए और तो वहां भिड़ना तो न पड़ेगा, दौड़ना तो न पड़ेगा, तो फायदा भी है। मिथ्याज्ञान मिथ्या है यह ऐसा बोध हो जानेमें लाभ है भी। यह बाध्यपना है कि उसको मिथ्याज्ञान कह दिया।

बाध्यबाधकता की असिद्धिमें अविद्या और विद्याकी सिद्धिकी असंभवता - शङ्काकारका यह प्रयोजन था कि जो ज्ञान गुजर गया अब उस ज्ञानमें बाध्यपराकी बात क्यों बताते? तो उत्तरमें यह कह रहे हैं कि बाध्यपना इतना ही तो है कि उस ज्ञानने यह साबित कर दिया कि यह झूठा है। कोई लाठी मारनेकी बाधा ज्ञानको नहीं दे रहा है और फिर जब तुम बाधक ज्ञानका स्वरूप ही नहीं बनने देते तो तुम अपनी अविद्या और विद्यामें बाध्यबाधकपना कैसे सिद्ध करोगे? तत्त्वज्ञान बन गया तो भ्रम न होगा। भ्रमज्ञान बाध्य है और तत्त्वज्ञान बाधक है। तो बाध्य बाधक का स्वरूप तो कुछ भी मानते हो वहाँ भी ये सब विकल्प लग जायेंगे कि बाधकके द्वारा ज्ञानका या विषयका या फलका अपहरण हुआ। तत्त्वज्ञान बाधक है और अविद्या ज्ञान बाध्य है, उनकी कैसे व्यवस्था बनेगी? इसमें बाधक ज्ञान होता है, उसमें पहिले ज्ञानमें बाधा डाल दी जाती है, तब सत्य असत्यका निर्णय होता है, और यह बात भिन्न-भिन्न पदार्थोंके माननेपर ही बन सकती है। केवल एक अद्वैतमात्रमें काहेका बाध्य और काहेकी बाधकता?

भेदसमारोपमें भी मौलिक तथ्य—शङ्काकारने जो यह कहा था कि तत्त्व तो वास्तवमें एक अभेद ब्रह्म है और फिर ये जो भेद जाने जा रहे हैं ये वैसे ही कल्पनाएँ कर डालनेसे भेद बन गए हैं। जैसे गोटोंमें सब काठकी गोट होती हैं, उसमें यदि यह कल्पना करें कि यह हाथी है, यह ऊँट है, यह वजीर है तो ये कल्पनाएँ तो समारोपित हैं। कोई है भी क्या? तो ऐसा तत्त्व अभेदरूप है और उसमें जो भेद बनाया वे सब कल्पनाएँ हैं। यह जो तुमने कहा वह अयुक्त है क्योंकि समारोपित भी भेद तब ही बन सकता है जब पदार्थ न्यारे-न्यारे जुदा-जुदा हों। निरंश आत्मा हो अथवा अन्य बाहरमें कोई वस्तु सी प्रसिद्ध नहीं है तो उसमें भेद कल्पना भी नहीं बनती इस कारण आत्माके अद्वैतके सिद्धान्तको तजकर तुम यह मान लो कि अन्तरङ्गमें भी यह मैं आत्मा हूँ और बाहर में भी ये सब पदार्थ हैं। यह प्रमाण प्रसिद्ध बात है। यहाँ यह बात सिद्ध की गई कि आत्मा भी सब है और वे अनन्त हैं और इसके अतिरिक्त अजीव पदार्थ भी ये सब हैं और वे भी अनन्त हैं। केवल एक ही आत्मतत्त्व हो, ब्रह्म-

मात्र हो और वे सब असत्य हों यह बात सिद्ध नहीं होती। इसी कारण प्रमाणका जो स्वरूप कहा गया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय करे वह ज्ञान प्रमाण होता है यह स्वरूपयुक्त है। अपूर्व अर्थ दुनियामे अनेक हैं और जब हम किसी नवीन अर्थका परिचय करते हैं तो हमारा वह विज्ञान प्रमाणभूत है। यह सब बात स्याद्वाद से सिद्ध होती है।

निर्णयका साधन स्याद्वाद—जैन सिद्धान्तमें सबसे अधिक प्रमुख बात तो यह है कि संसारके संकटोंसे छूटकर मुक्तिमे पहुँचनेका सही मार्ग बताना और इसकी व्यवस्था बनती है स्याद्वादसे। जब तक वस्तुका यथार्थ स्वरूप ज्ञानमे न आये तब तक हम सन्तोषसे, शान्तिसे निर्णय किए हुएकी स्थितिमे जो सत्य विश्राम मिलता है उस ढङ्गसे अपनी तृप्ति नहीं कर सकते। सत्य ज्ञानसे ही मुक्तिका मार्ग मिलता है और वह ज्ञात होता है स्याद्वादसे। देखिये ! कुछ भी बात कहो उसमे स्याद्वाद पडा हुआ है और कुछ भी कहो उसमे ७ भंग रहा करते हैं। चाहे कोई उन्हे समझे या विकल्पमे भी न लाये मगर उसमे ७ भङ्ग तक हो सकते हैं।

भगोका करणबीज —ऐसे ही यदि मान लो चार पदार्थ हैं स्वतंत्र तो उनके १५ स्वाद बनेंगे। और, इसका नियम यह है कि जितने स्वतंत्र पदार्थ हुए उतने बार दो दो रख दो। ४ स्वतंत्र चीजें हैं तो चार बार दो दो रख दो उनका परस्परमें गुणा कर लो तो २×२×२×२=१६ और उसमेंसे १ घटा दो। यों १५ स्वाद बनेंगे। तुम्हें ८ का स्वाद जानना है, ८ पदार्थ हैं। ८ बार दो दो रख दो, उनका परस्परमें गुणा करके जो कुछ आये उनमेंसे एक घटा दो यों उतनी प्रकारके भंग हो जायेंगे। जब यहाँ मूलमें तीन भंग हैं तो तीन बार दो दो का गुणा हुआ २×२×२=८ और इनमेंसे एक कम हो गया तो ७ रह गए। कुछ भी आप शब्द बोलो सही भी लौकिक पारमार्थिक बोलनेके साथ ही उसमें ७ भंग आ जाते हैं। सप्तभंगी स्याद्वाद ऐसे प्रत्येक बोलनेके साथ जुड़े होते हैं। यह खोज जैन सिद्धान्तमें मिलती है। फिर इस स्याद्वाद के सहारे वस्तुवोंका निर्णय बनाते जाइये। पदार्थ है है के साथ ही उसमें ७ भंग होते हैं।

नित्यत्वके कथनमें सात भंग – पदार्थ सदा रहते हैं या क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं ऐसे विकल्पोंके बीच किसीने एक कोई तत्त्व रख दिया। पदार्थ नित्य है तो उसके साथ अनित्यपना भी जुड़ा है। पदार्थ यदि द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तो परिणमन दृष्टिसे अनित्य है। यह जीव सदा रहता है तो क्या यह जीव मिट जाय ऐसा नहीं होता ? पर्यायमें होता है। आज जो मनुष्य है, मिटकर देव बन गया तो तब वह जीव नहीं रहा ऐसा लोग भी कहते हैं। और लोग तो एक ही जीवनमें कह डालते हैं। जिससे आपकी कल तक मित्रता रही आज अभी थोड़ी देर पहिले कोई विसम्वाद खड़ा हो गया, विवाद बढ़ गया, कुछ कपट भी नजर आने लगा तो आप ही यह कह देते कि अब वह नहीं रहा जो पहिले था। लो ऐसी बदल तो जीवनमें भी लोग समझते रहते हैं। तो पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है, द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है। मगर एक साथ नहीं कहा जा सकता बस कारण अवक्तव्य है। यों तीन स्वतंत्र भंग होनेपर चार संयोग भंग और आ जाते हैं।

स्याद्वादसे विसवादका भी समाधान अभी तो भंगोकी बात कही। अब जीव जीवमें विसम्वादोंमें निर्णयकी बात देखिये। स्याद्वादी कैसा झट सही निर्णय कर देता है। यह पूछा किसीने कि इस घोड़ेका रंग सफेद है ना, तो यह सफेद रंग घोड़ेसे भिन्न है कि अभिन्न है ? विकल्प ऐसी चीज है कि यथार्थ ज्ञान न हो तो सभी बात में भी उलझन बना देता है। घोड़ेका यह सफेद रंग घोड़ेसे जुदा है कि एकमेक है ? यदि जुदा है तो फिर वह घोड़ा रंगरहित रह गया, फिर उस घोड़ेका क्या स्वरूप ? यह एकमेक है तो चाहे सफेद कह दो चाहे घोड़ा कह दो दोनोंका एक अर्थ होना चाहिए। अब इसका निर्णय बनायें। स्याद्वादी निर्णय बनाता है कि यह घोड़ेका सफेद रंग घोड़ेसे कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है। अभिन्न तो यों है कि सफेद रंग यह

उस घोडेका व्यक्त लक्षण है। लक्षण भावसे तो अभिन्नता है और घोडा पिण्ड चिर-काल तक रहेगा पर यह सफेदी आज है कल कहो न रहे इस कारण वह सफेदी घोडे से भिन्न है। किन्तु, रूपशून्य कोई पुद्गल होता नही। और, जिस कालमे घोडामे सफेद रूप है उस कालमे यह रूप घोडेसे अभिन्न है।

विकल्पोके उलझनकी जिज्ञासा और समाधान—यो विकल्प करके तो कुछ भी गडबडी डाल सकते हैं। किसीसे पूछा जाय—हो पिता पुत्र दोनो और उनसे कहा जाय कि क्या यह तुम्हारा पिता ही है ? अगर कहे कि हाँ यह हमारा पिता ही है, तो यह विकल्प करने लगे कि भूतकालमे भी सदासे पिता ही रहा, भविष्यकालमे भी क्या सदा पिता ही रहेगा ? अनादिकालसे तुम हो तो क्या तभीसे यह तुम्हारा पिता है ? और, कहे कि पिता नही है तो वह भी वडी कठिन वात है। विकल्प ऐसा खतरनाक प्रकरण है कि सच बातमे भी कहो एक वडी उलझन डाल दे। कोई पूछता है कि भाई आप कहाँ से आये ? और, वह जवाब दे कि हमे तो पता नही कि कहाँसे आये तो यह उसका जवाब क्या गलत है ? वह तो सही है। वह इस दृष्टिसे कह रहा है कि न जाने पहिले हम किस गतिमे थे, मनुष्य थे कि पशु पक्षी थे कि कीडा मकोडा थे, क्या पता कहाँसे आये। दृष्टियाँ तो सब न्यारी-न्यारी होती हैं। और, व्यवहार भी चलता रहे तब दृष्टियोके भेदसे निर्णय बनना यह बात तो युक्ति सङ्गत है। तो सर्व पदार्थोंके स्वरूपमे स्याद्वादसे निर्णय सही बनता है।

स्याद्वादसे पारगत पारमार्थिक तत्त्व—परमार्थकी बात इससे भी और ऊँची है, स्याद्वाद द्वारा निर्णय कर दिया जानेसे भी ऊँची है, किन्तु भावका ज्ञान व आदर किये बिना उसका लाभ नही मिलता। जैसे किसीने कहा भाई—इस घोडेको पानी दिखा लेना, वह घोडेको पानीके निकट ले जाय और कहे कि ऐ घोडे ! देख ले वह पानी और फिर लौट चल तो यह तो एक व्यर्थ सी बात हो गयी। ऐसे ही स्याद्वादके द्वारा निर्णय तो हम कर लेते है कि कथचित् नित्य है कथचित् अनित्य है, पर इस निर्णयका फल क्या है ? इस निर्णयका फल है कि सर्व विकल्प तोडकर निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लेना। यह बात न बने तो हमारे इस निर्णयसे भी अभी लाभ नही हुआ। लेकिन फिर भी भला यो है वह निर्णय कि जैसे कोई कजूस धनी है तो उस कजूस धनीसे फायदा कुछ नही है। न घर वाले सुखसे रह पाते और न प्रजा के लोगोको कुछ लाभ होता, लेकिन है कजूस अभी, पर धन तो है पास। कभी बात बदल जाय, मनमे आ जाय, उदारता जग जाय तो अपना और दूसरोका भला तो कर सकेगा। ऐसे ही स्याद्वादके द्वारा जो वस्तुस्वरूपका निर्णय होता है उस निर्णयके बाद यदि निर्विकल्प समाधिका आनन्द न लिया जा सका तब भी भला इतना है कि उस निर्विकल्प समाधिका आनन्द पानेका मूल तो प्राप्त है। जब कभी स्वसम्मुखता बनेगी तो निर्विकल्प ज्ञानानुभूति की जा सकेगी।

परमार्थकी अनेकान्तता –अभी मिलसिलेमे आप अनेकान्तका अर्थ कर लीजिए। अनेक अन्त। अन्त नाम है धर्मका। पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं, नित्य भी हैं, अनित्य भी है, एक है, अनेक है। यों अनन्तधर्मात्मक पदार्थ है ऐसा निर्णय करनेका नाम हुआ अनेकान्तका ज्ञान। और उनके फलमे क्या मिलेगा ? उस फलको जाननेके लिए अनेकान्तका दूसरा अर्थ कर लीजिए। न एक अन्त। "न एक" शब्दसे अनेक बनता है। उसका अर्थ कीजिए कि जहाँ एक भी धर्म नहीं है ऐसा अनुभव। जिस निर्विकल्प ज्ञानानुभवकी स्थितिमें एक भी विकल्प नहीं रहते उसे कहते हैं अनेकान्तका अनुभव। तो यह सब तत्त्वज्ञान इस लिए हैं कि संसारके प्राणी अनादिकालसे अविद्या के कारण भ्रमवश पर्यायबुद्धि होकर जन्म मरण करते जा रहे है, दुःखी हो रहे हैं। यह मैं क्या हू वास्तवमे इसका तो परिचय करते नहीं और शरीर आदिक जो कुछ मिला है इस ही पर्यायमे अपनी आत्मबुद्धि लगाया तो उसका यह फल निकलता, निमित्त नैमित्तिक भावसे यह बनता कि कर्मबन्ध होता फिर इस भवका मरण होता, दूसरे भवमे उत्पाद होता। और, जब शरीर है तो शरीरके आश्रयसे क्षुधा, तृष्णा, सम्मान अपमान अनेक–अनेक प्रकारके क्लेश लग जाया करते है। इन सब क्लेशोंसे छूटनेका काम हम आप सबको मुख्य पडा है। केवल इस भवकी व्यवस्था बनानेसे काम न चलेगा। अच्छा मकान, अच्छी दूकान, अच्छा परिवार आदि बना लिया, चार आदमी आदर करने लगे, इतनेमे ही काम न बनेगा। ये सब स्वप्नवत् बातें हैं। मर गये, आगे क्या बीतेगी। जो जैसा परिणाम किया और उस परिणामके अनुकूल जैसे कुछ कर्म बँधे सो उनका फल नजर आयगा। यदि इस जीवनके सुख सातामे ही चैन मान लिया तो यह बात ठीक नहीं है।

आत्मनिर्णयमे भलाई - अपने आपका निर्णय करना बहुत आवश्यक है। यदि अपने इस ज्ञानस्वरूप सहजभावमे यह मैं हू ऐसी प्रतीति बने और इसके ही निकट अपने ज्ञानको बिठाये रहे तो उसमे कर्मबन्ध रुकेगा, विकल्पजाल समाप्त होगा, और जन्म मरणकी परम्परा भङ्ग हो जायगी, तो इस संसारसे छूटनेका काम सबसे बडा पडा हुआ है। जरा–जरासे विषय कषायकी भावनाओसे प्रेरित होकर यहाँके इन दृश्यमान पदार्थोमे कुछ पकडनेकी हठ बनाना यह तो निःसार बात है। हाँ एक जीवन निर्वाहके लिये कुछ न कुछ करना वह तो बात ठीक है, पर व्यर्थमे पर पदार्थोंके पीछे दौड लगाना यह तो कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। एक आत्मध्यान ही करना योग्य है। इस आत्मध्यानके द्वारा ही संसारके आवागमनसे छुटकारा मिल सकेगा। इस ही प्रयोजनके लिए दार्शनिकोंने अपने–अपने मतव्य रखे है और उन सब मतव्योंका इसी कारण विचार चल रहा है कि मेरा सत्य आशय क्या बनना चाहिए जिससे हम इन संसारके संकटोंसे शीघ्र छुटकारा पा सकें।

मात्र अद्वैतकी असाध्यता –लोकमे तत्त्व क्या है जिसका कि ज्ञान प्रमाण

माना जाय, इस प्रसङ्गमें सिद्धान्त तो यह रखा गया था कि लोकमें तत्त्व अथवा पदार्थ अनन्त हैं और उनमें एक स्व है और अनन्त पर हैं। जो भी जानने वाला है उसके जाननेमें जितने पदार्थ आ सकते हैं उसे इन दो विभागोंमें बाट लेना चाहिए स्व और पर। स्व तो सबके लिए एक एक ही होता है और पर अनन्तानन्त होते हैं। उन सबका निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। इस प्रसगमें अभी ब्रह्माद्वैतका सिद्धान्त आया था कि तत्त्व तो केवल एक ब्रह्म मात्र है और उसकी मीमासतामें यह विचार प्रतीत किया था कि केवल एक ही अद्वैत कुछ हो, ऐसा नहीं है किन्तु अनन्तानन्त पदार्थ हैं उस अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है।

ज्ञानाद्वैतवादका एक मन्तव्य - ब्रह्माद्वैतवादीके पश्चात् ज्ञानाद्वैतवादी कह रहे हैं कि बुद्धिके सिवाय जिनमें कुछ जाननेवाले हैं व कुछ जाने गते हैं इस प्रकारका भी विभाग न होनेसे केवल बुद्धि ही प्रतीत होती है, बुद्धिसे अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं ही नहीं। अत. केवल एक विज्ञानमात्र तत्त्व मानना चाहिए। और, उस विज्ञानमात्र का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण होना चाहिए। ऐसा यहाँ अद्वैतवादने अपना पक्ष रखा। इस प्रसङ्गमें इतना और जान ले कि ब्रह्मवाद और ज्ञानवादमें अन्तर क्या है? ब्रह्माद्वैतवादमें तो कोई वस्तु माना, प्रतिभास तत्त्व माना, आत्मा माना है और उसे सर्वव्यापक और एक ही माना है। यहा ज्ञानाद्वैतवादमें आत्मा माना किन्तु एक ज्ञान-मात्र ज्ञानभाव जानकारीमात्र और फिर उसका अद्वैत किया गया। यद्यपि यह विज्ञानवाद क्षणिकवादका ही भेद है, किन्तु इतना अन्तर है यहाँ कि क्षणिकवादके एक प्रमुखभेदमें तो पदार्थ नाना माने जाते हैं और यहाँ तक नाना माने जाते कि रूप, रस, गध, स्पर्श सब कुछ न्यारी-न्यारी चीजें हैं और वे क्षणमात्रको ठहरती हैं। विज्ञानाद्वैतवादमें क्षणिकपना तो माना है कि प्रत्येक ज्ञानमात्र तत्त्व क्षणभरमें आता है पश्चात् नष्ट हो जाता है, लेकिन ज्ञानके सिवाय अन्य पदार्थोंको नहीं माना। तो ज्ञानाद्वैतने धर्मका अद्वैत किया और ब्रह्माद्वैतने धर्मीका अद्वैत किया। यो अन्तर समझिये, जैसे कि आत्मा और ज्ञान। आत्मा तो गुणपर्यायात्मक एक वस्तु है धर्मी है और ज्ञानदर्शन आदिक गुणोंकी भाँति एक धर्म है। तो ज्ञान धर्मका अद्वैत किया गया और उस ज्ञानको भी क्षणिक माना। तो ज्ञानाद्वैतवादमें यह बताया जा रहा कि ग्राह्य और ग्राहक भेदके बिना ही ज्ञानस्वरूप तो प्रतीत होता है, उसे छोड़कर और पदार्थ सद्भूत नहीं है इस कारण एक विज्ञप्तिमात्र ही तत्त्व है।

कारण तुम ज्ञानमात्र तत्त्व मानते हो। यदि यह कहोगे कि निर्विभाग ज्ञान स्वरूपको सिद्ध करने वाला प्रमाण है इस कारण विज्ञप्तिमात्र तत्त्व है, तो पूछते है कि निर्विभाग जानकारीको बताने वाला जो विज्ञप्तिमात्र तत्त्व है उसका ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण है या अनुमान। अर्थात् क्या तुम प्रत्यक्षसे जान लेते हो कि केवल ज्ञान मात्र तत्त्व है अथवा तुम अनुमानसे जानते हो कि केवल ज्ञानमात्र तत्त्व है। दो प्रमाण के अतिरिक्त और कोई प्रमाण ज्ञानाद्वैतवादमे, क्षणिकवादमे नही माना गया है।

विज्ञप्तिमात्रकी प्रत्यक्षसे असिद्धि – क्या प्रत्यक्षसे स्वरूप सिद्ध करोगे कि केवल ज्ञानमात्र तत्त्व है। यदि प्रत्यक्षसे सिद्ध करना चाहो तो यह बात तो बिल्कुल अयुक्त है क्योकि बाहरी पदार्थकी कुछ झलक ही नही आयी, उसका रंच भी सस्पर्श नही हुआ, केवल विज्ञप्तिमात्र है तत्त्व ऐसा ज्ञान जाय प्रत्यक्ष ऐसा किसीको नही होता सभी लोग प्रत्यक्षसे पदार्थोंका सद्भाव ज्ञात किया करते हैं। फिर दूसरी बात यह है कि पदार्थोंका अभाव है, अन्य कोई भी पदार्थ नही है ऐसा निश्चय किए बिना ज्ञान मात्र तत्त्व है यह निर्णय नही बनाया जा सकता। तुम्हे यह सिद्ध करना होगा कि पदार्थोंका अभाव क्या प्रत्यक्षसे जाना जायगा अथवा अनुमानसे जाना जायगा। प्रत्यक्ष से तो जाना नही जाता। प्रत्यक्ष पदार्थोंके अभावको नही जानता बल्कि पदार्थोंके सद्भावको जानता है। प्रत्यक्षके बाह्य अर्थकी प्रकाशकरूपसे ही परिणति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान बाहरी पदार्थोंको बराबर जानता है और प्रत्यक्षमे जो बात आयी है, जिस पदार्थका प्रतिभास हुआ है उस पदार्थका तुम अभाव नही कह सकते, क्योकि प्रत्यक्षमे आये हुए इस पदार्थका भी यदि अभाव मान लिया जाय तो ज्ञानमात्र तत्त्वका भी अभाव मान लो। भले ही ज्ञानमे आ जाय पर ज्ञानमे आयी हुई चीजका भी अभाव माना जाने लगा तो ज्ञानमात्र तत्त्वका भी अभाव हो जायगा। यहाँ पूर्व पक्ष तो यह है कि केवल ज्ञान ही तत्त्व है और पुद्गल है जीव है, और और पदार्थ हैं, ये कुछ नही हैं ऐसा शंकाकारका पक्ष है। और, उत्तरमे यह सिद्ध किया जा रहा है कि नहीं ज्ञान तो एक गुण है, ज्ञानवान आत्मा है और ज्ञानरहित भी अनन्य पदार्थ हैं, और उन उन ज्ञानी और ज्ञानरहित समस्त पदार्थोंका जो भी ज्ञान होता है यदि उसमे सम्वाद है उसमे बाधकज्ञान नही बनता, संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय नही हो तो वह ज्ञान प्रमाणभूत है। तो अर्थका अभाव प्रत्यक्षसे तो नही जाना।

विज्ञप्तिमात्रकी सिद्धिमे दिये गये दृष्टान्त व साधनोसे द्वैतकी सिद्धि– यदि यह कहो कि जैसे आँखमे कोई दोष काच कमल आदिक हो तो उसे दो चन्द्रमा ज्ञानमे आते हैं। तो जैसे चन्द्र दो तो नही हैं, पर प्रतिभासमे आनेपर तो प्रतिभासमे आनेपर भी ये सब पदार्थ झूठ है। दो चन्द्र नही हैं, इसी तरह निर्मल भी मन हो उससे भी जो प्रतिभास होगा वह भी असत् हो जायगा, यह बात तो नहीं बनती। दोषीक इन्द्रियाँ हैं, तो उनसे मिथ्याज्ञान बनेगा। निर्दोष इन्द्रियाँ है, निर्दोष मन है

तो उससे मिथ्याज्ञान नही बनता। एक जगह यदि यह बात झूठ हो गयी तो सब जगहकी सच सच बात भी झूठ हो जाय यह कौन बुद्धिमान मानेगा ? जो आँखोमे रोग था उसके कारण दो चन्द्रमा दिखते थे, तो दूसरोके द्वारा या खुद भी अच्छी निगाह करके देखता है तो उसको यह ज्ञान बनता कि चन्द्र एक ही है। तो दो चन्द्र के ज्ञानमे बाधक ज्ञान बना दूसरा अतएव वह मिथ्या है, मगर जो सत्य प्रतिभासका बाधक है ये समस्त पदार्थ जो प्रत्ययमे आते हैं, निर्मल मन और निर्मल इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थ ज्ञात होते है वे अबाध्यमान प्रत्ययके विषय है। ठीक सही सही जानते जा रहे, यह चौकी है, यह अमुक है यह पुद्गल है यह जीव है, इसमे कोई बाधक ज्ञान नही बनता। जैसे कि दो चन्द्र दिख गये अथवा सीपको चाँदी जान गए तो वहाँ दूसरा बाधक ज्ञान होता है, यह ज्ञान सही नही है। बात असलमे यह है। तो इस सत्य प्रतिभासमे कोई बाधक ज्ञान भी दूसरा नही आता अतएव इसका तो सत्त्व है। इस कारण अर्थका अभाव प्रत्यक्षसे जाना जाता, यह कथन तुम्हारा युक्त नही है जिससे कि तुम ज्ञानमात्र ही तत्त्व है लोकमे यह सिद्ध करना चाहते।

अनुमानसे भी पदार्थोके अभावकी असिद्धि—अर्थका अभाव अनुमानसे भी नही बनता क्योकि जिस तत्त्वमे प्रत्यक्षसे विरोध आ गया उस अनुमान ज्ञानमे फिर प्रमाणता नही बन सकती। जैसे आग गर्म है यह प्रत्यक्षसे जाना जा रहा है और फिर भी हम उसमे अनुमान बनायें कि आग ठंडी होती है पदार्थ होनेसे, तो जो प्रत्तक्ष बाधित बात है उसमे अनुमान नही चला करते। सायद यह कहो कि बाह्य पदार्थोका मत लाने वाला ज्ञान तो भ्रान्तिपूर्ण है, उसमे अनुमानमे बाधा न आयगी यह कहना भी ठीक नही क्योकि इसमे तो अन्योन्याश्रय दोष है। जब पदार्थोका अभाव सिद्ध हो जाय कि पदार्थ है नही फिर उनका ज्ञान करे तो कह सकते कि यह ज्ञान भ्रान्त है और जब यह ज्ञान भ्रान्त सिद्ध हो जाय तब यह दृष्टि बनेगी कि पदार्थो के अभावका अनुमान कर लिया उसमे भ्रान्त प्रत्यक्षज्ञानसे कोई बाधा न आयगी। तो अनुमानसे भी पदार्थोका अभाव सिद्ध नही होता।

अर्थाभावक अनुमापक हेतुवोकी असिद्धि—पदार्थोका अभाव सिद्ध करने वाले अनुमानके प्रस्तावमे और भी दूसरी बात सुनिये। अनुमान जिस हेतुसे किया जाता वे हेतु तीन प्रकारके होते है—एक स्वभाव हेतु, एक कार्यहेतु और एक अनुपलब्धि हेतु। कार्यसे कारणका ज्ञान करना, जैसे धुवाँ कार्य है, अग्नि कारण है क्योकि अग्निसे धुवाँ होता है। तब धुवाँ देखकर यह निर्णय किया जाता कि यह अग्नि है, कार्य देखकर कारणका अनुमान किया जाता है। अनुमान भी एक ठोस प्रमाण। लोकव्यवहारमे लोग अनुमान शब्दकी महत्ता नही रखते। उसे यो समझ लो कि अनुमानकी बात है, उसमे कोई सचाई नही, पर अनुमानका यह अर्थ नही। ठीक युक्तियो से पूर्णरूपसे प्रमाणमे उतरी हुई बात अनुमान कही जाती है। तो कार्य देखकर

कारणका ज्ञान होना, यह अनुमान है। स्वभाव देखकर स्वभाववानका ज्ञान होना यह अनुमान है। अथवा कोई चीज नही है उसे देखकर किसी बातका अनुमान होना यह भी प्रमाण है। तो यहाँ पदार्थोंके अभावको जो तुम सिद्ध कर रहे हो तो किस हेतुसे कर रहे हो। कार्यहेतुसे तो कर नही सकते क्योकि कार्यहेतुसे विधिका अनुमान होगा। निषेधका अनुमान नही होगा। इसीप्रकार स्वभावसे भी स्वभाववानका अनुमान होगा, पदार्थके अभावका नही। और, कुछ है नही ऐसे हेतुसे अनुमान किया जाय तो अनुपलब्धि तो असिद्ध है। बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष मौजूद है फिर भी कैसे सिद्ध हुआ कि बाह्य पदार्थोंका अभाव है।

प्रतिभासस्वरूपतासे भी अर्थोंके अभावकी असिद्धि—ज्ञानाद्वैतवादी दार्शनिक यह मान रहा है कि लोकमे केवल ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप है। ये पदार्थ कुछ नही हैं। इस सम्बन्धमे ये युक्तियाँ भी देते कि ये पदार्थ ज्ञानस्वरूप ही हैं क्योकि ये प्रतिभासमे आ रहे हैं। जो प्रतिभासमे आता है वह ज्ञानस्वरूप है। जैसे सुख आदिक हो रहे हैं आत्मामे तो वे ज्ञानस्वरूप है और फिर मोटेरूपसे यो सिद्ध करते हैं कि हमारे ज्ञानमे जो न आया तो वह क्या है? सत् नही है, असत् है। हमारे ज्ञानमे आया तब कुछ है यो कल्पना होती सो यह सही रूपसे यो नही है किन्तु ज्ञानका यह आकार खडा हो गया है। दृश्यमान जो पदार्थ हैं ये पदार्थ ये ही के ये ही सही नही हैं किन्तु हमारे ज्ञानका यह सब आकार खडा हो गया है ऐसा ज्ञानाद्वैतमे माना है। तो उस ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि तो तब हो जब अन्य पदार्थका अभाव सिद्ध हो जाय। तो पदार्थका अभाव प्रत्यक्षसे तो सिद्ध होता नही, अनुमानकी यह बात चल रही है।

अनुपलब्धि हेतुकी अर्थाभावकी सिद्धिमे अक्षमता—यदि तुम अनुपलब्धि हेतुसे पदार्थका अभाव सिद्ध करोगे अर्थात् यो कहोगे कि ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछ पदार्थ नहीं हैं तो यह अनुपलब्धि अदृश्य अनुपलब्धि है या दृश्य अनुपलब्धि है? अर्थात् एक तो ऐसा कि पदार्थ दिखता नही उसकी अनुपलब्धि मानी यह है अदृश्यानुपलब्धि और एक पदार्थ तो है पर इस समय नहीं है। जैसे यहा घडा नहीं है तो घडा दृश्य तो है पर इस जगह नहीं है। यह है दृश्यानुपलब्धि यदि अदृश्यानुपलब्धिसे तुम पदार्थका अभाव सिद्ध करोगे तो पिशाच आदिक अनेक चीजे अदृश्य है, उन सभीका अभाव हो जायगा। दृश्यानुपलब्धि हेतुसे पदार्थोंका अभाव सिद्ध करते हो तब फिर सब जगह सब समय सर्वप्रकार अर्थके अभावकी असिद्धि है। क्योंकि, प्रतिनियत देश आदिकमे ही दृश्यानुपलब्धि अभावको सिद्ध करने वाली है। दृश्य पदार्थोंका ग्रहण नही हो रहा इसलिए पदार्थका अभाव है ऐसा यदि कहोगे तो इतनी ही तो बात आयी कि अमुक देशमे अमुक जगहमे घडा नही है, पर इससे यह तो न सिद्ध हो जायगा कि विश्वमे सभी जगह सभी समय घडा नही है। जो दृश्यपदार्थ है उसका यदि अभाव है तो वह किसी जगह तो है ही। दृश्यपदार्थका सर्वत्र अभाव नही होता। तो अनुमानसे भी अर्थ

जो इन्द्रियां हैं उनमें दोष हो जानेसे बाहरमें यद्यपि एक चन्द्र ही तो भी दो रूपोंसे ग्रहण में आ रहा है। बाह्य अर्थ तो नहीं भी है मगर इन्द्रियके दोषसे उत्पन्न हुआ ज्ञान था, उसमें बाधक ज्ञान बनता है पीछे। अतएव दो चन्द्रमा ज्ञान होना झूठ है परन्तु दे खम्भे आदिक जितने पदार्थ हैं वे तो अपना काम कर रहे हैं। क्या यह खम्भा खडा है यह झूठ है? यदि झूठ है तो छत कभी की गिर गई होती हम आप सब किसी झूठ देहमें इकट्ठे कैसे रहे होते। जो पदार्थ ये नजर आते हैं उन सबको यदि झूठ मानने लगो तो इनमें जो एक निश्चित कार्य हो रहा है वह कौन कर रहा है? स्वप्नोंसे, मायासे, कल्पनासे तो कोई नियम नहीं बनता। खम्भेका काम है बोझको सम्हाले रहना। मनुष्यका काम जो है वह ऐसा है जो बोलता है, जो करना है वह करता है तो यह नियत नियत पदार्थोंमें जो नियत नियत अर्थक्रिया हो रही है उससे तो इसकी सत्यता मालूम होती कि हां चीज है यह, तभी तो यह काम कर रहा है।

पदार्थ और ज्ञानके सहोपलम्भकी ऐकान्तिकता अभाव पदार्थका ज्ञान का एक साथ ग्रहण होता है इस कारण हम पदार्थसे और ज्ञानसे अभेद करें एकमेक बनायें पदार्थोंका अभाव सिद्ध करें और एक ज्ञानमात्र तत्त्व ही सिद्ध करना चाहें तो यहाँ एक साथ उपलब्धि भी तो सिद्ध नहीं है। पदार्थकी और ज्ञानकी एक साथ उपलब्धि होती है ऐसा ज्ञानाद्वैतवादियोंने जो तर्क दिया वह सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि कभी कभी पदार्थके बिना ही किसी ज्ञानकी भी उपलब्धि होती है। पदार्थ और ज्ञान की एक साथ उपलब्धि हो यह नियम नहीं बनता। जैसे पदार्थके ग्रहणके बिना ही जब कि इन्द्रियका व्यापार विश्रान्त हो गया उस अतीन्द्रिय स्थितिमें जो एक अलौकिक सुखका अनुभव होता है बतावो वहाँ पदार्थ क्या है? बाह्य पदार्थोंके बिना ही तो एक सुखका ज्ञान बन गया। तो पदार्थकी और ज्ञानकी एक साथ उपलब्धि भी नहीं होती।

निरंश तत्त्वकी मान्यतापर क्षणिकवादका जन्म - इस प्रकरणमें एक बात यह भी जानना कि क्षणिकवादमें पदार्थ जैसा कि अनेक दार्शनिक मानते हैं पिण्डरूप, अधिकरणरूप, आधाररूप ऐसा पदार्थ नहीं माना गया है किन्तु जैसे यह नीला दिख रहा तो बस नीला पदार्थ है, भीट कुछ नहीं है और इसका यदि रग-रग उतारा जाय, अत्यन्त सूक्ष्म कण उतारे जायें तो वहाँ कुछ चीज नहीं है। नील पीत आदिमें जो भी दिखा वह अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, पिण्डभूत पदार्थ नहीं है। वादमें केवल समयका ही टुकडा नहीं किया गया है, द्रव्यका, क्षेत्रका, कालका, भावका, सब का अश अश करके एक-एक अशको पदार्थ माना है। जैसे प्रसिद्ध यह है ना कि एक समयवर्ती जो पर्याय है वही क्षणिकवादियोंके यहाँ पूरा तत्त्व माना है। यह तो हुई कालकी अपेक्षा अशकी बात। ऐसे ही क्षेत्रकी अपेक्षा भी वे केवल एक एक प्रदेशको ही पूर्ण तत्त्व मानते हैं। अखण्ड आकाश है। कोई साधारण दो चार हाथका यह आकाश है यह एक नहीं माना गया, किन्तु क्षेत्रका जो भी एक अविभागी अश है वह

ही नही। तो तुम्हारे माननेे मात्रसे क्या होता है ? समस्त लोकको जो ज्ञान हो रहा है ऐसा यह ज्ञानान्तर याने अनेक ज्ञान यह सब तो है ही केवल मानने मात्रसे अभाव नही होता और फिर ज्ञानाद्वैतवादियोंके यहाँ भी सर्वज्ञकी स्तुति की गई है और अनेक ग्रन्थोंमे मङ्गलाचरणमे भी प्रमाणभूत सर्वज्ञके लिए नमस्कार करनेके बात कही गई है इस कारण सब कुछ है, एक साथ पदार्थ भी है, सब ज्ञान भी हो रहा है पर एक साथ होनेसे ज्ञान और पदार्थ एक न बन जायेंगे।

सहोपलम्भ होनेसे मात्र विज्ञप्तिके ही रहनेका अकारण - यदि ज्ञान व पदार्थका सहोपलम्भ होनेसे एक ज्ञानको ही मानते हो तो ज्ञान और पदार्थ एक साथ होनेसे सिर्फ ज्ञान ही क्यों रहे हम कहें कि सिर्फ पदार्थ ही रहे। तो सब हैं, सर्वज्ञ भी है, अन्य ज्ञान भी है, अनेक पदार्थ भी हैं, यदि ये सब कुछ न हो तो इनके तत्त्वकी कल्पनामे बुद्धि नही लग सकती। ये सब हैं, इसपर ज्ञानाद्वैतवादी कहता है कि भाई सबका विचार चलाते रहो। ये पदार्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, अन्यज्ञान भी हैं, इतने तो विचार किये जा रहे हैं किसलिए कि विचार करके इन्हें त्याग देवें इस कारण अदोष नहीं है। तो उत्तर दिया जाता है कि जो त्यागने योग्य चीजें है, त्यागके अङ्ग हैं उनका तो पहिलेसे ही स्वीकार न करना ही श्रेष्ठ है। सर्वज्ञका पदार्थका अनेक ज्ञानका विचार करके फिर इन्हे त्यागते हो तो उससे तो अच्छा है कि पहिलेसे ही विचार मत करें, स्वीकार मत करे। यदि यह कहेंगे कि उन स्तवनोंमे भी अद्वैतकी ही डिग्री की गई है। केवल एक ज्ञानमात्र तत्त्वकी स्तुति की है तो कोई स्तुति करने वाला हो, किसीकी स्तुति की जाती हो और स्तुति करे और स्तुति करनेका फल किसको ये चार बातें तो हो गई। अद्वैत कहाँ रहा ? तो ज्ञानमात्र ही एक तत्त्व है, पदार्थ अन्य कुछ नही है यह बात युक्त नही है।

सहोपलम्भके विकल्प और उनसे भी विज्ञप्तिमात्रकी असिद्धि — क्षणिकवादमे जो सहोपलब्धि हेतुसे केवल ज्ञानमात्र सिद्ध किया जा रहा है कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ पाये जाते हैं इस कारण ज्ञानमात्र ही एक तत्त्व है तो इस सहोपलम्भका अर्थ क्या ? क्या एक साथ पाये जानेका नाम सहोपलम्भ है ? या क्रमसे नही पाये जाते है ज्ञान और पदार्थ इसका नाम सहोपलम्भ है, या केवल एक ही चीज मिल रही इसका नाम सहोपलम्भ है। पदार्थ और ज्ञान एक साथ पाये जाते हैं ऐसा हेतु देकर तुम एक ज्ञानको ही तत्त्व मानना चाहते, पदार्थको उडाना चाहते तो एक साथ उपलम्भ होता है इसका अर्थ क्या ? क्या एक ही समयमे एक जगह एक साथ उपलम्भ होते हैं ? यह तुम्हारा यदि मतव्य है तो इसमे तो ज्ञानाद्वैत मतव्यसे विरुद्ध बात सिद्ध हुई। एक साथ रहे इसमे भेद सिद्ध हो ही गया। जैसे शिष्यके साथ गुरु आया तो दोनो एक साथ आये ना। तो जो एक साथ पायी जायें वे तो अनेक चीजें हुआ करती हैं। ज्ञान और अर्थ यदि एक साथ पाये जा रहे हैं तो इसमे तो भिन्न भिन्न

बातें सिद्ध हुईं। कोई एक मिला हुआ अनाज होता है जिसमें देखो और जो मिले हैं वे एक साथ पाये जा रहे हैं इससे क्या वे एक हो गए? एक साथ जितने पाये जावें उतने ही हैं वे सब। तो पदार्थ और ज्ञान एक साथ पाया जाता है इस कारण ज्ञान ही रह गया, पदार्थ नहीं रहा यह बात असङ्गत है। एक साथसे दो बातें कहाँ सम्भव हैं। एक साथ होना यह तो अनेक पदार्थ हों तो कहा जा सकता है। किन्तु एक ही चौकी रखी है और कोई कहे - देखो एक साथ चौकी रखी है। और अनेक बातें हों तब एक साथ शब्द बोला जा सकता है। जैसे चावल, चीनी, घी ये सब एक साथ मिल गए। तो एक साथ मिल जानेसे अनेकपना सिद्ध होता है। केवल ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं है यह सिद्ध नहीं होता।

क्रमसे उपलम्भके अभावसे, सहोपलम्भ भेदसे अभेद सिद्ध कर रहे तो अभेद स्वभाव होनेसे यहाँपर भी साध्य-साधनका सम्बन्ध नहीं बनता और फिर अनिष्ट ही सिद्ध होगा। तब भेदका प्रतिषेध होनेपर भी ज्ञानमात्र यह तत्त्व है यह बात तो नहीं बन सकती, क्योंकि तुम भेदका अभावमात्र सिद्ध कर रहे हो, ज्ञान कहाँ सिद्ध हुआ। यह क्रमसे उपलम्भका अभावरूप हेतु तो केवल अभावको सिद्ध करनेमे चरितार्थ होता है, यदि फिर भी उससे सिद्धि मानोगे तो कमसे कम ये दो बातें तो आ ही गईं कि एक जानने वाला ज्ञान है और एक जाननेमें आया हुआ तत्त्व है, दो बातें तो हो ना कमसे कम। तुम केवल सारा विश्व ज्ञानमात्र ही है यह सिद्धान्त रख रहे तो यह तो बन ही न सकेगा। बाह्य पदार्थोंकी सिद्धिका भी साधक है यह ज्ञान। सब पदार्थ है ज्ञान भी है। जगतमें दो तत्त्व है —एक ज्ञानतत्त्व और एक ज्ञेयतत्त्व। जो जानने वाला है आत्मा जो जान रहा है उपयोग वह तो है ज्ञानतत्त्व और चूँकि समस्त जितने भी पदार्थ जाननेमे आते हैं वे है ज्ञेयतत्त्व।

भेदविज्ञानसे ही कल्याणका आरम्भ – विज्ञानाद्वैतवादीका प्रयोजन तो यह था कि हम जगतको केवल ज्ञानमात्र मानें। पदार्थका निषेध करदें तो राग द्वेष मोह न बनेंगे। केवल हम ज्ञानमात्र ही तत्त्व निरखते रहे तो वहाँ विकल्प न उठेगा और मुक्ति प्राप्त हो जायगी। किन्तु लोग सत्य बातका लोप करके अपने मन-माफिक किसी तत्त्वकी हठ बनाकर कल्याण चाहे तो यह कैसे हो? यद्यपि यह मशा तो ठीक है कि हम जगतमे पदार्थ ही न कुछ मानें, केवल एक ज्ञान ज्ञान ही तत्त्व है यो मानें इससे मोह न रहेगा। लेकिन, यह तो केवल कहने भरकी बात रह जाती है। जहाँ मूलमे अज्ञार छाया है, पदार्थ है और भाँति, समझते हैं और भाँति तो वहाँ एक ज्ञान मग्नता हो कैसे सकती है? वह ज्ञान तो शकित और अधीर रहेगा। मोह राग-द्वेष मिटानेके लिये भेदविज्ञानका सहारा लेना चाहिए न कि पदार्थके अस्तित्वका ही मना करके केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, ऐसा एकान्त हठ करना चाहिए। पदार्थ हैं वे सब अपने स्वरूपमे हैं, वे सब मेरे ज्ञेयतत्त्व है,मैं ज्ञानतत्त्व हू, ज्ञेयतत्त्वसे जुदा हूँ, अनन्तानन्त बाकी सब जीव और अनन्तानन्त समस्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और असख्यात काल द्रव्य ये सब ज्ञेयतत्त्व हैं, मुझसे भिन्न है और मैं स्वय ज्ञानतत्त्व हूँ, इस प्रकार स्वज्ञानतत्त्वको इस भेदतत्त्वसे न्यारा परख कर फिर ज्ञानतत्त्वमे ही दृष्टि रखना यह तो है कल्याणका उपाय, पर पदार्थ ही कुछ नही है, केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, इसमे व्यवस्था ही नही बन सकती। जो बात जैसी नही है उसको वैसी सिद्ध करनेमे व्यवस्था नही बना करती।

विज्ञप्तिमात्रकी सिद्धिमे एकोपलम्भकी हेतुताका अभाव—ज्ञानाद्वैत-वादियोका ज्ञानमात्र ही तत्त्व है ऐसा समर्थन करनेमे मुख्य युक्ति एक यह हो रही है कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ पाये जाते हैं इस कारण ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। तो

वहाँ पूछा गया था कि एक साथ पाये जाते है उसका अर्थ क्या है ? क्या यह अर्थ है कि इनमेसे केवल एक ही पाया जा रहा है इसलिये अर्थ कुछ नही है । ज्ञानमात्र ही तत्व है ऐसा कहनेपर उनसे पूछा जा रहा है कि एकोपलम्भका अर्थ क्या है ? क्या यह मतलव है कि एकरूपसे पाया जाता है । पदार्थ और ज्ञान एक रूपसे पाया जाता है यह एकोपलम्भका मतलव है या एकके द्वारा ही पाया जाता है यह एकोपलम्भका मतलव है अथवा एक तादात्म्यरूपसे पाया जाता है यह एकोपलम्भका तात्पर्य है या एककी ही प्राप्ति हो रही है यह एकोपलम्भका मतलव है ? यो ४ विकल्पोंमें एकोपलम्भका स्वरूप पूछा गया है । यदि कहो कि ज्ञान और पदार्थ एक रूपमे पाये जाते है यह एकोपलम्भका अर्थ है तो यह तो तुमने शका ही दुहरा दी, अर्थ कुछ नही निकला ।जैसे कोई कहे—शब्द अनित्य है, अनित्य होनेसे तो यह भी कोई युक्ति है । जिसे सिद्ध करना चाहते हो उसीका हेतु दे रहे हो । तो जैसे शब्द अनित्य है अनित्य होनेसे यह कथन विवेकपूर्ण नही है साध्यसम है इसी प्रकार एक रूपसे अर्थ और ज्ञान पाये जाते है उसका नाम एकोपलम्भ है । तो यह तो प्रश्नके ही समान उत्तर हो गया और फिर ऐसा एकोपलम्भ है भी नही ।

लोकमे मात्र एकोपलम्भका अभाव—हम पदार्थको जानते हैं तो बहिर्मुख होकर जानते है और जव ज्ञानको जानते है तो अन्तर्मुख होकर जानते है तो सव इसमे भेद तो अत्यन्त सिद्ध है ही । ये खम्भे चौकी वगैरह सव ज्ञानमे आ रहे है और बाहर ही स्थित है इस तरह ज्ञानमे आता है । और ज्ञान उसका ही सही, पर यहाँ है मैं जानता हूँ अन्तर्मुख होकर उस ज्ञानका ज्ञान करते है तो यो अन्तर्मुख और बहिर्मुख जो प्रतिभास हो रहा है उसीका नाम तो ज्ञान और ज्ञेय है । इन पदार्थोंको मना करके ज्ञानमात्र तत्व सिद्ध नही किया जा सकता । और फिर जानना, जव कोई वाहरी चीज ही नही है तो जाननेका स्वरूप क्या रहा ? जाननेका अर्थ क्या है ? जव कोई बाहरी वस्तु नही तो, जाना क्या गया ? जाननेमे और होता क्या ? वाह्य पदार्थ हैं तव ज्ञानका स्वरूप भी बनता है, केवल ज्ञानमात्र ही तत्व है यह वात सिद्ध नही होती ।

एकके द्वारा उपलम्भरूप सहोपलम्भ हेतुकी असिद्धि—यदि यह कहो कि एकोपलम्भका अर्थ यह है कि एकके द्वारा ही प्राप्ति होती है तो यह वात तो तव सिद्ध हो जव अन्यका, पदार्थका ज्ञान न बनता हो । पर यह तो सिद्ध नही है। समस्त पदार्थ एकदम स्पष्ट नजर आ रहे हैं कि ये सव चीजें हैं । जिस समय कोई एक पदार्थ है उसी समय ये अनेक भी मौजूद हैं । फिर एकके द्वारा ही उपलम्भ होनेका नाम एकोपलम्भ नही बनता । इसी प्रकार एकमेक होकर अर्थका और ज्ञानका ग्रहण होना इसका नाम एकोपलम्भ कहना सही नही बनता, क्योकि जो चित्र विचत्र चीजोका ज्ञान है उसमे तो एक रूपमे उपलब्धि होती नही । रङ्ग विरङ्गी अनेक चीजोका जो ज्ञान होता उनमे, उस ज्ञानका विवेचन नही किया जा सकता यह तो वात यो असिद्ध

है कि ज्ञानमे तो बराबर आरहा है, विवेकमे इन सबकी भिन्न भिन्न प्रतीति हो रही है ये सब चीजे हैं और यह मैं ज्ञान हूँ,केवल ज्ञानमात्र है दुनियामे तत्व और यह पदार्थ कुछ नही है। ऐसा माननेमे तो प्रत्यक्षसे बाधा आती है। ये सब व्यवहारमे काम ी आते है। यदि मायारूप होते तो आज तो चस्मा लगाया कल चौकी लगाई जावे मायात्र तो यही हाल है। चस्मा देखनेके ही काम आता चौकी कुछ रखनेके ही काम आती। ये सब जो प्रतिनियत जुदे जुदे उपयोग है ये भी यह सिद्ध करते हैं कि हैं ये सब पदार्थ भिन्न भिन्न।

एकका ही उपलम्भ होने रूप सहोपलम्भ हेतुकी असिद्धि यदि यह कहो कि एकका ही उपलम्भ होनेका नाम सहोपलम्भ है तो ज्ञान और पदार्थ इनमेसे केवल एकका ही ग्रहण हो रहा है यह कैसे मान लिया जाय। उनमे एकका ही कैसे ग्रहण हो यदि एकका ही ग्रहण माना जाय तो बतावो क्या ज्ञानका ग्रहण हुआ या पदार्थका ग्रहण हुआ ? यदि कहो कि ज्ञा-का ग्रहण हुआ तो इसी पर ही तो विवाद है वह तो असिद्ध हेतु है। ज्ञानकी ही उपलब्धि होती है यह हम कहाँ मानते हैं। अर्थ भी पाया जा रहा है। यदि कहो कि चूँकि अर्थका अभाव है अ- अर्थकी अनुपलब्धि है, तो ऐसा कहनेमे तो इतरेतराश्रय दोष आता है। जब पदार्थोका असत्व सिद्ध हो जायगा तब यह माना जा सकेगा कि ज्ञानकी उपलब्धि है। और, जब ज्ञानकी उपलब्धि होना सिद्ध हो जायगा तो यह माना जायगा कि पदार्थका अभाव है, और यों तो ज्ञानका भी अभाव हो जायगा। केवल अर्थकी ही प्राप्ति मानी गयी तो ज्ञान रहा कहाँ ? वस्तुकी व्यवस्था तो ज्ञानपूर्वक होती है। और स्वरूप तथा कारणके भेदसे ज्ञान और पदार्थोमे भेद है पदार्थ दूसरी चीज है ज्ञान दूसरी वस्तु है। केवल ज्ञान ही तत्त्व हो पदार्थ न हो यह नही है। इनका बराबर भेद नजर आ रहा है। स्वरूप भी न्यारा-न्यारा है। इन पदार्थोका स्वरूप मूर्तिकता जीवका चेतना, अन्य पदार्थोका भी स्वरूप उन उनका असाधारण स्वरूप है और कारण भेद भी है। ज्ञानके कारण और हैं इन पदार्थोके कारण और हैं। ज्ञान तो अपनी ज्ञान शक्तिसे प्रकट होता है और प्रतिबन्धक कारणके अभावमे प्रकट होता है और ये पदार्थ अपनी शक्तिसे अपने परिणमनको प्रकट किया करते हैं, सो कारण भेद भी है और फिर ज्ञान तो है ग्राहक अर्थात् जानने वाला और नील आदिक पदार्थ है ग्राह्य। ये ग्रहणमे आते हैं। यदि इसे भी एक मान लोगे तो इसमे यह भेद नही हो सकता। ज्ञान तो ग्राहक है और पदार्थ ग्राह्य है। हम यो कह बैठे कि ये पदार्थ तो जानने वाले हैं और ज्ञान जाननेमे आता है। जब इन दोनोको एकमेककर डाला पदार्थ और ज्ञानको तो जब एक हो गए तो जानने वाला पदार्थ हो गया और जाननेमे आया ज्ञान यो कह दो तो क्या आपत्ति फिर होगी ? जब एक ही है तो कुछ करो। तो यों ज्ञानका ही अभाव बन जायगा। तो इसमे स्वरूपभेद भी है, कारण भेद भी है। ज्ञानके कारण इन्द्रिया हैं और ये नीले आदिक पदार्थ है रग बिरगे, इनके कारण हैं अज्ञानमय ये वस्तु। इस कारण ये सब

पदार्थ भी हैं ज्ञान भी हैं। हठ मत करें कि ज्ञान ही एक तत्त्व है और पदार्थ कुछ नही है।

ज्ञानाद्वैतका मन्तव्य और उसमे प्रत्यक्ष बाधा—भैया ! यह सब वर्णन इस बुनियादपर चल रहा है कि इस ग्रन्थमे प्रमाणके स्वरूपका निर्णय किया है प्रमाण का स्वरूप है - जो स्व और अपूर्व अर्थको जाने सो प्रमाण है । इस स्वरूपकी बात सुनकर ज्ञानाद्वैतवादी यह कह रहे हैं कि ज्ञानका स्व तो जरूर है, पर पदार्थ कुछ न ी है। पदार्थका अभाव मानकर केवल ज्ञानमात्र तत्व माना जा रहा है और उस ज्ञानमात्र तत्वका जो ग्रहण करे वह ज्ञान प्रमाण है, ऐसी बात ज्ञानाद्वैतवादकी ओरसे रखी गई है। ज्ञानाद्वैतवादमे यह बताया गया है कि देखो, जो चीज प्रतिभात होती है वह सब ज्ञान है। जैसे हमारा सुख हमे प्रतिभात होता है, जाननेमे आता है तो वह सुख क्या है ? ज्ञानरूप है, इसी प्रकार ये सब पदार्थ जो आँखो दिख रहे हैं या जो मनसे समझे जा रहे हैं सबके सब प्रतिभात होते है तो वह भी ज्ञानरूप है ऐसा अनुमान बनाकर ज्ञानमात्र तत्व सिद्ध किया था। उसके उत्तरमे कह रहे है कि ये पदार्थ प्रतिभासमान होते है इस कारण ये सब ज्ञान ही रूप हैं, ऐसा कहनेमे इस हेतुका अर्थ क्या है ? क्या ये पदार्थ स्वत प्रतिभासमान होते है ?

मैं चौकी को जानता हू ऐसा कहनेमे प्रतिभास करने वाला तो मैं हुआ, चौकी तो नही हुई। फिर यह चौकी ज्ञानस्वरूप कैसे बन गई ? ज्ञानाद्वैतमे सारे विश्वको ज्ञानस्वरूप माना है। सब कुछ पदार्थ ज्ञान ही ज्ञान है। यह खम्भा नही है केवल ज्ञान है और उसके लिये वे ऐसा उदाहरण देंगे कि स्वप्नमे जो कुछ देखा महल, वन, उपवन, जानवर, मनुष्य तो वहा केवल ज्ञानका आकार ही नजर आता है चीज वहाँ कुछ नही है। है ना ऐसा । वह मब ज्ञानका आकार बन रहा है तो जैसे स्वप्नमे ज्ञान का आकार ही दीखा करता है पदार्थ कुछ चीज नही है इसी प्रकार जब तक भ्रम है जीवोको अज्ञान है तब तक ये सब पदार्थ सचसे मालूम होते है। है सब ज्ञानके ही आकार। यों केवल समस्त पदार्थोंको ज्ञानमात्र मानते है। किन्तु जानने वाला कुछ है जाननेमें आया कुछ ऐसा तो सबको प्रतीत हो रहा है।

पदार्थोंके स्वत प्रतिभासमानत्वकी असिद्धि—ज्ञानाद्वैतवादीने यह अनुमान ज्ञान प्रमाण रखा कि जो कुछ प्रतिभासित होता है वह सब ज्ञान। जैसे कि सुख दुःख आदिक प्रतिभासित होते है, तो ये क्या कोई वस्तु हैं। ज्ञान ही है। इसी प्रकार बाहरमे भी जो नील पीत आदिक पदार्थ प्रतिभास होते है वे सब क्या कोई वस्तु हैं ? वे भी ज्ञान ही हैं, ऐसा अनुमान ज्ञानका प्रमाण देकर ज्ञानाद्वैतवादी समस्त विश्वका एक ज्ञानमात्र सिद्ध करना चाहता है। उसके प्रसगमे स्याद्वादीने यह पूछा कि यह जो तुम्हारा हेतु है कि जो कुछ प्रतिभासमान होता है वह सब ज्ञान है। तो यह जो अव-

भासमान है यह स्वत है या नही ? नील पीत आदिक पदार्थ अपने आप ही प्रतिभासमान होते हैं या किसीपर ज्ञान आदिकसे प्रतिभासमान होते हैं ? यदि कहोगे कि ये समस्त पदार्थ अपने आपके ही द्वारा प्रतिभासमान होते है तो यह बात तो असिद्ध है क्योंकि ये पदार्थ ज्ञानकी अपेक्षा लिए बिना खुद अपने आपमे प्रतिभासमान नही हुआ करते हैं। और, यह तो सबको ही ध्यान है कि जब पदार्थका प्रतिभास होता है तो इस शैलीसे होता है कि मैं इस नील पदार्थको जानता हूँ। चाहे वह ऐसे शब्द न बोले लेकिन ज्ञान होनेमे तरीका यही हुआ करता है। तो इन पदार्थोंसे भिन्न जो कुछ मैं हूँ, इसके द्वारा ये पदार्थ प्रतिभासमान होते हैं। कही एक ही तत्त्व नही है कि यह पदार्थ है और यह अपने आप प्रतिभासमान हुआ करता है। ज्ञान निरपेक्ष होकर ये पदार्थ प्रतिभासमान नही होते। मैं नील आदिक पदार्थको जानता हूँ, इस शैलीमे अह-अह रूपसे प्रतिभासमान जो कुछ ज्ञान है उस ज्ञानके द्वारा जो कि इन पदार्थोंसे भिन्न है यह सब प्रतिभास हो रहा है। ये पदार्थ स्वत प्रतिभासमान नही है।

पदार्थमे स्वत प्रतिभासमानत्वकी विरुद्धता – यदि कदाचित् थोडी देर को मान लो कि ज्ञानकी अपेक्षा न रखकर ये पदार्थ स्वत प्रतिभासमान होते है तो स्वत प्रतिभासमान रूप हेतुसे तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो ? क्या यह सिद्ध करना चाहते हो कि ये पदार्थ स्वय ज्ञातस्वरूप है ? इन पदार्थोंकी ज्ञातता सिद्ध करना चाहते क्या ? तो पदार्थोंकी ज्ञातता चीज है क्या ? क्या प्रतिभासमात्र ? यदि कहो हाँ प्रतिभासमात्र है तो इसीपर ही तो यह विवाद चल रहा है। हेतुकी सिद्धिमे ही यह सिद्ध हो गया अर्थात् साध्य कुछ नही रहा। जो इसका हेतु कहा वही तुमने साध्य कहा कि ये सब पदार्थ ज्ञानमात्र है उसीको ही सिद्ध कर रहे है। तो ज्ञातता सिद्ध नही होती। और, ज्ञातता सिद्ध नही होती है तो असिद्ध तो कहीका हेतु नही बनता। ये पदार्थ अपने आपका प्रतिभास तो करलें और इन पदार्थोंमे ज्ञातता न मानी जाय तो परस्पर विरुद्ध बातें हैं इस कारण ये पदार्थ स्वत प्रतिभास नही है। जिससे कि तुम समस्त विश्वको ज्ञानमात्र सिद्ध कर सको।

ज्ञानाद्वैतवादी द्वारा "अहप्रत्ययसे पदार्थग्राहकता" पर आठ विकल्पो का निर्देश – अब इसके बाद ज्ञानाद्वैतवादी बहुत लम्बे समय तक अपना पूर्व पक्ष स्थापित करनेके लिए अह प्रत्ययमे बाधा उपस्थित कर रहे हैं। जो जैन लोग यह कहते हैं कि मैं नील आदिक पदार्थोंको जानता हू इसमे अहप्रत्ययवेद्य पदार्थ जुदा है और ये नीलादिक पदार्थ जुदे हैं। तो इसमे यह बतावो कि अहप्रत्ययके द्वारा जो कि नीलादि पदार्थका ग्राहक है सो उसमें यह अहप्रत्यय अर्थात् अह मैं हू मैं हूँ ऐसा जो ज्ञान है यह जाना हुआ ज्ञान है या न जाना हुआ ज्ञान है ? व्यापाररहित ज्ञान है या व्यापारसहित ज्ञान है ? अहप्रत्यय करके जो कुछ मैं के सम्बन्धमे समझा वह निराकार ज्ञान है अथवा वह अहका ज्ञान साकार है अथवा अहका ज्ञान पदार्थके कालसे भिन्न

काल वाला है ? अथवा पदार्थके समूहके समय वाला ज्ञान है। मैं के द्वारा जो पदार्थों को जाना वह पदार्थोंके कालमे ही मैं का ज्ञान बना या मैं का ज्ञान पहिले पीछे बना और पदार्थ उससे भिन्न कालमे रहा या एक समान कालमे रहे ऐसे ये ८ प्रश्न किये ज्ञानाद्वैतवादीने जैनोके प्रति। और उन ८ विकल्पोका क्रमश ये खण्डन कर रहे है।

नीलादिकग्राहक अहप्रत्ययको गृहीत माननेपर शङ्काकार द्वारा आपत्ति —यह अहं प्रत्यय ज्ञान "। जानता हूँ इसमे जो अह शब्दसे पकडा गया वह ज्ञान यदि गृहीत है अर्थात् ज्ञानसे जाना गया है तो क्या उस ही ज्ञानसे जाना गया या किसी परसे जाना गया ? यदि उस ही ज्ञानसे जाना गया, मै जानता हूं इस चौकीको इस शैलीसे उठी हुई जो भीतर एक झलक है उसमे जो मैं का ज्ञान हुआ उसको ही मैंने जान लिया तो वह तो स्वरूप मात्रका प्रकाशक रहा। मै चौकीको जानता हू इसमे जो मैं है उसे अपने आपके द्वारा अपनेको जान लिया तो बस यही काम खतम हो गया। स्वरूपमात्रका ही प्रकाश कर पाया। बाह्य अर्थका वह प्रकाश नही कर सका। तो इससे यह सिद्ध होगा कि बाह्यमे कुछ भी पदार्थ नही है। यदि कहो कि उस ज्ञानका ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना गया तो अनवस्था दोष हो गया फिर उस दूसरे ज्ञानकी भी शैली यह बनेगी कि मैं उस ज्ञानको जानता हूँ तो उसमे भी कुछ जान जाऊँगा, वह दूसरे ज्ञानसे जान जायगा तो वहाँ भी यह शैली बनेगी तब यो अनवस्था दोष होगा। यह सब ज्ञानाद्वैत मानने वाले क्षणिकवादी लोग जैनोके प्रति दूषण देते जा रहे हैं कि पदार्थ कहाँ है, पदार्थ सब कुछ एक ज्ञानमात्र है। तो अह प्रत्ययसे जो मैं जान गया हू उस ज्ञानका ग्रहण करने वाला दूसरा ज्ञान माननेपर अनवस्थाका दोष हुआ।

इस सम्बन्धमे यह भी न कह सकेंगे, अन्य लोग अर्थात् जैन नैयायिक आदिक सभी लोग जो कि केवल ज्ञानमात्र तत्त्व नही मानते वे यह भी नही कह सकते कि दूसरे ज्ञानमे पूर्वज्ञानको तो ग्रहण नही किया किन्तु दूसरे ज्ञानने पदार्थका ही सीधा ग्रहण किया। क्यो न कह सकेंगे ? यो कि दूसरे ज्ञानके निकट तो पूर्व ज्ञान है और पूर्वज्ञानने ही उत्तरज्ञानको उत्पन्न किया है अत उत्तरज्ञानके द्वारा पूर्वग्राह्य ही बनता है। ये ज्ञानाद्वैतवादी यह कह रहे है कि मै चौकीको जानता हूँ इस शैलीसे जानता हूँ कि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा ही तो अनवस्था है। यदि यह कहो कि दूसरे ज्ञानने पदार्थों को जाना तो भाई पूर्वज्ञानके जाननेको तो नया ज्ञान बनाया गया था और वह जानने लगे सीधे पदार्थोंको तो यह तो नीतिविरुद्ध बात है। ग्राह्यताका तो हक इस पूर्वज्ञान को है। उस पूर्वज्ञानको जाने बिना यह ज्ञान पदार्थको कैसे जान लेगा। तो मैं जानता हू इन चौकी आदिक पदार्थोंको इसमे जाना क्या जाय ? यह मैं किसी ज्ञान द्वारा गृहीत हो करके पदार्थको जाने यह द्वैत सिद्ध होता नही।

अगृहीत ग्राहककी सिद्धिमे शङ्काकार द्वारा दोषापत्ति—यदि कहो कि

इसमे मैं का ग्रहण भी न होगा किसी दूसरेके द्वारा और फिर भी पदार्थको जान लेगा तो इसमे तो बडा दोष आता है। जैसे कि बिना ही ग्रहण किए ही जानने लगा कोई तो आपकी बातको मैं ग्रहण तो नही कर रहा, पर मैं भी जानने लगूंगा। इस कारण मैं अमुकको जानता हू यह व्यवस्था नही बन सकती। यह सब पूर्वपक्षकार कहते जा रहे है।

सव्यापार या निर्व्यापार होकर अहं प्रत्ययकी ग्राहकताकी सिद्धिमे शङ्काकार द्वारा दोषापत्ति — अच्छा, अहं प्रत्यय जो हुआ है वह व्यापाररहित है या व्यापारसहित है। मैं जानता हू इसमे वह मैं' व्यापारसहित हूँ या व्यापाररहित हू। व्यापार किए बिना यदि ज्ञानपदार्थका ग्रहण करने लगे तो यो क्यो लोप नही होता कि पदार्थ ज्ञानका ग्राहक बन जाय। जैसे कि ज्ञान पदार्थका ज्ञाता बना हुआ है इसी प्रकार प्रकार पदार्थ ज्ञानका ज्ञाता बन जाय क्योंकि व्यापाररहित होकर इस मैंने पदार्थको जाननेवाला मान लिया। यदि कहो कि व्यापार वाला होकर जाना जाता है तो इस 'मैं' से वह व्यापार भिन्न है अथवा अभिन्न है। यदि अभिन्न है तो व्यापार भी ज्ञानस्वरूपमात्र रहा, कोई अलग चीज नही रही और फिर अधका और व्यापार का अभेद भी नही कर सकते क्योकि धर्म और धर्मीरूपसे इसमे भेद जाना जाता है। यदि कहो कि मैं उससे 'मैं का व्यापार जुदा है तो सम्बन्ध क्या? जैसे एक देवदत्तके ज्ञानका और यज्ञदत्तके व्यापारका जब जुदापन है तो उनका सम्बन्ध कुछ बैठता है क्या? क्योंकि जुदे व्यापार के द्वारा इस 'मैं' का कोई उपकार नही बन सकता। यदि उपकार बन सका तो अनवस्था दोष हो जायगा क्योकि उसके रचनेमे अन्य व्यापार की कल्पना करनी होगी इस कारण यह अहं प्रत्यय कि मैं पदार्थको जानता हूं यह न तो व्यापारसहित होकर बनता है और न व्यापाररहित होकर बनता इस कारण मैं कुछ अलग चीज नही, पदार्थ कुछ अलग चीज नही किन्तु सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है। इस अहको जिसे कहते हो मैं जानता हूँ यदि निराकार मानते हो तो इसमे फिर प्रतिनियत विषयकी व्यवस्था न बन सकेगी अर्थात् ज्ञानका कुछ आकार न आया, ज्ञान निराकार ही रहा तो फिर यह कैसे कह सकेंगे कि मैं घटको जानता हू। जब ज्ञानमे पदार्थका कोई आकार ही प्रकाशित नही है तो कैसे कह सकेंगे कि अब मैं पटको जान रहा हू। पहिले मैं घटको जानता था, यह व्यवस्था नही बन सकती। यदि कहो कि यह ज्ञान यह मैं साकार रहा करता हूँ इसमे पदार्थोकी व्यवस्था बनती तो फिर ज्ञान ही साकार हो गया। तब फिर इन पदार्थोंकी कल्पना करनेसे क्या लाभ है? वह तो एक साकारज्ञानसे ही सारी व्यवस्था बन जायगी। इस प्रकार ज्ञानाद्वैतवादी इन बाह्य पदार्थोंका लोप करनेके लिए और बाह्य पदार्थोके जानने वाला मैं ज्ञानवान जुदा पदार्थ हू इसको मिटानेके लिए मैंके ज्ञानमे ही प्रश्न किये जा रहा है कि मैं क्या गृहीत होकर जाना जाता हू या अगृहीत होकर जाना जाता हूँ। निराकार होकर, साकार होकर, व्यापार सहित होकर या निर्व्यापार होकर आदि विकल्पोको उठाकर उसका

खण्डन करनेका यत्न कर रहा है।

ग्राह्य ग्राहकमे समयकी भिन्नता व अभिन्नताका विकल्प करके शङ्काकार द्वारा दोषापत्ति - यदि यह कहो कि यह यह प्रत्यय मैं का ज्ञान जिस पदार्थको जानता है उस पदार्थसे भिन्न समयमे होता है तो भाई जब पदार्थका समय तो भिन्न है और मैं का समय भिन्न है तो इस मैं ने पदार्थको कैसे जाना ? यदि ज्ञान अपने समयमे अविद्यमान अर्थको भी जानने लगे तो ये सभीके सभी ज्ञान सारे विश्वको जानने लगेगे। तो यह मैं भिन्नकालवर्ती पदार्थको जान नही सकता। यदि कहो कि एक समयमे रहने वाले ही पदार्थको हम जानते हैं तो समान समयमे रहने वाले पदार्थ हैं ना ये। और उस ही समयमे रहने वाला मैं हूं, ज्ञान हो तो इस ज्ञानका और इन ज्ञेयोंका कोई प्रतिबन्ध नही रहा अर्थात् न तो उत्पत्तिका सम्बन्ध रहा और न कोई सम्बन्ध रहा। एक साथ हो कुछ तो उनमे यह कैसे कह सकते कि इसने इसको पैदा किया। जैसे बछड़ेके दो सीग एक साथ उत्पन्न होते हैं दाया बाया, तो उनमे क्या यह सम्बन्ध बनता है कि दाई सीगने बाई सीगको पैदा किया और बाई सीगने दाई सीगको पैदा किया ? सम्बन्ध तो नही बनता। इसीतरह यह मैं जो जान रहा हूं यह ज्ञान और यह पदार्थ यदि एक ही समयमे रह रहे है तो यह सम्बन्ध नही बन सकता कि मैं तो ग्राहक हूँ और ये पदार्थ ग्राह्य हैं। मैं तो ज्ञान उत्पन्न करने वाला हूँ और ये पदार्थ ज्ञेय बनाये जा रहे हैं। समान काल हो तो पदार्थका और ज्ञानका यह भेद नही बन सकता है अन्यथा यह पदार्थ ज्ञानका ग्राहक बन जाय। दो सीग एक साथ पैदा हों उनमे एक दूसरेका उत्पादक है यह सिद्ध नही बनता और फिर भी जबरदस्ती कुछ सिद्ध करे जैसा कि दाहिनी सीगने बाई सीगको और बाई सीगने दाई सीगको उत्पन्न किया तो क्या हम यह न कह सकेंगे कि न दाहिनी सीगने बाईको उत्पन्न किया और न बाईने दाहिनीको उत्पन्न किया। इसीतरह यह पदार्थ और पदार्थोंको जानने वाला यह ज्ञान यदि दोनो एक समयमें हैं तो प्रथम तो यह बात नही बन सकती कि मैं तो ज्ञान जनक हूँ और इन पर पदार्थोंका ज्ञान करता हूँ फिर भी मानोगे ऐसी उत्पादकता का सम्बन्ध तो हम यों उल्टा कह बैठेंगे कि यह पदार्थ तो ज्ञान करता है और मैं जाना जाता हूँ तो यह भी व्यवस्था न बन सकी।

ज्ञान ग्राह्य नही, ज्ञान तो ग्राहक है अर्थात् ज्ञान करने वाला है, जानने वाला है यह बात भी नही बन स ती क्योकि पदार्थमे एक उस शैलीको छोडकर अन्य कुछ प्रतीत नही होता कि यह पदार्थ ग्राह्य है। यदि स्वरूप ग्राह्य बना लोगे तो ज्ञानमें भी ग्राह्य बन जाय। यदि यह कहो कि पदार्थ तो जड है इस कारण ज्ञानका ग्राहक नही बनता, ज्ञान ही ग्राहक बनता है तो ये पदार्थ जड क्यो हैं यह बतलावो ? यदि यह कहोगे कि पदार्थ ज्ञानके ग्राहक न ी इसलि ् जड हैं तो इसमे तो इतरेराश्रय दोष हो गया। न यह सिद्ध होगा कि ये पदार्थ जड सहित हैं औ ् न यह सिद्ध होगा कि पदार्थका ग्राहक ज्ञान है तो इसे अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। जैसे कोई एक ताला ऐसा होता है कि जरासा दबा देनेसे बन्द हो जाता है। उस तालाकी चाबी सन्दूकमे बन्द हो जाय और ताला बादमे बन्द कर दिया जाय तो भला बतलावो कैसे ताला खुले ? ताला खुले तो चाबी निकले और चाबी हो तो ताला खुले। अब वहाँ वह विवश होकर बैठ जाता है, इसे कहते हैं इतरेतराश्रयदोष। तो यहाँ जो यह व्यवस्था बनायी जैन आदिकने कि पदार्थ तो जड हैं इसलिए ज्ञानका ग्राहक नहीं होता। तो इसमे ऐसा ही इतरेतराश्रय दोष होता कि पदार्थ का जडपना सिद्ध हो तो पदार्थ ज्ञानके ग्राहक नही है यह सिद्ध यह सिद्ध होगा। पदार्थ ज्ञानके ग्राहक नही हैं यह दृष्टि बने तो फिर जड है यह सिद्ध होगा।

जानन क्रियासे पदार्थज्ञान बनानेकी व्यवस्थामे शंकाकार द्वारा दोषापत्ति—यदि यह कहोगे कि ज्ञान तो जानन क्रियाका कारण है। जानन है इस कारण ज्ञान ही पदार्थका ग्राहक है तो यह बतावो कि वह जो गृहीत है, जाननक्रिया है वह पदार्थसे भिन्न है या अभिन्न है। यदि पदार्थसे भिन्न है वह जाननक्रिया तो इस जानन कार्यने पदार्थका क्या किया ? कुछ भी नही किया। फिर जाननक्रियाके कारण पदार्थ का ग्रहण कैसे हो गया क्योकि जाननकी जो क्रिया है, काम है वह भिन्न है। और, ये पदार्थ भिन्न हैं तो सम्बन्ध ही क्या रहा ? यदि यह कहो कि यह जानन क्रिया इस पदार्थकी है इसमे सम्बन्ध बन जायगा तो बन ही नही सकता क्योकि अत्यन्त भिन्न है। और, भिन्न होनेपर भी जानन क्रिया उसे जानने लगे तो जानन क्रिया भी दूसरी जाननक्रियाको जान जायगी। तब यो अनवस्था दोष होगा यदि यह कहोगे कि पदार्थ की जाननक्रिया पदार्थसे भिन्न है तो जाननक्रियामे पदार्थ ही क्या गया ? जानन क्या हुआ ? ज्ञानका कार्य और कुछ नही बना। सब कुछ एक ज्ञानमात्र है। उस पदार्थको जानता हूँ ऐसा जो सबका बोध हो रहा है व ् सब भ्रम है। वहाँ कुछ भी तत्त्व नहीं रहा। केवल ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप है, ये पदार्थ कुछ भी नही है।

गृहीतिका अनिश्चय दिखाकर शंकाकार द्वारा ज्ञान व पदार्थोके द्वैत का विरोध—यदि यह कहो कि जड पदार्थोंके उपादानसे जड अर्थोंकी उत्पत्ति हो रही है इससे जाननक्रियामे दोष नही है तो यह बतावो कि वह पूर्व अर्थ क्या बिना

जाने ही उपादान बन गया या जाने हुए बन गया ? बिना जाने हुए उपादान बन जाय तो इसमें तो बडी आपत्ति खडी हो जायगी। जैसे कि गधेके सीगसे घडा बन उठे क्योकि विना जाने हुए किसी भी पदार्थसे जब कुछ बनने लगा तो जो सर्वथा असत् है वह कभी जाना ही नही जा सकता। उससे भी कुछ कार्य बनने लगे न घडा सही, उस सीगमे सीगके ही कार्य बनने लगें तो अज्ञात होकर पदार्थके कार्यकी उत्पत्तिका कारण तो बना नही ! यदि कहो कि पदार्थ ज्ञात होकर अन्य कार्यकी उत्पत्तिका कारण होता है यो यह बतावो कि वे दोनो एक कालमे हैं या भिन्न कालमे है ? भिन्न कालमे हैं तो ग्रहण क्या हुआ ? कार्य क्या बना और एक कालसे है तो कारणकार्य क्या बना ? यदि जुदे जुदे समयमे कारण और कार्य रहे तो कारणकार्य क्या ? तो गृहीति अग्रहीत हो तो निश्चय कैसे हो, अन्य ज्ञानसे गृहीतिका ग्रहण हो तो अनवस्था दोष होता है तो निश्चय कैसे बनेगा ? प्रयोजन यह है कि ये जो जैनादिक कहते हैं कि घट पट आदिक पदार्थोको जानता हू इस शैलीसे ज्ञान हुआ करता है सबका और इस शैलीमे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मैं कोई जुदा हूँ और ये पदार्थ कुछ जुदे हैं यो पदार्थ हैं सब और मैं भी हूँ ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं वह सिद्ध नही होता। केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है।

सर्व विज्ञान विश्वको स्वप्नवत् बताकर शकाकार द्वारा विज्ञप्तिमात्र तत्त्वकी साधना—जैसे स्वप्नमे कुछ दिखता है तो वहाँ कहाँ पदार्थ हैं ? वह सब एक ज्ञानका ही फैलाव है। तालाव दिखे, जहाज दिखे, मगर दिखे मुझे मगर खा रहा है, मै जहाजपर चढ रहा हूँ, ऐसा दिखे तो वहाँ भी कुछ है क्या ? वह सब एक ज्ञान का ही तो फैलाव है। सब कल्पनामात्र है। तो जैसे स्वप्नमे ये पदार्थ कुछ नही हैं ऐसे ही जगती हुई हालतमे ये जो अलमारी भीट आदिक पदार्थ दिख रहे हैं ये भी कुछ नही हैं। यदि कहो कि इन्हें छूकर दिखादे कि है पदार्थ कि नही तो ऐसी बात तो स्वप्नमे भी मालूम पडती है। स्वप्नमे तो ऐसे ऐसे काम कर डाले जाते हैं कि जो जागते हुएमे भी नही किए जा सकते। एक पहाडसे उड़कर दूसरेमे पहुँच गए ऐसा स्वप्नमे दिखता है भला इसे जगती हुई हालतमे भी कोई करके दिखा दे। जैसे यहाँ चीजें हल्की भारी आदिका ज्ञान हो जाता है। तो जैसे स्वप्नमे देखी हुई बातें केवल भ्रम मात्र हैं ऐसे ही जगती हुई हालतमे जो कुछ दिखता है वह कुछ नही है, केवल एक भ्रममात्र है। ऐसा ज्ञानाद्वैतवादी समस्त विश्वको एक ज्ञानमात्र सिद्ध करना चाहता है।

शंकाकार द्वारा ज्ञानाद्वैतकी समस्या रखनेका प्रसङ्ग—केवल ज्ञान ही तत्त्व है, यह बात ज्ञानाद्वैतवादी इस लिये सिद्ध कर रहे हैं कि इस ग्रन्थमे जो प्रारम्भमें प्रमाणका स्वरूप कहा गया था—प्रमाण वह है जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय, कराये, तो यह अपूर्व अर्थका है कहाँ जिसका निर्णय कराने वाले ज्ञानको

तुम प्रमाण कहते हो ? ये सारे पदार्थ जो दिख रहे है ये अपूर्व अर्थ बताये जा रहे हैं सो सब भ्रमकी चीज है, जहां कुछ तत्त्व ही नही है, सब ज्ञानका आकार ही सर्वत्र फैल रहा है ऐसे प्रमाणके स्वरूपको बिगाडनेके लिए ज्ञानाद्वैतवादी एक ज्ञानमात्र तत्त्व रख रहे है। देखो यदि शकाकार जैसा हृदय बनाकर शकाकारकी बात सुनी जाय तो बात भीतर यो जचने लगती है कि ये दिख कहाँ रहे हैं। इसकी बातका आचार्यदेव उत्तर देंगे किन्तु यहाँ प्रश्नका मर्म तो समझ लेना चाहिये। कोई प्रश्न ऐसा ही हो जिसमे कुछ दम नही है तो उसका स्वरूप भी व्यर्थ है और निराकरण करना भी व्यर्थ है। यहाँ यह कह रहे कि यह सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है। बाह्य वैभव कुछ नही है इसलिये दुनियामे निर्णायक ज्ञान प्रमाण नही होता किन्तु ज्ञानका ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है।

ज्ञान, अर्थ व गृहीतिकी स्वतन्त्रता बताकर शङ्काकार द्वारा द्वैतसिद्धि का विराधन—ज्ञानाद्वैतवादी पदार्थोंकी सत्ता नही मानते। वे केवल समस्त विश्वको ज्ञानमात्र तत्त्व ठहराते है। इस मतव्यके निराकरणमे जैन आदिकने जो पदार्थोंका ग्रहण किया है ऐसा सिद्ध करना चाहते थे और प्रसङ्गवश यह उक्ति दी थी कि जानन क्रियाका कारण होनेसे ज्ञान पदार्थका ग्राहक होता है तो इसपर ज्ञानाद्वैतवादी यह आपत्ति दे रहे है कि वह गृहीति अर्थात् जाननकी क्रिया बिना ग्रहण किए हुए तो ठहर ही नही सकती, उसकी भी तो जानकारी होना जरूरी है। वह यदि किसी अन्य ज्ञानसे जाना जा रहा है तो अन्य ज्ञानमे भी जानन क्रिया है, उसका ज्ञान अन्य ज्ञानसे होगा। तो अनवस्था दोष आता है इस कारण ये सब चीजें अर्थ है, गृहीति है, ये सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र हो जायेंगे और जब स्वतन्त्र हो गए, दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है तो ज्ञान पदार्थको जानता है यह कैसे सिद्ध होगा ? अत पर पदार्थोंसे किसीका अवभासन होना यह सिद्ध नही होता, अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही है, सब ज्ञानका आकार है, अन्य पदार्थ आदिक कुछ नही है।

कर्ता, कर्म, करण क्रियाकी प्रतीतिमे शङ्काकार द्वारा द्विचन्द्रवत् भ्रमका आरोप—ज्ञानाद्वैतवादी यहाँ अपना पक्ष रखते जा रहे है, यदि कोई यह कहे कि मैं पदार्थको आँखोसे जानता हूँ, ऐसा ही तो लोगोको निर्णय होता, इसी शैलीसे वह जानना होता है ना तो इसमे कर्म, कर्ता, क्रिया, करण ये चार चीजें प्रतीतिमे आ रही हैं। मैं जानता हूँ तो मैं कर्ता हुआ, जानता हूँ क्रिया हुआ, पदार्थोंको जानता हूँ तो पदार्थ कर्म हुए, आँखोके द्वारा जानता हूँ तो आखे करण हुई। यो भिन्न भिन्न चार चीजें तो रोकी ही नही जा सकती। यदि ज्ञानमात्र ही तत्त्व माना जाय तो यह चारकी प्रतीति क्यो होती ऐसा यदि कोई जैन आदिक कहे तो वो यह बात भी मिथ्या है, क्योकि जैसे जिसको आँखोमे तिमिर रोग हुआ है उसे जैसे दो चन्द्रमा दिखते हैं तो क्या दो चन्द्रमा हैं ? हैं तो नही। न होनेपर भी जैसे दिखते है ऐसे ही विश्वमे कर्ता,

कर्म, करण, क्रिया ये कुछ नही हैं। केवल ज्ञानमात्र तत्त्व है मगर दीखा करता है। तो जैसे दो चन्द्रमाका अभाव होनेपर भी दो चन्द्र दिखते है ऐसे ही पदार्थोका अभाव होनेपर भी कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदिक प्रतिभासमे आते है। वहाँपर यह ज्ञान ही इन चारके आकाररूपमे प्रकट हुआ है। कर्म आदिक अविद्यमान है। है नही य चार, पर अनादि कालसे अविद्याकी वासना लगी है इस कारण ये भिन्न-भिन्न सब आकार नजर आते है इसीप्रकार इस बीचमे ज्ञानाद्वैतवादीने अपना मन्तव्य रखा कि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है।

अहप्रत्ययमे शकाकार द्वारा दिये गये गृहीत अगृहीत विकल्पोका समाधान—अब जिन-जिन युक्तियोसे ज्ञानमात्र तत्त्वकी सिद्धि और पदार्थोंका प्रतिषेध किया उन सब युक्तियोपर क्रमसे मीमासा की जायगी। आचार्यदेव कहते है — देखो जो तुमने यह आप त्त दी थी कि अहप्रत्यय जो होता है लोगोको, मैं जानता हूँ यो तो मैं केछ अलग हुआ ना और पदाथ कुछ अयग है इसप्रकार अह-अह रूपसे सबका अनुभव होता है तो यह बतलावो कि वह गृहीत है या अनुगृहीत है ? ऐसा विकल्प बताकर जो अह प्रत्ययका खण्डन किया था उस सम्बन्धमे समाधान सुनिये — अह यह ग्रहणमे आकर ही पदार्थको जानता है और इस अहका ग्रसण जानन अपने आप होता है। जैसे कोई मनुष्य जानता है कि मैं खम्भेको जान रहा हूँ तो उसे जो मैं का बोध हुआ वह भी एक साथ तुरन्त अपने आप हुआ। कही यह नही है कि उस अह के जाननेके लिए हमे दूसरा ज्ञान बनाना पडे। जैसे दीपक पर पदार्थोको प्रकाशित करता है पर स्वय भी प्रकाशित है। कही ऐसा नही होता कि दीपकको ढूढनेके लिए या उसे उजेलेमे करनेके लिए किसी दूसरे दीपककी जरूरत पडे। ऐसे ही यह अह प्रत्यय गृहीत होकर ही पदार्थका ग्राहक होता है और उस अहका ग्रहण स्वत. ही हो जाया करता है और स्वत. इस अहका ग्रहण होनेपर यह आपत्ति नही दी जा सकती कि स्वरूपमात्रके प्रकाशमे निमग्न हो गया अतएव बाह्य पदार्थोका प्रकाश नही कर सका। अरे यह विज्ञान दीपककी तरह स्वपप प्रकाश शब्द वाला है जो खुद प्रकाशमान नही है वह वह दूसरेका भी प्रकाशकरनेका कारण नही बनता। क्या कोई वल्ब बैट्री दीपक या मेघोकी बिजली कुछ भी चीज ऐसी है जो दूसरेको प्रकाशित करता है और खुदको खुदको नही प्रकाशित करता ? दीपकमे स्वपर प्रकाशका स्वभाव तो पाया ही जाता है, ऐसे ही विज्ञानमे स्व और पर पदार्थोके जाननेका स्वभाव है।

अह प्रत्ययमें शकाकार द्वारा दिये गये सव्यापार व निर्व्यापार विकल्पोका समाधान —ज्ञानाद्वैतवादी अह प्रत्ययमे यह निर्व्यापार है या व्यापार-सहित है ऐसे विकल्पोको करके अह प्रत्ययको मिटाना चाहते थे यह भी उनका कथन मात्र है, क्योकि स्व और परपदार्थका जानन करना, प्रकाशन करना इस स्वभावको छोडकर ज्ञानका और स्व परके प्रकाश करनेमें अन्य व्यापार नही है। अर्थात् इस अह

का, ज्ञानका यह व्यापार है कि खुद प्रकाशित हो और दूसरेका प्रकाश करे। कोई इसमे भिन्न व्यापारकी बात नहीं है। और, फिर यदि ये पदार्थ ही ज्ञानरूप कहलायें, पदार्थ अलग कुछ न हो ज्ञानमे तो जब ये पदार्थ ही स्वयं ज्ञानके आकार मान लिए जायें तो पदार्थमे भिडना, छिडना, टक्कर लगाना, ये सब बातें न होना चाहिए, क्योकि पदार्थ तो सब मान लिया ज्ञानरूप तो फिर यहासे कोई कांई छिडता है खम्भे से क्यो टक्कर लगती है? यह तो ज्ञानरूप है। कही ज्ञानसे भी माथा भिडा करता है, कही ज्ञानसे भी चोट लगा करती है। जैसे छतसे गिर गए तो जमीनकी चोट लग गई, क्या ऐसे ज्ञानसे भी शरीरकी हड्डी टूटती है? तो इन पदार्थोंको ज्ञानरूप मान लेनेपर इनसे छिदना, रूप आदिक मान होना ये सब नहीं घटित होते। और, यदि एक ज्ञानरूपसे निश्चय किए हुए इन पदार्थोंका ही नाम हम ज्ञान धर दें तो नाम धरने मे हमे कोई आपत्ति नही पर स्वरूप तो जिसका जैसा है वैसा ही मान लेना चाहिए। कही नाम धरने मात्रसे पदार्थके जो धर्म हैं इन पुद्गलोंके भौतिक पदार्थोंके जो धर्म हैं छिदना, भिडना, टक्कर लगना, रूप आदिकका मान होना यह धर्म तो कही नष्ट न हो जायगा। जैसे किसी मूर्ख पुरुषका कोई बुद्धिप्रसाद नाम धरदे तो कही मूर्खता तो न छोड देगा। जो पदार्थ जिस स्वभावको लिये हुए है उसमे वह ही है नाम चाहे कुछ रख दो।

स्वभावभेदसे ज्ञानमय पदार्थ व अन्य पदार्थोंकी व्यक्त भिन्नता—देखो इन पदार्थोंमे ज्ञानरूपताका स्वभाव नही पडा है ज्ञान अलग वस्तु है और पदार्थ अलग वस्तु है। ज्ञान तो स्वत प्रतिभासमान है और वह पदार्थको विषय रूपसे जान कर अपने आपमे प्रतिभासमान होता है और अपने आपके ही द्वारा वह वेद्य है। लेकिन ये बाह्य पदार्थ, इनमे अन्य अन्य प्रकारका स्वभाव मिलता है जैसे भिडना, टक्कर होना, रूप आदिक होना और अपनेसे भिन्न अन्य तत्त्वके द्वारा जाननेमे आना, पदार्थों से भिन्न है आत्मतत्त्व। उसके एक ज्ञानरूप परिणमन द्वारा ये पदार्थ जाननेमे आया करते हैं। इस कारण बाह्य पदार्थका स्वरूप उनमे है, ज्ञानमे या गुणगुणीके अभेदसे आत्मामे है अतएव ये सब भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। एक ज्ञानमात्र ही समस्त विश्व नही है और ऐसा माने विना, पदार्थ माने विना और ज्ञानको स्वतन्त्र माने विना और फिर ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रतिभास हुआ करता है ऐसा स्वीकार किए विना पदार्थकी व्यवस्था अन्य किसी भी प्रकार नही हो सकती है। और भी।

अहं प्रत्ययमे शङ्काकार द्वारा दिये गये सस्कार व निराकार विकल्पो का समाधान—जो ज्ञानाद्वैतवादीने अहं प्रत्ययके विषयमे विकल्प उठाया था कि यह अहं रूपसे उठा हुआ ज्ञान निराकार है या साकार है यह भी उनका एक प्रलाप मात्र है। अरे ज्ञान साकार नहीं हुआ करता अर्थात् जो इन पदार्थोंका आकार है, जो ढग है उस ही रूप ज्ञान नही हुआ करता। ज्ञान तो निराकार है और निराकार।

प्रत्ययमे ही भिन्न भिन्न पदार्थोंके जाननेका नियम बन सकता है। यहाँ ज्ञानको निराकार कहा है तो यह दार्शनिक क्षेत्रमे जहाँ कि ज्ञानाद्वैतवादी इन पदार्थोंको ही ज्ञानका आकार समझते है उसका प्रतिषेध करनेके लिए निराकार कहा है, किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्तमे जो ज्ञानको साकार कहा और दर्शनको निराकार कहा, उसकी मंशा इससे जुदा है। उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानमे जाननेका विकल्प हुआ करता है, पर दर्शनमे विकल्प नही हुआ करता है विकल्पमात्रका ही नाम आकार है, और जहाँ अर्थ ग्रहण नही है, किन्तु प्रतिभास है उसका नाम निराकार है। यहाँ ज्ञान इन पदार्थोंरूप नही हो जाता ऐसा बतानेके लिए ज्ञानको निराकार सिद्ध किया है। निराकार ज्ञानसे विषयोकी विज्ञप्तिकी व्यवस्था बनती है अमुक पदार्थको ज्ञानने जाना, अमुकको जाना ऐसी व्यवस्था निराकार ज्ञानसे ही सम्भव है।

शकाकार द्वारा उठाये गये ज्ञानके विषयमे भिन्नकाल व समकालके विकल्पोका समाधान जो अह प्रत्ययके सम्बन्धमे यह विकल्प उठाया था कि मै पदार्थोंको जानता हूँ इससे जो अहका बोध होता तो यह अह और वह पदार्थ ये क्या भिन्न कालमे हैं या एक ही कालमे हैं? भिन्न कालसे ज्ञान जाने क्या? और एक कालमे ही रहने वाला मैं यह ज्ञाता हू, यह ज्ञेय है, यह भेद बने कैसे? ऐसे विकल्प उठाकर जो अह प्रत्ययका निषेध किया था वह भी सारहीन बात है क्योकि हम पदार्थोंको या ज्ञानको क्षणिक नही मानते। जो ज्ञानको क्षणिक माने उसके लिए यह दोष आ सकता है कि पदार्थ तो हुआ किसी कालमे, ज्ञान हुआ किसी कालमे। तो ज्ञान पदार्थको कैसे जान ले? जो क्षणिक माने उसके ही यह दोष हो सकता है कि ज्ञानके कालमे पदार्थ न रहा और पदार्थके कालमे ज्ञान न रहा फिर इन दोनोमे ग्राह्य ग्राहक भाव कैसे बने? अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक भाव न बन सके यह दोष क्षणिकवादियोमे ही बन सकेगा।

भिन्नकालस्थ अर्थोके जाननेमे भी अनापत्ति — ज्ञानाद्वैतवादीने जो यह बात कही थी कि ज्ञान यदि अविद्यमानको जान ले, क्योकि पदार्थका काल भिन्न है और ज्ञानका काल भिन्न है, तो ज्ञान यदि अवर्तमान पदार्थको जान ले तो फिर समस्त प्राणी सर्वज्ञ बन बैठेंगे क्योकि ज्ञानका काम तो हो गया कि अतीतकालको भी जानले तो सारे ज्ञान अतीतकालसे जान उठे तो सारा लोक सर्वज्ञ बन जायगा। यह आपत्ति देना भी अयुक्त है क्योकि भिन्नकाल और समकालकी वजहसे ज्ञान ज्ञेयको नही जानता किन्तु ज्ञानमे योग्यता है, वह योग्य अर्थको जानता है। चाहे अतीतकालका कोई अर्थ हो, वर्तमानका हो, भविष्यका हो, जिसके ज्ञानमे जितनी योग्यता बन गई है, प्रतिबंध का उपाय होनेपर, ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर ज्ञानमे जिसकी योग्यता है उसके अनुसार पदार्थोंको जानता है, चाहे पदार्थ भिन्न कालमे हो चाहे समान कालमे हो।

अनुमानप्रमाणवादमे भी भूत भविष्यत् पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धि— यह बात क्षणिकवादके सिद्धान्तसे भी सिद्ध है कि ज्ञान अतीत कालको भी जानता है क्योकि अनुमान प्रमाणमे जहाँ भेद विस्तार किया गया है वहाँ पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी बताता गया है। क्षणिकवादी भी दो प्रमाण माना करते हैं—एक प्रत्यक्ष और एक अनुमान। अनुमानमें जहाँ पूर्वचर और उत्तरचरकी बात आती है वहाँ भिन्न काल का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। पूर्वचरका अर्थ यह है कि जैसे कोई यहाँ अनुमान बताता है कि कल शुक्रवार होगा क्योकि आज बृहस्पतिवार है तो हेतु सत् है, क्योकि यह हेतु पूर्वचर है, साध्यसे पहिले समयमें पाया जाता है। तो साध्यसे पहिले समयमे पाए गए साधनसे ज्ञान करना पूर्वचर हेतु है। तो पूर्वच हेतु अनागतकी बात जानी गयी। उत्तरचरमें यो समझ लो कि कल बुधवार था क्योकि आज गुरुवार है। यहाँ अतीत का साध्य जाना गया। तो जैसे पूर्वचर और उत्तरचर हेतुवोंमे उत्पन्न हुए भिन्नकालमें रहने वाले प्रतिनियत साध्यकी गृहीति हो जाती है इसीप्रकार सभी ज्ञानोंमे ऐसी योग्यता है कि जो ज्ञान जिस योग्य है वह अपनी योग्यताके अनुसार बाह्य पदार्थोंका ग्रहण कर लेता है। चाहे वह भिन्न कालमे रहने वाला हो अथवा समान कालमें रहने वाला हो।

भिन्नकालीन अर्थका ज्ञान न माननेपर क्षणिकवादमे अनिष्ट प्रसग— भिन्न कालके अर्थका ज्ञान नही हो पाता है ऐसा हठ माननेपर तो तुम अनुमानको भी सिद्ध नही कर सकते। तब अनुमान प्रमाणका भी उच्छेद हो जायगा। क्षणिकवादमे केवल दो प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। यदि यह हठ आ जाय कि ज्ञान भिन्न पदार्थको नही जानता तो इससे अनुमानका उच्छेद होगा सो देखिये साधक से साध्यका ज्ञान होनेका नाम अनुमान है। साधन हुआ करता है अनुमानका क्षणिकवादमे रूप। तो त्रिरूप लिंगसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। तो जैसे—जैसे तुमने जैन आदिकके प्रतिज्ञानसे अर्थका ज्ञान होनेमे प्रश्नरूप विकल्प किया था, हू—बहू वैसे ही सारे विकल्प इस अनुमान प्रमाणके विरुद्ध भी उठाये जा सकते हैं। भला बतलावो तो सही कि वह साधन जो साध्यको सिद्ध कर रहा है, वह अवभासमान होने वाला लिंग क्या भिन्न कालमे साध्यका जनक है या समान कालमे? यदि साधन भिन्न काल के साध्यका जनक बन जाय तो एक ही अवभासमान साधन समस्त साध्योंका जनक बन जाय। एक ही साधनसे दुनियाके सारे अनुमान ज्ञान हो जायेंगे, यह सब उसका जवाब दिया जा रहा है। जैसे कि ज्ञानाद्वैतवादीका कहना था कि फिर तो एक ज्ञान से ही सारे पदार्थोंका ज्ञान बन बैठेगा। यदि यह कहो कि भिन्न कालमें तो जरूर है साधन और साध्य। जिस हेतुसे जिस पदार्थका ज्ञान करना है वे दोनो भिन्न कालमें तो भले ही हैं फिर भी उनमे कोई तो साधन कहलाता है और कोई साध्य। उसमें योग्य साधन ही अनुमानका जनक बनता है। ऐसा नही है कि एक साधन समस्त अनुमानका जनक बन जाय तो यह बात तो हमारे यहाँ भी मान लें कि ज्ञानकी विशेषता

न हूं नेपर भी अथवा भिन्न कालपनेकी विशेषता नहीं है, ज्ञान जुदे कालमे है, पदार्थ जुदे कालमे है तो भी किसीका ही तो नाम ज्ञान है और किसी ही अर्थका वह ग्रहण करने वाला है ऐसा यहाँ भी मान लो ।

भिन्नकालीन अर्थका ज्ञान करनेमे दिये गये दोषोका अनुमान प्रमाण मे भी प्रवेश—यदि यह कहो कि जो पदार्थ गुजर गये हैं, जो पदार्थ नष्ट हो गए हैं अथवा जो पदार्थ अभी उत्पन्न ही नहीं हुए याने भविष्यमे होंगे ऐसे पदार्थोंमे लगा हुआ ज्ञान दूषित हो जायगा । तो तुम्हारे यहाँ भी यह दोष कहा जा सकता है कि जो साधन नष्ट हो गया या जो साधन अभी हुआ ही नहीं है उस साधनके द्वारा उत्पन्न कराया गया अनुमान भी हेतुरहित क्यो न हो जायगा ? इसके उत्तरमें यदि यह कहे कि अपने ही समयमे साध्य साधन अपने स्वरूपमे अनुमानका जनक है तो यह बात हमारे ज्ञान और कार्यके प्रसङ्गमे है । अपने ही समयमे रहने वाले पदार्थ ज्ञानके आश्रय भूत बन जाते हैं । यदि ऐसी आपत्ति दोगे तो भिन्न कालमे रहने वाला साधन अनुमानका जनक नही बन सकता । फिर जो तुमने प्रमाण माना है अनुमानको वह सिद्ध न हो सकेगा ।

समकालीन अर्थके ज्ञानमे दिये गये दोषोका अनुमान प्रमाणमे भी प्रवेश—समकालमे रहे यदि साधन और साध्य तो भी वह अनुमानको उत्पन्न न कर सकेगा । जैसे कि तुमने ज्ञान और अर्थके सम्बन्धमे दोष दिया था कि जब ज्ञान और पदार्थ एक ही समयमे रह रहे हैं तो हम यह कैसे निर्णय करे कि ज्ञानने पदार्थको जाना ? हम यह कह बैठेंगे कि पदार्थने ज्ञानको जाना । जैसे कि एक ही बछडेके दो सीग हैं उनमे कोई यह कैसे कह सकता कि दाहिनी सीगने बाई सीगको पैदा किया और बाई सीगने दाहिनी सीगको पैदा किया ? यदि समान कालमें ज्ञान अर्थ है तो इनमे ग्राह्य ग्राहक भाव नहीं बन सकता । तो यो तो तुम्हारे यहाँ भी यदि साधन और साध्य समान कालमे हैं तो साधनसे अनुमान नही बन सकता । जैसे पर्वतमे अग्नि है और धुवा भी उठ रहा है तो समान कालमे ही हैं ना दोनो । तो हम यह कैसे कह दें कि धुवाने अग्निका ज्ञान करा दिया ? हम यो कह बैठे कि अग्निने धुवाका ज्ञान कराया तो ये सब अटपट बातें तुम्हारे यहा भी उन विकल्पोमे उत्पन्न होती है और फिर भी यदि यह मानोगे कि समान काल होनेपर भी साधनसे साध्यका ज्ञान होता है इसमे कोई विरोध नही है तो साध्यसे साधनका ज्ञान होता है अनुमानमें हेतुका ज्ञान होता है यो कह बैठेंगे और फिर इन दोनोका अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा । जब अनुमान निष्पन्न हो जायगा तब हेतुकी सिद्धि होगी जब हेतुकी सिद्धि होगी तब अनुमानकी सिद्धि होगी । तब तो एकको भी सिद्धि नही हो सकती । अन्योन्याश्रय दोषमे दोनोमेसे किसीकी सिद्धि नहीं होती । जैसे किसी बक्समे चाबी रखकर फिर बक्स बद करदे बिना चाबीके ही सब जाने अपने तालेको बन्द कर दिया तो अब तो सारा

काम रुक गया। ताला खुले तो चाभी निकले और चाभी निकले तो ताला खुले। तो इसके मायने हैं कि दोनों ही काम नहीं हो सकते। न ताला खुल सके न चाभी निकल सके। तो इसी तरह दोनों ही बातें न बनेंगी। न हेतु सिद्ध होगा और न अनुमान सिद्ध होगा।

अनुमान और हेतुमें जन्यजनकता माननेकी भांति पदार्थ और ज्ञानमें भी ग्राह्य ग्राहकताकी सिद्धि— सायद यह कहा कि जन्य तो अनुमान ही होता है क्योंकि अनुमानमें ही जन्यताकी प्रतीति है अर्थात् साधनके द्वारा अनुमान ज्ञान बनाया जाता है। धुवां होनेसे इस पर्वतमें अग्नि है यह सिद्ध किया जाय तो यह साधन हुआ और जो सिद्ध किया जा रहा वह है सब अनुमान। तो साधन तो बना जनक याने अनुमानको उत्पन्न करने वाला और अनुमान हुआ जन्य। इस सम्बन्धमें जो यह आपत्ति दी जा रही थी कि इसमें जनक जन्य भाव नहीं बन सकता, समान काल होनेसे तो इसपर ज्ञानाद्वैतवादी यह कह रहे है कि भले ही समान कालमें हैं वे दोनों पर जन्य अनुमान ही है, क्योंकि सभी लोग समझते हैं कि साधनोंके द्वारा इस अनुमानको उत्पन्न किया गया है तो अर्थकी यहाँ सिद्धि नहीं हो पाती। क्योंकि अनुमानको छोड़कर पदार्थमें और कोई जन्यता नहीं मालूम होती है। स्वरूप ही जन्यता हो जाय यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप तो साधनमें भी मौजूद है सो साधनमें भी जन्यता बन जायगी। तो समानकाल होनेपर कोई पदार्थका जानने वाला नहीं बन सकता ऐसा कहोगे तो समान काल होनेपर साधन अनुमानको भी उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसा तुम्हारे यहाँ भी दोष आयगा।

जन्य जनकके अपने अपने स्वरूपकी भांति ग्राह्य ग्राहकमें भी अपने अपने स्वरूपकी सिद्धि— यदि यह कहो कि यद्यपि स्वरूप दोनोंमें है, अनुमानमें भी अनुमानका स्वरूप है तो स्वरूपकी अविशेषता होनेपर भी जन्यता तो अनुमानमें ही मिलेगी, साधनकी अपेक्षासे, किन्तु साधनमें अनुमानकी अपेक्षासे जन्यता न मिलेगी। यदि ऐसा यहाँ भी मान लें कि ज्ञान और पदार्थ इन दोनोंमें स्वरूप अपना अपना जुदा है पदार्थमें पदार्थका स्वरूप है, ज्ञानमें ज्ञानका स्वरूप है, स्वरूपकी अविशेषता होने पर ही ज्ञानकी अपेक्षासे पदार्थोंमें ही ग्राह्यता सिद्ध होती है किन्तु पदार्थोंकी अपेक्षासे ज्ञानमें ग्राह्यता नहीं बनती। तो ठीक ही है। ज्ञान ग्राहक है और ये सब पदार्थ ग्राह्य हैं। जानने वाला यह मैं ज्ञान हूँ और जाननेमें ये सब पदार्थ आ रहे हैं, सबकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। ज्ञानमात्र ही तत्त्व है इसकी सिद्धि तो नहीं हो सकती। और ऐसा भी नहीं कह सकते कि उत्पत्तिका कारण होनेसे लिंग अर्थात् साधन अनुमानका उत्पादक है क्योंकि वह उत्पत्ति उस पदार्थसे भिन्न है या अभिन्न है ये दो प्रश्न किए जायें अर्थात् यह उत्पन्न अनुमानसे क्या जुदा है जिसका कारण साधन बनता है। यदि जुदा है तो साधनने अनुमानका कुछ नहीं किया, कोई उपयोग न

वन सका फिर भी अपकार मानोगे तो फिर यह दूसरे साधनसे हुआ ? यो अनवस्था दोष आयगा। तथा यह अनुमानकी उत्पत्ति है यह सम्बन्ध भी असिद्ध है क्योकि कुछ उपकार ही नही है। इस कारण यह भी नही कह सकते कि साधन साधन कहलाता है। यदि अनुमानसे उत्पत्तिको अभिन्न मानोगे तो अनुमान ही साधन बन गया तब साधनने किया ही क्या, प्रयोजन यह है कि सीधीसी बात है कि ज्ञान भी अपना स्वरूप रखता है और विश्वके ये सारे पदार्थ भी अपना स्वरूप रखते है। ज्ञानका स्वरूप इस ढगका है कि वह अपना भी ज्ञान करे और पर पदार्थोका भी ज्ञान करे। और पर पदार्थोमे ऐसी कला है अथवा ऐसी ज्ञानशक्ति है कि ये पदार्थ किसी न किसीके ज्ञानमे ज्ञात होते ही रहते हैं।

ज्ञानशक्तिके सम्बन्धमे ज्ञानाद्वैतवादीका प्रश्न –ज्ञानाद्वैतकी सिद्धिके लिए बाधा डालनेके अर्थ ज्ञानाद्वैतवादी पूछते है कि यह बतलावो कि ज्ञान जिस शक्तिके द्वारा अपने आपको जानता है क्या उस ही शक्तिके द्वारा अपनेको भी जानता और पदार्थोको भी जानता। तब इस ज्ञान और पदार्थमे एकता ही सिद्ध हुई, क्योकि ज्ञान और पदार्थ जुदे–जुदे होते तो एक स्वभावके द्वारा जाने न जाते। यदि एक स्वभावके द्वारा जाने जानेपर भी पदार्थ अनेक कहलाने लगे तो फिर एक नाम किसका रहेगा ? इससे उस एक ही शक्तिके द्वारा ज्ञान ज्ञान अपनेको भी जाने और पर पदार्थोको भी जाने यह बात सम्भव नही है। यदि कहो कि ज्ञान जिस शक्तिसे अपने स्वरूपको जानता है उस शक्तिसे भिन्न अन्य शक्ति है जिस शक्तिके द्वारा पदार्थको जानता है। तो ऐसा कहनेपर ज्ञानमे दो स्वभाव आ गये। एक स्वभावके द्वारा तो ज्ञानने अपनेको जाना और अन्य स्वभावके द्वारा ज्ञानने पर पदार्थको जाना। और, यह भी बतलावो कि ज्ञानमे जो वे दो स्वभाव पडे गए है उन दोनो स्वभावोको जाननेके लिए यदि अन्य दो स्वभाव मानोगे तब तो अनवस्था दोष होगा। फिर उन दोनो स्वभावोको जाननेके लिए फिर दो स्वभाव मानो। इस तरह कही भी टिकाव न होगा। इससे सीधा ही मान लेना चाहिए कि ज्ञान स्वरूपमात्रका ग्रहण करता है, पदार्थको ग्रहण नही करता। ज्ञानाद्वैतवादी यह सिद्ध कर रहे हैं ऐसी युक्ति देकर कि सब कुछ यह ज्ञान ही ज्ञान है, ज्ञान जाननेको ही जान रहा है। यह पदार्थ है, चौकी, भीट आदिक ये सब भ्रमकी बाते है। सिवाय ज्ञानके अन्य कुछ नही हैं, ऐसा ज्ञानाद्वैतवादीने अपना पक्ष रखा।

ज्ञानशक्ति विषयक ज्ञानाद्वैतवादीके प्रश्नका उत्तर—ज्ञानकी अर्थ रूपाके स्वभावके प्रश्नके उत्तरमे आचार्यदेव कहते हैं कि इस युक्तिसे ऐसा विकल्प उठाकर पदार्थोको असिद्ध करना युक्त नही है, क्योकि विज्ञानमे एक स्वभाव ही ऐसा पडा हुआ है कि वह अपनेको और पदार्थको ग्रहण करे। और जैसा विकल्प उठाकर ज्ञानाद्वैतको समर्थन किया है हम उनसे यह पूछेंगे कि रूप आदिकका सजातीय और

अन्यका कर्तापना वे कैसे बना सकेंगे क्योंकि वहाँपर भी यह विकल्प उठाया जा सकता है कि रूप आदिक साधन जिस शक्तिके द्वारा अपने सजातीय क्षणको उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपने आपके उत्तररूप पर्यायको उत्पन्न करते हैं क्या उस ही शक्तिसे रस आदिकको या अनुमानको उत्पन्न करते हैं। यदि एक ही शक्तिसे रूप अगले समय के रूपको उत्पन्न करे, रस आदिकको उत्पन्न करे और अनुमानको उत्पन्न करे तो उन सबमे एकता हो जायगी। तब एक कौन रहा ? ये क्षणिकवादी लोग ज्ञानका कारण पदार्थको मानते हैं। ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थमे होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि रूपका ज्ञान किया तो रूप ज्ञानकी उत्पत्ति रूपमे हुई और उस रूपके बाद अगले समय मे जो अन्यरूप बनेगा उसकी भी उत्पत्ति पूर्वरूपसे हुई। और रस आदिक भी उत्पन्न होगे उनकी भी उत्पत्ति रूपसे हुई, तो क्या उसकी एक ही शक्तिसे इतने काम हुए ? अगर कहो कि एक ही शक्तिसे इतने काम हुए तो उनमे अभेद हो जायगा। वे सब कुछ न रहेगे। कोई एक ही रहेगा। यदि कहो कि अन्य शक्तिसे हुए अर्थात् रूप आदिक एक पदार्थमे दो स्वभाव आ गए तो अनवस्था भी दोष होगा। जितने दोष बताये गए हैं शकाकार द्वारा पूर्वपक्षकार द्वारा वे सब दोष यहाँ भी आ गए।

एक स्वभाव वाले ज्ञानसे जाननकी सिद्धि—यदि कहो कि रूप आदिक एक स्वभाव वाले होकर भी दो कार्योंको करने लगे तो यही बात ज्ञानमे सिद्ध कर लो कि ज्ञान भी एक स्वभाव वाला होकर अपनेको और पर पदार्थोंको जानता है। ज्ञानमे कला ही ऐसी है कि अपनेको और पर पदार्थोंको ग्रहण करनेका एक स्वभाव रखता है। यदि कहो कि यह तो व्यवहारसे कार्यकारण भेद है रूप आदिकमे इसलिये परमार्थ से दोष नही दिया जा सकता। तो यही बात तो यहाँ भी घटित है कि व्यवहारसे ही ग्रह ग्रह रूपकी प्रतीति वाले ज्ञानसे नील आदिकका ग्रहण किया जाता है तब फिर स्वत ही प्रतिभासपना रूप हेतु देना असिद्ध कैसे न हुआ ? तात्पर्य यह है कि ज्ञानमे एक स्वभाव ऐसा है कि वह अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। केवल ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व नहीं है ज्ञान भी है और अनन्त ज्ञेय पदार्थ भी हैं।

भिन्नकाल सम कालके विकल्पोसे ज्ञानकी स्वत अवभासमानत्वकी असिद्धि—विज्ञानाद्वैतवादीने यह सिद्ध करनेके लिए कि केवल ज्ञान ही तत्त्व है, पदार्थ है ही नही यह बात रखी थी कि यदि पदार्थ हो तो क्या वह पदार्थ ज्ञानके कालमे ही रहता है या ज्ञानके कालसे भिन्न कालमे रहता है ? यदि ज्ञानके कालमे रहता है तो उस अर्थका ग्रहण नही हो सकता। भिन्न कालमे रहता है तो उस अर्थका ग्रहण नही हो सकता। ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी यह भी सिद्ध नही कर सकते कि ज्ञान अपने स्वरूपको स्वत जानता है, क्योंकि ज्ञानके स्वरूपमे भी हम यह प्रश्न कर देंगे कि ज्ञानका स्वरूप क्या ज्ञानके समय है या ज्ञानके समयसे भिन्न समयमे है ? यदि ज्ञानके समयमे रहने वाले स्वरूपको ज्ञान जाने तो अन्य देशमे रहने वाले स्वरूपको भी

ज्ञान जान लेगा यह दोष आयगा। और भिन्न कालमे स्वरूप है तो जान ही कैसे सकेगा ? इससे केवल ज्ञान ही ज्ञान है तत्त्व यह सिद्ध करनेमे चूंकि हेतु दिया है कि ज्ञान ही तत्त्व है क्योकि वह स्वत. ही अवभासमान हो सकता है तो यह युक्ति न चल सकेगी और ज्ञान परसे अवभासमान होता है यह बात ज्ञानाद्वैतवादियोने मानी ही नही। द्वैतपना माने विना कुछ भी बात सिद्ध की ही नही जा सकती। जो जो प्रतिभासमे आता है वह ज्ञान है ऐसा कहने वालोको यह तो सिद्ध करना ही पडेगा कि ज्ञान और अविभासमानपना इनमे परस्परमे व्याप्ति है और व्याप्ति सिद्ध करनेके लिये दोनोको पहिले मानना पडगा। तो दो तो सिद्ध हो ही जायेंगे। यदि उनमे व्याप्ति लगावोगे तो दो सिद्ध हो जायेंगे और दो सिद्ध माननेसे केवल ज्ञान ही तत्त्व है यह बात नहीं रही। यदि यह कहो कि सारा ज्ञान अपने आपमे ही अवभासमानता और ज्ञान इन दोनोकी व्याप्तिको जानता है तो सारा अवभासमानपना जब तक जान न लिया जाय तब तक सम्बन्ध कैसे बताया जा सकता है ? जितने भी ज्ञान हैं वे सब प्रतिभासस्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध करनेके लिये समस्त ज्ञानका ज्ञान तो होना चाहिए। तो ज्ञानके स्वरूपका ग्रहण नही बन सकता है केवल ज्ञानाद्वैतमे।

ज्ञान और अज्ञानके विकल्पोसे जड़ पदार्थका अभाव सिद्ध करनेपर इन्ही विकल्पोंसे प्रतिपाद्यप्रतिपादकताके व्यवहारका विनाश—ज्ञानाद्वैतवादकी अब अन्य बातोपर भी दृष्टिपात कीजिये ! देखो, ज्ञानाद्वैतवाद जड पदार्थोको नहीं मानता और जड पदार्थ नही है इसमे यह युक्ति देते है कि जडमे प्रतिभास ही नही होता। यद्यपि यह बात एक नयसे इस तरह घटाई जा सकती है कि ज्ञान ज्ञानको तो प्रतिभास करता है निश्चयनयसे, पर ऐसे नयकी दृष्टि नही है ज्ञानाद्वैतमे प्रतिभासके स्वरूपको बतानेमें, किन्तु वे सर्वथा ही ऐसा मानते हैं कि जड पदार्थका प्रतिभास होता ही नही है। तो उनसे पूछा जा रहा है कि अज्ञात जड़ पदार्थका प्रतिभास नही बनता? यदि कहो कि अज्ञात जड़ पदार्थका प्रतिभास नही बनता तो अनेक शिष्य ये भी तो अज्ञात हैं, फिर इनको समझानेकी क्यो चेष्टा की जाय ? क्योकि अज्ञातका तो प्रतिभास भी नही होता। यदि कहो कि अन्य जो शिष्य हैं वे अपने प्रतिभासमे आते हैं तो यो जड पदार्थ भी अपने प्रतिभासमे आते हैं। दोनों प्रतीति बराबर समान रूपसे चल रहीं हैं। फिर अज्ञात जडमे भी यह प्रतिभाससे बाहर है ऐसा विचार तो आप कर रहे हो ना, तो उस ही विचारसे जडकी सिद्धि हो गयी। इससे अज्ञात जडका प्रतिभास नही होता यह बात तो कह नहीं सकते यदि कहो कि ज्ञात हुए जड़ पदार्थका प्रतिभास नहीं होता तो यह तो स्ववचनबाधित है, ज्ञात है और फिर भी कहते हो कि प्रतिभास नहीं होता। यह तो परस्पर विरुद्ध बात है, इसमे सही प्रकारसे मान लिया जाना चाहिए कि ज्ञान भी तत्त्व है और ये अनन्त ज्ञेय भी तत्त्व हैं।

ज्ञानाद्वैतकी सिद्धिमे प्रयुक्त प्रतिभासमानत्व हेतुके दृष्टान्तमें साध्य-

विकलता – ज्ञानाद्वैतवादियोने ज्ञानमात्र तत्त्व सिद्ध करनेके लिए बताया था कि जो जो कुछ प्रतिभासमे आता है वह वह सब ज्ञानस्वरूप है। तो इस कथनमे जो कुछ भी दृष्टान्त दोगे वह साध्य विकल हो जायगा। जैसे नैयायिक लोग सुख आदिकको ज्ञानरूपमे नही मानते और प्रतिभासमे आ रहा है। यदि कहो कि हमारे इस ही हेतुसे सुख आदिकमे ज्ञानरूपताकी सिद्धि हो जायगी तो फिर यहाँ अनुमान सिद्धिमे अन्य कोई दृष्टान्त दीजिये। जो दृष्टान्त दोगे उसमे भी व्यभिचार आनेपर उसे भी पक्षमे करना चाहोगे तो उसके लिये और अन्य दृष्टान्त दो इस तरह अनवस्था दोष होगा। यदि इन पदार्थोंको ही, नील आदिक पदार्थोंको ही दृष्टान्तरूपमे रख करके ज्ञानरूप सिद्ध करोगे तो इसमे इतरेतरा दोष है। जब सुख आदिकमे ज्ञानरूपताकी सिद्धि होगी तो नील आदिक पदार्थोंका दृष्टान्त देकर ज्ञानरूप सिद्ध करोगे। जब नील आदिकके दृष्टान्तमे ज्ञानरूपता सिद्ध होगी तो सुख आदिककी ज्ञानरूपता सिद्ध होगी। इससे यह सब प्रलापमात्र है। आबाल गोपाल, बालकसे लेकर विद्वान तक सभीको स्पष्ट समझमें आ रहा है कि ज्ञान भी कोई चीज है तो ये समस्त पदार्थ जो हमारे ज्ञेयमे आ रहे हैं ये भी वास्तविक पदार्थ हैं।

सुखादिको अज्ञानरूप माननेमे अभीष्टकी असिद्धि – ज्ञानाद्वैतवादी यदि ऐसा कहे कि सुख आदिकको अज्ञानरूप मान लिया जाय सुख दु ख आदिक अज्ञानस्वरूप है जैसा कि नैयायिकोने माना, मान लिया जाय तो यह दोष होगा कि उस सुख दु ख आदिकसे पीडा और अनुग्रह न हो सकेगा, क्योंकि वह अज्ञानरूप है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुख आदिक ही क्या पीडा अनुग्रहरूप हैं या सुख आदिकसे पीडा अनुग्रह कोई भिन्न चीज है? यदि कहो कि सुख आदिक ही पीडा और अनुग्रह हैं, विषाद और उपकार हैं तो वह दृष्टान्त बतावो जहाँ कि सुख दु ख आदिक ज्ञानरूपसे मान लिए जायें। यदि ज्ञानपनेकी और विषाद और उपकारसे व्याप्ति सिद्ध न होनेपर भी ज्ञानके अभावमे पीडानुग्रहका अभाव हो जाय तो जब यह अनुमान बनाया जायगा कि जीवित शरीरमे आत्मा है क्योंकि उच्छ्वास आदिक है तो आत्माकी उच्छ्वासादि प्राणसे कोई अन्वय व्याप्ति नही बननेपर भी घटादिकमे आत्माके अभावमे प्राणादिमत्ताका अभाव सिद्ध हो जायगा, फिर केवल व्यतिरेकी हेतुको अगमक याने असाधक सिद्ध करना अयुक्त है। यदि कहो कि सुख आदिकसे पीडा अनुग्रह भिन्न चीज है तो भिन्न चीजसे पीडा अनुग्रह बन कैसे सकेगा? यदि यज्ञदत्तमे गौरवर्ण नही है तो देवदत्त दुनियामे है ही नही, ऐसा कोई कहे तो कौन मान लेगा? भिन्न भिन्न चीजोका सम्बन्ध क्या बनाया जा सकता है! इससे ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रतिभासमान है, पर ज्ञानका जो स्वरूप बनता है सो किसी ज्ञेय पदार्थको विषय करता हुआ बनता है और वह ज्ञेयपदार्थ परमार्थत है तब उसका विषय होता है। कुछ भी बाह्य अर्थ न हो तो कल्पनामे भी कैसे कुछ पदार्थ आ सकता है।

अद्वैत शब्दकी ध्वनिमे द्वैतकी सिद्धि – भैया! इतना भी सीधे ढङ्गसे

विचार कर सकते हैं कि जो तुम अद्वैत सिद्ध कर रहे हो तो अद्वैतमे दो शब्द कहे ना अ और द्वैत, अ का अथ है नही और द्वैतका अर्थ है दो। अर्थात् अद्वैतका अर्थ है दो नही। तो अद्वैतका जो अर्थ किया जायगा वह क्या बिल्कुल अभावरूप है या अन्य-विसदृशको ग्रहण करने वाला है ? जैसे कहा कि अब्राह्मणो भोज्यतां, अब्राह्मणको खिलाइये ? इसके दो अर्थ किए जा सकते है। एक तो यह कि ब्राह्मणको न खिलाइये। अर्थ समाप्त हो गया। और, एक यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो ब्राह्मण नही है उसे खिलाइये। तो इसप्रकार अद्वैतका क्या इतना ही अर्थ है कि द्वैत नही है, या यह अर्थ है कि इसकी एवजमे कुछ है ? तो प्रसज्य प्रतिषेध अर्थात् केवल अभावके बात बताना ऐसा मानोगे तो उससे तो इतना ही मात्र जाहिर हुआ कि द्वैत नही, अद्वैतकी बात तो नही आयी। किसी एककी बात सिद्ध नही हुई, क्योकि यह अर्थ तो एक अभावमात्र करनेमे ही समाप्त हो रहा है। यदि कहो कि हम उसमे मुख्य गौणकी बात ले लेगे। द्वैत नही है यह बात तो हम गौण कर देगे और कुछ है उसे मुख्य बना लेंगे। तो गौण और मुख्य बनानेमे दो बातें सिद्ध हो गयी कोई गौण बना कोई मुख्य। यदि इसका पर्युदास अर्थ लेते हैं जैसे अब्राह्मणका यह अर्थ लिया जाय कि ब्राह्मणके अलावा और सब, तो यह पर्युदास अर्थ कहलाता है। तो पर्युदास अर्थ माननेपर द्वैतकी सिद्धि हो गयी। तो दो कुछ चीज है ना, उसका तुम निषेध कर रहे हो तो केवल एक अद्वैत ही है, ज्ञान ही मात्र है इस बातकी सिद्धि नही हो सकती।

द्वैतसे अद्वैतकी भिन्नता व अभिन्नता माननेमे भी द्वैतकी सिद्धि— द्वैतसे अद्वैत क्या भिन्न है या अभिन्न है यह भी बतावो ? जिन दोका हम निषेध कर रहे हैं, जिस दूसरेको हम असिद्ध कर रहे हैं उस दूसरेसे यह अद्वैत, अपने ज्ञानका मन्तव्य भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहोगे तो द्वैत सिद्ध हो गया। तो दूसरी चीज जुदी है और यह ज्ञानाद्वैत जुदी चीज है। यदि कहो कि अभिन्न है, द्वैत और अद्वैत एक है, जिसे तुम अद्वैत मान बैठे तो ऐसी अभिन्नता करनेपर भी द्वैत तो मान लिया गया जैसे अद्वैत मानते हैं, तब भी द्वैत सिद्ध हो जाता है। केवल ज्ञान ही तत्त्व है, शेष कुछ नही है, यह मन्तव्य यथार्थ नही है। ज्ञान भी तत्त्व है और उसका आधार आत्मा है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और ज्ञानस्वभावके कारण निरन्तर जानता रहता है ये अनन्त पदार्थ, अनन्त जीव और समस्त अनन्त पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल है जो स्वरूपसे सिद्ध हैं इन अनन्त पदार्थोका निषेध नही किया जा सकता।

चित्राद्वैतका मन्तव्य और हेतुके निराकरणीय अर्थोका विकल्प— ज्ञानाद्वैतवादके निराकरणके पश्चात् एक चित्राद्वैतवादी आता है। चूकि प्रकरणमे नाना पदार्थ सिद्ध किए गए है न, तो उसपर चित्राद्वैतवादी मान्यनिक कहता है कि सब चित्राद्वैत है। जो ये नाना पदार्थ है सो ये नानारूप नही हैं, किन्तु इन चित्र विचित्र नाना प्रतिभासोमे एक बुद्धि ही सही है। यह बुद्धि बाह्य के चित्र विचित्र नाना पदार्थोसे विसदृश है। ये बाह्य पदार्थ इनका तो विवेचन किया जा सकता है परन्तु

समस्त पदार्थोंका जो कुछ एक साथ प्रतिभास वाली बुद्धिका विवेचन नही किया जा सकता । तो चित्र पदार्थोंमे चित्र प्रतिभास विलक्षण चीज है सो चित्र प्रतिभासरूप बुद्धि ही वास्तविक तत्त्व है, ये चित्र विचित्र पदार्थ तो मायारूप हैं अब इस चित्राद्वैत के मन्तव्यपर आचार्य पूछते हैं कि अशक्य विवेचनताका तुम क्या अर्थ करते हो ? वह जो तुम्हारी बुद्धि बनी है उस बुद्धिसे ये नीलादिक पदार्थ अभिन्न है यह मतलब है (२) एक साथ उत्पत्ति हुए चित्र विचित्र पदार्थोंका अन्य बुद्धिमें न आनसे वर्तमान बुद्धिसे उसका अनुभव हुआ । क्या यह अर्थ है उसका या (३) भेद पूर्वक उसका विवेचन नही किया जा सकना, क्या यह अर्थ है ? इन तीन विकल्पोंको उठाकर आचार्यदेव चित्राद्वैतकी असिद्धि बतावेंगे कि यह भी कथन युक्त नही है कि चित्र प्रतिभासकी ही एक बुद्धि ही तत्त्व है और ये नाना प्रकारके चित्र विचित्र पदार्थ हैं ही नही तब आचार्यदेव आगे वास्तविकताका समर्थन करेंगे ।

चित्राद्वैतके निराकरणसे पहिले चित्राद्वैतके मन्तव्यके आशयका प्रकाशन —ज्ञानाद्वैतवादमे तो यह सिद्ध किया गया था कि सिर्फ सब ज्ञान ही ज्ञान है और घट-पट आदिक पदार्थ है यह लोगोका भ्रम है । केवल ज्ञान ही है यह ज्ञानाद्वैतमे कहा । अब चित्राद्वैतमे यह कह रहे हैं कि ज्ञान ही ज्ञान मात्र है तत्त्व पदार्थ नही है, इसमे इतना संशोधन करना चाहिए कि बाहरी पदार्थ तो नही है किन्तु ज्ञान नाना आकाररूप है । ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानको नाना आकाररूप नही मानते और चित्राद्वैतमे ज्ञानको नाना आकाररूप मानते है । तो चित्राद्वैतवादी यह बात रख रहे हैं कि चित्र विचित्र जो प्रतिभास हैं वे सब मिलकर एक ज्ञान है । बाह्य पदार्थ कुछ नही है, क्योंकि बाह्य पदार्थका तो हम विवेचन कर सकते हैं जो कि मायारूप है और यहाँ ज्ञानमे जो नाना आकार आ रहे है, पदार्थ प्रतिभास हो रहे है उन नाना आकारोसे हम ज्ञानको भिन्न रूपसे नही बता सकते । इसपर जैन शासनने पूछा है कि चित्रप्रतिभासरूप एक बुद्धि माननेमे जो अशक्य विवेचनत्व हेतु दिया है सो अशक्य विवेचनपन इसका अर्थ क्या है ? क्या ज्ञानसे पदार्थ अभिन्न है या ज्ञानके साथ वे पदार्थ उत्पन्न हुए, उनका हम अन्य ज्ञानसे नही किन्तु उस ही ज्ञानसे अनुभव करते है, क्या इसका नाम अशक्य विवेचन है या भिन्नरूपसे विवेचन कर ही नही सकते यह सीधा अर्थ है ?

अशक्यविवेचनत्व हेतुके तीनो अर्थोका निराकरण यदि यह बतावोगे कि ज्ञानसे उन आकारोकी नील आदिक पदार्थोकी अभिन्नता है क्योकि अशक्य विवेचन होनेसे तो यह तो एक ही बात हुई । साध्यसम हेतु हुआ । जैसे कोई कहे कि घट पट आदिक पदार्थ बुद्धिसे अभिन्न हैं क्योकि अभिन्न होनेसे, जो चीज सिद्ध कर रहे हैं उसीका हेतु दिया जाय तो वह सही अनुमानका अङ्ग तो नही है । यदि दूसरा पक्ष लोगे कि ज्ञानके साथ उत्पन्न हुए इन समस्त पदार्थोंका अन्य ज्ञानसे अनुभव नही होता उस ही ज्ञानसे अनुभव होता है तो फिर इसमे अनैकान्तिक दोष है । समस्त जगतके जानने वाले जो तुम्हारे देवता सुगत है उनके ज्ञानके साथ ही उत्पन्न है ना सारा विश्व सो उसे वह अन्य ज्ञानसे नही किन्तु उस ही ज्ञानसे जानता है, मगर उनके ज्ञान

से और सारे विश्वकी एकता तो नही हुई। यदि तुम्हारे सुगतके ज्ञानसे सारे विश्वकी एकता हो जाय तो या तो सारा ससार सुगत देवता बन जाय (बौद्धोका जो देव है उनका नाम सुगत है) या सारे सुगत ससारी बन जाये इससे द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है और यह कहना कि ज्ञानमे आये हुए उन समस्त पदार्थोका विवेचन नही हो सकता, सो बात तो असिद्ध है। सारे मनुष्य इन समस्त पदार्थोका विवेचन-व्याख्यान करते हैं। इस कारण एक चित्राद्वैत है, यह तत्त्व भी सिद्ध नही होता।

शून्याद्वैतका मन्तव्य और उसमे बाधा चित्राद्वैतसे लगा-पगा एक सिद्धान्त यह कहता है कि उस चित्र-विचित्र प्रतिभास वाले ज्ञानमे वह एक ज्ञान है और अनेकाकार है, ऐसा हम एक ज्ञानमे अक्रमसे अनेकाकारका रहना नही मानते, किन्तु जितना एक जातीय आकार है इतना ही वह ज्ञान है। इसको यो समझिये कि जैसे हम एक निगाहमे कमसे कम ५० पदार्थोका आकार एक साथ हमारे ज्ञानमे आ गया। तो हमारा ज्ञान उन ५० पदार्थोके आकाररूप बना ना, लेकिन यह शून्याद्वैतवादी यह कहता है कि वह एक ज्ञान नही है, जो ५० पदार्थोके आकाररूप बना वह एक नही है, जितने आकार है, जितने अंश हैं उतने ज्ञान हैं। इसपर आचार्य उत्तर देते है कि ऐसे कथनमे अगर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करोगे तब तो दुनियामे कुछ भी न रहेगा जैसे नील पदार्थको जान रहा ज्ञान, उस समय पीत आदिकको नही है तो पीत आदिक का अभाव हो गया और जब पीत आदिकको जान रहा तब नील आदिकको नही जान रहा तो उनका अभाव है। और भी किसी पदार्थको जैसे कोई नीला कमल है उसका हम किसी हिस्सेमे ज्ञान ले रहे है तो उस समय अन्य कुछ नही जाना जा रहा है तो उसके अंशोका अभाव हो गया। एक साथ कई ज्ञानोमे सर्वांश पदार्थ ज्ञात होते हैं ऐसी सही बातको मना कर रहे हैं ये क्षणिकवादी। तो फिर यह दोष दे रहे हैं कि एक साथ सर्वांशका पदार्थ ज्ञानमे आ रहा और तुम उसे मान रहे हो कि जितने आकार जितने अंश ज्ञानमे आते हैं, ज्ञान उतने है, एक ज्ञान नही है, तो एक ज्ञानसे सब तो नही जाना गया। एक अंश जाना गया। तब तो फिर सब वस्तुवोका ही जायगा। यदि यह कहो कि हमने एक शून्य है एक अद्वैतको तो तत्त्व माना है पर शून्यता नहीं मानी। शून्य एक आकार वाला प्रतिभास, दूसरे आकार वाले प्रतिभास का अन्य आकार वाले प्रतिभासमे अभाव है। उस तरहकी शून्यताका अद्वैत माना है लेकिन ऐसा माननेपर तो किसीका सम्वेदन न रहेगा।

निश्चय कराये। इस ग्रन्थमे सबसे पहिले यह बताया है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। स्व तो हुआ यह खुद जो जानता है और पर पदार्थमे आये अनन्त जीव, समस्त अनन्तानन्त पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और असख्यात काल, इन सबका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है। इसमे वाद-विवाद होते होते कुछ लोगोने अद्वैत मत रखा। किसीने कहा कि केवल ब्रह्म ही तत्त्व है, किसीने रखा कि केवल ज्ञानस्वरूपमात्र ही तत्त्व है, पदार्थ कुछ नहीं तो चित्राद्वैतने यह रखा कि ज्ञानमात्र तत्त्व है यह तो सही है, ये बाहरी चीजें हैं ये भ्रम हैं, लेकिन वह ज्ञानस्वरूप चित्र-विचित्र नाना आकाररूप है। जितने प्रतिभास ज्ञानमे आ रहे है उतने प्रतिभासरूप ज्ञान है, यह बात चित्राद्वैतने रखा तो शून्याद्वैत यह कहता है कि उस ज्ञानमे जितने कि नाना आकार प्रतिभासित हो रहे है वे सब एक ज्ञानमे बन रहे, किन्तु जितने प्रतिभास हैं, जितने आकार विदित हो रहे है उतने ही ज्ञान हैं। अब देख लीजिये कि उतने ज्ञान बन गये अपने आपमें कि जितने आकार है। अगर गेहूँका ढेर पडा है जहाँ अरबों दाने हैं एक मनभर गेहूँ हो तो उसमे बहुतसे दाने होते है, उन सब दानोको एक ज्ञानने जान लिया यह तो बात स्पष्ट है ना लेकिन यह कहता है कि जितने दाने हैं उतने ज्ञान-क्षण बन गए। टूट-टूटकर उतने ज्ञान समा गए तो वे सब क्षण ज्ञान हो गये, एक दानेके ज्ञानमें जितने अश होंगे उतने ज्ञान हो गए। यों तो न ज्ञानका स्वरूप बन सकता और न पदार्थका।

ज्ञानकी प्रमाणता और ज्ञेयोका सद्भाव भैया! सीधे मानो कि ज्ञान-मात्र आत्मा है, वह पदार्थका ज्ञान करनेमे समर्थ है और ज्ञानको कुछ न कुछ विषय-भूत पदार्थ चाहिए ही। तो जो पदार्थ ज्ञानका विषय आया वह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है। जाननहार ये चेतन पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखते हैं, सब अपना अपना काम कर रहे हैं। इन जड पदार्थोका काम उत्पादव्यय करते रहना है, सो अपने स्वरूपसे अपने ही अनुरूप वे उत्पादव्यय करते हैं। इस चैतन्य आत्माका भी काम उत्पादव्यय करना है सो चूँकि यह चेतन है इसलिये जाननेके ढगसे यह अपना उत्पाद व्यय करता रहता है, ज्ञानका काम नवीन नवीन परिणत होता रहता है। ज्ञान भी तत्त्व है और ये समस्त ज्ञेयतत्त्व हैं। इनमेसे किसीका भी अपलाप नही किया जा सकता है। इन सबका जाननहार जो एक ज्ञान है वह ही सब व्यवस्था बनाता है और वह ज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि ज्ञानका स्व-रूप ऐसा ही मानना चाहिए जो अपने आपके स्वरूपका प्रतिभास करे और समस्त पदार्थोंका प्रतिभास कराये। और प्रकारसे ज्ञानका स्वरूप मानोगे तो न स्वरूप बन सकता है।

